

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

कारण-कार्यनियम

(नियमसार प्रवचन, भाग-७)

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री नियमसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
गाथा १५९ से १८७ और कलश २७२ से ३११ पर
धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,
कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. श्री परमागम प्रकाशन समिति
श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट
योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

परम पूज्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसारजी नामक शास्त्र अध्यात्म प्रधान द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सत्शास्त्रों में से एक सर्वोत्कृष्ट तथा चारित्र प्रधान श्रेष्ठतम शास्त्र है।

परम भट्टारक शासननायक श्री महावीरस्वामी के निर्वाण के पश्चात् अन्य केवली तथा श्रुतकेवली कथित आगम और अध्यात्म विद्या का संकलन चार अनुयोग के असंख्य शास्त्रों में अनेक आचार्यों-मुनिभगवन्तों द्वारा सम्पन्न हुआ है। सनातन दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में कलिकाल सर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान अजोड़ है। लगभग चौरासी पाहुड़ शास्त्रों की भेंट आपश्री ने प्रदान की है, तथापि अभी मात्र १२-१५ ही उपलब्ध हो सके हैं।

उन उपलब्ध सत्शास्त्रों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार जैसे उत्तमोत्तम परमागमों में हजारों शास्त्रों का सार समाहित हो जाता है। जैसे समयसार में शुद्धनय से नौ तत्त्वों का निरूपण किया है, वैसे नियमसार में शुद्धनय से ही जीव-अजीव, शुद्धभाव, प्रतिक्रमण इत्यादि विषयों का वर्णन है।

वर्तमान में उपलब्ध भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के उत्कृष्ट परमागमों में अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिये रचित सर्वोत्कृष्ट श्री समयसारजी में दृष्टिप्रधान कथन से शुद्धात्मा का स्वरूप समझाया है। दिव्यध्वनि के सार श्री प्रवचनसारजी में ज्ञानप्रधान कथन से वही स्वरूप वर्णन किया है। श्री नियमसारजी में चारित्र अधिकार की मुख्यता से उसी स्वरूप का वर्णन है। वीतरागता प्रगट करने के प्रयोजन से दृष्टि-ज्ञान-चारित्र के आश्रयभूत शुद्धात्मा का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है।

श्री नियमसारजी की तो आचार्यदेव ने स्वयं के जीवन की सन्ध्याकाल में निज भावना के निमित्त से रचना की होने से कारणपरमात्मा का बहुत ही घोलन किया है।

इस असाधारण परमागम की टीका भावी तीर्थाधिनाथ अतीन्द्रिय आनन्द के रसिक भावलिंगी मुनिराज श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेव ने की है। जिनके मुख में से परमागमरूपी मकरन्द झरता है, ऐसे मुनिराज कहते हैं कि गुण के धारक गणधरों से रचित तथा श्रुतधरों की परम्परा से भली प्रकार से व्यक्त किये गये इस परमागम के सार की पुष्टरुचि से यह टीका सहज रची गयी है। टीकाकार ने श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के हृदय में रहे हुए आध्यात्मिक भावों को स्वानुभूति से प्रमाण करके, परमपारिणामिकभाव में रहे हुए अन्तर रहस्यों को खोला है।

श्री नियमसार भरतक्षेत्र के उत्तमोत्तम शास्त्रों में से एक होने पर भी प्राभूतत्रय की समानता में इसकी प्रसिद्धि बहुत कम है। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी विक्रम संवत् १९७२ में नियमसार की भूमिका में सत्य ही लिखते हैं कि 'आज तक श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय संग्रह, प्रवचनसार,

और समयसार, ये तीन रत्न ही बहुत प्रसिद्ध हैं। खेद की बात है कि उनके जैसा, तथापि कितने ही अंशों में उनसे भी अधिक ऐसा नियमसार रत्न है, उसकी प्रसिद्धि इतनी कम है कि कोई कोई तो उसका नाम भी नहीं जानते।'

नियमसार अर्थात् भागवत् शास्त्र (गाथा १८७)। श्रुतपरम्परा में शास्त्रों का प्रणयन शिष्यों को सम्बोधन के लिए अथवा व्यक्तिगत उद्देश्य से किया जाता है परन्तु इस ग्रन्थाधिराज की रचना आचार्यश्री ने अपने दैनिक पाठ के लिए की होनी चाहिए, क्योंकि आचार्यश्री की ग्रन्थ की अन्तिम उक्ति द्वारा स्पष्ट होता है कि 'णियभावणाणिमित्तं' अर्थात् निजभावना के अर्थ / निमित्त से पूर्वापर दोषों से रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने नियमसार नाम का शास्त्र रचा है।

नियमसार अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय की अपेक्षारहित शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप। इस ग्रन्थ में पर्याय की मुख्यता से कथन होने पर भी भावलिंगी सन्तों की दृष्टि तो उसके कारण पर ही रहा करती है।

भव्य जीवों को भाग्योदय से इस नियमसार कृति पर तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखनेवाले महासमर्थ मुनिराजश्री पद्मप्रभमलधारिदेव हुए, जो वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य थे और विक्रम की १३वीं शताब्दी में हो गये हैं। इस शास्त्रजी में १८७ गाथाओं में प्रतिपादित विषयवस्तु को निम्न अनुसार बारह विभागों में प्रस्तुत किया गया है।

- | | |
|-------------------------------|------------------------------------|
| १. जीव अधिकार | ७. परम आलोचना अधिकार |
| २. अजीव अधिकार | ८. शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार |
| ३. शुद्धभाव अधिकार | ९. परम समाधि अधिकार |
| ४. व्यवहारचारित्र अधिकार | १०. परमभक्ति अधिकार |
| ५. परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार | ११. परम आवश्यक अधिकार |
| ६. निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार | १२. शुद्धोपयोग अधिकार |

शुद्धोपयोग अधिकार का संक्षिप्त परिचय

निज भावना के लिये रचित नियमसार परमागम का यह अन्तिम अधिकार है। समस्त कर्म के प्रलय के हेतुभूत शुद्धोपयोग का अधिकार कहा जाता है। अधिकार का शुभारम्भ ही श्रेष्ठ प्रतिज्ञा की प्रतीति कराता है।

ज्ञानी को स्व-परस्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है, ऐसी उत्थानिका के साथ ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के रहस्य को प्रमुखता देकर बाद की अनेक गाथाओं में विगत से इस अत्यन्त प्रयोजनभूत और सूक्ष्म विषय की विचारणा प्रस्तुत की गयी है।

इस समग्र प्रकरण में निश्चय-व्यवहार दोनों नयों की मुख्यता से तथा सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व जैसे भगवान आत्मा के मूलगुण धर्मों को, विशेषताओं को सचोटतापूर्वक सुस्पष्ट किया गया है।

गुण-गुणी के भेद का अभाव दर्शाते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव मूल गाथा में समझाते हैं कि—

**है ज्ञान निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है ।
है जीव निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है ॥१६५ ॥**

बाद की गाथाओं में वीतरागता की पराकाष्ठा समझाते हुए सर्वज्ञता तथा वीतरागता के बीच की अपूर्व सन्धि स्थापित की गयी है ।

सिद्धत्व को प्राप्त करनेवाले, सिद्धि को साधनेवाले, केवली सिद्ध भगवन्तों की आगम-अध्यात्म को अनुकूल प्रस्तुतिकरण करते-करते निर्वाण तथा सिद्ध की व्याख्या के सन्दर्भ में सिद्धि और सिद्ध के एकत्व के प्रतिपादनरूप अपूर्व काव्य की (गाथा की) रचना की है । मूल गाथा इस प्रकार है—

**निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे ।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे ॥१८३ ॥**

इस शुद्धोपयोग अधिकार के अन्त में शास्त्रजी के प्रारम्भ में आये हुए 'नियम' शब्द का और उसके फल का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकर्ता फरमाते हैं कि यह सब कवित्त के अभिमान से नहीं परन्तु प्रवचन की भक्ति से प्रतिपादित किया गया है । तत्पश्चात् भव्य जीवों को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि —

**जो कोई सुन्दर मार्ग की निन्दा करे मात्सर्य में ।
सुनकर वचन उसके अभक्ति न कीजिये जिनमार्ग में ॥१८६ ॥**

निज भावना के लिये लिखे गये नियमसार परमागम का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकर्ता विदित कराते हैं कि 'मैंने निज भावना के निमित्त और अशुभ वचनार्थ नियमसार नामक शास्त्र बनाया है ।'

इस अन्तिम शुद्धोपयोग अधिकार में मूल गाथाएँ 27 तथा 39 कलश काव्य हैं ।

इस शास्त्र के भावों का विवेचन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री भावविभोर होकर कहते हैं - टीकाकार मुनिराज ने कार्य के साथ ही त्रैकालिक कारण (कारणशुद्धपर्याय) की बात करके टीका में अलौकिक रहस्य खोले हैं । अहो! जंगल में बसनेवाले और आत्मानन्द में लीन रहनेवाले सन्तों के श्रीमुख से परमागमरूपी अमृत की वर्षा हुई, उसमें आया है कि हे भाई! तेरे धर्म का ध्रुव कारण तो तुझमें सदा विद्यमान है, परन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता, इसलिए दुःखी है । अहो! अन्तर का कारण मुनियों के आत्मा में से ही अमृत झरे हैं, उसकी यह अचिन्त्य और अपूर्व बात है । भारतवर्ष के लिए अभी यह बात एकदम नयी है । जिसके महाभाग्य होंगे, उसे यह बात सुनने को

मिलती है और जिसे अन्दर में यह बात बैठ गयी, उसका तो कहना ही क्या ? उसका तो बेड़ा पार हो गया ।

सन्तों के अन्तरआत्मा में रहे हुए रहस्यों को खोलनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये भावों को ग्रहण करके हम भी उन्हें स्वानुभव से प्रमाण करें, यही भावना है ।

इस नियमसार शास्त्र पर धारावाही अक्षरशः प्रवचन २१५ हैं । जिन्हें सात भागों में प्रकाशित किया जा रहा है ।

प्रस्तुत कारण-कार्यनियम, भाग-७ में नियमसार शुद्धोपयोग अधिकार की गाथा १५९ से १८७ तथा कलश २७२ से ३११ तक के प्रवचनों को समायोजित किया गया है । पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अतीन्द्रिय आनन्दरस से सराबोर ऐसे कुल ३१ प्रवचन अक्षरशः प्रकाशित किये गये हैं ।

प्रवचन प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दशः लिखा जाता है । तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है और प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है । गुजराती भाषा में इस कार्य को श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा सम्पन्न किया गया है । जिसका प्रकाशन राजकोट दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट से हुआ है ।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है । तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है ।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है । मूल गाथाओं का बाबू युगलजी, कोटा एवं कलशों का पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, देवलाली कृत पद्यानुवाद भी समाहित है ।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं ।

अन्त में कारण नियमस्वरूप स्वशुद्धात्मा के लक्ष्य से सभी जीव कार्यनियम अर्थात् निश्चय मोक्षमार्गरूप परिणमित हों, इसी भावना के साथ.....

यह पुस्तक www.vitragvani.com पर भी उपलब्ध है ।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोडे परिणति।

(शार्दूलविक्रीडित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।



श्री सद्गुरुदेव-स्तुति



(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञसिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!



अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव ।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था ।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली । दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा ।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया । सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं । जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है ।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है ।'** इसका अध्ययन और चिन्तन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है । इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ । भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा । तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है । इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी । अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया ।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक

हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल 'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) आत्मधर्म नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य

विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वी सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वी सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वी सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में

ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्णपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिङ्गी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और

उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :-

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तों!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तों!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तों!!!



अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा / श्लोक नं.	पृष्ठ नं.
१८५	१८-०७-१९८०	१५९	१
१८६	१९-०७-१९८०	१५९	१८
१८७	२०-०७-१९८०	१६०, २७२	३२
१८८	२१-०७-१९८०	२७३	४८
१८९	२२-०७-१९८०	२७३-२७६	६३
१९०	२३-०७-१९८०	१६१	७८
१९१	२४-०७-१९८०	१६१, २७७	९५
१९२	२५-०७-१९८०	१६२	१०९
१९३	२६-०७-१९८०	१६३, २७८	१२४
१९४	२७-०७-१९८०	१६४, २७९	१४०
१९५	२८-०७-१९८०	१६४	१५६
१९६	२९-०७-१९८०	१६५, २८०-२८१	१७०
१९७	३०-०७-१९८०	१६६, २८२	१८५
१९८	३१-०७-१९८०	१६७, २८२	२००
१९९	०१-०८-१९८०	१६८, २८३	२१४
२००	०२-०८-१९८०	१६८-१६९, २८४	२३०
२०१	०३-०८-१९८०	१७०, २८५	२४६
२०२	०४-०८-१९८०	१७०, २८६	२६१
२०३	०५-०८-१९८०	१७१, २८६-२८७	२७६
२०४	०६-०८-१९८०	१७२, २८८	२९१
२०५	०७-०८-१९८०	१७३-१७४, २८९-२९०	२९१
२०६	०७-१२-१९७१	१७५-१७६, २९०-२९२	३२६
२०७	०८-१२-१९७१	१७७, २९३-२९६	३४७

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा / श्लोक नं.	पृष्ठ नं.
२०८	०९-१२-१९७१	१७८, २९७	३६६
२०९	१०-१२-१९७१	१७९, २९८-२९९	३८३
२१०	१२-१२-१९७१	१८०	४०१
२११	१३-१२-१९७१	१८१-१८२, ३००-३०१	४१७
२१२	१४-१२-१९७१	१८२-१८४, ३०२-३०३	४३६
२१३	१५-१२-१९७१	१८५-१८६, ३०४-३०५	४५७
२१४	१६-१२-१९७१	१८७, ३०६-३०७	४७६
२१५	१८-१२-१९७१	३०८-३११	४९६



परमात्मने नमः ।

कारण-कार्यनियम

(नियमसार-प्रवचन)

(भाग-७)

१२

शुद्धोपयोग अधिकार

गाथा-१५९

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ह

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणण केवली भगवं ।

केवल-णाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।

केवल-ज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ॥१५९॥

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथञ्चिदुक्तम् । आत्मगुणघातकघातिकर्मप्रध्वन्स-
नेनासादितसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां व्यवहारनयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्ति-
सचराचरद्रव्यगुणपर्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वरः परम-
भट्टारकः, पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात् । शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य
सर्वज्ञवीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञायकत्वादिविविधविकल्पवाहिनीसमुद्भूतमूल-
ध्यानाषादः^१ स भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां
निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च ।

किं कृत्वा ? ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत् । घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्विन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति; आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयं प्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति ।

उक्तञ्च षण्णवतिपाखण्डिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः -

(अनुष्टुप्)

यथावद्वस्तु-निर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीप-वत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मक कथञ्चित् प्रमितेः पृथक् ॥

अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरञ्जनस्वभावनिरतत्वात्, स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात् । सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् सञ्जालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतःकारणात् एतदात्मगत-दर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः -

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं मोक्ष-मक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकार-स्वरस-भरतोऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलित-मचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥

अब, समस्त कर्म के प्रलय के हेतुभूत शुद्धोपयोग का अधिकार कहा जाता है ।

व्यवहार से प्रभु केवली सब जानते अरु देखते ।

निश्चय नयात्मक द्वार से निज आत्म को प्रभु पेखते ॥१५९॥

अन्वयार्थ : [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [केवली भगवान्] केवली भगवान् [सर्व] सब [जानाति पश्यति] जानते हैं और देखते हैं; [नियमेन] निश्चय से [केवलज्ञानी] केवलज्ञानी [आत्मानम्] आत्मा को (स्वयं को) [जानाति पश्यति] जानता है और देखता है ।

टीका : यहाँ, ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथञ्चित् कहा है ।

‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित हैं)’ ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से,

व्यवहारनय से वे भगवान परमेश्वर परमभट्टारक आत्मगुणों का घात करनेवाले घातिकर्मों के नाश द्वारा प्राप्त सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती सचराचर द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते हैं और देखते हैं। शुद्धनिश्चय से परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञवीतराग को, परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्पों की सेना की उत्पत्ति मूलध्यान में अभावरूप होने से (?), वे भगवान त्रिकाल-निरुपाधि, निरवधि (अमर्यादित), नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को, स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी, जानते हैं और देखते हैं। किसप्रकार ? इस ज्ञान का धर्म तो, दीपक की भाँति, स्व-परप्रकाशकपना है। घटादि की प्रमिति से प्रकाश-दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से स्व और पर को प्रकाशित करता है; आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है।

६९ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करने से जिन्होंने विशाल कीर्ति प्राप्त की है, ऐसे महासेनपण्डितदेव ने भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

वस्तु का यथार्थ निर्णय ही सम्यग्ज्ञान सुदीप समान।
भिन्न कथञ्चित रहे ज्ञप्ति से निज-पर का निर्णायक ज्ञान ॥

'[श्लोकार्थः] वस्तु का यथार्थ निर्णय, सो सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति, स्व के और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है तथा प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है।'

अब 'स्वाश्रितो निश्चयः (निश्चय स्वाश्रित है)' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत *निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। (वह इस प्रकार :) सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है; इस कारण से यह (सहजज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है।

* निरुपराग = उपरागरहित; निर्विकार।

(सहजज्ञान स्वात्मा को तो स्वाश्रित निश्चयनय से जानता ही है और इस प्रकार स्वात्मा को जानने पर उसके समस्त गुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं। अब सहजज्ञान ने जो यह जाना, उसमें भेद-अपेक्षा से देखें तो सहजज्ञान के लिए ज्ञान ही स्व है और उसके अतिरिक्त अन्य सब—दर्शन, सुख आदि—पर है; इसलिए इस अपेक्षा से ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है।)

इसी प्रकार(आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने(श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १९२वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

कर्मबन्ध छेदन से अक्षय अतुल मुक्ति का अनुभवशील।
सहज अवस्था विकसित जिसकी नित्य प्रकाश स्वरूप प्रवीण ॥
पूर्ण शुद्ध अरु एकाकार स्वरस से अति गम्भीर हुआ।
पूर्णज्ञान जगमग निज-निश्चल महिमा में थिर धीर हुआ ॥

“[श्लोकार्थः] कर्मबन्ध के छेदन से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी विकसित हो गयी है ऐसा, एकान्त शुद्ध (कर्म का मैल न रहने से जो अत्यन्त शुद्ध हुआ है ऐसा), तथा एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार से परिणामित) निजरस की अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान जगमगा उठा (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाञ्चल्यमान प्रगट हुआ), अपनी अचल महिमा में लीन हुआ।”

प्रवचन-१८५, गाथा-१५९, शुक्रवार, आषाढ़ शुक्ल ६, दिनांक १८-०७-१९८०

नियमसार, शुद्धोपयोग अधिकार। यहाँ यह कहना है कि आत्मा पर का तो कुछ कर नहीं सकता। अपने में अपनी पर्याय में पर्याय उलट-पलट कर सकता है। पर में तो कुछ कर नहीं सकता; और पर को जानना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! कहाँ ले जाना है? पर को जानता है, वह पर में तन्मय होकर नहीं जानता; पर से भिन्न रहकर जानता है। अपने अस्तित्व में स्व और पर को जानने की ताकत है, तो अपने अस्तित्व में ही जानता है। पर के अस्तित्व से और अस्तित्व में नहीं जानता। आहाहा! पर का कर तो नहीं सकता।

निश्चय से तो अपने राग का भी कर्ता नहीं है। पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि में कर्ता है। आहाहा! स्वभावदृष्टि में उसका कर्ता नहीं। आहाहा! ऐसी दृष्टि द्रव्य पर दृष्टि करते हुए स्व-पर को जानना स्वयं से स्वतः होता है। यह बात चलती है।

फिर से लेते हैं। 'पराश्रितो व्यवहारः' जितना पराश्रित हो, उस सबको व्यवहार कहते हैं। ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, व्यवहारनय से वे भगवान... आहाहा! परमेश्वर परमभट्टारक आत्मगुणों का घात करनेवाले... निमित्त से कथन है। घातिकर्मों के नाश द्वारा... अपने गुण में घात करने में निमित्त है। उस निमित्त का भी अपने गुण से घात करके। उन्हें निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। पर का घात करना, वह अपने अधिकार की बात नहीं है। वह परमाणु की पर्याय अपने पलटने के काल में पलटती है। यहाँ राग-द्वेष नहीं किये तो उसने पलटायी—उसने कर्म का नाश किया—ऐसा व्यवहार कहने में आता है। ओहोहो! यहाँ तक व्यवहार। यहाँ तो अभी बाहर का यह करना... यह करना... और यह करना... आहाहा! पर का तो कुछ करता नहीं, परन्तु अपने में राग होता है, उसका भी परमार्थ से कर्ता नहीं है। परमार्थ से तो उसे जाननेवाला भी नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव में स्व-पर प्रकाशक शक्ति होने से अपने को जानता है। पर को जानता है - ऐसा कहना, वह व्यवहारनय है।

व्यवहारनय से वे भगवान परमेश्वर परमभट्टारक आत्मगुणों का घात करनेवाले घातिकर्मों के नाश द्वारा प्राप्त सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती... त्रिलोकवर्ती-त्रिकालवर्ती। आहाहा! तीन लोक में वर्तनेवाले और तीन काल में वर्तनेवाले। सचराचर... आहाहा! द्रव्य-गुण-पर्यायों को... द्रव्य अर्थात् वस्तु; गुण अर्थात् उसकी शक्ति; पर्याय अर्थात् उसकी अवस्था। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय को एक समय में जानने की ताकत है। एक समय में जानते हैं और देखते हैं। आहाहा!

शुद्धनिश्चय से परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञवीतराग को, परद्रव्य के ग्राहकत्व,... परद्रव्य के जाननेवाले और परद्रव्य के देखनेवाले। परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्पों की सेना की उत्पत्ति मूलध्यान में अभावरूप होने से... मूल में है नहीं। आहाहा! पर को ग्रहण करना, पर को जानना, पर को देखना... आहाहा! यह अपने मूल ध्यान में नहीं है। वे भगवान त्रिकाल-निरुपाधि,... आहाहा! निर-अवधि—मर्यादारहित नित्यशुद्ध... त्रिकाली शुद्ध द्रव्य और पर्याय सादि-अनन्त।

नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को,... आहाहा! निज कारणपरमात्मा, त्रिकाली चीज़, ध्रुव चीज़। आहाहा! स्वयं कार्य (रूप) परमात्मा होने पर भी,... आहाहा! अपने स्वरूप में केवलज्ञान और केवलदर्शन कार्यपरमात्मा होने पर भी, जानते हैं और देखते हैं। अपने को देखते-जानते हैं। आहाहा! पूर्ण स्वरूप प्रगट हुआ, तो भी अपने को देखते-जानते हैं। आहाहा! किस प्रकार? इस ज्ञान का धर्म तो,... इस ज्ञान का स्वभाव; जो ज्ञान अपना स्वभाव है, उसका स्वभाव धर्म दीपक की भाँति,... दीपक की भाँति। अपना ज्ञान का स्वभाव दीपक की भाँति... आहाहा! स्व-परप्रकाशकपना है। जैसे दीपक अपने को प्रकाशित करता है और घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है; उसी प्रकार आत्मा अपने को ज्ञान-दर्शनरूप जानता है। अपने को जानता है। आहाहा!

घटादि की प्रमिति से प्रकाश-दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी... घटादि की प्रमिति से प्रकाश-दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी। पररूप प्रकाशित चीज़ से दीपक कथंचित् भिन्न है। आहाहा! घटादि की प्रमिति से प्रकाश- आहाहा! दीपक (कथंचित्) भिन्न... अपने से कथंचित् भिन्न है। अपने को जानता है और जाननेवाला, ऐसे कथंचित् भिन्न है। आहाहा! स्वयं को जानता है और जाननेवाला भी स्वयं, वह भी कथंचित् भिन्न है। आहाहा! तो परचीज़ की बात ही कहाँ करना? परचीज़ तो भिन्न है ही। आहाहा! परचीज़ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, स्पर्श नहीं है। परचीज़ के साथ स्पर्श नहीं है, प्रवेश नहीं है। आहाहा! अपनी चीज़ में दीपक जैसे प्रमिति और प्रमाण, स्वयं अपने को जानता है और जाननेयोग्य, ऐसे कथंचित् भिन्न पड़ता है। आहाहा! घटादि की प्रमिति से प्रकाश-दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से... दीपक का प्रकाश स्वयं है। आहाहा! स्व और पर को प्रकाशित करता है;... आहाहा! दीपक अपने में रहकर स्व और पर को प्रकाशित करता है। आहाहा!

आत्मा भी... यह थोड़ी सूक्ष्म बात है। ज्योतिस्वरूप होने से व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को... आहाहा! प्रकाशस्वरूप होने पर भी, चैतन्य का प्रकाश स्वभाव, जानने का स्वभाव, ऐसा होने पर भी... आहाहा! आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को... आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें। अपना

प्रकाशस्वभाव स्व-परप्रकाशक होने पर भी, पर को व्यवहार से जानता-देखता है। त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है। व्यवहार से। अपने को और पर को जानना, यह दो में व्यवहार हुआ। आहाहा! अपने को भी जाने और पर को भी जाने, यह व्यवहार हो गया। पर को जानना, यह (व्यवहार हो गया)। समझ में आता है यह? बहुत सूक्ष्म बात! आहाहा! चैतन्य ज्योत... दीपक जैसे स्वयं में रहकर स्वयं को प्रकाशित करता है और घटपटादि को प्रकाशित करता है। वह अपने में रहकर, यह व्यवहार। ऐसे ज्योतिरूप चैतन्य आत्मा अपने को जानता है और त्रिलोक तथा त्रिकाल जो अपने से भिन्न है, उन्हें व्यवहार से जानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर को तो व्यवहार से जानता है और अपने को निश्चय से जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने को निश्चय से। व्यवहार हो गया न? परवस्तु, वह व्यवहार; स्ववस्तु, वह निश्चय। स्व को जानना, वह निश्चय; पर को जानना, वह व्यवहार। आहाहा! पर को अपना मानना, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! और अपने स्वभाव में पर से कुछ होता है, मुझमें पर से फेरफार होता है, यह भी मिथ्याभ्रान्ति है, परन्तु अपने में जानने की ताकत है, वह त्रिकाल और त्रिलोक को जाने... आहाहा! उसे भी व्यवहार कहा जाता है। ओहोहो! यहाँ तक कहाँ जाए? अभी तो यहाँ पर का करना है, पूरे दिन पर का करना और मदद करना, सहायता करना, पर के कार्य करना, इसके बिना कमा किस प्रकार सके? पच्चीस-पचास हजार का बारह महीने का खर्च हो। वह सब कमावे, दुकान चलावे, यह करे, यह करे तो यह सब होता है या नहीं? आहाहा! कुछ नहीं होता। यह पच्चीस-पचास हजार का आना या न आना, वह परमाणु की पर्याय की ताकत है।

गुजराती में ऐसा कहा जाता है न? हिन्दी में भी है। 'दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम।' नाम है? परन्तु वह जो चीज़ आनेवाली है, वह आयेगी। एक परमाणु का फेरफार नहीं होगा। जितने परमाणु, जितने प्रमाण में आनेवाले होंगे, वे आयेंगे; नहीं आनेवाले होंगे, वे नहीं आयेंगे। आत्मा उसमें कुछ ला सके या घटा सके या फेरफार कर सके (नहीं)। आहाहा! दाल, भात, रोटी खाने में भी कम खाना और अधिक खाना, यह आत्मा नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : चबाकर तो खाना चाहिए न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा चबा सकता ही नहीं न ! आत्मा पर को चबा सकता ही नहीं । पर को छूता ही नहीं । आहाहा !

दुनिया में तो ऐसा कहा जाता है कि पेट में कहीं दाँत नहीं है, इसलिए बराबर चबाकर खाना कि जिससे अन्दर जाकर पचे । आहाहा ! सब मिथ्या है । एक परमाणु का दबा सके या छू सके, ऐसा नहीं होता । आहाहा ! यह तो वीतराग का मार्ग है । वीतराग-तीन काल का ज्ञान, त्रिकाली सर्वज्ञ परमात्मा सब जानते हैं । परन्तु कहते हैं कि सर्व को जानते हैं-ऐसा कहना, वह व्यवहार है । आहाहा !

मुमुक्षु : पर को जाने, वह व्यवहार...

पूज्य गुरुदेवश्री : पर है न ? जिसमें तन्मय होकर न जाने, वह व्यवहार है । आत्मा शरीर को तन्मय होकर नहीं जानता । आत्मा अरूपी, शरीर रूपी । आहाहा ! दाल, भात, रोटी रूपी, जड़ और आत्मा चैतन्य । वह चैतन्य पर को स्पर्श कर खाता है-पीता है, ऐसा नहीं है । आहाहा ! लो ! ऐसी बात ! पर से तो बिल्कुल पंगु है । अपने में पुरुषार्थ करके परमात्मा हो सकता है । पर के लिये तो पंगु है ।

मुमुक्षु : परमात्मा तो सर्वशक्तिमान है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपनी शक्ति में । अपनी शक्ति अपने में । यह प्रश्न भी उठा है कि आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं तो एक शक्ति ऐसी भी होनी चाहिए, वह लाओ तो क्या तकलीफ है ? पर का कर सके, ऐसी एक शक्ति होवे तो क्या तकलीफ है ? यह भी प्रश्न उठा था शास्त्र में । अपने को जानता है, वैसे पर को भी जानता है और पर का कर सकता है, अनन्त शक्तियाँ हैं तो उसमें एक शक्ति यह लेना । परन्तु ऐसी कोई शक्ति नहीं होती । आहाहा !

अपने स्वरूप में पर का तो कर्ता नहीं, राग का कर्ता नहीं, परन्तु राग को और पर को जानना, यह भी व्यवहार है । आहाहा ! जानना, वह व्यवहार है । करने का तो है ही नहीं । आहाहा ! ऐसा मार्ग किसे रुचे ? पूरे दिन काम करना हो । अब अन्दर से भिन्न पड़कर मुर्दा हो जाए । पर के लिये तो मुर्दा हो जाए, तब हो । आहाहा !

आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप... आहाहा! तीन काल को जाने, यह भी व्यवहार है। आहाहा! वस्तु को जाने, यह तो व्यवहार है, परन्तु तीन काल को जाने, यह भी व्यवहार है, क्योंकि परचीज़ है। आत्मा अपने को, अपने में जानता है, यह भी एक भेद है, व्यवहार है। यह पहले आ गया। आत्मा, आत्मा को जानता है, यह भी व्यवहार है। वह तो ज्ञायक, ज्ञायक ही है, बस! आहाहा! यह पहले आ गया। समझ में आया ?

पर का कर्ता नहीं, पर को जानता नहीं, अपने में अपने को जानता है। ज्ञायक, ज्ञायक को जानता है, यह भी व्यवहार है। यह व्यवहार भी अभूतार्थ है। ज्ञायक, ज्ञायक है। जाननेवाला, जाननेवाला है, बस! किसे जानता है, यह प्रश्न नहीं। जाननेवाला है। आहाहा! अपने को जानता है, यह भी व्यवहार है। अरे! पहले आ गया है। समयसार में (आ गया है)। ऐसी बात बैठना! पूरे दिन व्यवहार क्रियाकाण्ड में रचापचा (हो), एक तो पूरे दिन दुकान में रचापचा हो, उसमें से थोड़ा समय लेकर शाम को सामायिक करना। एकाध शाम को और एकाध सवेरे उठकर। यह आसन बिछाकर णमो अरिहंताणं... तिक्खुत्तो... ऐसा करके हो गयी सामायिक, हो गया धर्म, लो! अरे! भाई! यह धर्म नहीं है। आहाहा!

अपनी चीज़ पर को स्पर्श नहीं करती तो पर को जाने, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। क्या कहा? अपनी चीज़ पर को स्पर्श नहीं करती तो पर को जानना, ऐसा कहना भी व्यवहार है। आहाहा! अपने में भेद करना कि ज्ञान आत्मा को जानता है, यह भी व्यवहार है। यह सदभूतव्यवहार है। पर को जानता है-ऐसा कहना, वह असदभूतव्यवहार है। आहाहा! अब ऐसा धर्म का उपदेश! पूरे दिन यह करना - करना चले, उसमें कुछ जानने में भी तू तुझे जानता है और जाननेवाला, जाननेवाले को जानता है, ऐसा भेद भी व्यवहार है। आहाहा! पर को जानता है, यह तो व्यवहार है ही, क्योंकि पर को कभी स्पर्श नहीं करता और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कभी प्रवेश नहीं करता। आहाहा! और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! बिच्छु काटे तो बिच्छु ने शरीर को स्पर्श नहीं करता। सर्प काटे तो सर्प ने शरीर को स्पर्श भी नहीं किया। आहाहा! अब यहाँ इतने अधिक जाना! निवृत्ति कहाँ ?

मुमुक्षु : जहर तो चढ़ जाता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जहर चढ़ता है, वह तो स्वयं के परमाणुओं में (फेरफार होता है) । वह स्वयं के परमाणुओं के कारण से है । ऐसी चीज़ कठिन है । अनन्त परमाणु स्वयं में है । स्वयं में जो पर्याय होनेवाली होवे तो वह निमित्त है । निमित्त से कुछ हुआ नहीं । आहाहा ! कठिन बात है । दुनिया से अलग प्रकार है । सत्य को तो सत्य रखना चाहिए । सत्य को असत्य करने से तुझे लाभ नहीं होगा । आहाहा !

ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा, जानन-देखन स्वभाव, वह पर को जानता-देखता है, कहना, यह व्यवहार है, क्योंकि पर में तन्मय होकर नहीं जानता, पर को स्पर्श कर नहीं जानता । पर को प्रवेश करके नहीं जानता । अपने में प्रवेश करके अपने को जानता है । आहाहा ! ऐसा व्यवहार धर्म ! यहाँ तो कहे-एकेन्द्रिय की दया पालो, दो इन्द्रिय की दया पालो, तस्समिच्छामि दुक्कडम करो पाप लगा हो तो । आहाहा ! तस्सउत्तरीकरणेण प्रायश्चित्त करणेण विसोहि करणेण, कायोत्सर्ग करो । यहाँ कहते हैं, शरीर को हिला सकता नहीं, उसमें करे क्या ? कायोत्सर्ग तो उसे कहते हैं कि रागरूपी परिणाम है, उसे भी स्पर्श नहीं करना और अपने आनन्द में रहना, वह कायोत्सर्ग है । आहाहा ! कहाँ बाहर की और कहाँ अन्दर की चीज़ ! बहुत अन्तर हो गया ।

यह कहते हैं पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है । आहाहा ! व्यवहार से त्रिलोक को और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है । आहाहा ! है अन्तिम लाईन ? ६९ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करने से जिन्होंने विशाल कीर्ति प्राप्त की है, ऐसे महासेनपण्डितदेव ने भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—आहाहा ! नीचे भाई ने लिखा है, टीका में कुछ अशुद्धि है । वस्तु का यथार्थ निर्णय, सो सम्यग्ज्ञान है । यह श्लोक का अर्थ है । आहाहा !

वस्तु का यथार्थ निर्णय (अर्थात्) जैसी चीज़ है, वैसा निर्णय होना, इसका नाम सम्यग्ज्ञान है । भगवान ने कुछ बनाया नहीं । कोई भगवान ने कुछ नहीं किया । वाणी भी भगवान ने नहीं की है । आहाहा ! वाणी भी वाणी के कारण से निकली है । भगवान ने जाना है तो स्व-परप्रकाशक अपनी शक्ति है । वाणी में स्व-पर कहने की शक्ति है । वह वाणी,

वाणी से निकलती है; भगवान के मुख के कारण नहीं। अभी अखबार में इसकी चर्चा चली थी। कोई कहे कि भगवान के मुखारविन्द से वाणी निकलती है। मुखारविन्द (-ऐसी) भाषा सब जगह आती है। यह शब्द बहुत जगह आता है। मुखारविन्द से वाणी निकलती है। बड़ी चर्चा चली है। अभी लेख आते हैं। कोई कहे कि मुखारविन्द से नहीं; पूरे शरीर से निकलती है। भगवान को वाणी निकलती है, वह पूरे शरीर में से निकलती है। ॐ ध्वनि खिरती है। यह सत्य है। आहाहा! स्वयं से निकलती है, पर से नहीं निकलती। आहाहा! वाणी भी स्वयं के कारण से निकलती है। भगवान तो वाणी में निमित्त है। निमित्त का अर्थ कि निमित्त, वाणी को कुछ नहीं करता। वाणी को ज्ञान स्पर्श भी नहीं करता। केवलज्ञानी का ज्ञान... आहाहा! वह वाणी को स्पर्श भी नहीं करता, तो भगवान वाणी के कहनेवाले हैं, यह तो व्यवहार का कथन है। आहाहा! ओहोहो!

भेदज्ञान सूक्ष्म बात है, भाई! पदार्थ को जैसा है, वैसा भिन्न, भिन्नरूप जैसा पदार्थ रहता है, जाननेवाला पर को जाने तो भी भिन्न रहता है, इसलिए पर को जानना व्यवहार कहा गया है। आहाहा! पर को जानने के काल में आत्मा अपना ज्ञान पर में तन्मय नहीं करता। पर को स्पर्श नहीं करता, चुम्बन नहीं करता। आहाहा! तो पर को जानता है (-यह) कहना, वह तो व्यवहार है। अपने को जाने, वह निश्चय, सद्भूतव्यवहार है। वह तो असद्भूत-झूठा व्यवहार है। आहाहा! कठिन बातें। यह सब भगवान की वाणी और शास्त्र बनाया, वह मानना या नहीं? 'ओमकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रची आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारे।' निमित्त-निमित्त के कथन तो ऐसे आते हैं, परन्तु उन्हें समझना चाहिए। निमित्त-व्यवहार का कथन तो आता है।

भगवान को ऐसा अतिशय था। अतिशय तो अतिशय में है; भगवान, भगवान में है। आहाहा! बात बहुत सूक्ष्म! भगवान दिव्यध्वनि से बोलते थे। ॐकार से बोलते थे, यह भी व्यवहार है। ॐ, ॐकार से स्वतन्त्र निकलता है। आत्मा स्वतन्त्र अपने ज्ञान में जानता है, बस! आहाहा! इतने अधिक (पहुँचना)। अभी तो यह हाथ को हिला सकता नहीं, इसे ऐसे कर सकता नहीं, अंगुली से ऐसा हुआ ही नहीं। उसकी पर्याय ऐसी होने की थी तो हुई, तो निमित्त कहने में आया। निमित्त है तो ऐसा हुआ है-ऐसा है नहीं। आहाहा! वीतराग की वाणी बहुत कठिन। प्रत्येक वस्तु जैसी है, वैसी जानी और जानकर

वाणी में प्रकाश करने का स्वभाव धर्म है तो प्रकाशित हुई। आहाहा! इसलिए वाणी को भी व्यवहार से (पूज्य कही है)। पहले समयसार में आ गया। व्यवहार से पूज्य है। आहाहा! आत्मा बोल नहीं सकता; बोले, उसे जान नहीं सकता। आहाहा! क्योंकि भाषा पर है, आत्मा पर है, तो पर को जानना, कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! अब जानता है या नहीं जानता? दो का निर्णय तो करना या नहीं?

मुमुक्षु : पहले ज्ञान को जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाने? प्रभु! अपने को जानता है। व्यवहार से ज्ञात होता है। अपनी पर्याय में उस सम्बन्धी का ज्ञान अपने से, अपने में, अपने कारण से प्रगट हुआ है। वह चीज़ है तो चीज़ की अस्ति से यहाँ ज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! उस परचीज़ का ज्ञान स्वयं से उत्पन्न हुआ है। अपने ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से। आहाहा! यहाँ तक ले जाना।

वस्तु का यथार्थ निर्णय, सो सम्यग्ज्ञान है। श्लोक का अर्थ है। है? श्लोक का है? श्लोक का अर्थ है। पहला श्लोक है न? वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति,... वह सम्यग्ज्ञान दीपक की भाँति स्व के और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है... जाननेवाला है। आहाहा! तथा प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है। आहाहा! जानने की क्रिया... आहाहा! कथंचित् चेतनद्रव्य से भिन्न है। आहाहा! प्रमिति जो जानने की क्रिया होती है, तो जानने की क्रिया तो एक समय की है; वस्तु त्रिकाली है। त्रिकाली में उस पर्याय का प्रवेश नहीं और उस पर्याय की उत्पत्ति स्वयं से हुई है; द्रव्य से भी नहीं। आहाहा! सब बातें ऐसी, अब लिखने जाए कब? याद रखे कब? आहाहा! सम्प्रदाय में तो बाहर की बात। एकेन्द्रिय (की दया) करो, सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो और वह करते... करते... वह क्रिया मैं करता हूँ - ऐसा मानना, यह मिथ्यात्व है। आहाहा! मैं आसन बिछाता हूँ, मैं णमो अरिहंताणं बोलता हूँ... आहाहा! सब मिथ्यात्व है। गजब बात है, प्रभु! कितनों ने तो ऐसी बात कभी सुनी नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है। अपने में जानने की पर्याय से भी द्रव्य कथंचित् भिन्न है। पर्याय तो एक समय रहती है और द्रव्य तो त्रिकाल है। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ तो कथंचित् अभिन्न भी कहा ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इसकी पर्याय है न ? इस अपेक्षा से । परन्तु पर्याय और द्रव्य एक नहीं है । आहाहा ! पर्याय की एक समय की अवधि, द्रव्य की त्रिकाल अवधि । आहा ! तो अपनी जानने की शक्ति पर्याय में गयी, वह जानने की शक्ति भी पर से तो नहीं, पर को तो जानता नहीं, परन्तु जानने की शक्ति द्रव्य की है, वह कथंचित् भिन्न है । आहाहा ! समझ में आया ?

जाननेवाला जानता है । पर को और स्व को दोनों को, पूर्ण स्वरूप भगवान जानता है, परन्तु पर को जानना, वह पर को स्पर्श नहीं करता । पर सन्मुख उपयोग गया नहीं । उपयोग तो अपना स्वसन्मुख है । भगवान का उपयोग तो स्वसन्मुख है; पर में उपयोग नहीं है और स्वसन्मुख के उपयोग में पर का ज्ञान आ गया । आहाहा ! ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है । आहाहा ! ऐसा सूक्ष्म ! यह अन्तिम अधिकार सूक्ष्म है ।

सवरे आया था न, प्रकृति का, वह सूक्ष्म था । प्रकृति पूर्व में बाँधी हुई सबकी समान नहीं होती । जिसे जितनी जो प्रकृति हो उतनी । बाँधी हुई हो, वह उदय में आवे, उसे आत्मा भोगता नहीं । आहाहा ! यहाँ तो खाना-पीना-ओढ़ना-पहिनना सभी क्रिया में कर सकता हूँ (-ऐसा अज्ञानी मानते हैं) । आहाहा !

बात यह है, तू है कौन ? तू है कौन ? और तुझमें है क्या ? तू आत्मा है और तुझमें ज्ञान है । तू आत्मा है और आत्मा में ज्ञान है; तो वह ज्ञान जानता है । वह अपने को जाने, यह निश्चय, क्योंकि अपने में तन्मय है । परन्तु मैंने मुझे जाना, यह भी भेद है । आहाहा ! ज्ञायक तो ज्ञायक ही है । यह पहले आ गया । ज्ञायक, ज्ञायक ही है । ज्ञायक अपने को जाने और पर को जाने, ऐसा नहीं; ज्ञायक तो ज्ञायक है । आहाहा ! अब उसे पर की दया पालने का कहना, सत्य बोलना, शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, शरीर से । शरीर को ब्रह्मचर्य में रोके रखना - यह क्रिया जड़ की है । वह अपने से रुकती है ? अपने से होती है ? अपने से होती है तो अपने से रुके ? बात ऐसी है, बापू ! भगवान का मार्ग जैसे बहुत खुल्ला करने जाए तो बहुत सूक्ष्म है । आहाहा !

एक परमाणु में अनन्त गुण, एक आत्मा में अनन्त गुण । वे गुण अनन्त कहना, यह भी एक भेद है । गुण-गुणी का भेद करना, यह भी व्यवहार है । आहाहा ! अरे ! गुण-गुणी

का भेद करके रहना, यह भी विकल्प है। आहाहा! मैं ज्ञायक हूँ – ऐसा कहना, और इस विकल्प में रहना, यह भी विकल्प है। आहाहा! मैं गुणी हूँ और यह गुण है, यह भी विकल्प है। फिर द्रव्य है और गुण है और पर्याय है, यह भी विकल्प है-राग है। आहाहा!

यहाँ तो जाननेवाला जानता है, स्वयं को प्रमिति को जानता है, यह भी भेद-व्यवहार है। आहाहा! आया न अन्दर? पदार्थों के निर्णयात्मक है तथा प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है। जानने की पर्याय से तो भिन्न है, परन्तु अपना आत्मा कथंचित् भिन्न है। यहाँ तो यह परपदार्थ में लिया है। दीपक की भाँति, स्व के और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है तथा प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है। आहाहा! दीपक का प्रकाश, दीपक और उसका प्रकाश प्रकाशित करता है, वह भी भिन्न हो गया, वह भी सद्व्यवहार है। आहाहा! दीपक पर को प्रकाशित करता है। यह तो असद्व्यवहार है, झूठा व्यवहार है। आहाहा! इसी तरह आत्मा पर को जानता है, यह असद्व्यवहार-झूठा व्यवहार है। आत्मा अपनी पर्याय को जानता है, यह भी सद्व्यवहार है। आहाहा! अब ऐसी बात कहाँ लेना? निवृत्ति नहीं मिलती।

ऐसा समय चला जाता है। मृत्यु के समीप जाता है। देह के छूटने की जो अवधि है, वह समय बदले, ऐसा नहीं है। लाख इन्द्र उतरे और कोई (डाक्टर) दवा, इंजेक्शन लगा दे और अमेरिका ले जाए और अमुक ले जाए। अभी ले जाते हैं न? अमुक दवा के लिये अमेरिका ले जाए, इंग्लैण्ड ले जाए, लन्दन ले जाए। आहाहा! लाख ले जाए। जो पर्याय जिस काल में जो होनी है, वह होगी। उसमें फेरफार करने को इन्द्र, नरेन्द्र और जिनेन्द्र (भी) समर्थ नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बात वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र सुनने को नहीं मिलती। वीतराग परमात्मा के अलावा (अन्यत्र कहीं है नहीं)। पागल जैसा लगे।

प्रत्यक्ष करते हैं न? यह कहा था न उस दिन, यह बात हुई थी। 'चिमन चकु' कहे – लो, यह किया। नहीं कर सकता... नहीं कर सकता... अरे! परन्तु प्रभु! धीर-धीर हो। ऐसा किया उसमें क्या हुआ? अन्दर में क्या हुआ? उसमें क्या हुआ? दो पदार्थ भिन्न है या नहीं? यह शरीर पदार्थ भिन्न है और आत्मा अन्दर भिन्न है, तो आत्मा की पर्याय आत्मा में हुई है, शरीर की पर्याय शरीर में हुई है। बाबूभाई! कहते हैं, यह किया, लो! क्या किया तूने? तू कौन है? कहाँ है? वह तो आत्मा है। आत्मा में तो पर्याय हुई। मैं करूँ – ऐसी

पर्याय हुई भले। परन्तु वह पर्याय आत्मा में रही और यह हुई, वह तो इसके पर्याय में हुई; तो आत्मा की पर्याय इसकी पर्याय करती है, वह बिल्कुल झूठ है। आहाहा! वह तो बड़ा वकील है। (संवत्) १९९७ के वर्ष की बात है, हों! बहुत समय हो गया। ३९ वर्ष हुए। मन्दिर होता था, तब थे। आहाहा!

अब 'स्वाश्रितो निश्चयः' 'स्वाश्रितो निश्चयः' है? (निश्चय स्वाश्रित है) 'ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। आहाहा! अपना, हों! अन्दर अपने में। 'निरुपराग = उपरागरहित; निर्विकार।' निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण... यह वहाँ पड़ा है प्रभु तू। कारण निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही।

(वह इस प्रकार :) सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा, ... क्या कहा? समझ में आया? पर की बात नहीं, हों! निश्चयनय से स्व-परप्रकाशकपना है। इतना। यह क्या कहा? कि अपने से, अपने में निश्चय से स्व-परप्रकाशक है ही। पर को प्रकाशित करता है, यह अभी प्रश्न नहीं। निश्चय से अपने में, अपने कारण से स्व-पर प्रकाशक जानना, यह निश्चय से अपने में अपने कारण से है। पर के कारण से है नहीं। आहाहा! ऐसी बात! क्या कहा?

फिर से, 'स्वाश्रितो निश्चयः (निश्चय स्वाश्रित है)' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। क्या कहा? ज्ञान तो अपने में ही रहता है। स्व-परप्रकाशकपना भी अपने में है। पर के कारण परप्रकाशकपना है या पर को ज्ञान स्पर्श करता है, इसलिए परप्रकाशक है—ऐसा है नहीं। निश्चयनय से तो अपने में स्व-परप्रकाशक, यह स्वरूप ही उसका है। यह तो अपना स्वतः स्वरूप है। आहाहा! यह निश्चय से, हों! स्व-परप्रकाशक। यह तो पर को जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है, परन्तु स्वयं प्रकाशक स्वभाव तो निश्चय से अपना ही है। समझ में आया? जहाँ यहाँ व्यवहार को निश्चय कह दिया। कैसे?

निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयपक्ष से भी... व्यवहार तो ठीक, पर को जाने परन्तु निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। क्या? पर का प्रकाशक

ऐसा नहीं। यहाँ स्वभाव निश्चय से तो स्व-परप्रकाशकपना अन्दर है। वह अपना स्वभाव अपने में है। पर को प्रकाशित करता है, इसलिए स्व-परप्रकाशक है - ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म कहाँ वाँचने जाए? हीरा-माणिक के थोथा के कारण निवृत्ति कहाँ है? शान्तिभाई को...

मुमुक्षु : ज्ञान....

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान स्वयं। ज्ञान का स्वभाव स्वप्रकाशक निश्चय से है। पर को प्रकाशित करता है - ऐसा कहना, वह व्यवहार है, परन्तु इसका स्वभाव निश्चय से स्व-परप्रकाशक निश्चयस्वभाव है। समझ में आया? पर को जानना, वह अभी यहाँ नहीं। यहाँ तो आत्मा का स्वभाव निश्चय से स्व-परप्रकाशक निश्चय से है। वह पर को प्रकाशित करता है, इसलिए परप्रकाशक है - ऐसा नहीं। वह परप्रकाशक और स्वप्रकाशक अपना स्वभाव ही है। आहाहा! समझ में आया? वाडीभाई!

एक ओर ऐसा कहना कि पर को प्रकाशित करे, वह व्यवहार है। वह दूसरी बात है। वह तो पर को प्रकाशित करता है, परन्तु स्पर्श नहीं करता; किन्तु यह स्व-परप्रकाशक निश्चय तो स्वतः स्वभाव है। पर के कारण नहीं। पर को प्रकाशित करता है, इसलिए नहीं। स्व-परप्रकाशक निश्चय से अपना स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? प्रभु त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की। और यहाँ निश्चय से **निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण...** क्या कहा? कि परप्रकाश की पर्याय कहीं पर में लीन नहीं है। समझ में आया? परप्रकाश की और स्वप्रकाश की पर्याय पर में लीन नहीं है। वह स्व-परप्रकाश की पर्याय अपने में लीन है। आहाहा! समझ में आया?

फिर से, (ज्ञान को) सतत निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण... ज्ञान, ज्ञान में लीन है और ज्ञान का स्वभाव निश्चय से स्व-परप्रकाशक है। पर को प्रकाशे, यह अभी बात नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! निश्चय पर को प्रकाशे, वह ज्ञान आत्मा से अपने से अपने में लीन है। वह ज्ञान कोई पर को प्रकाशित करता है, इसलिए पर में जाता है - ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

ज्ञान तो यहाँ है और परप्रकाशक कहना, पर को प्रकाशक कहना, यह व्यवहार है, परन्तु पर की प्रकाशक की पर्याय अपने में लीन है। वह परप्रकाशक की पर्याय पर से

उत्पन्न हुई नहीं और पर में है नहीं। समझ में आया? इस लकड़ी को जानना, ऐसे इस लकड़ी को जानना, वह व्यवहार; परन्तु लकड़ी सम्बन्धी का ज्ञान आया, वह ज्ञान तो आत्मा में लीन है। वह स्व-परप्रकाशक निश्चय से स्वयं अपना स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया?

एक ओर कहना स्व-परप्रकाशक, वह व्यवहार है। दूसरी ओर कहना, यह स्व-परप्रकाशक, वह अपना स्वभाव पर के कारण से नहीं है। वह अपना स्वभाव है, इसलिए निश्चय पक्ष है। आहाहा! ऐसी बात है। यह जवानों को समझ में आता है या नहीं?

मुमुक्षु : जवानों को तो जल्दी समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात जिन्दगी में आयी भी न हो न!

कहते हैं—दो बात—ज्ञान अपना। वह ज्ञान पर को जानता है - ऐसा कहना, वह व्यवहार। तो निश्चय और व्यवहार दो हुए। परन्तु पर को जाननेवाला ज्ञान उस पर में लीन नहीं है। वह तो अपने में है। तो निश्चय और व्यवहार दोनों अपने में है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए निश्चय से... आहाहा! परसम्बन्धी ज्ञान और अपने सम्बन्धी ज्ञान, इसमें आत्मा लीन है। पर में लीन नहीं। पर को जानता है तो पर में लीन नहीं। पर को जानने की शक्ति की लीनता तो अपने में है। आहाहा! इसलिए उसे निश्चयनय से **निश्चयनय से भी...** क्या कहा? ऐसा कैसे कहा?—कि व्यवहार से तो पर को जानता है, यह तो ठीक, परन्तु निश्चय से भी स्व-परप्रकाशक स्वभाव लीनता अपने में है। आहाहा! 'भी' कहा न 'भी'? पर की अपेक्षा लेकर पर को जानता है, ऐसा कहना, यह व्यवहार है, परन्तु स्व-पर को जानने की शक्ति है, वह अपने में लीन है। वह परप्रकाशक शक्ति कहीं पर में लीन नहीं है। आहाहा!

विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१८६, गाथा-१५९, शनिवार, आषाढ शुक्ल ७, दिनांक १९-०७-१९८०

शुद्धोपयोग अधिकार। पहले तो ऐसा आया कि पराश्रित व्यवहार। भगवान को केवलज्ञान होता है, वह पर को जानता है - ऐसा कहना, वह व्यवहार है, क्योंकि पर में तन्मय नहीं होते। लोकालोक को जानते हुए लोकालोक के साथ तन्मय नहीं है; तन्मय तो अपने ज्ञान-दर्शन के साथ है; इसलिए लोकालोक को जानते हैं, वह व्यवहार है। यह पहले आया था-पराश्रित। आहाहा! ऐसी बात। अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र को अपने को स्वयं जानता है। यह एक अपेक्षा से व्यवहार है। स्वयं वस्तु और अपना धर्म, उसे जानना, इस अपेक्षा से व्यवहार है। और दूसरी अपेक्षा से व्यवहार है। यहाँ देखो!

‘स्वाश्रितो निश्चयः (निश्चय स्वाश्रित है)’ ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण... आहाहा! केवलज्ञान अपने में लीनता है। केवलज्ञान पर को जानता है (परन्तु) पर में लीन-तन्मय नहीं है। आहाहा! अब ऐसा जानना। कारण कि निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। क्या कहते हैं? निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। यह पर को जानना और अपने को जानना, वह अपना है। कहीं पर को जाने, वह कहीं पर नहीं है। इस अपेक्षा से स्व-पर को जानना, वह निश्चय है। यह तो पर को जाने-ऐसा कहना, वह व्यवहार है, परन्तु पर सम्बन्धी अपना ज्ञान और निश्चय सम्बन्धी अपना ज्ञान, उसे जाने, वह निश्चय है। समझ में आया? आहाहा! विषय चला न हो, इसलिए (कठिन लगता है)। यहाँ तो निश्चय पक्ष से... यहाँ तक आया न? निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। आहाहा!

(वह इस प्रकार :) सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से... अपना ज्ञान, उसका लक्षण जानना है। आत्मा तो सर्व को जानता है और यह तो एक जानना-देखना, एक-एक गुण का लक्षण है। इस गुण के लक्षण से आत्मा से संज्ञा लक्षण से भिन्न कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! अब ऐसा (समझने के लिये) कहाँ निवृत्ति? आत्मा अपने को जानता है, यह स्व-परप्रकाशक है, वह निश्चय है। वह तो पर को प्रकाशित करता है - ऐसा कहना व्यवहार है। बाकी पर और स्व दो का प्रकाशक आत्मा निश्चय से अपने में है।

यह जीवशक्ति में (सर्वज्ञ शक्ति में) आया है न? भाई! सर्व को जाने, वह आत्मज्ञ। ४७ शक्तियाँ। वह आत्मज्ञान की शक्ति आयी है। वहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञान सर्व को जानता है, परन्तु है आत्मज्ञान। वह पर का ज्ञान नहीं है। उस आत्मा के ज्ञान में स्व-पर का जानना आ गया। उसमें पर की अपेक्षा लेना, वह व्यवहार हो गया। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म! और निश्चय से स्वयं अपने को जाने, वह निश्चय है। परन्तु अपने एक-एक ज्ञान-दर्शन-आनन्द के भिन्न-भिन्न लक्षण हैं, तो भी उन्हें जाने, वह भी निश्चय है। भाषा तो सादी परन्तु अब... आहाहा! उस पर के साथ क्या सम्बन्ध है? वह तो जड़, वाणी, मन, पुण्य-पाप, यह सब भिन्न है। अन्दर वस्तु चैतन्य प्रभु अनन्त गुण का धाम अत्यन्त भिन्न है। अब उस आत्मा को निश्चय से स्व-परप्रकाशक जानने का अपना स्वभाव है। उसमें अकेला पर को जानने का कहना, वह व्यवहार (हुआ)। बाकी पर को और स्व को जानने का स्वभाव अपना है, इसलिए निश्चय से अपने को ही जानता है, पर को नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ निश्चय और व्यवहार। उस क्रियाकाण्ड में निश्चय और व्यवहार और कहाँ गया। दया, दान, भक्ति, व्यवहार, वह पुण्य। वह धर्म नहीं। और उससे भिन्न आत्मा का आश्रय करना, वह धर्म। अब वह धर्म और पुण्य निश्चय-व्यवहार अलग, यह अलग चीज़। आहाहा! यह तो पर को जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। परन्तु वह पर और स्व को जानता है, वह अपनी चीज़ अपने में है। अपने को जानता है तो स्व-परप्रकाशक शक्ति अपनी है। निश्चय से अपने को ही जानता है। व्यवहार से (जानता है) - ऐसा नहीं। और उसके ज्ञान-दर्शन को जानना, ऐसे आत्मा से ज्ञान-दर्शनादि के लक्षण भिन्न, नाम भिन्न, परन्तु वस्तु अभिन्न है। निश्चय से अपने धर्म को भी जानता है। आहाहा! व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि गुणी का गुण भिन्न है, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि गुण का नाम भले भिन्न-भिन्न हो परन्तु है आत्मा के अन्दर। उस आत्मा को ही जानता है। निश्चय से अपने को ही जानता है। आहाहा! ऐसी बात के लिये निवृत्ति कहाँ? आहाहा!

इसमें क्या कहना है?—कि पर के ऊपर लक्ष्य करना नहीं। स्व-पर प्रकाशक है, इस कारण से पर के ऊपर लक्ष्य करना, यह इसमें आता नहीं। वह तो स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? स्व-परप्रकाशक में पर आया तो अकेला

पर को जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। परन्तु स्व और पर को जानने का तो अपना स्वभाव है। पर को जानना, वह कहीं पर का स्वभाव नहीं। पर को जानना, वह पर का स्वभाव नहीं। पर को जानने का और स्व को जानने का स्वभाव अपना है। निश्चय से स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव है। आहाहा! ऐसी बात है। यह शुद्धोपयोग अधिकार। यहाँ तक चला है।

निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। यहाँ तक आया है। निश्चयपक्ष से भी... है? अपने को ही जानता है। वह पर को जानता है, ऐसा कहना, वह अपेक्षित व्यवहार है, परन्तु पर सम्बन्धी और अपने सम्बन्धी जो ज्ञान है, वह अपना है। स्वयं में अपने को जानता है। पर को जानता है -ऐसा नहीं। आहाहा! अब इसमें व्यापारी को निवृत्ति (नहीं मिलती)। ऐसा आत्मा... स्वतन्त्र आत्मा बताते हैं।

भाई! तू पर को जानता है, ऐसा है नहीं। पर का करना और पर को छूना, वह तो है ही नहीं। तीन काल में है नहीं। आहाहा! पर को जानता है - ऐसा व्यवहार कहने में आता है। परन्तु पर को जानना, वह ज्ञान अपना है। अपने ज्ञान में स्व-पर जानने की शक्ति अपनी है, तो निश्चय से स्व-पर प्रकाशक अपना है। समझ में आया? आहाहा! यह कहीं हीरा के काम में ऐसा कुछ आता नहीं। उसमें क्या काम आवे वहाँ? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरी चीज़ में जो भिन्न-भिन्न धर्म हैं न? गुण भिन्न-भिन्न है न? वे गुण के नाम भले भिन्न हो, तथापि गुण और गुणी निश्चय से तो एक ही है। आहाहा! समझ में आया? भिन्न है नहीं, ऐसा जहाँ लें तो ऐसा लिया जाता है कि गुणी आत्मा और गुण, ऐसा यदि भेद करेगा तो विकल्प होगा। वह अलग चीज़ है, वह अलग चीज़ है। आहाहा! यहाँ तो स्वयं और अपना धर्म अर्थात् गुण, दोनों को जाने, वह निश्चय है। आहाहा! यहाँ नजर करनी है; बाहर नजर नहीं करनी है। पर को जाने, इसलिए पर के ऊपर लक्ष्य करना, पर के ऊपर उपयोग जाए तो पर को जान सके, ऐसा है नहीं। आहाहा! अपने ऊपर लक्ष्य करने से स्व और पर दोनों को जानने का निश्चय से अपना स्वभाव है। अतः निश्चयनय से भी अपने को ही प्रकाशित करता है। पर की बात नहीं है। आहाहा! अब यहाँ तक जाना।

अभी तो पूरे दिन पर का कर सकता हूँ, करता हूँ, यह किया... और यह किया...

और यह किया... और मैं नहीं होता तो नहीं होता। यह दो दिन मुझे बाहर जाना पड़ा, उसमें पीछे से यह सब अव्यवस्थित हुआ। शोर मचाता है न ऐसे? यहाँ काम बराबर न हो, स्वयं कहीं बाहर गया हो। बाहर गया हो। इन दो दिन में यह बराबर ठीक नहीं चला, इतना काम करना चाहिए, वह काम इतना क्यों हुआ नहीं? आहाहा! कौन करे? आहाहा! यहाँ उपस्थिति होवे तो अधिक काम हो और उपस्थिति बिना थोड़ा होता है, ऐसी कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! जिस समय में जिस द्रव्य की जो पर्याय होनेवाली हो, वह होती है। उसे कोई काल या पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वभाव है, प्रभु! तुझे नजर तो द्रव्य पर करनी है। भले वह पर को जानने का स्वभाव रखे, परन्तु पर में उपयोग नहीं लगाना। आहाहा! यहाँ यह कहना है।

स्व-पर को जानने का उपयोग का स्वभाव है, परन्तु पर को जाने, इसलिए पर के ऊपर उपयोग देना पड़े, ऐसा नहीं है। समझ में आया? ऐसा धर्म। क्या कहा? एक तो पर को जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। व्यवहार से कहा जाता है, क्योंकि जानने में आवे, उसमें वह चीज़ निमित्त है, इसलिए उसे व्यवहार कहते हैं। परन्तु पर को जाने, वह पर है; इसलिए पर को जानता है - ऐसा नहीं है। अपना स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इसलिए स्व और पर को अपने में रहकर अपने कारण से जानता-देखता है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। दुनिया को कठिन पड़ता है। प्रभु अत्यन्त निवृत्तस्वरूप है।

सैंतालीस शक्ति में तो लिया है कि आत्मा सर्वज्ञानमय, वह आत्मज्ञानमय है। शब्द ऐसे लिये हैं न? आत्मा सर्व को जानता है, परन्तु इसका अर्थ यह है कि वह आत्मज्ञानमय है। वह पर को जाने, इसलिए पर का ज्ञान है - ऐसा नहीं है। पर का और स्व का ज्ञान अपने में अपने से हुआ है, तो वह स्व और पर का ज्ञान, वह आत्मज्ञानमय है। स्व और पर का ज्ञान, वह आत्मज्ञानमय है। स्व-पर का ज्ञान, परसन्मुख के झुकाव के कारण पर का है - ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी धर्म की बात। निवृत्ति नहीं मिलती। वह एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय करते थे, सामायिक हुई सवेरे में; शाम को प्रतिक्रमण। पर्यूषण आदि हों, धर्म के दिन हों, इसलिए हो गया धर्म।

अरे प्रभु! तेरी चीज़ इतनी कीमती है। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुण से भरपूर (भगवान है)। उस प्रत्येक गुण के नाम, लक्षण भले भिन्न हो, तथापि वह स्व-प्रकाशक

ही है; परप्रकाशक नहीं। आत्मा और गुण, दो भिन्न पड़े और गुण पर तथा आत्मा स्व—
ऐसे भिन्न नहीं है। जब विचार करना हो, तब गुणी आत्मा और गुण ज्ञान-दर्शन, ऐसे भेद
करने से विकल्प उत्पन्न होता है। यह तो रागी प्राणी है, इसलिए (होता है)। परन्तु वस्तु
का स्वरूप देखो तो अपने धर्म को भी जाने और अपने को भी जाने, दोनों निश्चय है।

अपने से भिन्न धर्म, ऐसा लक्षण आया कि आत्मा का नाम ज्ञान। आत्मा का नाम
आत्मा और ज्ञान का नाम ज्ञान। आत्मा का नाम आत्मा, समकित का नाम समकित। ऐसे
नाम और लक्षण भेद पड़े, इसलिए व्यवहार है – ऐसा नहीं है। ऐसी बातें हैं। यह किस
प्रकार का धर्म होगा? वीतराग का धर्म ऐसा है, भाई! आहाहा! किस अपेक्षा से कहा?
वह यहाँ अन्त में कहा। आहाहा!

तीसरी लाईन। (वह इस प्रकार :) सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और
प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न... ज्ञान, आत्मा से प्रयोजन अपेक्षा से भिन्न है। आत्मा सर्व
गुण का आश्रय है। ज्ञान एक गुण है। ज्ञान का जानन स्वभाव है। आत्मा का अनन्त गुण
का स्वभाव है। आत्मा का नाम आत्मा है। ज्ञान का नाम ज्ञान है। नामभेद भी है। आहाहा!
है? सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा,... संज्ञा अर्थात् नाम। नामभेद भी है। आत्मा को आत्मा
कहते हैं और ज्ञान को ज्ञान कहते हैं, ऐसा नामभेद है। संज्ञा, संज्ञा है न? उस संज्ञा का
अर्थ नामभेद है। कभी पढ़ा न हो तो खबर भी नहीं हो। पढ़ने को कहाँ निवृत्त है? पुस्तक
तो होगी, रखी होगी। आहाहा! बहुत सूक्ष्म वस्तु, बापू! अन्दर में गहरे उतरे, तब कुछ
पकड़ में आता है। ऊपर-ऊपर से कुछ पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

कहते हैं, सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न
नाम... है। भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से)... ज्ञान का प्रयोजन
जानना और आत्मा का प्रयोजन अनन्त गुण को जानना। आहाहा! (तथा भिन्न प्रयोजन
से) जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है;...
आहाहा! यह ज्ञान कहीं शास्त्र का ज्ञान नहीं है, कोई धारणा का यह ज्ञान नहीं है। आहाहा!
यह ज्ञान तो उसका स्वभाव है। तो भी स्वभाव और स्वभाववान, अथवा ज्ञान, जानना और
ज्ञान, नाम तथा आत्मा का नाम आत्मा, ऐसा संज्ञाभेद होने पर भी... आहाहा! और लक्षणभेद
है। ज्ञान का जानना (लक्षण) और आत्मा का लक्षण ज्ञान है। आहाहा! लक्षण और
प्रयोजनभेद है। ज्ञान का एक को ही जानना, वह प्रयोजन है; आत्मा का सर्व को जानना

प्रयोजन है। क्या कहते हैं ? आत्मा और आत्मा का गुण। इन तीन में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन भिन्न होने पर भी स्व है। परप्रकाशक नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान के लिये ज्ञान स्व और दूसरे गुण पर कहे जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग बात है, वह तो जानने के लिये है। ज्ञान स्वयं अपने में है। निश्चय से स्वयं ज्ञान है और ज्ञान दूसरे को जाने, यह भी निश्चय से। यह निश्चय है। यह आता है, देखो!

(तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है;... वस्तु अखण्डरूप से तो ज्ञान, वह आत्मा और आत्मा, वह ज्ञान। समकित, वह आत्मा और आत्मा, वह समकित। आनन्द, वह आत्मा और आत्मा, वह आनन्द (-ऐसे) अभिन्न वस्तु है। जरा सूक्ष्म है, भाई! कभी अभ्यास किया नहीं। इसलिए यह तो अन्तर में ठेठ की बात की। आहाहा! यह तो नियमसार आचार्य महाराज कहते हैं, मैंने मेरे लिये बनाया है। आहाहा! कठिन काम है। अपूर्व काम है, ऐसा लो। पूर्व में कभी नहीं निर्णय की - ऐसी बात है। आहाहा! आचार्य ऐसा कहते हैं कि मैंने मेरे लिये बनाया है। आहाहा! उसमें यह आया है।

आत्मा, नाम आत्मा। ज्ञान के गुण का नाम ज्ञान। ऐसे समकित का प्रतीति प्रयोजन, आत्मा का सर्व गुण का प्रयोजन। ऐसे भिन्न-भिन्न होने पर भी निश्चय से एक ही है। ऐसे देखो तो एक गुण और गुणी का भिन्न विचार करे तो विकल्प उठता है। वह अलग वस्तु है। क्या कहा ? आत्मा और यह ज्ञान, ऐसे गुण-गुणी का विचार करने से विकल्प उठता है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है, धर्म की पहली सीढ़ी प्राप्त करना हो, उसे आत्मा ज्ञान और आत्मा ज्ञानस्वरूप, ऐसा भेद करना नहीं। ऐसा भेद करने जाएगा तो राग होगा। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि यह भेद है, वह सब एक ही है। भले नाम, लक्षण और प्रयोजन, गुण और गुणी में तीनों में अन्तर है, तो भी वस्तु निश्चय से अपनी है। आहाहा! ऐसी बात! धर्म के नाम की ऐसी बातें! बापू! यह वस्तु बताते हैं, यह धर्म और धर्मी वस्तु है। धर्मी है, वह एक है और धर्म उसके गुण हैं, वे अनन्त हैं। वह अनन्त और एक—ऐसे दो नाम भले भिन्न पड़े, तो भी वह अनन्त एकरूप ही है और एक अनन्तरूप ही है। निश्चय से तो स्वस्वरूप से ही है। आहाहा!

मुमुक्षु - अनुभव बिना यह बात है ?

पूज्य गुरुदेवश्री - वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! अनुभव करे या न करे, अनुभव होकर फिर धन्धे के विकल्प में भले हो, परन्तु वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

पहले यह आया था 'पराश्रितो व्यवहारः' यहाँ (आया) 'स्वाश्रितो निश्चयः'। 'स्वाश्रितो निश्चयः' में पर का ज्ञान, वह पर में - व्यवहार में गया। और दूसरे प्रकार से पर का ज्ञान अपना है, तो निश्चय में गया। आहाहा! ऐसी बात है। जरा सूक्ष्म है।

इस कारण से यह (सहजज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है... ज्ञान अपने गुण को जानता है, यह निश्चय है। ज्ञान अपने गुण को जानता है, यह भी निश्चय है। आहाहा! गुणभेद है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द गुणभेद है। भेद है तो पर को जानता है, यह व्यवहार है अपना गुण - ऐसा नहीं। पर को जाने, यह व्यवहार है। अपने गुण और अपने गुण के अतिरिक्त दूसरे गुण, इन सबको जानना निश्चय है। आहाहा!

ऐसी निवृत्ति कब थी ? धन्धे के कारण निवृत्ति ले नहीं। लड़के-बड़के ठीक से काम करे, फिर हम निवृत्ति ले लेंगे। छोड़ दिया अर्थात् क्या ?—कि लड़के करते हैं। यह हमारे वहाँ भी ऐसा था न! सब घर-घर में ऐसा ही है। आहाहा! हसमुख तो ऐसा कहता है कि यह लड़का ठीक से काम पर लग जाए तो अपने... ऐसे का ऐसा मर गया सन्निपात करके। आहाहा! सन्निपात हो गया। दो लाख की आमदनी, दस लाख रुपये रोकड़। गया कहीं। अरे रे! किसी की कहाँ पड़ी है ? आहाहा!

निश्चय और व्यवहार दो को समझाते हैं। जो पर को जाने, वह व्यवहार कहा, इसलिए वह कहीं पर का ज्ञान है - ऐसा नहीं है। वह ज्ञान तो अपना ही है, परन्तु अपने ज्ञान में पर ज्ञात होते हैं, इस अपेक्षा से पर का कहा। बाकी पर का और स्व का ज्ञान निश्चय तो अपना ही है। और अनन्त धर्म के नाम-लक्षण भिन्न हैं और द्रव्य का नाम - लक्षण भिन्न है। ऐसे भिन्न होने पर भी निश्चय से अपने को ही जानता है। आहाहा! भिन्न है, इसलिए व्यवहार है; यहाँ यह नहीं, तो भी वस्तु भिन्न नहीं।

इस कारण से यह (सहजज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी

जानता है। देखो! स्व-आश्रय की बात चलती है। ऊपर लिखा है न, पहली लाईन में? 'स्वाश्रितो निश्चयः'। उसका यह अर्थ चलता है। अपने धर्म को जाने और अपने को जाने, वह सब निश्चय है। आहाहा!

पर का करना, वह तो कहीं रह गया। पर को तो स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! शरीर को कभी अनन्त काल में स्पर्श नहीं किया। कैसे जँचे? दाल, भात, रोटी, सब्जी, मोसम्मी, मेसूर को कभी तीन काल में आत्मा ने स्पर्श नहीं किया। उन्हें स्पर्श भी नहीं किया, उन्हें स्पर्श ही नहीं करता क्योंकि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच अभाव है, अत्यन्त अभाव है, उसमें एक-दूसरे को स्पर्श... स्पर्श कहाँ से करे? आहाहा! यह बात है। एक थप्पड़ ऐसे मारी, तो कहते हैं कि थप्पड़ ने गाल का स्पर्श ही नहीं किया।

मुमुक्षु : गाल लाल हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाल तो उसके कारण से हुआ है। उसके कारण से लाल होता है। यह तो उसे छूता ही नहीं। ऐसी बात है।

द्रव्य अनन्त हैं न? वेदान्त की जैसे सर्वव्यापक मानता है, एकान्त मिथ्यादृष्टि (मानता है) - ऐसा नहीं। वेदान्त एक सर्वव्यापक मानता है, पर्याय को नहीं मानता, वह तो मिथ्यादृष्टि है। एक बाबा था तुम्हारे यहाँ। (संवत्) १९९९ के वर्ष में। वहाँ तुम्हारा गाँव। आहाहा! 'ध्रांगध्रा' का था। एक-एक करता था, बस। सुने। एक.. एक.. क्या एक-एक? सब एक ही है। सुनने बैठा। एक-एक किया करे। (संवत्) १९९० के वर्ष की बात है। १९९० के वर्ष। ३६-३७ वर्ष हुए। बाबा था। व्याख्यान में आवे। आहाहा! ऐ... तू एक-एक करता है। एक नहीं मानता और एक मानता है, वहाँ ही दो हो गये। एक मानता नहीं और एक मानता है। तू कहता है कि हमारे एक मानना है। तू पहले एक मानता नहीं था और दूसरा एक मानता नहीं; तो नहीं मानता है और (अब) मानता है तो दो भेद हो गये। परन्तु विचार करने का अवकाश भी कहाँ है? निवृत्ति नहीं होती। आहाहा! यहाँ यह पहली सूक्ष्म बात ली है।

मुमुक्षु : अपने और अपने में निश्चय-व्यवहार किस प्रकार घटित होते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार और निश्चय स्वयं अपने को जानता है। यह निश्चय है।

मुमुक्षु : ज्ञानगुण को जाने, वह व्यवहार और ध्येय को जाने, वह निश्चय?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। प्रत्येक गुण अपना निश्चय है। प्रत्येक गुण अपना निश्चय है। अभी यह है। प्रत्येक गुण के नामभेद भिन्न होने पर भी और आत्मा का नाम तथा लक्षण भिन्न होने पर भी प्रत्येक वस्तु निश्चय से स्वयं की है। आहाहा! अभी यह बात नहीं है। यह बात आवे, तब अलग। क्या आवे तब? एक आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, यह भी भेद पड़ा। यह भी विकल्प-राग है। अरे! ज्ञायक आत्मा है, ऐसा आया तो भी राग है। उसमें आत्मा नहीं आया। राग आया। वह दूसरी बात है। यहाँ तो जानने-देखने की बात चलती है। वहाँ तो आचरण करने की बात चलती है। आहाहा! अब ऐसा समझे। वह सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण करके मर जाए बेचारा ऐसे का ऐसा। पूरी जिन्दगी चली जाती है। आत्मा को कुछ (लाभ नहीं है)। आहाहा! चौरासी के अवतार...

मुमुक्षु : गुण, गुणी के आश्रित है; इसलिए स्व-आश्रित ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रित नहीं। गुण, गुणी के आश्रित है, यह व्यवहार। गुणी भी स्वतन्त्र है और गुण भी स्वतन्त्र है। बहुत सूक्ष्म बात है।

अभी जो चलता है, उस अपेक्षा से गुणी और गुण दोनों एक स्वरूप है। आहाहा! क्योंकि भले दोनों के धर्म नाम, लक्षण, प्रयोजन भिन्न हैं, तथापि वस्तु एक है। आहाहा! और जब ध्यान और आत्मा की निर्विकल्प की बात चलती हो, तब तो आत्मा ज्ञायक है। जानना-देखना तो ठीक, परन्तु वह ज्ञायक है, यह भी विकल्प है। (समयसार, गाथा) १४२-१४३ कर्ता-कर्म (अधिकार)। आत्मा ज्ञायक है, शुद्ध है, एकरूप है, ब्रह्मरूप है, आनन्दरूप है - यह भी भेद हुआ, विकल्प हुआ। इससे प्राप्त नहीं होता। इससे आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा! अरे! प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? आहाहा! तेरा घर है, वहाँ जाना है न? तेरा घर नहीं, वहाँ भटकता है। आहाहा! राग और द्वेष, पुण्य और पाप, तथा दया और दान... आहाहा! जो तेरी चीज़ में त्रिकाल में है नहीं। आहाहा! यहाँ तो त्रिकाल में है और अपने में है, वह सब यहाँ निश्चय में लेना है। आहाहा! और 'कर्ता-कर्म अधिकार' में तो मैं ज्ञायक, मैं शुद्ध, मैं एक, मैं बुद्ध, मैं अखण्ड—ऐसा विकल्प करे तो राग है, संसार है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो अभेद का पक्ष है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्ष हुआ, नयपक्ष हुआ। राग आया न! यहाँ तो जानने की

अपेक्षा से बात चलती है। जानने में कहीं कोई विकल्प को अवकाश नहीं है। पर को जानने पर, 'पर को जानना'—ऐसा कहना, वह व्यवहार है, इतना। पर को जानने पर ज्ञान पर का हो जाता है और पर है, इसलिए पर को जानता है, पर है; इसलिए पर को जानता है - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! तथा पर को जानने के लिये पर का उपयोग लगाना पड़ता है (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! यह तो केवली की बात है, हों! निचले छद्मस्थ को तो पर को जानने में पर का उपयोग करे, तब बन्ध है, बन्ध का कारण है। आहाहा! नीचे रागी प्राणी है। रागी प्राणी एक में भेद करेगा तो राग होगा। और जहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन की बात चलती है, वहाँ अनन्त गुण का भेद भी एक समय में आत्मा जानता है। जानता है, वह निश्चय है। आहाहा! इसमें कितना याद रखना? घीया! वहाँ अलग चलता है। सोनगढ़ में तो कहीं अलग चीज़ चलती है। अलग नहीं, यह तेरे घर की ही है। आहाहा! तेरे घर में ही यह सब बसा हुआ है। घर में यह रहा हुआ है, परन्तु कभी देखने को, सुनने को निवृत्ति नहीं हेता। फिर समझ में तो कैसे आये? आहाहा!

यहाँ कहते हैं दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है। देखो! आया? दूसरे पेरोग्राफ की अन्तिम लाईन। पर को भी जानता है और अपने को भी जानता है, इसलिए निश्चय है। आया या नहीं? आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी... अपने में अपने गुण को जानता है और गुणी को भी जानता है। बस! वहाँ भेद पाड़ना नहीं। आहाहा! जानने का स्वभाव दोनों को जाने। आहाहा!

कोष्टक में (लिखा है)। (सहजज्ञान स्वात्मा को तो स्वाश्रित निश्चयनय से जानता ही है और इस प्रकार स्वात्मा को जानने पर उसके समस्त गुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं। अब सहजज्ञान ने जो यह जाना, उसमें भेद-अपेक्षा से देखें तो सहजज्ञान के लिए ज्ञान ही स्व है और उसके अतिरिक्त अन्य सब—दर्शन, सुख आदि—पर है; इसलिए इस अपेक्षा से ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है।) पर को अर्थात् अपने गुण के अलावा। (बाहरी) पर नहीं। आहाहा! निश्चय से भी अपने को और अपने दूसरे धर्मों को जानता है। ऐसा निश्चयनय का पक्ष है। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! यह ऊपर कहा, उसकी बात की है। उसका स्पष्ट किया है।

निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है। निश्चयपक्ष से भी। ऐसा नहीं कि पर को जाने, वह व्यवहार है और स्व को जाने, वह निश्चय है। आहाहा! यह पर तो अपने गुण के अतिरिक्त के गुण पर लेना है और वह पर तो अपने अतिरिक्त परवस्तु लेना है। आहाहा! धीमे-धीमे समझना। सूक्ष्म धर्म है। अनन्त काल हुआ।

आठ-आठ वर्ष के, दस-दस वर्ष के लड़के चले जाते हैं। खबर भी नहीं पड़ती। यह कहा न, वह लड़का मर जाए। हीराभाई के लड़के का लड़का और उसका लड़का। हम जिस मकान में रहते थे वह। दस वर्ष का। आधे घण्टे में (मर गया)। यहाँ कुछ होता है। आधे घण्टे में। रोग का कुछ नाम था। रोग होगा ऐसा कोई। स्थिति पूरी होवे तो कुछ होवे तो सही न? वह कुछ हुआ अन्दर, बस! दूसरा कुछ नहीं होता। रोग-बोग कुछ नहीं। ऐसा कुछ अन्दर में एकदम जलने लगा और श्वास बन्द हो गयी। देह छूट गयी। आहाहा!

यह मानो हम जवान हैं। सब ध्यान रखूँगा, इन्द्रियों का, शरीर का, खाने-पीने का। धूल भी ध्यान नहीं रहता। आहाहा! पर के लिये ध्यान? यहाँ तो पर को जानना, उसे अभी व्यवहार कहते हैं। आहाहा! पर का कुछ करना और पर को छूना तथा पर में फेरफार करना, यह प्रश्न तो एकदम झूठा है। आहाहा! तू तुझमें जा, प्रभु! ऐसा कहते हैं। तेरे गुणभेद भले हों, तो भी गुण तेरे हैं। वे गुण कोई राग, या विकार या शरीर नहीं है। यह शरीर, वाणी, विकार परवस्तु है। आहाहा!

किसी भी गुण से उठा कि आत्मा आनन्दरूपी है, तो भी आनन्द और आत्मा अभेद है। ज्ञान आत्मा है, तो ज्ञान और आत्मा अभेद है। समकित आता है। आत्मा, वह समकित अभेद है। आहाहा! तेरी नजर बाहर से तो उठा ले, राग से तो उठा ले, परन्तु गुणभेद है, वह भले हो, उसका ज्ञान करने में कोई दिक्कत नहीं है। आहाहा! गुणभेद को लक्ष्य में नहीं लेना। रागी प्राणी है इसलिए। गुणभेद कहीं राग का कारण नहीं है। गुणभेद राग का कारण नहीं है, परन्तु रागी है, इसलिए गुणभेद राग का कारण है। यदि गुणभेद राग का कारण होवे तो केवली तो तीन काल-तीन लोक को जानते हैं। वे अपने अनन्त धर्मों को अपने जानते हैं। दोनों जानते हैं, वह व्यवहार है। आहाहा!

यहाँ बात ले गये, जानने तक। आहाहा! पर को जानना, वह व्यवहार है। पर, वे अपने ज्ञान के अतिरिक्त अनन्त गुण, उन्हें जानना, वह व्यवहार नहीं। समझ में आया? पर

कहने में भी दो प्रकार हैं—एक अपना आत्मा, ज्ञान वह पर है। आत्मा का नाम और ज्ञान। वह पर, ऐसा। और रागादि, शरीरादि पर हैं। परन्तु राग और शरीर तो पृथक् - अत्यन्त भिन्न हैं और अपना ज्ञान तथा आत्मा, वह नामभेद होने पर भी, लक्षणभेद होने पर भी, निश्चय से तो दोनों एक हैं। निश्चय से उन्हें भी जानता है। आहाहा! ऐसा कब सुना होगा? धन्धे के कारण निवृत्ति ही नहीं ली। आहाहा! सबके लिये है न यह तो। हमारी दुकान में भी थे। पूरे दिन करते और पूरे दिन होली किया करे। मुझे तो कहना पड़ा। (संवत्) १९६४ के वर्ष। कितने वर्ष हुए? १९६४-६४।

मुमुक्षु : बहत्तर वर्ष।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसठ? बहत्तर वर्ष, लो ठीक! तब कहना पड़ा कि यह क्या पूरे दिन? बापू! करना पड़े। दुकान में बैठते हैं, धन्धा करते हैं। परन्तु पूरे दिन लोहवाट? यह किया.. यह किया... यह किया... यह किया... उसकी होशियारी बताने के लिये हम, उसमें मैं सामने था। मैंने यह किया, मैंने यह किया, मर जाएगा। मरकर ढोर में जाओगे, कहा! बाबूभाई! उस दिन कहा, हों! सुने, मेरे सामने बोले नहीं। यह भगत है। सामने बोलता नहीं। दूसरा बोलने जाए तो दूसरा उसे कहे - भगत है, ये बोलते होंगे, वह बराबर बोलते हैं। इनके सामने नहीं बोलना।

अरे! बापू! यह तो... आहाहा! यह तो सत् के साधन का अवतार है। यह कहीं भटकने के लिये यह अवतार नहीं है। आहाहा! यह तो भव के अभाव करने का अवतार है। इस अवतार में भव का अभाव नहीं करे... आहाहा! (तो) चौरासी के अवतार में जाकर भटकेगा। कोई शरण नहीं मिलेगी। आहाहा! कीड़ा और कौआ... आहाहा! शूकर और... वे नारणभाई कहते थे। एक पारसी वहाँ था। गाँव में... एक शूकर के पैर को सरिया से बाँधा, पैर बाँधकर सुलगती अग्नि में जीवित डाल दिया। जीवित डालकर जलाया। सुलग गया। नारणभाई कहते थे। आहाहा! ऐसे अवतार! और यह बनिये का अवतार मिला। काहँ अनार्य क्षेत्र में, अनार्य नात, अनार्य नात। ऐसे जीवित शूकर बाँधकर अग्नि में पड़कर भागे तो? आहाहा! नारणभाई कहते थे। डाल दिया, देखा नहीं जाए, सुलगता है। ऐसे अवतार अनन्त बार किये। आहाहा! परन्तु इस सत्ता को संभालने और वह चीज़ क्या, कैसे, किस प्रकार कही जाती है? (इसकी दरकार नहीं की।)

एक ओर ऐसा कहते हैं कि आत्मा पर को जाने, यह व्यवहार कहा जाता है। एक ओर ऐसा कहते हैं कि यह स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव ही है, निश्चय ही है। आहाहा! पर को जानना-ऐसा कहना, वह व्यवहार। क्योंकि पर इसमें आते नहीं और यह वहाँ जाता नहीं। परन्तु अपने जो अनन्त गुण है, उनमें अनन्त गुण को ज्ञान जाने, वह स्व है, निश्चय है। भले ज्ञान से पर है गिनो, तथापि उन्हें यहाँ निश्चय कहने में आया है। आहाहा! एक गुण को जानते हुए अनन्त गुण को जानेगा। आहाहा! अनन्त गुण का जाननेवाला प्रभु आत्मा ज्ञात होगा। ऐसा निश्चय लगे, एकान्त लगे, तह बैठे नहीं, इसलिए मानो यह ऐसी बात होगी? बापू! मार्ग तो यह है। आहाहा! वरना तो ऐसा... आहाहा!

बीस-बीस वर्ष के जवान ऐसे तड़फड़ाहट करके बेचारे खाट में मर जाते हैं। आहाहा! कहा नहीं, उस बहिन का? उसे बेचारी को शीतला निकली थी। 'लाठी' में। आहाहा! दाने-दाने में जीव, ईयल, ईयल ऐसे काट खाये। उसने यहाँ तक कहा—माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में किये नहीं। मुझसे सहन नहीं होता। सोया नहीं जाता, बैठा नहीं जाता। ऐसे फिर तो कीड़े गिरें। अरे रे! ऐसे पाप मैंने इस जिन्दगी में नहीं किये। अठारह वर्ष की उम्र। आहाहा! ऐसे भव अनन्त बार किये हैं, बापू! यह भूल गया है। जरा बाहर की सुविधा देखे, वहाँ सब, हो गया।

मुमुक्षु : याद न रखने की आदत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

प्रभु! तू आत्मा है न! तुझमें अनन्त गुण भरे हैं न! पर को जानना, वह व्यवहार कहा, परन्तु एक गुण दूसरे गुण को जाने, वह व्यवहार—ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। पर को जानना, उसे व्यवहार कहा, परन्तु एक गुण दूसरे गुण को जाने, वह व्यवहार नहीं है। वह तो उसकी चीज़ ही है। आहाहा! इसमें क्या न्याय आया?—कि पर को जानने के लिये तुझे उपयोग का भेद करना नहीं पड़ता। उपयोग में विकल्प का भेद करना नहीं पड़ता। आहाहा! सर्व और तू दोनों एक ही है। उसे जानते हुए तुझे उपयोग में राग करना नहीं पड़ता। यह दोनों निश्चय है। आहाहा! दोनों को जानते हुए निर्विकल्प हुआ जाता है। आहाहा! और वह निर्विकल्प अर्थात् रागरहित दशा होना। उस दशा के बिना जन्म-मरण का अन्त आवे, ऐसा नहीं है कहीं। आहाहा! इतने उपवास किये, इतना दान दिया,

इतना गौशाला में पचास वर्ष से काम किया। धूल भी काम नहीं किया। मरकर जायेगा कहीं। आहाहा!

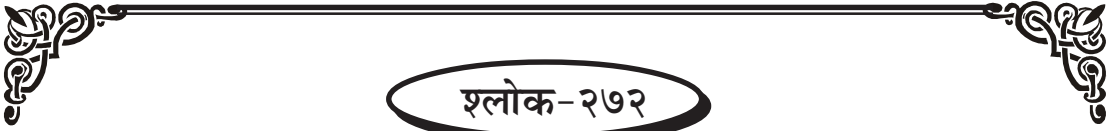
इसी प्रकार(आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने(श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १९२वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं मोक्ष-मक्षयमेत-
 न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
 एकाकार-स्वरस-भरतोऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं
 पूर्णं ज्ञानं ज्वलित-मचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥

आहाहा! कर्मबन्ध के छेदन से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ,... आहाहा! आत्मा अपने गुण में रहने पर कर्म का नाश होता है। आहाहा! यहाँ कर्म के नाश की बात की है। कर्मबन्ध के छेदन से अतुल अक्षय... आहाहा! तुलना नहीं, ऐसे अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ,... मोक्ष हुआ, वह अक्षय है और अविनाशी है तथा अतुल है। आहाहा! करने का यह है। आहाहा! लम्बी शैय्या करके पड़ा हो, उसे करना क्या? पाँच-पाँच, छह-सात लड़के हों, दो-चार लड़कियाँ हों। अब उन्हें ठिकाने करने में रुकना या धन्धा करना या धर्म में आना? आहाहा! अकेला है, बापू! तुझे करना हो तो कर। मानना हो, वैसा मान। है तो अकेला। आहाहा! तू चाहे तो मान। तू है अकेला, वह दोकला होनेवाला नहीं है। आहाहा!

कर्मबन्ध के छेदन से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी विकसित हो गयी है... भगवान को। मोक्ष की। ऐसा, एकान्त शुद्ध (कर्म का मैल न रहने से जो अत्यन्त शुद्ध हुआ है ऐसा), तथा एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार से परिणमित) निजरस की अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर... ओहोहो! एक-एक शब्द में बहुत गम्भीरता। निजरस की (आत्मा में-आनन्दरस में) अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान जगमगा उठा... अन्दर से जगमगा उठा। आहाहा! दीपक की भाँति दिखता नहीं। दीपक दिखे जगमग में यह दिखता नहीं। देखनेवाला है स्वयं और देखनेवाले को देखता नहीं। वह तो यह देखता है कि यह दीपक है और यह है। देखनेवाले को देखता नहीं? चीज़ दिखती है, वहाँ से हटता नहीं। आहाहा! यह कहते हैं।

एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार से परिणमित) निजरस की अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान जगमगा उठा (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ), अपनी अचल महिमा में लीन हुआ। अपने स्वरूप में लीन होने से अपनी मोक्षदशा, अचल दशा में लीन हुआ। इसका नाम मोक्ष। करना हो तो यह करना है। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)



श्लोक-२७२

और (इस १५९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) :—

(स्रग्धरा)

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः,
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति ।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः,
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति ॥२७२॥

(वीरछन्द)

केवलज्ञानमूर्ति यह आत्म नय-व्यवहार कला द्वारा।
वास्तव में सम्पूर्ण विश्व का नितप्रति है जानन हारा ॥
मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनि के कोमल वदनाम्बुज पर।
कामक्लेश, सौभाग्य चिन्ह युत शोभा को फैलाता है ॥
श्री जिनेश ने क्लेश और रागादिक मल का किया विनाश।
निश्चय से देवाधिदेव वे निज स्वरूप का करें प्रकाश ॥२७२॥

[श्लोकार्थ :] व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति आत्मा निरन्तर विश्व को वास्तव में जानता है और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुखकमल पर कामपीड़ा

को तथा सौभाग्यचिह्नवाली शोभा को फैलाता है। निश्चय से तो, जिन्होंने मल और क्लेश को नष्ट किया है, ऐसे वे देवाधिदेव जिनेश निज स्वरूप को अत्यन्त जानते हैं।२७२।

प्रवचन-१८७, श्लोक-२७२, गाथा-१६०, रविवार, आषाढ़ शुक्ल ८, दिनांक २०-०७-१९८०

१५९-गाथा की टीका। टीका पूर्ण की। अब श्लोक है। श्लोक चलता है। आहाहा!
२७२?

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः,
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः,
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति।।२७२।।

श्लोकार्थ : व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति... अपना स्वभाव-केवलज्ञानस्वभाव, वह स्वभाव जब प्रगट हुआ, तब केवलज्ञानमूर्ति आत्मा निरन्तर विश्व को वास्तव में जानता है... आहाहा! व्यवहारनय से। विश्व भिन्न है, आत्मा भिन्न है। ओहोहो! आत्मा पर को जानता है, यह व्यवहार है। पर का करना, सँभाल करना, पर की व्यवस्था करना... आहाहा! यह तो बहुत दूर रह गया। अभी तो यहाँ पर को जानना, यह व्यवहार है। वे कहते हैं न कि व्यवहार चाहिए... व्यवहार चाहिए। यहाँ तो कहते हैं, पर को जानना, वह अभी व्यवहार है, क्योंकि ज्ञान पर में तन्मय नहीं हुआ। ज्ञान (तन्मय) नहीं हुआ। ज्ञान तो भिन्न है। वह ज्ञान, पर को जानता है, यह व्यवहारनय से है। आया न इतना?

व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति आत्मा निरन्तर विश्व को वास्तव में... व्यवहारनय से वास्तव में जानता है... आहाहा! और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुखकमल पर... अपनी निर्मल ज्ञानदशा, वीतरागीदशा, निर्विकल्प वीतरागी चमत्कारिक एकसमय में तीन काल को जाने, ऐसी वह कोमल, निर्मल... आहाहा! मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुखकमल... निर्मल परिणति जिसकी। पर कामपीड़ा को तथा सौभाग्यचिह्नवाली शोभा को फैलाता है। अपने आनन्द को फैलाता है और ज्ञान की शोभा को फैलाता है।

क्या कहा ? केवलज्ञानमूर्ति व्यवहारनय से पर को जानता है तो अपनी केवलज्ञान की पर्याय की भी शोभा है और साथ में आनन्द की भी शोभा है । आहाहा !

ऐसा जानकर करना क्या ? करना यह कि आत्मा अन्दर ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि से भरपूर परिपूर्ण तत्त्व है । उसका विकास होने पर विश्व को व्यवहार से जानता है, तथापि जानने में अपनी निर्मल मोक्षरूपी लक्ष्मी (का) कोमल मुखकमल, अपनी भावनारूपी आनन्द से और **सौभाग्यचिह्नवाली शोभा को फैलाता है** । आनन्द को भी भोगता है और परिपूर्ण ज्ञान की शोभा को भी फैलाता है ।

यह क्यों लिया ?—कि विश्व को जाने तो आनन्द को वेदता है या नहीं ? विश्व को जानने में दुःख है - ऐसा नहीं है । मात्र जानता है । तो भी आत्मा की पर्याय में आनन्द फैलाता है और अपने ज्ञान की शोभा भी प्रगट होती है । स्व-पर जानने के विश्व के भाव को जानने पर भी अपने आनन्द की पीड़ा... पीड़ा शब्द से यहाँ आनन्द । कामपीड़ा है न ? कामपीड़ा अर्थात् इच्छा नहीं; आनन्द । आहाहा ! उस आनन्द को भी भोगता है और ज्ञान की पर्याय पर को जानने पर भी ज्ञान, ज्ञान से भी शोभता है । ज्ञान पर को जानता है, इसलिए पर से शोभता है (-ऐसा नहीं) । आहाहा ! ऐसा है । क्या कहा, समझ में आया ?

चैतन्यस्वरूप भगवान अपने निर्मल केवलज्ञान द्वारा, जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब वह अपने उपाय से होता है, यह तो कहा । तब वह लोकालोक को जानता है । जानता है, उस समय दुःख है - ऐसा नहीं । काम की पीड़ा अर्थात् भाव और भोग । अपने भाव के कोई करता है और ज्ञान की शोभा भी होती है । पर को जाने, इसलिए ज्ञान हीन हो जाता है - (ऐसा नहीं) । आहाहा ! समझ में आया ? आत्मा की पूर्णता की शक्ति कितनी है, वह बताते हैं । कभी सुना न हो, कभी किया नहीं । आहाहा !

भगवान आत्मा पर के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से छूटकर... ४९ भाव आये न ? (नेपथ्य से) छूटकर अपने ज्ञान की पर्याय जब प्रगट होती है, तो वह व्यवहार से पर को जानता है । जानने पर भी, अपने आनन्द का अनुभव करता है और अपना ज्ञान पर को जानता है, इसलिए अशोभा हो जाती है - ऐसा नहीं है । आहाहा ! समझ में आया ? प्रभु ज्ञानस्वरूप पर को जाने, इसलिए वहाँ आगे आत्मा के आनन्द की वेदना नहीं, ऐसा नहीं और पर को जानता है, इसलिए ज्ञान की शोभा, अशोभा हो जाती है, ऐसा भी नहीं ।

आहाहा! ऐसा जानना। गुण की परिपूर्णता। नवरंगभाई चले गये? समझ में आया? आहाहा!

व्यवहार से पर को जानने पर भी... आहाहा! केवलज्ञानमूर्ति आत्मा निरन्तर विश्व को वास्तव में जानता है और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के... निर्मल परिणतिरूपी कोमल पर्याय, उसके मुखकमल पर कामपीड़ा... अर्थात् आनन्द का वेदन तथा सौभाग्य-चिह्नवाली... पर को जाने, इसलिए अशोभा हो जाती है - ऐसा नहीं है। सौभाग्यचिह्नवाली शोभा को फैलाता है। आहाहा! किस प्रकार रचा है? अब यह बाहर में जहाँ रुके, उसमें यह कहाँ समझे? यह चैतन्यस्वरूप जहाँ प्रकाशमान हुआ, तो पर को जानने पर भी अपने आनन्द से छूटता नहीं है और पर को जानने पर भी अपने में अशोभा नहीं होती, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? घर में कभी पढ़ा तो नहीं होगा। निवृत्ति नहीं है न! हरिभाई! आहाहा! यह क्या कहते हैं? मर्म कहते हैं, मर्म।

भगवान आत्मा पर का कर्ता-भोक्तापना छोड़कर... यह ४९ भंग में आया न? प्रकृति का कर्ता और भोक्तापना छोड़कर अपने ज्ञानप्रकाश का फैलाव होता है। वह ज्ञान व्यवहारनय से पर को जानता है। व्यवहारनय से पर को जानता है, इससे अपनी आनन्द की दशा चली जाती है या आनन्द की दशा न्यून होती है - ऐसा नहीं है। इतना ही नहीं, परन्तु पर को जानता है तो ज्ञान में अशोभा फैलती है, पर को जानने से अपनी शोभा की समृद्धि में कुछ हीनता होती है, पर को जानने से स्वभाव में कुछ न्यूनता हो जाती है - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अपनी लक्ष्मी की शोभा बताते हैं कि वह भले पर को जाने। जानने पर भी अपना आनन्द चला नहीं जाता; और पर को जाने, इससे कहीं अपनी शोभा चली नहीं जाती। आहाहा! ऐसी बातें लोहे में ऐसा कहाँ से सुनने को मिले? आहाहा! क्या कहते हैं?

चैतन्य का प्रकाश पर के कर्ता-भोक्ता से छूट जाता है। पर के कर्ता-भोक्ता, हों! अपना कर्ता-भोक्ता तो रहता है। अपनी पर्याय का कर्ता-भोक्ता रहता है। आहाहा! पर का कर्ता-भोक्ता छूट जाता है और ज्ञान की निर्मलता प्रगट होती है। वह निर्मलता पर को जाने, इसलिए निर्मलता के आनन्द में न्यूनता हो जाती है - ऐसा नहीं है। अपना आनन्द तो ऐसा का ऐसा भोगता है। पर को जानने पर भी आनन्द तो ऐसा का ऐसा है और पर को जानने

पर भी ज्ञान की शोभा, जो प्रकाश प्रगट हुआ, उसमें पर को जानने से कुछ कमी हो जाती है या शोभा में अशोभा होती है - ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

भगवान भी अन्दर यह आत्मा... आहाहा! जिसका करना है पहले, उसका रखा है अन्तिम; जिसे रखना है अन्तिम, उसको रखा है पहला। आहाहा! पर को जानना, वह तो बाद में, ऐसा कहते हैं। प्रकाश हुआ, पश्चात् पर को जानता है। आहाहा! अपनी शक्ति... आहाहा! आनन्द और ज्ञान और वीर्य की पूर्ण शक्ति का विकास हुआ, तब प्रथम तो अपना काम किया। उसमें पर को जानना, ऐसे पर आया, उससे अपने आनन्द अनुभव में कोई कमी आयी - ऐसा भी नहीं है और ज्ञान पर को जानता है; इसलिए शोभा में कुछ अशोभा हुई या कमी हुई - ऐसा है नहीं। आहाहा!

व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति... आहाहा! आत्मा निरन्तर विश्व को वास्तव में जानता है... व्यवहारनय से और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुखकमल पर कामपीड़ा को... अपने आनन्द को भोगना। उसे भोगता है। आहाहा! पर को जानने पर भी अपने आनन्द और अनुभव में कुछ कमी आयी, ऐसा नहीं है। आहाहा! बात गजब रखी है। तथा (पर को जानते) सौभाग्य-चिह्नवाली शोभा को फैलाता है। अपनी शोभा को फैलाता है - विस्तारता है। निश्चय और व्यवहार दो को जानने की ताकत है, वह ताकत खिल पाती है। पर को जानने की ताकत कम हो जाती है - ऐसा नहीं है। ऐसा पढ़ा भी नहीं होगा। तब निवृत्ति कहाँ थी ?

मुमुक्षु : वाँचे तो समझ में आये नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य है। पंकज को प्रेम है। निवृत्ति नहीं मिलती। यह जगत का पहले करना।

मुमुक्षु : अब यहीं रहनेवाले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे भले रहनेवाले, परन्तु लड़के का लगाया है, उसका क्या ? प्रत्येक को अपना करने की बात है न? आहाहा! और लड़के बराबर काम करे तो मैं निवृत्ति लूँ तो उसमें वह नहीं ले सके। आहाहा! वह बराबर काम चलावे तो मेरा ज्ञान बराबर रहे... आहाहा!

यहाँ तो प्रगट हुआ ज्ञान पर को जाने तो भी जैसा है, वैसा ही रहता है। आहाहा! और ज्ञान प्रगट हुआ, वह पर को जाने तो भी उसकी शोभा तो जितनी है, उतनी ही रहती है। तीन काल-तीन लोक जानने में कोई कमी नहीं। पर को जानने से कुछ कमी हो जाती है-ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो दृष्टान्त। सबको ऐसा है न! चिमनभाई को कुछ नहीं था तो छोड़ दिया। कुछ तो बला लेनी पड़े न? बला। आहाहा! यह तो नियम ऐसा चलता है। यह कहीं एक के लिये नहीं है। सब जगह कुछ... कुछ... कुछ... स्वयं का स्वयं...

अरे! तू कहाँ जायेगा? मेरी सत्ता कहाँ खड़ी रहेगी? देह छूटकर मेरी सत्ता कहाँ खड़ी रहेगी? और यहाँ तो वहाँ तक कहा... ओहोहो! देह में रहने पर भी केवलज्ञान और केवलदर्शन की लक्ष्मी ऐसी प्रगट हुई... आहाहा! पर को जानने पर भी काम की पीड़ा अर्थात् आनन्द को भोगने में कमी नहीं रहती, न्यूनता नहीं होती और कभी नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : कामपीड़ा का अर्थ आपने परमार्थ से अलग ही कर डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : कामपीड़ा अर्थात् यह। व्यक्ति को इच्छा की पीड़ा होती है, वैसे यह भवना की भावना है। कामपीड़ा एक ओर रही। पर को देखने की भावना है न इतनी? उसमें पीड़ा नहीं, परन्तु आनन्द है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन है, (ऐसा) भाई शान्तिभाई कहते हैं। घर में पढ़े तो बराबर समझ में नहीं आता। ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! किस प्रकार आचार्यों ने रखा है! ओहोहो!

प्रभु! तेरी बलिहारी है। तू अकेला चैतन्य जहाँ प्रकाश में आया; पर का कर्ता-भोक्ता रहित होकर तेरे चैतन्य का तेज जैसा था, वह आया, आया, वह तेज भले पर को जाने, तो भी तेज के साथ शान्ति और आनन्द के वेदन में कुछ अन्तर नहीं पड़ता तथा कहीं उसकी शोभा, अशोभा होती है (-ऐसा नहीं है)। पर को जाना, पर को जाना, इसलिए अशोभा हुई - ऐसा नहीं है। यह तो अपेक्षा से कहा जाता है कि पर को जानता है। वह तो अपने को ही जानता है। आहाहा! कहो, हरिभाई! ऐसा है यह। कभी कहीं सुना नहीं होगा। आहाहा!

यहाँ चैतन्य प्रभु इतना शक्तिवन्त है कि पर का कर्ता-भोक्तापना छूटकर अपने

आनन्द का कर्ता-भोक्ता होता है। उस आनन्द के कर्ता-भोक्ता में पर को जानने से कुछ कमी हो जाती है और पर को जानने से खिल गया और पर को जाने, इसलिए कुछ शोभा कम हो जाए, ऐसा नहीं है। ऐसी सामर्थ्य भगवान आत्मा में है। आहाहा! पर को जाने तो भी आनन्द में रहता है। पर को जाने तो भी अपनी शोभा में रहता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग परमात्मा केवलज्ञानी परमात्मा पूर्ण, उनकी वाणी, बापू! सूक्ष्म है। लोग स्वयं को रुचे, वैसे अर्थ करते हैं और व्यवहार में ले जाते हैं। ऐसा नहीं। यहाँ तो कहते हैं, व्यवहार से जाने तो भी वस्तु तो ऐसी की ऐसी है, ऐसा कहते हैं। भाई, बाबूभाई! आहाहा!

व्यवहार से पर को जानता है - ऐसा कहा। पर में तन्मय तो नहीं होता, इसलिए व्यवहार कहा। जानता है तो व्यवहार कहा। पर तो पर है। स्व को जाने तो निश्चय और पर को जाने, वह व्यवहार है। परन्तु पर को जानने पर भी अपनी जो ज्ञानशक्ति विकास और पूर्णपने प्राप्त हुई, वह विकास जरा कम आता है और कुछ शोभा घटती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। गाथा जरा सूक्ष्म है। आहाहा!

यह तो पद्मप्रभमलधारिदेव का श्लोक है। अमृतचन्द्राचार्य का नहीं। पद्मप्रभमलधारिदेव गजब हुए हैं। आहाहा! आनन्द... आनन्द... आनन्द में मुनि झूलते हैं। आहाहा! पहले कलश में आ गया है। भगवान में और मुनि में जरा अन्तर है। परन्तु अन्तर माने तो जड़ है - ऐसा कहा। आहाहा! हम जड़ हैं। अर र र! क्या कहते हैं यह? आहाहा! केवलज्ञान और केवलदर्शन... आहाहा! पर को जाने, ऐसी मुनि की इतनी ताकत है। मुनि में और केवलज्ञानी में अन्तर माने तो हम जड़ हैं, कहते हैं। आहाहा! यह मुनिपने की दशा तो देखो! अरे! यह मुनिपना है कहाँ? मुनिपना किसे कहना? आहाहा! जिसका तल देख लिया है, जिसकी शक्ति खिल गयी है, जिसकी शक्ति पर को जानने पर भी कम नहीं होती। जिसकी शक्ति पर को जानने पर भी आनन्द में कमी नहीं आती। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा, ऐसा जिसका स्वरूप है। व्यवहार से कहा, वहाँ यह डाला। बाबूभाई! व्यवहार से जाने तो भी ऐसी शोभा है। आहाहा! व्यवहार का अर्थ वह तो मात्र जानता है। यह तो कहना व्यवहार है। बाकी (तो) अपने को जानता है। आहाहा! परन्तु व्यवहार से जानते हुए अपने आनन्द में और शोभा में कुछ कमी आ जाए - ऐसा है नहीं। आहाहा! आहाहा!

ऐसा चैतन्य भगवान देहदेवल में विराजमान है। भगवान प्रभु आनन्द की मूर्ति, प्रभु! कहाँ है तू तुझे खोजता है। सुख का सागर आनन्द स्थित है न! आहाहा! उस सुख के सागर में केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हुआ, वह कदाचित् भले व्यवहार से पर को जाने; इससे उसके सुखसागर में कमी नहीं आती। आहाहा! ऐसा नाथ! तेरा स्वभाव है, प्रभु! भगवान! तू तेरी ऐसी शक्ति रखता है। उस शक्ति को माने नहीं और अल्प-अल्प इसका करना और इसका करना। आहाहा! एक रुई की पूणी को ऐसा करना, उसे आत्मा नहीं कर सकता। रुई-रुई, पूणी करते हैं न, पूणी? क्या कहलाता है वह? रेंटिया-रेंटिया। रेंटिया में ऐसे हो रहे, इसलिए जोड़ दे डोरा। आहाहा!

छद्मस्थ के ज्ञान में भी ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव अपना है कि पर ज्ञात हो तो भी ज्ञान में जो कुछ आनन्द और शोभा है, वह ऐसी की ऐसी है। छद्मस्थ को भी ऐसी की ऐसी है। आहाहा! अरे रे! यह कौन है? प्रभु! कितना है? इसकी एक-एक शक्ति खिली हुई कितनी कैसी है? यह जानने का प्रयत्न किया नहीं और बाहर का थोथा (किया) आहाहा!

निश्चय से तो, जिन्होंने मल और क्लेश को नष्ट किया है... क्या कहते हैं? पर को जानने-देखने पर भी... पहली निर्मलता और शोभा बतायी। अब कहते हैं कि उसमें कोई मल या अशोभा है ही नहीं। है? निश्चय से तो, जिन्होंने मल और क्लेश को नष्ट किया है ऐसे वे देवाधिदेव जिनेश निज स्वरूप को अत्यन्त जानते हैं। व्यवहार से पर को जानने पर भी निश्चय से स्व को जानते हैं। आहाहा! एक व्यवहार-निश्चय में कितना डाला! आहाहा! यह बात कहीं नहीं मिलती। दिगम्बर मुनि के अलावा, दिगम्बर धर्म के अलावा यह बात कहीं नहीं है। क्या बात करते हैं! क्या शोभा करते हैं! आहाहा! प्रभु! तेरी शोभा का पार नहीं। प्रभु! तू अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति का सागर है। वह पूर्ण प्रगटे, पर को जानने में तुझे कुछ कमी आ जाए या अशोभा आवे, ऐसा है नहीं। क्यों?—कि मल और क्लेश को नष्ट किया है... आहाहा! आया न?

निश्चय से तो,... आहाहा! वास्तव में तो जिन्होंने मल और क्लेश को नष्ट किया है... व्यवहार को जाने तो मल और क्लेश आ जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्या कहना चाहते हैं? दिगम्बर मुनियों की बलिहारी है, भाई! दूसरों को दुःख लगे। दूसरे भी भगवान

है, भाई! तेरी भी शोभा इतनी ही है। इतनी और ऐसी ही है। तेरी शक्ति खिलने पर तू दूसरे को जाने तो भी तेरी खिलावट में कोई कमी नहीं है। आहाहा! तेरे प्रकाश में दूसरे ज्ञात होने पर भी तेरी शक्ति की अशोभा नहीं है। आहाहा! ऐसी महिमा उसके प्रकाश की है। आहाहा! पर को जाने तो भी प्रभु स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य होने से, वह पर को जानने पर भी परसन्मुख कुछ लक्ष्य नहीं है। आहाहा! उपयोग परसन्मुख नहीं है। केवली पर को जाने, उसमें उपयोग पर के ऊपर नहीं है। आहाहा! उपयोग तो स्वयं अपने में ही है। आहाहा!

अहो! निश्चय से तो, जिन्होंने मल और क्लेश को नष्ट किया है, ऐसे वे देवाधिदेव जिनेश निज स्वरूप को अत्यन्त जानते हैं। व्यवहार से पर को भले जाने, ऐसा कहने में आया। पश्चात् ऐसा भी कहा कि निश्चय से तो प्रभु अपने को जानते हैं। आहाहा! इसी तरह प्रत्येक आत्मा की बात है। प्रत्येक आत्मा स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य रखता है। प्रकाश में भले पर ज्ञात हो, इससे कोई चैतन्य प्रकाश में मलिनता आ जाए - ऐसा नहीं या पर को जाने, इसलिए क्लेश आ जाए - ऐसा नहीं है। रागी प्राणी है तो पर को जानने में राग आवे, वह तो स्वयं का दोष है। उस पर को जानने से राग होता है - (ऐसा नहीं है)। केवली तो तीन काल-तीन लोक को देखते हैं। सातवीं गाथा में कहा न, भाई! पर को जाने तो राग होता है। भेद को जाने तो राग होता है। भगवान तो तीन काल-तीन लोक को देखते हैं, उन्हें क्यों राग नहीं? भेद को जानने से राग नहीं होता। रागी को राग है, वह भेद को जानता है तो राग होता है। अरे! ऐसा सब अन्तर। ऐसा जवानों ने कभी सुना भी नहीं होगा। आहाहा! धन्धे के कारण... आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? आहाहा! जिनेश निज स्वरूप को अत्यन्त जानते हैं। आहाहा!

गाथा-१६०

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तथा ।
 दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥
 युगपद् वर्तते ज्ञानं केवल-ज्ञानिनो दर्शनं च तथा ।
 दिनकर-प्रकाश-तापौ यथा वर्तेते तथा ज्ञातव्यम् ॥१६०॥

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तम् । अत्र दृष्टान्तपक्षे क्वचित्काले बलाहकप्रक्षोभाभावे विद्यमाने नभस्स्थलस्य मध्यगतस्य सहस्रकिरणस्य प्रकाशतापौ यथा युगपद् वर्तेते, तथैव च भगवतः परमेश्वरस्य तीर्थाधिनाथस्य जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिषु स्थावरजङ्गमद्रव्य-गुणपर्यायात्मकेषु ज्ञेयेषु सकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तेते । किञ्च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे -

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
 णट्ट-मणिट्टं सव्वं इट्टं पुण जं तु तं लद्धं ॥

अन्यच्च -

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा ।
 जुगवं जह्या केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥

तथाहि

ज्यों ताप और प्रकाश रवि के एक सँग ही वर्तते ।
 त्यों केवली को ज्ञानदर्शन एक साथ प्रवर्तते ॥१६०॥

अन्वयार्थ : [केवलज्ञानिनः] केवलज्ञानी को [ज्ञानं] ज्ञान [तथा च] तथा

[दर्शनं] दर्शन [युगपद्] युगपत् [वर्तते] वर्तते हैं । [दिनकरप्रकाशतापौ] सूर्य के प्रकाश और ताप [यथा] जिस प्रकार [वर्तते] (युगपत्) वर्तते हैं [तथा ज्ञातव्यम्] उसी प्रकार जानना ।

टीका : यहाँ वास्तव में केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत् वर्तना दृष्टान्त द्वारा कहा है ।

यहाँ दृष्टान्तपक्ष से किसी समय बादलों की बाधा न हो, तब आकाश के मध्य में स्थित सूर्य के प्रकाश और ताप जिस प्रकार युगपत् वर्तते हैं, उसी प्रकार भगवान परमेश्वर तीर्थाधिनाथ को त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती, स्थावर-जंगम द्रव्यगुणपर्यायात्मक ज्ञेयों में सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् वर्तते हैं । और (विशेष इतना समझना कि), संसारियों को दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है (अर्थात् प्रथम दर्शन और फिर ज्ञान होता है, युगपत् नहीं होते) ।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (६१ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

ज्ञान प्राप्त है अर्थ अन्त को दर्शन लोकालोक सु व्याप्त ।

सर्व अनिष्ट विनष्ट हुआ है और इष्ट जो वह सब प्राप्त ॥

‘[गाथार्थ :] ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है और दर्शन लोकालोक में विस्तृत है सर्व अनिष्ट नष्ट हुआ है और जो इष्ट है, वह सब प्राप्त हुआ है ।’

और दूसरा भी (श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित बृहद्द्रव्यसंग्रह में ४४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

छद्मस्थों को पहले दर्शन होता है फिर होता ज्ञान ।

क्योंकि उन्हें दोनों युगपत् नहीं, केवल को द्वय युगपत् जान ॥

‘[गाथार्थ :] छद्मस्थों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है (अर्थात् पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है), क्योंकि उनको दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते; केवलीनाथ को वे दोनों युगपत् होते हैं ।’

गाथा - १६० पर प्रवचन

१६० गाथा ।

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा ।
 दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥
 ज्यों ताप और प्रकाश रवि के एक संग ही वर्तते ।
 त्यों केवली को ज्ञानदर्शन एक साथ प्रवर्तते ॥१६०॥

टीका : यहाँ वास्तव में केवलज्ञान... कोई ऐसा कहे कि पूर्ण की बात ऐसी कैसे की ? परन्तु पहले सब बात हो गयी है । सम्यग्दर्शन क्या ? सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है ? सम्यग्ज्ञान क्या ? यह सब बात हो गयी है । अब यह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान उपरान्त चारित्र की स्थिरता से केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होता है, उसकी बात चलती है । जो बात शुरु की है, वह बात पूरी करते हैं; (नहीं तो) वह बात अधूरी रह जाए । आहाहा ! चारित्र की बात न करे तो अधूरी रहे और चारित्र से प्राप्त क्या होत है, (यह बात कही है) । आहाहा ! अन्तर ज्ञान और आनन्द में रमणता (होती है, तब पूर्णता होती है) । अकेली ज्ञान और श्रद्धा कहीं मोक्ष का कारण नहीं है । मोक्ष का कारण तो दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर है, यह कहते हैं और भले तीनों हो, और तीनों प्रगट होते हैं, वह कैसी चीज़ है । आहाहा ! अलौकिक चीज़ ! अलौकिक चीज़ !!

अपने में सूक्ष्म स्वभाव अरूपी होने पर भी राग और कर्ता-भोक्ता का नाश होकर अपना जहाँ अराग और.. आहाहा ! अपने स्वरूप का पूर्ण अनुभव भोक्ता (होता है), क्योंकि कर्ता-भोक्ता आत्मा का गुण है । सैंतालीस नय में है प्रवचनसार (में है) । कर्ता-भोक्ता आत्मा का गुण है तो वह अपनी पर्याय को करे और भोगे, वह अपना स्वभाव है । आहाहा ! रागादि पर को करे, वह भी उसका स्वभाव है - ऐसा भी कहा है । आहाहा ! क्योंकि उसकी पर्याय में होते हैं न ? कर्ता-भोक्ता—राग का कर्ता और राग का भोक्ता, वह भी अपने में, अपने से नय से है । आहाहा ! यहाँ तो कर्ता-भोक्ता का नाश करके पूर्णदशा प्रगट हुई, वह कैसी है, यह बात चलती है । आहाहा !

यहाँ वास्तव में... देखो ! केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत् वर्तना... आहाहा !

ज्ञान जानता है, दर्शन देखता है। दर्शन में यह ज्ञान और यह आत्मा, ऐसे भेद बिल्कुल नहीं है; और ज्ञान में अनन्त गुण का भेद और उन अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायों, ऐसी एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद, सबको भेद करके जानता है, तथापि विकल्प नहीं है। आहाहा! यहाँ वास्तव में केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत्... एकसाथ वर्तते हैं। भगवान को केवलज्ञान और केवलदर्शन एकसाथ हैं। आहाहा! छद्मस्थ को पहले देखे और पश्चात् ज्ञान (होता है)। केवली को ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह श्वेताम्बर में कहा है। मिथ्या बात है। इन सब बातों में बहुत फेरफार कर डाला। वापस उनके आचार्यों ने ही फेरफार कर डाला। ऐसा कहा है न कि एक समय में केवलज्ञान और दूसरे समय में केवलदर्शन? ऐसा नहीं लेना। वह तेरे लिये नहीं है, जैन के लिये नहीं है। दूसरों के लिये है। अब कहा है जैन के लिये जैन को... प्रभु! प्रभु! क्या करना? किसी के सामने विरोध करना नहीं। कोई प्राणी पूर्ण परमात्मा है, द्रव्य से परमात्मा है। उसका अनादर करना नहीं। परन्तु वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा वर्णन तो करते हैं। आहाहा!

कहते हैं, एक ओर दो वस्तु। एक ओर दर्शन तीन काल-तीन लोक को बिल्कुल भेद किये बिना देखता है और एक ओर उसी समय का ज्ञान एक-एक द्रव्य के अनन्त गुणों का भेद करके और गुण की पर्याय का भेद करके जानता है। यह कोई अद्भुत रस है। आहाहा! दीपचन्दजी ने लिखा है। पंच-पंच है न? पंच में लिखा है न? 'अध्यात्म पंच संग्रह।' 'अध्यात्म पंच संग्रह' में दीपचन्दजी ने लिखा है। आहाहा! अद्भुतरस की व्याख्या क्या? अद्भुतरस! एक गुण दो को भेद करके जानता नहीं और उसके साथ एक गुण भेद कर-करके अनन्त गुणों को, अनन्त पर्यायों को जानता है। आहाहा! उसमें लिखा है। वह अद्भुतरस है - ऐसा लिखा है। आहाहा!

क्या कहा? साधारण व्यक्ति को बात साधारण लगे। साधारण बात नहीं है, प्रभु! ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू आत्मा एक। उसके गुण दो। है अनन्त, उनमें से दो की मुख्यता से बात की है। और वे दो रहनेवाले एक समय में साथ में। युगपद् कहा न? युगपद् वर्तते। केवलज्ञान और केवलदर्शन... एकसाथ वर्तना दृष्टान्त द्वारा कहा है। आहाहा!

यहाँ दृष्टान्तपक्ष से किसी समय बादलों की बाधा न हो... सूर्य में। तब आकाश के मध्य में स्थित सूर्य के प्रकाश और ताप जिस प्रकार युगपत् वर्तते हैं,... सूर्य में, जब बादल का अभाव हो, तब प्रकाश और ताप... आहाहा! एकसाथ वर्तते हैं।

उसी प्रकार भगवान परमेश्वर तीर्थाधिनाथ को... आहाहा! त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती,... त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती... आहाहा! तीन लोक-तीन काल में वर्तनेवाले... आहाहा! स्थावर-जंगम द्रव्यगुणपर्यायात्मक ज्ञेयों में सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् वर्तते हैं। आहाहा! केवलदर्शन सर्व को देखे, उसमें भेद नहीं। केवलज्ञान एक-एक समय में प्रत्येक गुणादि का भेद पाड़कर देखता है। एक ही समय में दो गुणों की पर्याय एक समय में रहे, यह अद्भुतरस है। आहाहा! कौन सी बात जँचे!

मुमुक्षु : केवलदर्शन, केवलज्ञान को देखता है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब ही देखता है। सब ही जानता है, परन्तु देखे भेद पाड़कर (देखता) नहीं। केवलदर्शन भेद पाड़कर (देखता) नहीं कि मैं दर्शन हूँ, यह ज्ञान है। ऐसा नहीं। आहाहा! यह तो वीतराग का मार्ग, भाई! आहाहा! यह कहा नहीं? 'अध्यात्म पंच संग्रह' में तो ऐसा लिया है। जहाँ नवरस का वर्णन किया है, उसमें एक अद्भुतरस वर्णन किया है। उस अद्भुतरस में यह कहा है। ओहो! प्रभु! तेरे प्रकाश की एक पर्याय किसी को भेद पाड़े बिना देखती है और एक समय की एक पर्याय प्रत्येक को भेद पाड़कर (जानती है) कि यह जीव है, यह जड़ है, यह चैतन्य है, ज्ञान है, आनन्द है, प्रत्येक को भिन्न पाड़कर जानता है। प्रभु! एक समय में दो पर्यायें। एक पर्याय का एक स्वभाव और एक पर्याय का यह स्वभाव, कोई अद्भुतरस है! गूढ़ बात है, भाई! यह कोई वार्ता नहीं। आहाहा! यह प्रभु के घर की बात है और प्रभु के घर में जाने की बात है। आहाहा!

कहते हैं, यहाँ दृष्टान्तपक्ष से किसी समय बादलों की बाधा न हो, तब आकाश के मध्य में स्थित सूर्य के प्रकाश और ताप... प्रकाश भी करता है और ताप-गर्मी भी देता है। एक समय में दो होते हैं। यह तो दृष्टान्त दिया। आहाहा! सूर्य का ऐसा है। जिस प्रकार युगपत् वर्तते हैं, उसी प्रकार भगवान परमेश्वर तीर्थाधिनाथ को त्रिलोकवर्ती... ईश्वर, परमेश्वर त्रिलोक प्रभु, अनन्त तीर्थकर... आहाहा! वे भी अपने केवलदर्शन और केवलज्ञान

से एक समय में दोनों देखते हैं। जैसे सूर्य में से ताप और प्रकाश एक समय में होता है; वैसे आत्मा में ज्ञान और दर्शन; तीन लोक को जाने, ऐसा ज्ञान और तीन लोक को भेद पाड़े बिना देखे-दर्शन, ऐसे एक समय में दोनों होते हैं। आहाहा! ऐसी बात! सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो। अर र! अरे! भाई! पहले यह सब किया है। आहाहा! यह बात मूल चीज़ (रह गयी है)।

चैतन्य प्रकाश 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी।' 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी तातें वचन भेद भ्रम भारी, निजरूपा निज शक्ति भासी, पररूपा पर भासी।' स्वज्ञेय और परज्ञेय दोनों। आत्म एक स्वज्ञेय और परज्ञेय दोनों को जाने। परन्तु परज्ञेय को जानने से आत्मा में कुछ कमी आ जाती है... आहाहा! या विशेष हो जाए अथवा पर को नहीं जानता - ऐसा नहीं है। आहाहा! परसम्बन्धी अपने ज्ञान की पर्याय के सामर्थ्य में उसे जानने में स्व-पर पूरा ज्ञात होता है। अपनी पर्याय को जानने में ही तीन काल को जानना-देखना एक समय में आ जाता है। आहाहा! अरे! उसका माहात्म्य नहीं आता और बाहर का माहात्म्य (नहीं छूटता)। आहाहा! लड़का कोई अच्छा-होशियार आवे तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है और लापसी पकाओ। एक दिन में पाँच हजार की आमदनी हो, वहाँ आज यह अमुक करो। धूल में क्या है? तीन लोक का नाथ चैतन्य अनन्त समृद्धि से भरपूर भगवान... आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान भूला।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान भूला है अनादि से। आहाहा! कहते हैं, जैसे सूर्य में बादल के अभाव के कारण आताप और प्रकाश एक साथ होते हैं। **उसी प्रकार भगवान परमेश्वर तीर्थाधिनाथ को त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती,...** आहाहा! तीन लोक में वर्तनेवाले और तीन काल में वर्तनेवाले। तीन काल किसे कहें? प्रभु! आहाहा! क्षेत्र भी कहीं अन्तरहित। आहा! यह लोक असंख्य योजन में है। पश्चात् खाली जगह-आकाश है। वह आकाश नाम का पदार्थ कहाँ गया? कहाँ रहा? चलते... चलते... चलते... कहीं उसका अन्त नहीं। आकाश नामक पदार्थ का कहीं अन्त नहीं। आहाहा! इन त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती। त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती। आहाहा! त्रिकालवर्ती अर्थात् भविष्य में वर्तनेवाले को अभी जाने। आहाहा! ऐसा आया या नहीं?

त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती,... भविष्य में वर्तमान को भी वर्तमान में जान ले। आहाहा! जिसका अन्त नहीं, उसे भी अभी जान ले। आहाहा! जिसके क्षेत्र का अन्त नहीं। अन्त होवे तो बाद में क्या? आकाश में बाद में.. बाद में.. बाद में.. बाद में.. बाद में.. (क्या)? वह सर्व को जाननेवाला भगवान... आहाहा! उसके ज्ञान में - तर्क में मुश्किल पड़ जाए, ऐसी चीज़ को भी भगवान तो एक समय में देखते-जानते हैं। आहाहा! तीन काल—आदि-अन्तरहित काल। काल की आदि नहीं, काल का अन्त नहीं, उसे भी जाने। क्षेत्र की आदि यहाँ से है, परन्तु अन्त नहीं। ऐसे देखो तो आदि और अन्त नहीं। आकाश की श्रेणी। एक श्रेणी कहाँ पूरी हुई और कहाँ से शुरु हुई? आकाश की अनन्त श्रेणियाँ हैं। आहाहा! वह त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती। तीन काल में वर्तनेवाला और तीन लोक में वर्तनेवाला... आहाहा! वह सर्व को युगपत् वर्तते हैं,.. है?

स्थावर-जंगम द्रव्यगुणपर्यायात्मक ज्ञेयों में सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् वर्तते हैं। आहाहा! देखना और जानना एक समय में वर्तता है। जैसे सूर्य में प्रकाश और ताप एक समय में वर्तता है, वैसे भगवान आत्मा में एक समय में जानना और देखना (होता है)। भले दोनों के स्वभाव भिन्न है, तथापि एक समय में दोनों को जाने। आहाहा! विचार किया नहीं। भगवान को केवलज्ञान है... केवलज्ञान है... इतना। परन्तु वह क्या वस्तु है?

कभी विचार किया कुछ? कि यह लोक है, यह क्षेत्र; इस क्षेत्र का तो अन्त आयेगा, यह जड़-चैतन्य है। पश्चात् खाली जगह है, उसका कहीं अन्त है? उसका अन्त कहाँ? आहाहा! इसी तरह काल की शुरुआत कहाँ से? कि पहला समय यह शुरुआत है। पहला क्या? द्रव्य की पहली पर्याय कौन सी? आहाहा! गजब बात है। अनादि... अनादि... अनादि द्रव्य... द्रव्य और पर्याय अनादि-अनन्त। द्रव्य भी अनादि और उसकी पर्याय भी अनादि। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ आकाश का अन्त नहीं और काल का अन्त नहीं। आहाहा! उसे ज्ञान-दर्शन जानता-देखता है। युगपद् जानता-देखता है।

और (विशेष इतना समझना कि), संसारियों को दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है... इतना अन्तर। केवलज्ञानियों को केवलज्ञान और दर्शन एक समय में होता है। छद्मस्थ को पहले दर्शन और पश्चात् ज्ञान, ऐसा होता है। दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। आहाहा! भेद किये

बिना की वस्तु पहले देखे और फिर भेद पाड़ने की वस्तु देखे—ऐसा दर्शन और ज्ञान का स्वभाव छद्मस्थ को ऐसे होता है। आहाहा! किसी भी चीज़ को देखने में छद्मस्थ अल्प ज्ञानी को पहले दर्शन (उपयोग होता है)। आहाहा! सामान्यपना—उस चीज़ में भेद, विस्तार के अभाववाला दर्शन और उसी समय में... केवली को उसी समय में और इसे (छद्मस्थ को) समय फेर-छद्मस्थ को समय फेर। दर्शन के समय ज्ञान नहीं और ज्ञान के समय दर्शन नहीं। आहाहा! अब ऐसा समझने को कब निवृत्त हो? धन्धे का करना, स्त्री-पुत्र का करना, इज्जत का करना या यह करना? आहाहा! यह सब करके छोड़ते हैं। पर का करना छोड़ते हैं? आहाहा!

मैं कौन हूँ? कितना हूँ? कहाँ हूँ? मेरी शक्ति की अपरिमितता किस प्रकार है? और इस काल और क्षेत्र की मर्यादा कितनी है? इसका विचार करने पर गम्भीर... गम्भीर... गम्भीर... यह वस्तु गम्भीर और इसे जाननेवाला ज्ञान और दर्शन गम्भीर। आहाहा! केवली एक समय में जानते-देखते हैं। छद्मस्थ को पहले दर्शन और पश्चात् ज्ञान (होता है)। (अर्थात् प्रथम दर्शन और फिर ज्ञान होता है, युगपत् नहीं होते)। आहाहा! ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१८८, श्लोक-२७३, सोमवार, आषाढ़ शुक्ल ९, दिनांक २१-०७-१९८०

नियमसार, १६० गाथा हो गयी। उसका आधार देते हैं। इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (६१ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।

णट्ट-मणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने उपाय तो सब कहे, तो वह केवलज्ञान जब होता है, तब ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है... कोई बाकी नहीं। क्षेत्र और काल, अनन्त-अनन्त क्षेत्र और अनन्त काल और अनन्त-अनन्त गुण का भाव, इन सबके पार को प्राप्त है। ज्ञान सर्व

के पार प्राप्त है। आहाहा! ऐसी शक्ति है - ऐसी ताकत उसमें है कि अपनी सत्ता में रहकर जब निर्मल उत्पन्न हुआ, तब परद्रव्य को स्पर्श किये बिना परद्रव्य के क्षेत्र-काल का अन्त नहीं, (उस) सर्व को ज्ञान एक समय में जानता है। आहाहा! ऐसी आत्मा की मति है। ऐसा शक्तिवान प्रभु अन्दर है। आहाहा!

एक समय में, क्षेत्र का अन्त नहीं, उसका ज्ञान हो जाता है; काल का अन्त नहीं, उसका ज्ञान हो जाता है। भाव अनन्त-अनन्त गुण हैं। तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण हैं। आहाहा! तीन काल को जाने, उससे अनन्तगुणे गुणों को जाने। एक-एक आत्मा में, एक-एक परमाणु में तीन काल के समय (उन्हें जाने)। एक सेकेण्ड में असंख्य समय होते हैं। आहाहा! इसकी महत्ता की इसे खबर नहीं है। एक आत्मा है और यह देह में हूँ, बस। परन्तु कौन है? कैसा है? उसकी कीमत, उसकी महत्ता, उसकी महिमा... सर्वज्ञ भी, इसकी महिमा का पार नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है... पदार्थ में सब आ गया। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव —सर्व पदार्थ से पार हो गया। आहाहा! **और दर्शन लोकालोक में विस्तृत है...** वह लोकालोक को जानता है, देखता है। दर्शन लोकालोक को देखता है। देखता है, उसका अर्थ यहाँ विस्तृत है। है, लोकालोक है - ऐसा दर्शन देखता है। आहाहा! ऐसी शक्ति है, वह व्यक्त / प्रगट हो गयी। भगवान आत्मा में अनन्त ज्ञान और दर्शन शक्ति, वह पर्याय— अवस्था में अनन्त-अनन्त प्रगट हो गयी। आहाहा! तब वह आत्मा का ज्ञान सर्व पदार्थों के पार को प्राप्त हुआ और दृष्टि सर्व लोकालोक में विस्तृत है। आहाहा! ऐसा प्रभु का सामर्थ्य है। तो क्या हुआ?

सर्व अनिष्ट नष्ट हुआ है... अपना ज्ञान, दर्शन और आनन्द अन्तर में दृष्टि करके जहाँ प्रगट हुए, वहाँ सर्व अनिष्ट नाश को प्राप्त हुआ। अनिष्ट कुछ बाकी रहा नहीं। आहाहा! बाहर की कोई चीज़ अनिष्ट नहीं है। अल्पज्ञता, अल्पदर्शिता आदि अनिष्ट है। उसका नाश हो गया। आहाहा! बाहर की चीज़ इष्ट-अनिष्ट नहीं है। बाहर की चीज़ तो ज्ञेय है। ज्ञान में जाननेयोग्य ज्ञेय है। बाहर की चीज़ कोई अच्छी और बुरी—ऐसे दो भेद ज्ञेय में— जाननेयोग्य ज्ञेय में नहीं है। आहाहा! **सर्व...** आहाहा! लोग जिसे प्रीति से - प्रेम से राग करते हैं; प्रतिकूलता में द्वेष करते हैं, उस सर्व का नाश होकर, ज्ञान और दर्शन प्रगट होने से अनिष्ट नाश को प्राप्त हुआ। आहाहा! **और जो इष्ट है, वह सब प्राप्त हुआ है।**

मुमुक्षु : इष्ट तो पैसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा आदि धूल है। पैसे ने पैसेवाले को मार डाला है। देखो, न! मुम्बई में हीरा की कीमती अँगूठी पहिनकर जा रहा था। बढ़िया हीरा की कीमती होगी। एक व्यक्ति - गुण्डा देख गया। गुण्डे को ख्याल आया कि इसने पहिनी है। एक गली में वह घुसा और स्वयं घुसा और ले ली, मार डाला। आहाहा! वापस उसे पहिचानता है। जो अनुकूलता के लिये थी, अँगुली की शोभा रखी, कीमती चीज़ थी। यह धूल की शोभा है। उसे मार डाला लेकर, फिर यह मुझे पहिचाने तो मारे वापस। मुझे पहिचाने तो पकड़ेगा।

मुमुक्षु : एक को मार डाले और दूसरे को महिमा दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : महिमा किसे दे ? देता है, ऐसा मानता है। मानता है महिमा। पैसे वाला हो, बड़ा हो, सब धूल का मालिक है। मरते हुए मुँह फट जाएगा। असाध्य पीड़ा-पीड़ा। एक की पीड़ा देखी है। दो की पीड़ा (देखी है)। 'ध्रांगध्रा' में। (संवत्) १९७६ की बात है। 'ध्रांगध्रा' में उपाश्रय के पास एक जेठालाल था। 'ध्रांगध्रा' में उपाश्रय है न! जेठाभाई था, परन्तु (संवत्) १९७६ की बात है। उसे यह हार्ट उठा। ऐसी व्याधि... ऐसी व्याधि... १९७६ के वर्ष। कहे, महाराज को बुलाओ। हम गये थे। नीचे बिस्तर में रह नहीं सके। पलंग में तो सुला नहीं सके। जेठालाल संघवी था। उपाश्रय के साथ। वे सूरचन्द संघवी थे न ? आहाहा! वह पीड़ा। मांगलिक सुनने का भान नहीं रहे। लोगों ने बुलाया। इतनी पीड़ा। ऐसे बिस्तर से नीचे उतर जाए। नीचे ऐसे से ऐसे (होवे)। आहाहा!

एक वढवाण में देखा। वे कैसे कहलाते हैं ? दादभावाला। दादाभाई थे और चन्दुभाई। उनके साथ मकान था। यह बात (संवत्) १९८२ की है। १९८२ के वर्ष की। उसमें से एक सेठ कोई होगा। हम बहुत पहिचानते नहीं। उसे पीड़ा उठी तो कहे, महाराज को बुलाओ। हम गये, परन्तु अन्दर... आहाहा! कहीं बैठे नहीं सके। बिछौना बिछाया था। आहाहा! इतनी उलझन। यह दशा, बापू!

यहाँ कहते हैं, जिसने ज्ञान और दर्शन (जो) भगवान आत्मा का स्वभाव-उसकी शक्ति, वह आत्मा का सत्व है। जानना-देखना तो आत्मा के सत् का सत्व है। वह जहाँ प्रगट हुआ, वहाँ अनिष्ट का नाश हो गया और इष्ट की प्राप्ति हो गयी। पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो गयी। यह इष्ट है। पैसा करोड़ मिले, इसलिए इष्ट की प्राप्ति और निर्धनता का नाश हुआ,

इसलिए अनिष्ट का नाश (हुआ-ऐसा नहीं है)। आहाहा! क्षयरोग हुआ और नाश हुआ कदाचित्, वह कोई अनिष्ट नहीं है। आहाहा! यह तो ज्ञान और दर्शन जिसका स्वभाव है, उसकी अपूर्णता और विपरीतता अनिष्ट है। उस सर्व अनिष्टों का नाश होकर अपनी पूर्णता प्रगट हुई, वह इष्ट की प्राप्ति हुई। वहाँ तुम्हारा पैसा-वैसा नहीं आया कि पैसा मिला (तो) इष्ट प्राप्त हो गया; स्त्री अच्छी मिली, इसलिए इष्ट प्राप्त हो गया; लड़के अच्छे मिले, अपने आप काम करते हैं, अब निवृत्त हुए; इसलिए इष्ट की प्राप्ति हुई (- ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : अच्छे लड़के हों, उन्हें तो अच्छा कहना पड़े न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अच्छा किसे कहना ? ज्ञेय में अच्छा (ऐसी) छाप लगाई है ?

मुमुक्षु : अपना कहना माने, इसलिए अच्छा।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी का नहीं मानता। भगवान का माने, उसका अपना माने। आहाहा!

मैं जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। मेरी अपूर्णता भी मेरे लिये अनिष्ट है। मेरी पूर्णता, वह मेरे लिये इष्ट है। आहाहा! बात सुनी भी नहीं। कभी दरकार भी नहीं की। अरे रे! समय चला जाता है, काल चला जाता है। मृत्यु का समय है, वह बदले ऐसा नहीं है। भगवान ने देखा है कि इस समय में, इस क्षेत्र में, इस काल में देह छूटेगी। वह स्थिति उस प्रकार होनी है। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि इष्ट-अनिष्ट दूसरी कोई चीज़ नहीं है, ऐसा कहते हैं। अनिष्ट तो अपनी अपूर्णता है। जो ज्ञानस्वभाव पूर्ण जानना चाहिए, उसे न जाने, अल्प जाने, वह अनिष्ट है। अल्प देखे, वह अनिष्ट है। उसका नाश होकर पूर्ण देखना-जानना हुआ, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द प्रगट हो गया। आहाहा! शरीरप्रमाण रहने पर भी मुक्ति शरीर में होती है। क्या कहा ? भगवान आत्मा यहाँ रहता है। संसार भी उसकी पर्याय में यहाँ है और केवलज्ञान भी यहाँ शरीर हो, उसमें रहता है। केवलज्ञान तो ठीक, परन्तु मुक्ति तक लिया है। मुक्त हो गया तो भी यहाँ रहता है। एक समय यहाँ से मुक्त हुआ, एक समय में फिर ऐसे जाता है। वहाँ एक समय में पहुँचता है। मुक्ति हुई यहाँ मार्ग में और वहाँ पहुँचे, जहाँ सिद्धभगवान है। एक समय में। आहाहा! उसकी गति तो कैसी होगी,

लो ! वहाँ झट पहुँचे हो मानो किसी गाँव में। और झट मानो झट ठीक आ गये। यहाँ तो कहे, झट और हट कुछ नहीं। आहाहा ! स्वयं प्रभु अनन्त आनन्द सम्पन्न है। वह अनन्त ज्ञान और दर्शन जहाँ प्रगट हुए, वहाँ अनन्त आनन्द साथ में प्रगट हुआ। अपूर्ण आनन्द का दुःख था, वह अनिष्ट था। और पूर्ण आनन्द में, इष्ट में पूर्ण आनन्द है। अनिष्ट का नाश और इष्ट की प्राप्ति है।

यहाँ दूसरी बात यह कहनी है कि इष्ट-अनिष्ट किसी जगत की चीज़ को माने तो वह बात मिथ्याभ्रम है। आहाहा ! दुनिया की किसी चीज़ को इष्ट माने, विवाह किया और पाँच-पच्चीस हजार खर्च किये और इष्ट हुआ। वह इष्ट नहीं है, प्रभु ! वह तो महा अनिष्ट है। महा दुर्घटना हुई। भाई ने लिखा है—हुकमचन्दजी ने। दशलक्षणी पर्व में। स्त्री हुई तो दुर्घटना हुई। भूतों का भूतप्रेत लगा है। भूत का भूतप्रेत का लगना हुआ। अब यह दुर्घटना। आहाहा ! पढ़ा है ? हुकमचन्दजी की दशलक्षणी पर्व। पुस्तक बहुत सरस है। क्रमबद्ध (पर्याय) पुस्तक है। दोनों पुस्तकें बहुत अच्छी। आहाहा ! यह ऐसा कहते हैं... उसमें लिखा है।

इष्ट—अपनी सम्पदा पूर्ण पड़ी है, उसकी प्राप्ति, वह इष्ट है। आहाहा ! और अपनी सम्पदा हीनरूप रहे, वह अनिष्ट है। आहाहा ! उस सर्व का नाश हुआ। इतने शब्द में तो बहुत भरा है। इष्ट-अनिष्ट कोई चीज़ नहीं। अपने गुण की हीनता, वह अनिष्ट और पूर्णता, वह इष्ट है। बाकी कोई बाहर की चीज़ (इष्ट-अनिष्ट) नहीं। आहाहा ! पाँच-पच्चीस लाख एक दिन में कमाये, इसलिए आज का दिन मांगलिक। पाप का दिन है बड़ा। आहाहा ! एक दिन में पच्चीस लाख कमाये, यह पूर्व का पुण्य था, वह जल गया और पैसा, वह पाप है, तो वह पापी हुआ। समझ में आया ? पूर्व का पुण्य था, इसलिए पैसे मिले। परन्तु जो चीज़ मिली, वह पाप है, परिग्रह है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय और परिग्रह। वह परिग्रह पाप है। आहाहा ! उसे इष्ट माने। भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... आहाहा ! यह थोड़े पैसे हैं तो दानादि में खर्च करूँगा, मन्दिर आदि बनाऊँगा और हम धर्म करेंगे। यह किसी प्रकार से धर्म नहीं होता।

मुमुक्षु : पैसा होवे तो पंच कल्याणक किया जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंच कल्याणक की यह बात अभी चर्चा में आयी है। अभी चर्चा

में आयी है कि प्रतिष्ठा में पंच कल्याणक वह है या नहीं? यह क्या है? यह प्रवृत्ति किसकी है? शास्त्र-आधार है या अध्धर? चर्चा चली है। एक यह चली है और एक बाहुबली। बाहुबली... तो यह शल्य थी या नहीं? तीन में शल्य थी। तो क्यों केवल नहीं हुआ? वह शल्य नहीं थी। शल्य होवे तो... हो। मुनिपना नहीं होता। निःशल्यव्रती - ऐसा पाठ है। शल्यरहित हो, वह व्रती। वे बारह महीने रहे, यह तो अस्थिरता है; शल्य नहीं। अखबार में बड़ी चर्चा चली थी। और यह एक बिरधीचन्द है। प्रतिष्ठा में पंच परमेष्ठी की प्रतिष्ठा इस प्रकार करना, यह कोई विधि है? क्योंकि वे तो सब परपदार्थ हैं। पंच कल्याणक में परपदार्थ के साथ सम्बन्ध है। स्वपदार्थ के साथ उसमें कुछ सम्बन्ध नहीं। और स्व पदार्थ के आश्रय बिना... आहाहा! कहीं इष्टपना है नहीं। आहाहा! यह बात आयी।

अनिष्ट नष्ट हुआ है... आहाहा! अपनी अल्पज्ञ दशा दुःखरूप थी, वह नाश हुई और अपनी सर्वज्ञदशा आनन्दरूप थी, वह प्रगट हुई। आहाहा! इन दो के बीच दूसरे को इष्ट-अनिष्ट मानना, इसके बिना दूसरे को इष्ट-अनिष्ट मानना, वह मिथ्याभ्रम है। क्या कहा? आहाहा! अपूर्ण अवस्था, वह अनिष्ट और पूर्ण अवस्था, वह इष्ट। इसके अतिरिक्त किसी भी दूसरी चीज़ को इष्ट-अनिष्ट मानना, वह भ्रमणा और मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बात है। पूरी दुनिया का फेरफार कर डाले, तब धर्म में रहा जा सके, ऐसा है। आहाहा! यह कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार के वचन हैं।

और दूसरा भी (श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित बृहद्द्रव्यसंग्रह में ४४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा ।

जुगवं जह्वा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि ।।

श्लोकार्थ : छद्मस्थों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है... आहाहा! अल्पज्ञ प्राणी को अन्दर एक साथ गुण होने पर भी अल्प ज्ञान और अल्प दर्शन है, इस कारण से (पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है),... यहाँ बात ले जाना। आहाहा! अब दया, दान, पुण्य है; धर्म नहीं - यह तो कहीं रह गया। आहाहा! अरे! प्रभु! तेरी सम्पदा, अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान-दर्शन की सम्पदा, उस सम्पदा की पूर्णता में... आहाहा! छद्मस्थ प्राणी पहले

दर्शन और पश्चात् ज्ञान कर सकता है। क्योंकि अपूर्ण और अल्पज्ञ है। केवलज्ञानी के अतिरिक्त छद्मस्थ प्राणी दर्शन-ज्ञान अपनी शक्ति होने पर भी विकास में अपूर्णता है, इसलिए दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। पहले देखता है और देखने के पश्चात् उसे विशेष जानता है। आहाहा! कहाँ तक ले गये! सब निकाल डाला। अब अल्पज्ञपना निकाल डालते हैं। आहाहा!

परचीज के ऊपर से लक्ष्य छोड़। नारकी को कहीं पर के संयोग का दुःख नहीं है। नरक में अग्नि और शीत का पार नहीं है। धग.. धग.. धग.. धग.. अग्नि है, उसका दुःख नहीं है। उस ओर का लक्ष्य करता है, वह अटकता है, वह दुःख है। आहाहा! संयोग स्पर्श नहीं करता। संयोग का दुःख-भट्टी में पड़ा है, इसलिए दुःख है - ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि संयोग को तो वह स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता। छूता भी नहीं। आहाहा! अग्नि में हाथ डाला, तो कहते हैं कि हाथ ने अग्नि को स्पर्श भी नहीं किया है और जो पीड़ा होती है, वह अग्नि से नहीं। इसके (हाथ के) परमाणु की पर्याय ऐसी परिणमित हुई है। आहाहा! उसके कारण दुःखी है। आहाहा! तेरे संसार में अपनी सम्पदा पूर्ण है। उस सम्पदा में अपूर्णता, वह अनिष्ट है और उस सम्पदा में पूर्णता, इष्ट है। इसमें कहीं तुम्हारे हीरा-बीरा नहीं आये। आहाहा!

उनके पास दस करोड़ रुपये हैं। सरदारशहर में है न? सरदारशहर, अपने दीपचन्द्रजी आते थे न? उनके मामा के पास दस करोड़ रुपये। ऐसे के ऐसे सन्दूक में पड़े हों, परन्तु प्रयोग नहीं कर सके। आहाहा! पीने की वह शीशी लाये हों। वह पीने की क्या कहलाती है?... क्या कहलाती है वह? वह लड़के नहीं लेते? मिठास होवे, उसे पीते हैं न? तुम्हारे नाम भूल गये। वह पीवे, उसकी मिठास है। कहते हैं कि वह तो दुःख है। आहाहा! वह क्या कहलाती है तुम्हारे? कुल्फी। नाम भूल गये। वह कुल्फी पीवे, उसमें उसे जो... गर्मी के दिन हों और कुल्फी (पीवे)। आहाहा! यह सब किया था। पालेज से भरूच जाते थे, तब गर्मी बहुत, गर्मी में माल लेने जाते थे, तब फिर कुल्फी-बुल्फी लें और पीवें। आहाहा! वह कुल्फी पीता नहीं और आत्मा उसे छूता भी नहीं। आहाहा! आत्मा का ज्ञान वहाँ रूका, वही अनिष्ट और दुःख है। आहाहा! व्याख्या तो व्याख्या!

चाहे जो अनुकूल चीज दुनिया माने, वहाँ ज्ञान रूका कि यह ठीक है, यह अनिष्ट

है और यह दुःख है। उसमें से हटकर ज्ञान ज्ञातारूप से पूर्ण ज्ञान ही करे। कोई ठीक-अठीक कुछ है ही नहीं। पूर्ण ज्ञान करे, वही इष्ट है। आहाहा! कहो हरिभाई! ऐसी व्याख्या है। कभी सुनी नहीं हो। कोई चीज इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं। आहाहा! इष्ट और अनिष्ट तेरी पर्याय है। आहाहा! जो तेरा सामर्थ्य है, उतना प्रगट नहीं करके अल्प में रहना, वह दुःख है और पूर्ण की प्राप्ति करके पूर्ण में रहना, वह आनन्द है। आहाहा! दुनिया से दूसरा प्रकार है। दूसरों को तो कठिन लगे। छूता नहीं? कहते हैं। हीरा-माणिक के हार पहिने ऐसे। लाखों रुपयों के-करोड़ों रुपयों के। चक्रवर्ती करोड़ों रुपयों के हार, करोड़ों का हार पहिने। करोड़ों रुपयों की अँगूठी हो, अँगूठी! आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो इष्ट है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी इष्ट नहीं है। आहा! श्रीकृष्ण वन में गुजर गये। तृषा... तृषा... तृषा... जिनकी देव सेवा करते थे, उन्हें कोई मनुष्य पानी पिलानेवाला नहीं रहा। उनके भाई पानी लेने गये, पत्रों का (बर्तन) बनाकर (पानी लाते हैं)। वहाँ जंगल में बर्तन-वर्तन कहाँ हो? पत्रों और सली से बर्तन (दौना) बनाकर पानी लेकर जहाँ आते हैं, वहाँ भाई की देह छूट गयी। आहाहा! इतनी तृषा। वह दुःख नहीं है। आहाहा!

तेरी ऋद्धि पर में रुके, उसका नाम अनिष्ट और दुःख है, परन्तु तेरी ऋद्धि पर में नहीं रुके, वह आनन्द है। आहाहा! ऐसी व्याख्या भी सुनी नहीं हो। आहाहा! वीतराग तीन लोक के नाथ परमेश्वर अनन्त तीर्थकरों का यह कथन है। अनन्त तीर्थकर दिव्यध्वनि द्वारा ऐसी पुकार कर गये हैं। आहाहा! वह बात शास्त्रों में रह गयी है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि **छद्मस्थों को...** छद्मस्थ अथात् केवलज्ञानी नहीं, ऐसे अल्पज्ञानी को **दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है...** क्योंकि उनका ज्ञान कम और दर्शन कम है, इसलिए पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान होता है। आहाहा! यद्यपि श्वेताम्बर में तो ऐसा डाला है (कि) केवली को भी पहले ज्ञान और फिर दर्शन। आहाहा! यहाँ पहले दर्शन और ज्ञान। वह बात कल्पित है। केवली को पहले ज्ञान और फिर दर्शन, ऐसा नहीं होता। एक ही समय में दोनों पूर्ण होते हैं। आहाहा! अरेरे! यहाँ तक पहुँचना। सम्प्रदाय के आग्रह छोड़कर, दुराग्रह पकड़े हों, उन्हें छोड़ देना। आहाहा! सत्य हो, उसे लेना। उसमें बहुत पुरुषार्थ है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : मोक्षतत्त्व में ही बड़ी भूल है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ी भूल है तत्त्व में । एक-एक तत्त्व में । नव तत्त्वों में, नव तत्त्वों में भूल है । आहाहा ! क्या करे ? कहाँ वाद-विवाद करे ? यह तो पहले आ गया । 'नाणा कमा नाणा जीवा नाणा लब्धि' अनेक प्रकार के जीव, अलग-अलग प्रकार के, उन्हें क्षयोपशमभाव की प्राप्ति । यह जिसे जँचा हो, वह दूसरों की बात किस प्रकार स्वीकार करेगा ? एक विचारवाले सब कैसे होंगे ? आहाहा ! इसलिए वाद-विवाद करना नहीं, बापू ! कठिन बात है ।

यहाँ कहना यह (है कि) आत्मा कर्म को स्पर्श नहीं करता । और जैन का पूरा पुकार कि कर्म के कारण विकार होता है । अर र र ! यह धर्म । जैन के लड़के से लेकर सब बड़े पण्डित (कहते हैं कि) विकार कर्म से होता है... विकार कर्म से होता है... विकार कर्म से होता है... ऐसा विपरीत सीखे । आहाहा !

मुमुक्षु : दिगम्बर में भी ऐसा है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ये फिर ऐसा विपरीत सीखे । आहाहा ! आत्मा स्वतन्त्र है । अपनी भूल स्वयं अपने से करता है । जो कुछ निमित्त को अवलम्बता भी नहीं । निमित्त पर लक्ष्य करता भी नहीं । आहाहा ! अपना अल्पपना है, वह दुःख है । आहाहा !

इसलिए छद्मस्थ को... छद्मस्थ अर्थात् आवरण में रहे हुए प्राणी को पहले दर्शन होता है, पश्चात् ज्ञात होता है । आहाहा ! है ? दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है (अर्थात् पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है), क्योंकि उनको दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते;... यहाँ तक जाना । आहाहा ! जानने और देखने का उपयोग एकसाथ छद्मस्थ को, अल्पज्ञ प्राणी को नहीं होता । आहाहा ! उसकी ऋद्धि एकसाथ भरी हुई है । ज्ञान और दर्शन तो एकसाथ शक्ति में रहा हुआ है, तथापि व्यक्त में अपूर्णता के कारण पहले दर्शन और पश्चात् ज्ञान (होता है) । आहाहा ! यह भी जहाँ संसार को खटकता है । अब उसे यहाँ तक आकर यह छुड़ाना... आहाहा ! क्योंकि भगवान आत्मा ज्ञान और दर्शन के स्वभाव से, अपने तत्त्व से, अपनी सत्ता के सत् से पूर्ण भरपूर है । उसे प्रगटता में अल्प दर्शन और ज्ञान के कारण, पहले दर्शन और ज्ञान पश्चात्... आहाहा ! यह दुःख है । यह अल्पज्ञता, वह दुःख है । आहाहा ! है ?

वे दोनों युगपत् होते हैं । भगवान को । इसे (छद्मस्थ को) दोनों उपयोग युगपद्

नहीं होते। **केवलीनाथ को...** आहाहा! यह क्या कहते हैं, प्रभु! तुझमें इतनी सम्पदा है। प्रभु! अल्प रहे, वह वस्तु शक्ति नहीं। पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण से पूर्ण भरपूर, वह पूर्ण भरपूर है, वैसी पूर्ण पर्याय प्रगट हो, ऐसी ताकतवाला तू है। उसे अल्प न मान, उसे अल्पज्ञ न मान, उसे विपरीत न मान। आहाहा! इस मान्यता में तो बिल्कुल विपरीतता मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी पूर्ण शक्ति अन्दर भरी है। वह पर्याय में पूर्ण न आवे, तब तक दर्शन और ज्ञान अल्प के कारण दोनों का उपयोग एकसाथ नहीं हो सकता। अल्पता के कारण दर्शन-ज्ञान उपयोग एकसाथ नहीं हो सकता। केवलज्ञानी नाथ को... है ?

केवलीनाथ को... आहाहा! केवलीनाथ है। अपने अनन्त गुण का नाथ है, लोकालोक का नाथ है। आहाहा! जानते हैं न? आहाहा! परन्तु जँचे कैसे? एक जरा गन्ने का साठा मीठा ठीक आया जहाँ, वहाँ गलगलिया होकर रुके। अब उसे ऐसा कहना कि प्रभु! तू अनन्त आनन्द का धनी है। प्रभु! तुझमें अनन्त आनन्द भरा है। इस आनन्द में भी अपूर्णता, वह दुःख है। आहाहा! यहाँ तक जाना... यहाँ बाहर के उत्साह का पार नहीं होता, बाहर की प्रवृत्ति का उत्साह, यह उत्साह और हर्ष। आहाहा! वह दशा जब तक न हो; पूर्ण है और पूर्ण जब तक न हो... आहाहा! तब तक प्राणी, प्रभु! तू दुःखी है। पूर्ण है, आहाहा! ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्त गुण पूर्ण भरे हैं। आहाहा! उन्हें कोई क्षेत्र की आवश्यकता नहीं कि बहुत बड़ा क्षेत्र चाहिए तो अधिक गुण रह सकें। आहाहा! इस अल्पक्षेत्र में, अरे! अंगुल के असंख्य भाग में निगोद के जीव में, अनन्त जीवों में एक-एक जीव में अनन्त आनन्दादि पूर्ण भरा है। शक्ति पूर्ण भरी है। आहाहा! वीतराग की बात एक-एक बात अलग है। सुनने को मिली नहीं। बाहर में सब मानकर बैठे। जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

कहते हैं कि भगवान केवली को तो एक साथ युगपद् होता है। है न ?

श्लोक-२७३

और (इस १६० वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं) :—

(स्रग्धरा)

वर्तेते ज्ञान-दृष्टी भगवति सततं धर्म-तीर्थाधिनाथे,
सर्वज्ञेऽस्मिन् समन्तात् युगपदसदृशे विश्वलोकैनाथे ।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्,
तेजोराशौ दिनेशे हत-निखिल-तमस्तोमके ते तथैवम् ॥२७३॥

(वीरछन्द)

जो अनुपम हैं धर्मतीर्थ के नायक सकल लोक के नाथ ।
इन्हें सर्वतः वर्ते युगपत् नितप्रति दर्शन-ज्ञान प्रकाश ॥
तिमिर समूह विनाशक रवि में युगपत ऊष्ण और परकाश ।
जगजन पाते नेत्र तथैव उन्हें युगपत दृग-ज्ञान प्रकाश ॥२७३ ॥

[श्लोकार्थ :] जो धर्मतीर्थ के अधिनाथ (नायक) हैं, जो असदृश हैं (अर्थात् जिनके समान अन्य कोई नहीं है) और जो सकल लोक के एक नाथ हैं, ऐसे इन सर्वज्ञ भगवान में निरन्तर सर्वतः ज्ञान और दर्शन युगपत् वर्तते हैं । जिसने समस्त तिमिरसमूह का नाश किया है, ऐसे इस तेजराशिरूप सूर्य में जिस प्रकार यह उष्णता और प्रकाश (युगपत्) वर्तते हैं और जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं (अर्थात् सूर्य के निमित्त से जीवों के नेत्र देखने लगते हैं), उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन (युगपत्) होते हैं (अर्थात् उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है) ॥२७३ ॥

श्लोक -२७३ पर प्रवचन

और (इस १६० वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं) :—

वर्तेते ज्ञान-दृष्टी भगवति सततं धर्म-तीर्थाधिनाथे,
 सर्वज्ञेऽस्मिन् समन्तात् युगपदसदृशे विश्वलोकैनाथे ।
 एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्,
 तेजोराशौ दिनेशे हत-निखिल-तमस्तोमके ते तथैवम् ॥२७३॥

आहाहा! इस श्लोक में साधारण को अच्छा नहीं लगता। मुनिराज को ऐसा लगता है, चार श्लोक कहे। एक श्लोक आधार के लिये, चार दिये। भाई! प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं है। यह महिमा कहीं लेने जाना पड़े, ऐसा नहीं है। कहीं से वह महिमा मिले, ऐसी नहीं है। महिमा से भरपूर है न, भगवान! आहाहा! स्त्री या गधा, या देव, इस शरीर को मत देख। आहाहा! अथवा नारकी का शरीर, उसे मत देख। उसमें आत्मा रहा है, वह आत्मा कौन है? आहाहा! उसके चैतन्य चमत्कार के अपार का पार नहीं मिलता। आहाहा!

कहते हैं कि विकसित ज्ञान में अल्प ज्ञान होवे तो दुःखी है। आहाहा! तो दूसरी चीज़ दुःखी है, यह है कहाँ? आहाहा! २७३

श्लोकार्थः जो धर्मतीर्थ के अधिनाथ (नायक) हैं, ... धर्मतीर्थ के नायक। तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर भगवान सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव अरिहन्त परमात्मा। आहाहा! धर्मतीर्थ के अधिनाथ (नायक) हैं, जो असदृश हैं (अर्थात् जिनके समान अन्य कोई नहीं है)... सदृश और असदृश। उनके समान-सदृश कोई है नहीं। आहाहा! तीन लोक के नाथ को जहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ; अन्दर वह पड़ा है, वह प्रगट होता है। प्राप्त की प्राप्ति है। नहीं है, उसमें से लाना होवे तो नहीं आता। यह तो भरपूर है न, भगवान! ऐसा प्रभु जिसे पर्याय में प्रगट हुआ है, वह अधिनाथ है। आहाहा! वह धर्मतीर्थ का नायक है। वह असदृश है। (अर्थात्) उनके समान अन्य कोई नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो पाँच-पच्चीस लाख, करोड़-दो करोड़ मिले... वहाँ कहा न? भूल गये। वहाँ नैरोबी में चार सौ पचास तो करोड़पति। चार सौ पचास करोड़पति और पन्द्रह अरबपति। पाँच-दस लाख, पाँच-दस लाख होवे, वह गरीब मनुष्य। ऐसे तो साधारण कितने ही। आहाहा! लोग बाहर का मान बैठे मानो... आहाहा! हम पैसेवाले हैं, हम सुखी हैं, हमें पुण्य फला है। बात सच्ची, पुण्य फला है, परन्तु अभी फल है, वह पाप है। आहाहा!

मुमुक्षुः दूसरे पैसेवाले के सामने देखते हैं तो अधिक दुःखी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो स्वयं अपने को... उनके सामने देखे, इसलिए नहीं। वह तो स्वयं रागी है, इसलिए दुःख उत्पन्न करता है। उन्हें देखना, वह तो ज्ञेय है। ज्ञेय को देखने से उसके कारण नहीं। आहाहा! इसे राग-द्वेष होते हैं, वह ज्ञेय के कारण से नहीं। आहाहा! बात-बात में अन्तर है। आहाहा! बहुत वीतरागमार्ग... ओहोहो! दुनिया में, चौदह ब्रह्माण्ड में वीतराग-सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त कोई शरण नहीं है। कोई शरण नहीं है और कोई सत्य नहीं है। आहाहा! परन्तु मूढ़ता बहुत, प्रभु! इसकी गम्भीरता का पार नहीं मिलता। आहाहा!

शरीरमात्र में रहा हुआ, उसमें अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. चाहे जितने अनन्त करो, अनन्त को अनन्तगुणा गुणन करो तो भी उन गुणों का पार नहीं आवे, इतने गुण हैं तेरे पास। आहाहा! अनन्त को अनन्त से एक बार गुणा करो। ऐसे जो अनन्त हैं, उतनी बार उस अनन्त को गुणकर गुणा करो। आहाहा! एक पाँच और पाँच के साथ गुणा किया तो पच्चीस हुए। वापस पच्चीस को पच्चीस गुणा करने पर संख्या बढ़े, वैसे अनन्त को अनन्तगुणा गुणन कर डालो तो भी पार न आवे, ऐसे अनन्त गुण हैं, प्रभु! आहाहा! तुझमें चैतन्यरत्न भरे हैं, नाथ! भगवान को प्रभु... आहाहा! उसे यह हीनदशा नहीं पोसाती। आहाहा! हीनदशा में प्रसन्नता नहीं पोसाती, नाथ! आहाहा! अधिक दशा पूर्ण हो, उसे तो राग होता नहीं। आहाहा!

यहाँ तो किंचित् थोड़ा ज्ञान का उघाड़ हो, वहाँ अभिमान चढ़ जाता है। हमको आता है और हम पण्डित हैं। प्रभु! पण्डित किसे कहना? यह पाठ आता है न? उसे पण्डित और शूरवीर कहना कि जिसे समकित हो, उसे। पाठ में आता है। आहाहा! अष्टपाहुड़ में आता है। पूर्णानन्द के नाथ को पहिचान कर प्रतीति करना और अनुभव करना, इसके जैसा कोई बड़ा नहीं है। आहाहा! इस दुनिया में बाहर की चीज़ की कोई महिमा ले जाए, ऐसी कोई चीज़ ही नहीं है। बाहर की चीज़ तो ज्ञान में पर व्यवहार ज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। आहाहा! उसके बदले उस परज्ञेय को व्यवहाररूप से जाननेयोग्य की मर्यादा में (नहीं रखकर), उस मर्यादा को तोड़कर 'यह चीज़ मेरी है, मैं इसका हूँ' (-ऐसा मानता है), प्रभु! इसका क्या फल आयेगा? भाई! आहा! लोगों को ख्याल नहीं आता कि ऐसा क्या? परन्तु महापाप है। आहाहा! महा अनन्त-अनन्त गुण का धनी, उसे अल्पज्ञ स्वीकार कर

प्रसन्नता में रहना और खुशी का वेदन करना... आहाहा! इसके जैसा कोई पाप नहीं है। आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार है, भाई! आहाहा!

धर्मतीर्थ के अधिनाथ (नायक) हैं, जो असदृश हैं (अर्थात् जिनके समान अन्य कोई नहीं है) और जो सकल लोक के एक नाथ हैं, ऐसे इन सर्वज्ञ भगवान... आहाहा! ऐसा (तू) सर्वज्ञ भगवान ही है, प्रभु! शक्ति और स्वभाव से तो ऐसा ही है। यह तो प्रगट की बात है। परन्तु यह है, वह आया है या नहीं, वह आया? आहाहा! जो कुँए में हो, वह हौज में आता है या कुँआ खाली हो, और पानी हौज में आता है? आहाहा! प्रभु! तुझे भरोसा नहीं। आहाहा! प्रभु! तेरे आत्मा में अनन्त-अनन्त सम्पदा भरी है। आहाहा! उस सम्पदा के समक्ष इन्द्र का इन्द्रासन भी सड़े हुए तृण जैसा दिखता है। ऐसा सम्पदा का धनी, यह भीख माँगे! आहाहा! पैसा लाओ, स्त्री लाओ, पुत्र लाओ, इज्जत लाओ, यह लाओ... यह लाओ... कितना लावा लेना है तुझे अग्नि का? ये अग्नि का लावा है। आहाहा! दुनिया से सब उल्टा है। आहाहा!

ऐसे इन सर्वज्ञ भगवान में निरन्तर सर्वतः ज्ञान और दर्शन युगपत् वर्तते हैं। उन्हें तो दर्शन और ज्ञान एक समय में होते हैं। छद्मस्थ को एक समय में नहीं होते। ज्ञान का उघाड़ पूरा नहीं है, इसलिए उसे दर्शन पहले और ज्ञान पश्चात्। आहाहा! यद्यपि श्वेताम्बर शास्त्र में भी ऐसा डाला है। पहले ज्ञान होता है, फिर दर्शन। ऐसी तो सब कल्पित बातें की हैं। आहाहा! क्या हो? उन्हें दुःख लगे। उनके शास्त्रों को कल्पित कहना, वह दुःख लगे, प्रभु! माफ करना। तेरी सम्पदा की बातें करते हुए विरुद्धता की बात जरा आ जाती है। प्रभु! तू यह सामर्थ्यवाला है, नाथ!

धर्मी की भावना में तो कोई विरोधी या अविरोधी नहीं है। सब भगवान हैं और सब भगवान हो जाओ। आहाहा! प्रभु! तुम भगवान हो और भगवान हो जाओ। आहाहा! आचार्य का हृदय तो देखो! द्रव्यसंग्रह में यह कहा है। आहाहा! तू तो आठ कर्मरहित हो जा। क्योंकि वह चीज ही है, शक्ति और स्वभाव से सब भगवान हैं, तो भगवान हो जाओ। आहाहा! कोई भी नरक और मनुष्यरूप न रहो। आहाहा! क्योंकि मैं भी उसरूप न रहूँ। अल्परूप मानने से मुझे भी दुःख लगे तो प्रभु! तुझे भी दुःख लगेगा; और तुझे दुःख लगे, वह कोई प्रसन्न होने का रास्ता नहीं है, प्रभु! तुझे दुःख लगे, वह कोई ठीक नहीं है। उस

दुःख को मिटाने के लिये तू तैयार हो जा। आहाहा! जैसा है, वैसा तैयार हो जा, ऐसा कहते हैं। देखा न ?

जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं... अब क्या कहते हैं ? प्रभु तो इतना प्रगट हुआ, परन्तु जगत को ज्ञान का नेत्र मिलता है। सूर्य प्रगट हुआ तो सूर्य के प्रकाश में आँख को देखने का मिलता है। इसी तरह तुझमें-प्रकाश में तुझे देखने का मिलेगा। प्रभु! आहाहा! कन्दमूल का एक टुकड़ा, उसमें असंख्यवें भाग में... उसमें अनन्त भगवान विराजते हैं। आहाहा! किस माप से माप (करे) ? इस स्वभाव की महिमा और स्वभाव की शक्ति का सामर्थ्य ऐसा होता है, ऐसा जिसे अभी अनुमान में भी न बैठे... आहाहा! उसे ऐसा नाथ प्रगटे कहाँ से ?

यहाँ तो यह कहते हैं, जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं... भगवान को केवलज्ञान हुआ तो लोगों को ज्ञान मिला। आहाहा! है ? जिसने समस्त तिमिरसमूह का नाश किया है, ऐसे इस तेजराशिरूप सूर्य में जिस प्रकार यह उष्णता और प्रकाश (युगपत्) वर्तते हैं और जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं (अर्थात् सूर्य के निमित्त से जीवों के नेत्र देखने लगते हैं), उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन (युगपत्) होते हैं... भगवान को। आहाहा! इतना महात्म्य सुने, वहाँ कहते हैं, तुझे ज्ञान हो जाए। आहाहा! ऐसे भगवान है कि उन्हें एक समय में ज्ञान और दर्शन उघड़ गये हैं। आहाहा! ऐसा सुनते हुए, प्रभु! तुझे विस्मय आ जाये, ज्ञान आ जाये।

(अर्थात् उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से...) देखो! निमित्त से का अर्थ ? उससे कुछ हुआ नहीं। गड़बड़ यहाँ करते हैं। जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! भगवान सर्वज्ञ प्रगट होते हैं, तब जगत के प्राणी के आँख-नेत्र खुल जाते हैं। ओहो! इस देह में रहा हुआ भगवान आत्मा तीन काल-तीन लोक को जाने। उसकी शक्ति दूसरी कितनी अन्दर है! ऐसे दूसरे को नेत्र मिलें, ऐसी वह वस्तु है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

२७३ (कलश) जो धर्मतीर्थ के अधिनाथ (नायक) हैं,... तीर्थकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा परमेश्वर पूर्ण ज्ञान-दर्शन को प्राप्त (हुए), वे धर्म के नायक हैं। आहाहा! लोकालोक को जाननेवाले हैं, इस अपेक्षा से अधिनाथ कहे हैं। एक-एक आत्मा इतनी ताकत धारक है। आहाहा! तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाने, ऐसी ताकत अन्दर भरी है। आहाहा! वीर्य-शूरवीर पूर्ण भरपूर है। प्रत्येक आत्मा बल से पूर्ण भरपूर भगवान है। विश्वास नहीं बैठता। आहाहा! यहाँ एक बीड़ी में प्रसन्न, उसे यह (मानना)। आहाहा! अनन्त-अनन्त आनन्द और अनन्त-अनन्त शान्ति, उसमें पूर्ण भरपूर ऐसा भगवान आत्मा, वह नायक है - ऐसा कहते हैं।

जो असदृश हैं... उसके साथ किसी का मिलान हो, ऐसा मेल नहीं है। आहाहा! ऐसा तू है, प्रभु! यह व्यक्त-प्रगट दशा है। तेरी शक्ति और स्वभाव, तेरा बल भी इतना और ऐसा ही है। आहाहा! अनन्त बल है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त शान्ति है। यहाँ प्रगट की बात है। (जिनके समान अन्य कोई नहीं है) और जो सकल लोक के एक नाथ हैं... सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानने में नाथरूप कहने में आते हैं। आहाहा! अपनी सम्पदा जो प्रगट हुई है, उसे तो रखता है, परन्तु लोक के नेत्र समान, दुनिया को नेत्र समान वह है। निमित्तरूप से यह कहते हैं।

ऐसे इन सर्वज्ञ भगवान में निरन्तर सर्वतः ज्ञान और दर्शन युगपत् वर्तते हैं। आहाहा! यह विश्वास आना। सर्वज्ञ भगवान को एक समय में सर्वज्ञ और सर्वदर्शन एकसाथ वर्तते हैं। भले दोनों गुण भिन्न हैं, दो गुण का विषय भी भिन्न है। आहाहा! दर्शन का विषय एकरूप है, ज्ञान का विषय भेदरूप है, तथापि एक समय में दोनों वर्तते हैं। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा... प्रगट हुई दशा की बात है। आहाहा!

जिसने समस्त तिमिरसमूह का नाश किया है... जिसने समस्त अन्धकार चैतन्य के तेज के बल द्वारा... आहाहा! चैतन्य के तेज के बल द्वारा समस्त अन्धकार-तिमिर का नाश किया है। ऐसे इस तेजराशिरूप सूर्य में... जैसे तेजराशि। तेज की राशि सूर्य, जिस प्रकार यह उष्णता और प्रकाश... (युगपद्) वर्तते हैं सूर्य में ताप और प्रकाश एकसाथ

वर्तता है, वह तो प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार भगवान आत्मा में जगत के जीवों को नेत्र प्राप्त होते हैं... सूर्य। सूर्य प्रगट होता है, तब नेत्र से देखते हैं; अन्धकार होवे, तब नहीं देखते। आहाहा! सूर्य उगे तो ऐसे यह देखे। (अर्थात् सूर्य के निमित्त से जीवों के नेत्र देखने लगते हैं), उसी प्रकार... कल यहाँ तक आया था।

ज्ञान और दर्शन (युगपत्) होते हैं... जैसे सूर्य में आताप और प्रकाश एक साथ दिखते हैं; वैसे भगवान आत्मा प्रगट दशा में केवलज्ञान और केवलदर्शन दो गुण (होने) पर भी एक समय में वर्तते हैं। आहाहा! इसका विश्वास लाना, यह कोई कम बात है? आहाहा! यह सब बातें दुनिया में माने। यह आत्मा अन्दर पूर्णज्ञान और पूर्ण दर्शन प्रगट करने पर एक समय में जान सके, ऐसी उसकी ताकत है। आहाहा!

उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से... आहाहा! भगवान को जब ज्ञान प्रगट हुआ और दिव्यध्वनि द्वारा प्रकाश किया, तब जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है। जैसे सूर्य के प्रकाश और आताप में आँख की वस्तु देखने की नजर ऐसे पड़ती है। प्रगट जानना-देखना है, ऐसी जिस प्रतीति होती है, उसकी नजर में सब दिख जाता है। आहाहा! ओहो! कैसे जँचे? बाहर क्रिया-प्रवृत्ति बैठे। जो इसकी चीज़ में नहीं है। शान्त, सबल, ज्ञान-दर्शन-आनन्द और वीर्य का पूर्ण स्वरूप। जगत के जीवों को पदार्थ देखने की आँख प्रगट हुई। आहाहा! भगवान को ज्ञान-दर्शन हुआ। है ?

सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से जगत के जीवों को... आहाहा! विशिष्टता क्या है?— कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान हुए, हैं। परन्तु सबको उनके सन्मुख देखने की श्रद्धा नहीं और नजर में भी पड़ता नहीं। आहाहा! ऐसा लिया है। जिसे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अन्दर में बैठे, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी... सर्वज्ञ अर्थात् क्या? भाई! आहाहा! जिस ज्ञान में तीन काल— जिसका आदि नहीं, अन्त नहीं, जिनके ज्ञान में... आहाहा! तीन लोक और अलोक एक समय में जाने। आहाहा! अलोक का अन्त नहीं, काल का अन्त नहीं, उसे एक समय में जाने। भाई! यह बात बैठना (चाहिए)। ऐसे के ऐसे जैन में जन्मे, भगवान ऐसे है और वैसे, ऐसा मानकर बैठे - ऐसा नहीं। अन्तर इसे नहीं बैठा, बापू! आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से... उनसे नहीं। परन्तु होनेवाले

को वे निमित्त हैं। निमित्त से होता नहीं। आहाहा! परन्तु भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी महाविदेहक्षेत्र में अभी विराजमान हैं, हाजराहजूर हैं, समवसरण है, इन्द्र आते हैं, जिनकी सभा में बाघ और सिंह, बकरे के झुण्ड की तरह आते हैं। आहाहा! जैसे बकरे नरमाई से आते हैं, वैसे जंगल में से सिंह और बाघ प्रभु की वाणी सुनने अभी आते हैं। आहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि जिसे, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जगत में है, ऐसा जिसे जँचे, उसे अन्दर की आँख पदार्थ देखने के लिये प्रगट होती है। आहाहा! क्या कहा यह?

जैसे सूर्य का प्रकाश और ताप। ताप—ताप-गर्मी। गर्मी और प्रकाश, ये दोनों एकसाथ हैं। प्रकाश बाहर पड़े, तब अन्धे अर्थात् जिन्हें रात्रि में आँखों से दिखता नहीं, वे सब देखते हो जाते हैं। आहाहा! इसी तरह तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा प्रगट हुए, उनके निमित्त से यहाँ तो जगत के जीवों को... अंक लिया नहीं। आहाहा! जगत के जीवों को... आहाहा! ढेरों जीव अनन्त पड़े हैं। उन जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है। परमात्मा को ज्ञान और दर्शन प्रगट होते हैं। उन्हें माननेवाले को भी अन्दर ज्ञान दृष्टि प्रगट होती है। आहाहा! ऐसा कहना चाहते हैं।

जैसे सूर्य के प्रकाश में, पहले अन्धेरे में नहीं दिखता, वह इस प्रकाश में, भले प्रकाश दिखाता नहीं, प्रकाश तो निमित्त है, देखता है तो स्वयं अपने बल से। इसी प्रकार सर्वज्ञ और सर्वदर्शी इस जगत में है। आहाहा! यह बात जिसके हृदय में बैठी, उसका हृदय पदार्थ को जानने को तैयार हो गया है। भगवान का ज्ञान और दर्शन जहाँ पूर्ण है, ऐसा जाना। अरे! उनसे अनन्त बल से प्रगट किया है। वह मुझमें भी अनन्त बल है। मैं अनन्त बल का धनी एक समय में ज्ञान और आनन्द पूर्ण प्रगट करनेवाली मेरी ताकत है। आहाहा! जिन्होंने एक समय में प्रगट किया तो मुझमें भी एक समय में इतना बल भरा है, इतनी वीर्यता अन्दर भरी है कि मैं भी एक समय में ज्ञान और दर्शन प्रगट कर सकूँ।

भगवान के ज्ञान-दर्शन का निर्णय होने पर अपने आत्मा को भी स्वयं वस्तु को जानना सीखा और जानने पर तीन काल और तीन लोक को जाने, ऐसी दशा प्रगट होगी। ऐसी दशा प्रगट होगी। आहाहा! भगवान है.. है.. है.. ऐसी बातें तो बहुत सब करते हैं। बापू! इसे इन्तर में... आहाहा! वीतराग-सर्वज्ञ एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने - ऐसा देखना और ऐसे दर्शन और ज्ञान प्रगट हुए हैं, ऐसा जिसे प्रतीति में आता है,

उसे भगवान का ज्ञान निमित्त होता है। किसमें ? जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! यह श्लोक है। टीकाकार का श्लोक है।

मुमुक्षु : अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने...

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय को जाने। यहाँ तो एक ही बात ली है। यह जाने, उसे आत्मा जानने में आवे। (प्रवचनसार) ८० गाथा में आया न? वे तो परद्रव्य है, परन्तु परद्रव्य में इतनी शक्ति, इतना बल कि ज्ञान और दर्शन एक समय में प्रगट किया। ऐसे बलवन्त परमात्मा की उपस्थिति है। ऐसी उपस्थिति अन्दर में बैठ जाए, उसे केवलज्ञान और केवलदर्शन की पहली प्रतीति और अनुभव तो हो जाए। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू! दुनिया से बहुत... दुनिया का पूरा रास्ता... हो गया। परन्तु यह क्या चीज़ है? और इसे मानने से क्या होता है? ऐसा अन्तर में इसे विश्वास नहीं है। आहाहा! तीन लोक के नाथ को जाने; युगपद् देखे और जाने, ऐसी शक्तिवाले प्रभु, वह जिसे बैठे, उसके नेत्र खुल जाते हैं। आहाहा! उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान नेत्र तो खुल जाते हैं और पश्चात् उसे केवलज्ञान-केवलदर्शन भी खुले बिना नहीं रहते। आहाहा! गजब बात है। वैसे तो अरिहन्त और सिद्ध हैं—ऐसा तो बहुत बार रट गया, कण्ठस्थ कर गया। पाठशाला में पास हो गया। यहाँ पास नहीं हुआ। आहाहा

तीन लोक का नाथ, जिसे एक समय में, उपयोग पर में दिये बिना स्व और पर पूर्ण जानना-देखना एक समय में हो, ऐसी ताकत अन्दर थी, वह प्रगट हुई है। आहाहा! ऐसी प्रगट हुई है, उसे माननेवाला, उसे ज्ञान और दर्शन अनन्त मेरा बल है - ऐसी प्रतीति-अनुभव हुए बिना नहीं रहता - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। जैसे ताप और प्रकाश होने पर जीवों को नेत्र में देखना होता ही है। आहाहा! देखनेवाले को। आताप और सूर्य (प्रकाश) हो, और अन्धे या दूसरी आँख हो तो भी जिसके सामने देखे नहीं और घर में अन्धकार में पड़े हों। आहाहा!

यह देहदेवल में विराजमान भगवान सब प्रभु है, सब भगवान है। स्त्री-पुरुष आत्मा; कौआ, कुत्ता तिर्यच और नारकी, देव, तथा एकेन्द्रिय... आहाहा! वे सब भगवान हैं। द्रव्य से भगवान हैं। वे यह प्रगट जिसे हुआ, उस ऊपर से सब द्रव्य, वह भगवान है - ऐसी प्रतीति हुई और स्वयं को भी प्रतीति हुई कि मैं भी अब केवलज्ञान और केवलदर्शन

प्रगट कर सकूँगा। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! अन्दर में जँचना चाहिए। भाषा में नहीं, धारणा में नहीं। आहाहा! ज्ञान की मूर्ति प्रभु, आनन्द का सागर, शान्ति के— अनन्त-अनन्त शान्ति के प्रवाह से भरपूर भगवान को एक समय में ज्ञान और दर्शन प्राप्त हुए, ऐसा ही आत्मा मैं हूँ। ऐसा कहा न?

उनके निमित्त से जगत के जीवों को... आहाहा! ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! इसे अन्तर में विश्वास बैठे। पूर्णानन्द के नाथ आत्मा प्रभु को पर्याय में पूर्णता प्रगट हुई, वह आयी कहाँ से? प्रभु! यह अन्दर में बल था, वह बाहर आया है। आहाहा! ऐसा मेरा आत्मा भी, प्रभु! अनन्त बल और अनन्त ज्ञान और आनन्द का सागर है। आहाहा! उसे मानने से पर्याय में ज्वार आवे, तब तो पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है और पश्चात् स्थिरता करे, तब केवलज्ञान होता है। ऐसा यह आत्मा है। यह कमजोर नहीं है। यह संसार में रहे - ऐसी ताकतवाला नहीं है। ऐसी ताकत नहीं है। वह तो पर्याय में है। ताकत तो मोक्ष में अनन्त ज्ञान-दर्शनरूप रहे - ऐसी ताकत है। आहाहा! अरे! यह तो अपनी पड़ी हो, उसकी बात है न, भाई! आहाहा! देखो न! इसमें बहुत समाहित कर दिया।

अर्थात् उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान को ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवान के निमित्त से... निमित्त से का अर्थ? जिसे होता है, उसके वह निमित्त कहलाता है। आहाहा! उससे होता हो तो वह तो भगवान विराजते हैं, तो सबको होना चाहिए। भगवान तो विराजते हैं। यहाँ भरतक्षेत्र में भगवान विराजते थे। उनसे होवे तो सबको होना चाहिए। परन्तु होता है, उसे वे निमित्त कहलाते हैं। आहाहा! निमित्तवाले जोर ऐसा देते हैं। यहाँ पाठ में निमित्त शब्द आया न? उनके निमित्त से-भगवान के निमित्त से।

मुमुक्षु : तू करे, तब निमित्त कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु तू स्वयं प्रगट करे, तब उन्हें निमित्त कहलाये न? अन्धे हों, उनके सामने भी देखते नहीं। तीन लोक के नाथ का भले भरत में विरह पड़ा, परन्तु महाविदेह में तो सदा ही है। आहाहा! अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन (स्वरूप) ऐसे तीर्थंकर का विरह महाविदेह में कभी नहीं है। यह अभी भरत और ऐरावत में विरह पड़ गया। आहाहा! यह चीज़ जिसे अन्दर में बैठी... आहा! जगत में है। भले इस क्षेत्र में नहीं, परन्तु दूसरे क्षेत्र में है। इसका कारण कि इस आत्मा की इतनी ताकत है। उसे चाहे

जो क्षेत्र, कोई अवरोधक नहीं है। उसकी ताकत है। अनन्त बल है। आहाहा! अनन्त बल का बलिया! आहाहा! वे नहीं कहे, न बल? लड़के के विवाह ऊपर बलिया.. उस पनिहारे पर नहीं रखते? पनिहारा होता है, वहाँ पत्थर के ऊपर। यह तो उस दिन की बात है—पिचहत्तर वर्ष पहले की। मिट्टी का बल... बनावे। तुम्हारे तो होगा या नहीं होगा। यहाँ काठियावाड़ में होता है। आहाहा! वह तो बलदेव यह है। घर-घर में बनाते थे। खबर नहीं तुम्हें? नहीं? क्या नाम कहते थे उसे?

मुमुक्षु : बलियादेव।

पूज्य गुरुदेवश्री : बलियादेव। पानी का पनिहारा होता है न, पनिहारा? उसके ऊपर बलियादेव करे। तब यह तो हमारे अस्सी वर्ष पहले की बात है। हमारे घर में होता था, सब नजरो से देखा है। बलिया को माने। परन्तु वह सब बाहर से-धूल से। आहाहा! चैतन्य का नाथ जलहल ज्योति से भरपूर अनन्त बल का धनी, एक समय में पूर्ण ज्ञान और दर्शन एक समय में युगपद् जाने, वैसे प्रगट करे। उस जीव का निमित्तपना जिसने उपादान में जहाँ लिया, उसे वह निमित्त हुआ कहलाता है, तब उसने अपने से प्रगट किया है। आहाहा!

जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है। इसमें गजब किया है। आहाहा! उसकी इतनी ऋद्धिवाला प्रभु और मैं आत्मा, मुझमें उससे ऋद्धि और बल कम, वह आत्मा नहीं। आहाहा! पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण आनन्द से भरपूर लाखों केवली महाविदेह में विराजमान हैं। बीस तीर्थकर विराजते हैं। आहाहा! अरे! ऐसे परिणाम आ गये कि वहाँ से छूटकर यहाँ अवतार हो गया। वहाँ परमात्मा विराजते हैं। आहाहा! यह अपनी कचास की ही बात है। फिर ऐसा कहते कि प्रभु! तुम्हारी करुणा हुई कि मैं यहाँ आया। आपके ज्ञान में यहाँ आने का आया, वह करुणा। आहाहा! भगवान को दया वर्तती है, वह यह। वे जानते हैं न? यह दया। आहाहा! इसमें इतने में डाल दिया। **भगवान के निमित्त से जगत के जीवों को...** संख्या बाँधी नहीं। **जगत के जीवों को ज्ञान प्रगट होता है।** भगवान चैतन्य की ज्योति जलहला उठी... आहाहा!

श्लोक-२७४

(वसंततिलका)

सद्बोध-पोत-मधिरुह्य भवाम्बु-राशि-
मुल्लङ्घ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।
तामेव तेन जिन-नाथ-पथाधुनाहं,
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम् ॥२७४॥

(वीरछन्द)

हे जिन! सम्यग्ज्ञानरूप नौका में आरोहण करके।
भवसागर को लाँघ आप अतिशीघ्र सुशाश्वतपुर पहुँचे।
हे प्रभु! अब मैं उसी मार्ग से शाश्वतपुर में हूँ जाता।
क्योंकि लोक में उत्तम पुरुषों को है अन्य शरण भी क्या? ॥२७४॥

[श्लोकार्थः] (हे जिननाथ!) सदज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके भवसागर को लाँघकर, तू शीघ्रता से शाश्वतपुरी में पहुँच गया। अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से (-जिस मार्ग से जिननाथ गये, उसी मार्ग से) उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ; (क्योंकि) इस लोक में उत्तम पुरुषों को (उस मार्ग के अतिरिक्त) अन्य क्या शरण है? ॥२७४॥

श्लोक -२७४ पर प्रवचन

२७४ (श्लोक)

सद्बोध-पोत-मधिरुह्य भवाम्बु-राशि-
मुल्लङ्घ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।
तामेव तेन जिन-नाथ-पथाधुनाहं,
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम् ॥२७४॥

श्लोकार्थः : (हे जिननाथ!) हे जिननाथ का पुकार कौन करे? आहाहा! जिसे,

वीतरागी परमात्मा अनन्त सिद्ध हो गये और लाखों मनुष्यरूप से विराजमान हैं। आहाहा! अनन्त-अनन्त वीतरागी सिद्ध हो गये और लाखों केवली विराजते हैं। बीस तीर्थकर विराजते हैं, वे तो मनुष्यक्षेत्र में विराजते हैं। आहाहा! (हे जिननाथ!) सद्ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके भवसागर को लाँघकर, तू शीघ्रता से शाश्वतपुरी में पहुँच गया। आहाहा! यह सब प्रतीति आयी है या नहीं? यह कौन बोलते हैं यह? आहाहा!

हे नाथ! सद्ज्ञानरूपी नौका में... अन्तर की सम्यग्ज्ञानरूपी नाव में आरोहण करके... प्रभु! आप ज्ञान में आरोहण करके। कोई क्रिया करके आप केवलज्ञान-मुक्ति को प्राप्त हुए - ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा कहा न? ज्ञान में आरोहण करके। आहाहा! भवसागर को लाँघकर,... आहाहा! चौरासी के अवतार छोड़ दिये। लाँघ गये। अपने ज्ञान और दर्शन के बल से भवसागर को लाँघ गये। तू शीघ्रता से शाश्वतपुरी में पहुँच गया। और अल्प काल में आप शाश्वत् सिद्धपुरी में प्रभु एक समय में पहुँच गये।

अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से... आहाहा! देखो! यह शिष्य ऐसा कहता है। शिष्य इसका नाम (है)। उसे अन्दर से विश्वास उत्पन्न हो जाता है। अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से (-जिस मार्ग से जिननाथ गये, उसी मार्ग से) उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ;... आहाहा! पाँचवें काल के छद्मस्थ मुनि ऐसा जोर करके बात करते हैं। आहाहा! इस पंचम काल में हजार वर्ष पहले। पाँचवें काल में नहीं हो सकता और अमुक नहीं होता, पाँचवाँ काल बाधक है। धूल भी बाधक नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं? देखो न!

अब मैं जिननाथ के उस मार्ग से (-जिस मार्ग से जिननाथ गये, उसी मार्ग से) उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ;... आहाहा! वह शाश्वत् शिवपुरी, वहाँ मैं जाता हूँ, प्रभु! आहाहा! पंचम काल के अल्पज्ञ प्राणी परमात्मा के विरह में उनके अस्तित्व की मान्यता में करके... आहाहा! उनके विरह काल में भी वे हैं। यहाँ है कहीं, ऐसा मानकर स्वयं को कहते हैं, हे नाथ! आप भव को लाँघ गये, शाश्वतपुरी में चले गये। मैं भी, हे नाथ! आपके मार्ग के कारण... आहाहा! आपने जो मार्ग कहा, उसके अतिरिक्त कोई मार्ग है नहीं।

(-जिस मार्ग से जिननाथ गये उसी मार्ग से) उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ;... आहाहा! एक तो दर्शन-ज्ञान तो है, परन्तु अल्प काल में मोक्ष में जाऊँगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! मैं अल्प काल में शाश्वतपुरी में आऊँगा। आहाहा! संसार को लाँघकर

जैसे आप चले गये, वैसे में भी भव को लाँघकर, प्रभु! आता हूँ वहाँ। आहाहा! इस अनुभव का विश्वास कितना होगा! आहाहा! पंचम कल का प्राणी कहता है, प्रभु! आप जिस मार्ग से गये, शाश्वतपुरी को प्राप्त हुए, उस मार्ग में मैं आता हूँ। आहाहा! यहाँ इसमें रंक और दरिद्रता की बातें नहीं हैं। आहाहा! अनन्त-अनन्त आनन्द और अनन्त बल का धनी प्रभु! आपने प्रगट किया। ऐसा प्रगट करके, प्रभु! मैं चला आता हूँ - ऐसा कहते हैं। आहाहा! छद्मस्थ को खबर पड़ जाती होगी? केवली को पूछे बिना? आहाहा!

उसी शाश्वतपुरी में जाता हूँ; (क्योंकि) इस लोक में उत्तम पुरुषों को (उस मार्ग के अतिरिक्त) अन्य क्या शरण है? आहा! इस लोक में उत्तम पुरुषों को। उत्तम पुरुषों को। साधारण प्राणी तो किसी को भी शरण मानकर पड़े हैं। स्त्री के, पुत्र के, पैसे के, इज्जत के, दुकान के, धन्धे के। आहाहा! इस लोक में उत्तम पुरुषों को (उस मार्ग के अतिरिक्त)... वीतराग ने कहा हुआ जो मार्ग... आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ की प्रतीति, ज्ञान और रमणता, ऐसा जो प्रभु ने मार्ग कहा, उस मार्ग को... आहाहा! उत्तम पुरुषों को (उस मार्ग के अतिरिक्त) अन्य क्या शरण है? दूसरा शरण क्या है? आहाहा! यहाँ तो व्यवहार शरण भी निकाल डाला।

व्यवहार आया था न? व्यवहार साधन है। सवेरे नहीं आया था? व्यवहार साधन। फिर वापस आया था कि ऐसा कुछ नहीं। उन के उन शब्दों में आया कि यह उपाय नहीं। आहाहा! ऐसे अर्थ करने में अन्तर पड़े। अपनी कमजोरी को शास्त्र के अर्थ में रच डालते हैं। प्रभु! तू अनन्त बल का धनी, एक समय में अनन्त-वीर्य प्रगट कर सके—ऐसी तुझमें ताकत है। उसे तू निर्बल और हीन मानकर भटक रहा है। आहाहा! इसके कारण भटकना हुआ। निर्बल और हीन मानना, यही मिथ्यात्व है। आहाहा! सबल और पूर्ण। आहाहा! देह में विराजते भगवान, ये सब पूरे-पूरे भरे हैं, कहते हैं। आहाहा! शक्ति से, गुण से, स्वभाव से... आहाहा! पूर्ण है, उसे न प्राप्त कर सके, यह प्रश्न रहने दे। यह बात यहाँ नहीं है, कहते हैं। प्रभु! आप जिस मार्ग से गये, उस मार्ग से मैं आता हूँ। आहाहा! पाँचवें काल का जीव कहता है। यहाँ पाँचवें काल का कहना है न? कौन कहता है यह? आहाहा! उस काल-फाल कहाँ बाधक है? आहाहा! पाँचवाँ काल हो या पहला काल हो या... आहाहा!

पहले काल में भी जुगलिया समकित प्राप्त करते हैं न? जुगलिया। पहले काल में

अर्थात् वे... आगे, हों! यहाँ के पहले काल में नहीं। आहाहा! (उसके अतिरिक्त) अन्य क्या शरण है? किसे खोजना है? आत्मा के अन्तर आनन्द के अनन्त बल से भरपूर भगवान को शोधना छोड़कर, अब तुझे शोधना क्या है? ऐसी शरण छोड़कर, शरण यहाँ तो भगवान की शरण है, ऐसा भी नहीं कहा। अरिहन्ता शरणं, सिद्धा शरणं – मांगलिक में आता है न? आहाहा! यहाँ तो आत्मा, यह शरण है। अरिहन्त भी शरण नहीं है। क्योंकि दूसरे को याद करने जाएगा, वहाँ विकल्प आयेंगे। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, अन्य इसके अतिरिक्त, हे नाथ! आप जिस मार्ग—दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मोक्ष को प्राप्त हुए, उस मार्ग के अतिरिक्त, प्रभु! दूसरा शरण कहाँ है? आहाहा! मैं भी उस मार्ग से चला आ रहा हूँ। आप जो सिद्धपुरी को प्राप्त हुए, मैं भी पंचम काल का जीव ऐसा कहता हूँ, प्रभु! मैं भी प्राप्त करूँगा। आहाहा! आहाहा! कितना जोर रखा! देखो न! यहाँ रंक का काम नहीं। निर्बलता का और रंक का काम नहीं। यह तो वीर का काम है। आहाहा! जिसे अन्तर में तीन लोक का नाथ विराजता है। एक क्षण में केवलज्ञान प्रगट कर सके। अनन्त बल जिसमें भरा है। यह शरीर, वाणी, मन के कारण नहीं। ये तो पर-जड़ हैं। इसमें (आत्मा में) अनन्त बल भरा है। अनन्त वीर्य। जिसके बल के जोर से अन्तर में केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर सके। आहाहा! ऐसे आत्मा का अनुभव, ऐसे आत्मा की प्रतीति, ऐसे आत्मा का अन्तरंग भरोसा (करनेयोग्य है)। आहाहा! इसके अतिरिक्त दुनिया में कुछ करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! यह २७४ हुआ।

श्लोक-२७५

(मंदाक्रांता)

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः,
कामं कान्तिं वदनकमले सन्ततोऽत्येव काञ्चित् ।
मुक्तेस्तस्याः सम-रस-मयानङ्ग-सौख्य-प्रदायाः,
को नालं शं दिशतु-मनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥२७५॥

(वीरछन्द)

केवलज्ञान-भानु ऐसे जिनदेव सदा जयवन्त रहें।
जो समरससमय अशरीरी सुखदायक मुक्ति को प्रिय हैं ॥
उसके वदन कमल पर कोई अतुल कान्ति हैं फैलाते।
स्नेहमयी कान्ता को सुख का कौन नहीं कारण होते ॥२७५॥

[श्लोकार्थः] केवलज्ञानभानु (-केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले सूर्य) ऐसे वे एक जिनदेव ही जयवन्त हैं। वे जिनदेव समरसमय अनंग (-अशरीरी, अतीन्द्रिय) सौख्य की देनेवाली ऐसी उस मुक्ति के मुखकमल पर वास्तव में किसी अवर्णनीय कान्ति को फैलाते हैं; (क्योंकि) कौन (अपनी) स्नेहमयी प्रिया को निरन्तर सुखोत्पत्ति का कारण नहीं होता ? ॥२७५॥

श्लोक - २७५ पर प्रवचन

२७५ (श्लोक)

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः,
कामं कान्तिं वदनकमले सन्ततोऽत्येव काञ्चित् ।
मुक्तेस्तस्याः सम-रस-मयानङ्ग-सौख्य-प्रदायाः,
को नालं शं दिशतु-मनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥२७५॥

श्लोकार्थः : आहाहा! केवलज्ञानभानु (-केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले सूर्य)... घट-घट में विराजता है। आहाहा! प्रभु दूर नहीं है। एक समय दूर नहीं है। तेरी नजर के आलस्य से रह गया है। आहाहा! शरीर में अनन्त केवलज्ञानभानु (मौजूद है)। जो वस्तु होती है, वह अपूर्ण नहीं होती, अशुद्ध नहीं होती... आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा पूर्ण और शुद्ध है। (-केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले सूर्य) आहाहा! ऐसे वे एक जिनदेव ही जयवन्त हैं। आहाहा! इस जगत में एक यह देव ही विराजमान है। आहाहा! दूसरी अस्ति हो, उसकी यहाँ कोई कीमत नहीं है, कहते हैं। जिनदेव एक है, मुझे तो उनकी कीमत है। आहाहा! है ?

केवलज्ञानभानु (-केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले सूर्य) ऐसे वे

एक जिनदेव ही जयवन्त हैं। आहाहा! वे जिनदेव समरसमय अनंग (-अशरीरी, अतीन्द्रिय) सौख्य की देनेवाली ऐसी उस मुक्ति के... आहाहा! ऐसे वे जिनदेव समरसमय अनंग (-अशरीरी, अतीन्द्रिय) सौख्य की देनेवाली... इन्द्रिय के सुख तो जहर के सुख हैं। पाड़ डालते हैं निगोद में जानेवाले। आहाहा! एक वस्त्र का टुकड़ा रखकर मुनि माने और निगोद में जाए, ऐसी जो भाषा वीतराग की... आहाहा! वह सबको लागू पड़े न? जैन सिवाय सबको लागू पड़े न? आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ को कोई कर्ता माने और कोई फल माने कि कुछ मिलेगा तो देवलोक में जाऊँगा। यह मिले और वह मिले... आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञानभानु(-केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करनेवाले सूर्य) ऐसे वे एक जिनदेव ही जयवन्त हैं। आहाहा! हमारे हृदय के अन्दर तो भगवान जिनदेव जयवन्त वर्तते हैं। आहाहा! बाकी सब कोई शाश्वत् चीज़ है नहीं। सब नाशवान... नाशवान... नाशवान। आहाहा! उसने कहा न, देखो न यह! हिम्मतभाई कहते थे। डाक्टरों ने इतनी मेहनत की। इंजेक्शन देकर चीरा, पेट चीरा। यह चीरा पूरा, सब चीर डाला परन्तु उल्टी कैसे होती है - यह पता नहीं लगा। यह सब डाक्टर पढ़े हुए। आहाहा! बड़े-बड़े डाक्टर। क्योंकि वह तो करोड़पति है। गुणवन्तभाई! नमक के व्यापारी। भावनगर है। स्वामीनारायण है। आहाहा! सब चीरा। बहुत देखा। इंजेक्शन लगाकर चमड़ी को वह करके। उसे दुःख न लगे इसलिए। खराब चमड़ी को... पता नहीं लगा। यह तो पता लगे बिना रहता नहीं, कहते हैं। आहाहा! राग और आत्मा को चीर डालने से केवलज्ञान प्रगट हुए बिना रहे नहीं। आहाहा! वे डाक्टर नहीं कर सके, परन्तु यह डॉक्टर कर सके, ऐसा है। आहाहा! वह तो करोड़पति है, स्वामिनारायण है। भावनगर में नमक का कारखाना है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, हे नाथ! एक जिनदेव जयवन्त है। क्या कहते हैं यह? प्रभु! हमें तो दूसरा सब जयवन्त दिखता ही नहीं। एक जिनदेव ही जयवन्त है। आहाहा! एक वीतरागी परमात्मा, जिन्होंने वीतरागीदशा प्रगट की, वे ही एक जयवन्त दिखते हैं। बाकी कोई जयवन्त है नहीं कुछ। आहाहा! यह करोड़ों रुपये के महल और अरबों रुपये और पैसे, आहाहा! धूल और धाणी। आहाहा! अरबोंपति। वहाँ वह कहा न, नैरोबी। पन्द्रह व्यक्ति तो अरबोंपति, अरबपति। एक व्यक्ति आया था। रतिलाल। बेचारा अकेला है। बड़ा भाई मर गया। अरबपति। आया। आवे तो सही न, बड़ा नाम सुनकर। वापस वहाँ भी आये थे, मलाड़-मुम्बई। परन्तु यह बात कहाँ? आहाहा! सब एक आत्मा के

अतिरिक्त किसी भी चीज़ की विस्मयता और आश्चर्यता लगे, तब तक प्रभु का अनादर होता है। आहाहा!

प्रभु चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की अतिशयता के अतिरिक्त किसी भी चीज़ की अतिशयता और विशेषता भासित हो तो प्रभु का अनादर है। आहाहा! तू विशेष नहीं, विशेष तो यह है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि विशेष होवे तो मैं एक आत्मा हूँ। प्रभु! तुम विशेष में जयवन्त वर्तते हो। वे जिनदेव समरसमय अनंग (-अशरीरी, अतीन्द्रिय) सौख्य की देनेवाली ऐसी... आहाहा! भगवान तीन लोक का नाथ समरसरूप अनंग। समतामय सुख, अनंग का सुख। यह तो अंग का सुख, वह दुःख (है)। अंग का सुख, वह दुःख; अनंग का सुख, वह सुख। आहाहा!

अनंग (-अशरीरी, अतीन्द्रिय) सौख्य की देनेवाली ऐसी उस मुक्ति के मुखकमल पर.... आहाहा! मुक्ति का मुखकमल अर्थात् मुक्ति की प्रगट दशा पर वास्तव में किसी अवर्णनीय कान्ति को फैलाते हैं;... आहाहा! आप तो प्रभु! पर्याय में अवर्णनीय—वर्णन नहीं किया जा सके, कथन में नहीं आ सके—ऐसी शान्ति को फैला रहे हैं। आहाहा! यह गाथा! अरिहन्त के.. उसका अर्थ कि तू ऐसा है। आहाहा! ऐसी उस मुक्ति के मुखकमल पर वास्तव में किसी अवर्णनीय कान्ति... आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, वहाँ अवर्णनीय कोई कान्ति फैली। आहाहा! जो शक्तिरूप से केवलज्ञान था, अनन्त बल था, वह सब आप ऐसे फिराकर पर्याय पर ऐसे शोभा में लाये। उसे पर्याय में—शोभा में लाये। आहाहा! जिसमें नहीं था, वहाँ लाये। था, उसमें से लाये। आहाहा! है ?

किसी अवर्णनीय कान्ति को फैलाते हैं;... आहाहा! आनन्द की अवस्था, हे परमात्मा! आपके अनंग सौख्य, अशरीरी सुख, उसके आनन्द की शोभा को आप फैलाते हो। आहाहा! अवर्णनीय शोभाते हैं। आहाहा! (क्योंकि) कौन (अपनी) स्नेहमयी प्रिया को निरन्तर... आहाहा! परिणति पर्याय अपनी है, ऐसा कहते हैं। पर्याय को कौन पूर्ण शोभा न दे? - ऐसा कहते हैं। आहाहा! कौन (अपनी) स्नेहमयी प्रिया को निरन्तर सुखोत्पत्ति का कारण नहीं होता? आहाहा! दुनिया में भी अज्ञानी इस अनुसार करता है। आहाहा! अपनी जो निर्मल परिणति—केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द—ऐसी जो दशा अन्तर में भरी थी, उसे प्रगट की, प्रभु! उसे आप शोभाते हो और आपको कान्ति शोभती है। उससे आपकी कान्ति है। आहाहा! है ?

अवर्णनीय कान्ति को फैलाते हैं; (क्योंकि) कौन (अपनी) स्नेहमयी प्रिया को निरन्तर सुखोत्पत्ति का कारण नहीं होता ? आहाहा ! अपनी जो पर्याय है, वह अपनी प्रिया है । उसमें कौन शोभा न करे ? अनन्त-अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आनन्द की पर्याय में शोभा करते हैं, प्रभु ! आहाहा ! आज बहुत सरस आ गया । आहाहा ! प्रभु ऐसे हैं और ऐसा तू है । तुझमें और प्रभु में द्रव्यदृष्टि से कुछ अन्तर नहीं है । पर्याय में अन्तर है—संसार और सिद्ध । आहाहा ! भगवान् आत्मा स्त्री का शरीर हो या पुरुष का हो, पशु का हो या देव का हो, नारकी का हो । भगवान् तो अन्दर परिपूर्ण विराजमान है । आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि हे नाथ ! आपकी परिणति की शोभा क्यों नहीं कराते ? सुखोत्पत्ति का कारण नहीं होता ? पूर्ण सुखोत्पत्ति का कारण आत्मा है । आत्मा की पर्याय में पूर्ण सुख की उत्पत्ति का कारण तुम हो । आहाहा ! बाहर कहीं सुख नहीं है । आहाहा ! पैसे में, स्त्री में, कुटुम्ब में, इज्जत में, शरीर के बल में, तेज में, शरीर के तेजफल में धूल भी नहीं है । आहाहा ! प्रभु ! आपकी अन्तर की कान्ति यह जो पर्याय में प्रगट होती है... आहाहा ! वह अवर्णनीय है । कथन नहीं किया जा सकता, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । आहाहा ! ऐसा भगवान् देह में विराजता है । यह विद्यमान चीज विराजती है । उसे-विद्यमान को न माने और अविद्यमान- जो नहीं है, जो कायम रहनेवाली नहीं है, उसे विद्यमानरूप से मानता है ! आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! मैं तो आपके पूर्ण आनन्द के सुख में शोभा जो करते हो, वह मुझे प्रिय है । आहाहा ! और वह सुखोत्पत्ति का कारण नहीं होता ? आहाहा ! सुखोत्पत्ति का कारण नहीं होता ? २७५ हुआ ।

श्लोक-२७६

(अनुष्टुप्)

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः ।

अलि-लीलां पुनः काम-मनङ्ग-सुख-मद्वयम् ॥२७६॥

(वीरछन्द)

मुक्ति कामिनी वदनाम्बुज में अलिलीला धर लीन हुए।
वास्तव में अनुपम अनंग सुख को वे श्री जिनवर भोगें ॥२७६॥

[श्लोकार्थ :] उन जिनेन्द्रदेव ने मुक्तिकामिनी के मुखकमल के प्रति भ्रमर-लीला को धारण किया (अर्थात् वे उसमें भ्रमर की भाँति लीन हुए) और वास्तव में अद्वितीय अनंग (आत्मिक) सुख को प्राप्त किया ॥२७६॥

श्लोक - २७६ पर प्रवचन

२७६ (श्लोक) ।

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः ।
अलि-लीलां पुनः काम-मनङ्ग-सुख-मद्वयम् ॥२७६॥

श्लोकार्थ : आहाहा! उन जिनेन्द्रदेव ने मुक्तिकामिनी के मुखकमल के प्रति... मुक्तिरूपी कामिनी, ऐसा मुखकमल प्रति भ्रमर-लीला को धारण किया... आहाहा! मुखकमल के प्रति भ्रमरलीला को धारण किया। यह भ्रमर फिरते हैं, यहाँ आत्मा के आनन्द, जैसे फूल के रस में भ्रमर फिरते हैं, वैसे आत्मा की पर्याय के रस में आपकी आनन्द की दशा अन्दर फिरती है। आहाहा! समय-समय की पर्याय बदलती है। आहाहा! एक समय का आनन्द, वही दूसरे समय आनन्द और फिर... आहाहा! जिनेन्द्रदेव ने मुक्तिकामिनी के मुखकमल के प्रति भ्रमर-लीला को धारण किया (अर्थात् वे उसमें भ्रमर की भाँति लीन हुए)... जैसे भ्रमर रस में लीन हो जाता है, वैसे प्रभु आत्मा के आनन्द में लीन हो गये।

और वास्तव में अद्वितीय अनंग (आत्मिक) सुख को प्राप्त किया। आहाहा! अद्वितीय अपूर्व-अनन्त काल में कभी एक सेकेण्ड भी नहीं किया, ऐसे प्रभु! आपने अनन्त सुख की प्राप्ति की। आहाहा! ऐसा विश्वास और अनुभव जिसे बैठे, उसे केवलज्ञान हुए बिना रहता नहीं।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-१६१

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
 अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥
 ज्ञानं पर-प्रकाशं दृष्टिरात्म-प्रकाशिका चैव ।
 आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि खलु ॥१६१॥

आत्मनः स्वपरप्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोऽयम् । इह हि तावदात्मनः स्वपरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत् । ज्ञानदर्शनादिविशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्मप्रकाशकासमर्थत्वात् परप्रकाशकमेव, यद्येवं दृष्टिर्निर्दुक्कुशा केवलमभ्यन्तरे ह्यात्मानं प्रकाशयति चेत् अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकशिष्य, दर्शनशुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न खलु जडस्त्वत्तस्सकाशादपरः कश्चिज्जनः । अथ ह्यविरुद्धा स्याद्वादविद्यादेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतम् । तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति; न केवलं स्यान्मते दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति । दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्माणामाधारो ह्यात्मा । व्यवहारपक्षेऽपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न चात्मसम्बन्धः सदा बहिरवस्थितत्वात्, आत्मप्रतिपत्तेरभावात् न सर्वगतत्वं; अतःकारणादिदं ज्ञानं न भवति, मृगतृष्णाजलवत् प्रतिभासमात्रमेव । दर्शनपक्षेऽपि तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारणं दर्शनं भवति । सदैव सर्वं पश्यति हि चक्षुः, स्वस्याभ्यन्तरस्थितां कनीनिकां न पश्यत्येव । अतः स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव । ततः स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण इति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः -

(स्रग्धरा)

ज्ञानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि-भूतं समस्तं,
 मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।
 तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
 ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥

दर्शन प्रकाशक आत्म का पर का प्रकाशक ज्ञान है।

निज पर प्रकाशक आत्मा, रे यह विरुद्ध विधान है ॥१६१॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानं परप्रकाशं] ज्ञान परप्रकाशक ही है [च] और [दृष्टिः आत्मप्रकाशिका एव] दर्शन स्वप्रकाशक ही है [आत्मा स्वपरप्रकाशः भवति] तथा आत्मा स्व-परप्रकाशक है [इति हि यदि खलु मन्यसे] ऐसा यदि वास्तव में तू मानता हो तो उसमें विरोध आता है।

टीका : यह, आत्मा के स्व-परप्रकाशकपने सम्बन्धी विरोध कथन है।

प्रथम तो, आत्मा को स्व-परप्रकाशकपना किस प्रकार है ? (उस पर विचार किया जाता है।) ' आत्मा ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणों से समृद्ध है; उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से परप्रकाशक ही है; इस प्रकार निरंकुश दर्शन भी केवल अभ्यन्तर में आत्मा को प्रकाशित करता है (अर्थात् स्वप्रकाशक ही है।) इस विधि से आत्मा स्व-परप्रकाशक है।'—इस प्रकार हे जड़मति प्राथमिक शिष्य! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव के कारण मानता हो, तो वास्तव में तुझसे अन्य कोई पुरुष जड़ (मूर्ख) नहीं है।

इसलिए अविरुद्ध ऐसी स्याद्वादविद्यारूपी देवी सज्जनों द्वारा सम्यक् प्रकार से निरन्तर आराधना करने योग्य है। वहाँ (स्याद्वादमत में), एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना ही नहीं है; स्याद्वादमत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता (अर्थात् मात्र स्वप्रकाशक ही नहीं है)। आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है। (वहाँ) व्यवहारपक्ष से भी ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो, सदा बाह्यस्थितपने के कारण, (ज्ञान को) आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा और (इसलिए) 'आत्मप्रतिपत्ति के अभाव के कारण सर्वगतपना (भी) नहीं बनेगा। इस कारण से, यह ज्ञान होगा ही नहीं (अर्थात् ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं होगा), मृगतृष्णा के जल की भाँति आभासमात्र ही होगा। इसी प्रकार दर्शनपक्ष से भी, दर्शन केवल 'अभ्यन्तरप्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है, (सर्व प्रकाशन का कारण है); (क्योंकि) चक्षु सदैव सर्व को देखता है, अपने अभ्यन्तर में स्थित कनीनिका को नहीं देखता (इसलिए चक्षु की बात

१- आत्मप्रतिपत्ति=आत्मा का ज्ञान; स्व को जानना सो।

२- अभ्यन्तरप्रतिपत्ति=अन्तरंग का प्रकाशन; स्व को प्रकाशना सो।

से ऐसा समझ में आता है कि दर्शन अभ्यन्तर को देखे और बाह्यस्थित पदार्थों को न देखे, ऐसा कोई नियम घटित नहीं होता)। इससे, ज्ञान और दर्शन को (दोनों को) स्व-परप्रकाशकपना अविरोध ही है। इसलिए (इस प्रकार) ज्ञानदर्शनलक्षणवाला आत्मा स्व-परप्रकाशक है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री प्रवचनसार की टीका में चौथे श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

जो है कर्म विनाशक एवं त्रैकालिक सारे जग को ।
युगपत् जाने किन्तु मोहक्षय अतः न उनसे तन्मय हो ॥
अतिविकसित विस्तृत ज्ञप्ति से स्वयं पिये सब ज्ञेय स्वरूप ।
वह त्रिलोक को पृथक् अपृथक् जाने ज्ञानमूर्ति शिवरूप ॥

‘[श्लोकार्थः—] जिसने कर्मों को छेद डाला है, ऐसा यह आत्मा भूत, वर्तमान और भावी समस्त विश्व को (अर्थात् तीनों काल की पर्यायों सहित समस्त पदार्थों को) युगपत् जानता होने पर भी मोह के अभाव के कारण पररूप से परिणमित नहीं होता, इसलिए अब, जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार द्वारा स्वयं पी गया है, ऐसे तीनों लोक के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।’

प्रवचन-१९०, गाथा-१६१, बुधवार, आषाढ़ शुक्ल ११, दिनांक २३-०७-१९८०

नियमसार । १६१ गाथा ।

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।

अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

दर्शन प्रकाशक आत्म का पर का प्रकाशक ज्ञान है।

निज पर प्रकाशक आत्मा, रे यह विरोध विधान है ॥१६१॥

टीका : क्या कहते हैं ? यह, आत्मा के स्व-परप्रकाशकपने सम्बन्धी विरोध कथन है। कोई ऐसा कहे कि आत्मा स्व-पर प्रकाशक है, परन्तु दर्शन से स्व प्रकाशक,

ज्ञान से पर प्रकाशक है - ऐसा कोई कहे तो वह विरोध है। ऐसा नहीं है। समझ में आया ? आत्मा स्व-परप्रकाशक और उसके गुण दो, ज्ञान परप्रकाशक, दर्शन स्वप्रकाशक - ऐसा करके आत्मा स्व-परप्रकाशक। यह विरोध है। ऐसी बात में पड़े कहाँ ? सूक्ष्म बात है। श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं। श्वेताम्बर के पाठ में है। दर्शन अपने को देखता है, ज्ञान पर को जानता है।

प्रथम तो, आत्मा को स्व-परप्रकाशकपना किस प्रकार है ? यह कहते हैं। आत्मा को स्व-परप्रकाशकपना किस प्रकार है ? (उस पर विचार किया जाता है।) इस पर विचार किया जाता है। ' आत्मा ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणों से समृद्ध है;...' आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द, बल, पुरुषार्थ, प्रभुता आदि अनन्त गुणों से समृद्ध है। अनन्त गुणों से भरपूर प्रभु है। आहाहा ! कोई एक गुण दूसरे गुण से नहीं है। सब गुण की समृद्धि है। सब गुणों का एकरूप है।

' आत्मा ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणों से... अर्थात् खास गुणों से समृद्ध है;... भरा पड़ा है। आहाहा ! अनन्त गुणों से आत्मा अन्दर भरा पड़ा है। गुण की अनन्त-अनन्त संख्या। सब गुणों से भरपूर है। उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में... उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से परप्रकाशक ही है;... ऐसा कोई माने। ऐसा कोई माने। ऐसा है नहीं। क्या कहा, समझ में आया ? आत्मा का ज्ञान शुद्धात्मा को जाने। आत्मा का ज्ञान आत्मा को जाने, प्रकाशित करे। वह प्रकाशित करने में समर्थ होने से। अपना ज्ञान प्रकाशित करने में ज्ञान असमर्थ है - कितने ही ऐसा कहते हैं। ज्ञान अपना है, वह अपने को जानने में असमर्थ हैं (ऐसा) अभिप्राय है। धर्म के नाम से सूक्ष्म फेरफार, बहुत फेरफार है। बाहर में स्थूलरूप से एक सरीखे दिखें। अन्दर सूक्ष्मता में अन्तर क्या है, यह बहुत अन्तर है। कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान है, वह अपने को जानने में असमर्थ है। आहाहा ! ऐसा कोई कहे तथा कहते और मानते हैं अभी। वह मत भी है और मानते भी हैं।

इस प्रकार निरंकुश दर्शन भी... क्या कहा ? - कि ज्ञान जैसे अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है। अपने को जानने में असमर्थ है; वैसे दर्शन भी अपने को ही देखता है, पर को जानने में (देखने में) असमर्थ है। यह तो चर्चा में आवे, तब खबर पड़े

न। यहाँ किसने विचार किया हो। सम्प्रदाय में ऊपर जो कहता हो, वह मानकर चल निकले। आहाहा! इस प्रकार... ज्ञान की तरह। जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानकर अकेला पर को ही जानता है; वैसे दर्शन भी केवल अपने को ही देखता है, पर को नहीं देखता। आहाहा! ऐसा कोई कहे, निरंकुश दर्शन भी केवल अभ्यन्तर में आत्मा को प्रकाशित करता है... आहाहा! दर्शन अन्तर में आत्मा को देखता है। (अर्थात् स्वप्रकाशक ही है।) इस विधि से आत्मा स्व-परप्रकाशक है। इस विधि से आत्मा स्व-पर प्रकाशक है - ऐसा कोई माने तो वह विरुद्ध है। आहाहा! समझ में आया ?

ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण से समृद्ध है, तो उसमें ज्ञानगुण है, वह अपने को जानने में असमर्थ है और पर को जानने में समर्थ है। ऐसे दर्शन भी निरंकुश अपने को ही देखे और पर को जानने में (देखने में) असमर्थ है। इस तरह दो गुणों की व्याख्या ऐसी कोई करे तो वह विरुद्ध है। आहाहा! अब ऐसे गहरे विचार में कौन जाए? बाहर का कुछ करना। करना अर्थात् किया कुछ दिखायी दे कि हम कुछ करते हैं। अब यह बात तो अन्दर की है। आहाहा!

अन्तर आत्मा देह के रजकण-रजकण से भिन्न, कर्म के परमाणु से भिन्न और पुण्य-पाप के विकारी भाव से भिन्न तथा अपने आनन्द और ज्ञान-दर्शन गुण से अभिन्न। परन्तु अपने गुण से अभिन्न है, उसमें अज्ञानी भेद डालता है कि ज्ञान अपने को नहीं जानता, ज्ञान अपने को नहीं जानता और दर्शन अपने को देखता है। आहाहा! दर्शन पर को नहीं देखता। ज्ञान अपने को नहीं जानता, दर्शन पर को नहीं देखता। आहाहा! समझ में आया ?

समृद्ध आत्मा में दो गुण हैं। आत्मा में एकसाथ दो गुण हैं। ऐसे अनन्त गुण हैं। तथापि अज्ञानी उसका विरोध करता है कि ज्ञान जो है, वह अपनी चीज़ को नहीं जानता, वह पर को देखता है और दर्शन है... आहाहा! वह पर को नहीं देखता। दर्शन अपने को देखता है। एकसाथ रहनेवाले अपने गुण, अपने में समृद्ध, उनका कार्य भी एकसमय में एकसाथ दोनों का कार्य है। एक समय में दोनों गुणों का कार्य एकसाथ है, तथापि दर्शनगुण का कार्य स्व को देखना और ज्ञानगुण का कार्य पर को जानना, ऐसे भेद पाड़ता है। आहाहा! श्वेताम्बर में है। केवली को पहले ज्ञान जाने और फिर दर्शन देखे। आहाहा!

मुमुक्षु : श्वेताम्बर तो बारह सौ वर्ष से निकला है और यह तो कुन्दकुन्दाचार्य का मत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुन्दकुन्दाचार्य का मत यह कहाँ है ? कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं ।

मुमुक्षु : उस समय श्वेताम्बर मत था ?

पूज्य गुरुदेवश्री : था न! निकल गये थे, श्वेताम्बर । कुन्दकुन्दाचार्य थे, तब सौ वर्ष पहले निकल गये थे । और वह बात यहाँ कहते हैं । कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि एक आत्मा में अनन्त गुण होने पर भी समृद्धि तो एकसाथ भरी है । एक गुण है, वह पर को जाने और एक गुण स्व को देखे, ऐसा गुण में अन्तर में है – ऐसा माने तो वह विरुद्ध है । समझ में आया ? कैसे विरुद्ध है ? – वह बताते हैं, किस प्रकार विरुद्ध है – यह बताते हैं । आहाहा! (इस प्रकार वह स्व-परप्रकाशक है ।)

इस विधि से आत्मा स्व-पर प्रकाशक है - (ऐसा कहते हैं, उस प्रकार) इस प्रकार हे जड़मति... कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, उसका अमृतचन्द्राचार्य (पद्मप्रभमलधारिदेव) अर्थ करते हैं । हे जड़मति... आहाहा ! तेरी जड़बुद्धि है । ज्ञान अपने को नहीं जानता और दर्शन पर को नहीं देखता तो जड़बुद्धि है । आहाहा ! दोनों गुण अपने हैं और एक गुण अपने को जाने और एक गुण पर को जाने, वह जड़मति है । परन्तु ऐसे विचार में आये भी कब हों ? ऐई.. ! ऐसे सूक्ष्म विचार करके... बड़ा अन्तर है । आत्मा में जितने अभेद गुण हैं । एक गुण का कार्य सर्व गुण का कार्य सरीखा है । फेरफार कुछ है नहीं ।

इसलिए यह कहा, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्राचार्य ने कहा कि **हे जड़मति प्राथमिक शिष्य!** प्राथमिक शिष्य—शुरुआतवाले, पहले से आनेवाला तू ऐसा कहता है, वह विरुद्ध है । प्राथमिक अर्थात् शुरुआत में तू आया और यह बात तू करता है (तो) जड़ है । ज्ञान पर को ही जाने और स्व को न जाने; दर्शन पर को न देखे और स्व को देखे, वह जड़मति है । आहाहा ! परन्तु यह कौन कहते हैं ? किसलिए कहते हैं ? इसकी खबर कहाँ है ! कुछ खबर थी ? हीरा-माणिक की थी वहाँ । सबको यह तो है न, जिसे जो धन्धा हो । आहाहा !

हमारे यहाँ एक आणंदजी था । पहले नौकर था और बाद में भागीदार हुआ । खुशालभाई निकल गये, जब भाई गुजर गये । मैं दीक्षा लेकर निकला गया । उसे बहुत धारणा । धारणा इस जड़ की । किस भाव में माल आया है, उसमें से अभी कितना भाव चलता है और उसमें से जिस भाव आया, वह माल कितना रहा और कितना बिका ?

मुमुक्षु : सब याद रखता है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हमको ऐसा बहुत नहीं था । अपने को तो माल आवे वह.. उसे ऐसा त्रिपट्टी याद था । इस भाव में माल आया था । ऐसा कहे, केसर के डिब्बे (इतने पड़े हैं) उस दिन तो रुपया भार था । अभी महँगा हो गया । रुपये के भाव में । उसके इस भाव डिब्बे आये थे । इतने अभी बिके हैं और अभी इतने बाकी हैं तथा अभी इतना भाव चढ़ गया है । बाबूभाई ! एक-एक की तीन-तीन बात याद । ऐसी हजारों (वस्तुओं का) दुकान में माल (होवे) । आहाहा ! बस, धुन उठी थी । यह तो एक स्त्री थी, लड़का कोई था नहीं । उसमें दोनों मर गये । बुद्धिशाली था । कुँवरजीभाई की अपेक्षा भी बुद्धिवाला था । अरेरे ! मुझे किसी ने कहा नहीं, मुझे किसी ने निवृत्ति लेकर आत्मा का करने को कहा नहीं । - ऐसा अन्त में बोलकर मर गया । देह छूट गयी । भाई ! यहाँ तुझे कहा था । मेरे पास आता था तब (कहा था ।) तुझे स्त्री (लड़की) नहीं, लड़का नहीं, पत्नी-पति दो हो, लाखों रुपये हैं । आहाहा ! अब कब तक ऐसे के ऐसे मजदूरी करनी है । दो घण्टे दुकान में जाए । हिस्सा निकाल डाला हुआ । दो घंटे जाए उस कुर्सी में । चल न सके, इसलिए कुर्सी में बैठाकर ले जाए । दो घण्टे जाए । पत्र पढ़े, ऐसा हो, बातें करे, तब चैन आवे । आहाहा ! ऐसे ही पूरी दुनिया पड़ी है । जिसमें वस्तु ही है । उसमें एकाकार और दूसरा विचार आता नहीं ।

अरे ! परन्तु मैं यहाँ से जाऊँगा कहाँ ? मैं तो नित्य हूँ । अनादि नित्य अविनाशी पदार्थ हूँ । मैं तो अनादि-अनन्त पदार्थ हूँ, तो यहाँ से जाऊँगा कहाँ ? आहाहा ! कोई स्थान, कोई क्षेत्र, कोई सम्बन्धी, कैसे अवतरित हुए... विचार भी नहीं ।

यहाँ तो यह सूक्ष्म बात लेते हैं । एक आत्मा अनन्त गुण से भरपूर समृद्ध आत्मा । अनन्त गुण से भरा हुआ समृद्ध आत्मा । एक समृद्ध आत्मा में सर्वगुण, तथापि एक गुण ज्ञान पर को जाने और स्व को नहीं तथा दर्शन अपने को देखे और पर को नहीं - ऐसी भी एक मान्यता है । आहाहा !

तो कहते हैं, हे जड़मति प्राथमिक शिष्य ! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव के कारण... तुझे दर्शनशुद्धि नहीं है । तुझे समकित नहीं है - ऐसा कहते हैं । आहाहा ! समकित के अभाव में तुझे यह बला घुस गयी है । कुगुरु ने यह बला डाल दी (और) तुझे

बैठ गयी। इतना विचार नहीं आता कि मैं आत्मा हूँ और मेरे जितने गुण हैं, उन सब गुणों में ताकत इतनी है। ज्ञान में भी स्व-पर जानने की ताकत, दर्शन में भी स्व-पर देखने की ताकत है। दर्शन स्व को देखे और पर को न देखे; ज्ञान पर को जाने और स्व को न देखे (-जाने) - ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! अरे! परन्तु किसी को निवृत्ति नहीं मिलती।

ऐसा लोग नहीं कहते? अभी मरने की फुरसत नहीं है। चिमनभाई! व्यापार करते हों न, व्यापार? बड़ा व्यापार करते हों, फिर कहे - अभी तो मरने का भी समय नहीं है। ऐसी बात, बापू! मरण आयेगा, तब पड़ा रहेगा, हो गया। पैर भी चलेंगे नहीं और कुछ चलेगा नहीं। ऐसा का ऐसा पड़ा रहेगा। मरने की भी फुरसत नहीं है, ऐसा (कहता है)। आहाहा! बोलने में कुछ धीठाई, उंधाई भी कितनी! अरेरे! मैं क्या बोलता हूँ? क्या कहता हूँ? यह मेरे लिये क्या बोलता हूँ? मरने की भी फुरसत नहीं, इतना सब हमारे काम है। मैं इतना अधिक कामवाला हूँ कि मुझे मरने की भी फुरसत नहीं है। आहाहा! मरने का समय आयेगा तो बैठा होगा और फू... हो जाएगा। आहाहा!

कहा था न यह? कौन सा गाँव कहा? मलकापुर। मलकापुर में एक स्वरूपचन्द्र (मुमुक्षु है)। छोटी उम्र का था। अविवाहित था, तभी से दस-दस हजार का कपड़े का व्यापार। कपड़े की दुकान में दस हजार का व्यापार। छोटी उम्र, अविवाहित। हम वहाँ गये थे। उसे मोक्षमार्गप्रकाशक पूरा कण्ठस्थ है। उसने विवाह किया और अभी तो बड़ा व्यापार है। उसका मित्र था और दोनों व्यक्ति बातें करते थे। यों ही, कुछ नहीं था, बैठे (थे) २८ वर्ष की उम्र का था, स्वयं बातें करता था, एक-आधे मिनट ऐसे देखा.. फू.. इतना जहाँ हुआ, वहाँ मर गया, बैठे-बैठे, कुछ नहीं, रोग नहीं। आहाहा! यह क्या हुआ? फू.. हुआ और ढुल गया। ऐसे देखूँ वहाँ तो हो गया, मुर्दा। देह की स्थिति पूरी होने के लिये अमुक राह, राह देखनी पड़े! आहाहा! एक समय में एकदम देह पलट जाती है। उसमें यदि तूने आत्मा का कुछ नहीं किया तो भटकने के मार्ग में हैं। आहाहा! भटकना अर्थात् परिभ्रमण।

यहाँ यह कहते हैं, हे जड़मति प्राथमिक शिष्य! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव के कारण... तुझे समकित नहीं है। तुझे दर्शनशुद्धि का अभाव है, इसलिए ऐसा तू मानता है। अभाव के कारण मानता हो, तो वास्तव में तुझसे अन्य कोई पुरुष जड़ (मूर्ख) नहीं है।

आहाहा! ऐसा तू मानता होवे तो वास्तव में तुझसे अन्य कोई पुरुष मूर्ख नहीं है। आहाहा! भगवान अन्दर चैतन्यप्रकाश और दर्शनप्रकाश की मूर्ति है। भले दर्शन भेद नहीं पाड़ता। इससे.. दर्शन भेद नहीं पाड़ता न, इससे ऐसा कहते हैं कि स्व को देखता है और ज्ञान भेद पाड़कर देखता है, इसलिए पर बहुत हैं और बहुत हैं, इसलिए (जानता) देखता है। ज्ञान सबको जानता है, इसलिए ऐसे जानता है। दर्शन तो अभेद है; इसलिए एक को (देखता) जानता है। हे जड़मति प्राथमिक शिष्य! यदि तू दर्शनशुद्धि के अभाव के कारण... मूर्ख है। आहाहा! ऐसा करोड़ोंपति होवे तो मूर्ख! दुनिया में होशियार कहलाता हो, नात में प्रमुख हो, संघ का सेठ हो। परन्तु विपरीत मान्यता होवे तो मूर्ख है, कहते हैं। विपरीत श्रद्धा... आहाहा! दर्शनशुद्धि के अभाव के कारण मानता हो, तो वास्तव में तुझसे अन्य कोई पुरुष जड़ (मूर्ख) नहीं है। आहाहा!

इसलिए अविरोद्ध ऐसी स्याद्वादविद्यारूपी देवी... आहाहा! इसलिए अविरोद्ध... तू मानता है, उससे विरोद्ध, अविरोद्ध ऐसी स्याद्वादविद्यारूपी देवी सज्जनों द्वारा सम्यक् प्रकार से निरन्तर आराधना करने योग्य है। स्याद्वाद-कथंचित् - किस अपेक्षा से कहा है, वह जानकर आराधना करने में ध्यान रखना। है? निरन्तर आराधना करने योग्य है। किस अपेक्षा से है? और किस अपेक्षा से निषेध है? व्यवहार की बात ऐसी आवे कि व्यवहार, साधन; निश्चय, साध्य। वह पकड़ता है कि देखो! साधन है। परन्तु किस अपेक्षा से कहा है? साधन का निषेध किया है, वह साधन होता ही नहीं। स्वयं स्वतन्त्र है। अपना साधन तो अपना गुण है। अपने में 'करण' नाम का गुण है। वह स्वयं अपने से अपना साधन साधता है। उसके साधन में दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं। आहाहा!

ऐसा न मानकर वहाँ (स्याद्वादमत में), एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना ही नहीं है;... देखो! तू एकान्त से ऐसा कहे कि ज्ञान पर को ही जानता है, तो वैसा एकान्त नहीं है। आहाहा! है? शुद्धात्मा को नहीं (जानता) देखता। एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना ही नहीं है;... ऐसा तू एकान्त से माने तो मिथ्या है। स्याद्वादमत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता... आहाहा! स्याद्वाद अपेक्षा मत से अकेला दर्शन अपने को देखे (- ऐसा नहीं कहता)।

ऐसा होने का कारण क्या? - कि ज्ञान में सब जानने की शक्ति है। दर्शन में भेद

पाड़े बिना अकेली शक्ति अभेद। दर्शन में अभेद है और ज्ञान में सब भेद पाड़ता है। इसमें उसे भ्रम पड़ गया। दर्शन जब एक ही देखता है तो पोताने को देखता है, और ज्ञान सर्व को जानता है तो सर्व को जानने में रुके, वह अपने को नहीं जानता। आहाहा! समझ में आया? लॉजिक से-न्याय से समझना चाहिए। आहाहा! निवृत्ति कहाँ है? निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा!

स्याद्वादमत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता (अर्थात् मात्र स्वप्रकाशक ही नहीं है)। दर्शन मात्र स्वप्रकाशक ही नहीं। यह कौन सा दर्शन? समकित दर्शन या दर्शन उपयोग? दर्शनोपयोग की बात चलती है। समकित नहीं। दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग - दो उपयोग की बात चलती है। दर्शन-श्रद्धा और ज्ञान जानना, उसकी यहाँ बात चलती है। आहाहा! यह तो पहले कहा कि दर्शन स्व को देखता है अभेद। उसका अभेद देखने का स्वभाव है, इसलिए ऐसा कहा; और ज्ञान का जानने का स्वभाव होने से सब जाने, ऐसा कहा तो तू दर्शनशुद्धि रहित है, समकित रहित है, जड़मति है, मूर्ख है। यह सम्यग्दर्शनरहित तो कहा। यह तो देखना और जानना उपयोग की बात है। आहा..!

आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है। आहाहा!(वहाँ) व्यवहारपक्ष से भी ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो,... व्यवहार से अकेला परप्रकाशक होवे तो सदा बाह्यस्थितपने के कारण,... ज्ञान तो बाहर में रहा। आहाहा! ज्ञान बाहर को जाने तो बाहर में ज्ञान रहा, अन्दर जानने का अवकाश रहा नहीं। आहाहा! बात है बारीक। सूक्ष्म बात है। क्या सूक्ष्म है? - कि शास्त्र में दर्शन की व्याख्या (ऐसी है कि) यह ज्ञान है, यह आनन्द है - ऐसा भेद नहीं डालता। दर्शन तो अभेद है। उसका विषय अभेद है और ज्ञान का विषय भेद है। प्रत्येक को भिन्न-भिन्न जानता है। ऐसी भ्रमणा में वह (अन्यमति) पड़ गया कि दर्शन जब अभेद ही है तो एक आत्मा को देखे। ज्ञान भेद (स्वरूप) है तो (सर्व को जाने)। दर्शन एक आत्मा को देखे तो ज्ञान सर्व को (जाने) देखे। ऐसे साधारण बात है, परन्तु ऐसे सूक्ष्म है। गुणभेद का कार्य भिन्न-भिन्न है, तथापि है अपने सम्बन्ध में। दोनों गुणों में अपनी समृद्धि और अपनी ऋद्धि है। इस गुण में ज्ञान की ऋद्धि पर की, दर्शन की ऋद्धि स्व की - ऐसा नहीं। आहाहा!

आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है। (वहाँ) व्यवहारपक्ष से भी

ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो,... आहाहा! ज्ञान को व्यवहार से ऐसा कहो कि व्यवहार से परप्रकाशक है। सदा बाह्यस्थितपने के कारण,... ज्ञान तो बाह्यस्थित रहा। अपने को जानने में रहा नहीं। आहाहा! ज्ञान को सदा बाह्यस्थितपने के कारण, (ज्ञान को) आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा... आहाहा! ज्ञान जब सर्व को जाने तो अपने साथ सम्बन्ध रहा नहीं, सबके साथ सम्बन्ध रहा। आहाहा! लॉजिक से-न्याय से बात की है। है अन्दर का विषय। बहुत बड़ा अन्तर है। दर्शन अभेद और ज्ञान भेद। इसलिए एक साथ मानना, दर्शन एक ही स्व को देखे और ज्ञान एक ही पर को - सर्व को जाने, सर्व को जाने - ऐसा है नहीं। आहाहा!

केवल परप्रकाशक हो तो, सदा बाह्यस्थितपने के कारण, (ज्ञान को) आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा... ज्ञान पर को ही जाने तो अपने को जानने में रहता नहीं। आहाहा! ज्ञान पर को ही जाने, ऐसा (तू कहे), ज्ञान सब जाने... सब जाने... सब जाने.. ऐसा कहा तो तू ऐसा ले ले कि सर्व को जाने और अपने को न जाने - ऐसा तू माने तो तू जड़बुद्धि है। तेरी मूर्खबुद्धि है। आहाहा! आचार्य ने कहा है न, जड़बुद्धि। दर्शनबुद्धि से रहित, श्रद्धा से भिन्न है। भिन्न तेरी जड़बुद्धि है। आहाहा! इतना अन्तर है तो भी जड़बुद्धि कहा। साधारण को ऐसा लगे, इसमें क्या है? ज्ञान का स्वभाव तो बहुत जानने का है और दर्शन का स्वभाव बिल्कुल जानने का नहीं है। मैं दर्शन हूँ और यह ज्ञान है, ऐसा भेद जानने की भी ताकत नहीं है। आहाहा! दर्शन में तो सबको एकरूप मानता है (और) ज्ञान सबको भिन्न-भिन्न जानता है। दो गुण के स्वभाव भिन्न होने पर भी एक साथ एक समय में रहते हैं और दोनों दोनों को जानते हैं। दर्शन अपने को भी देखता है, पर को भी देखता है; ज्ञान पर को भी देखता है और अपने को भी जानता है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि यह पुस्तक मैंने मेरी (भावना) के लिये बनायी है। इसमें गुण में कोई अन्तर डाले तो पूरा दृष्टि भेद हो जाता है। ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा!

आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा... क्या कहा? ज्ञान है, वह पर को जाने तो ज्ञान का सम्बन्ध पर के साथ रहा, अपने साथ तो रहा नहीं, तो आत्मा का ज्ञान तो रहा नहीं। (इसलिए) आत्मप्रतिपत्ति के अभाव के कारण... इस कारण से—आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण से। ज्ञान अपने को नहीं जाने, क्योंकि ज्ञान में बहुत जानने की शक्ति है

तो सर्व को जाने और अपने को न जाने। अपने को न जाने, तब तो अपना अज्ञान हुआ। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर केवली परमात्मा की सूक्ष्म बातें हैं, बापू! यह कोई धर्म कथा-वार्ता कहीं साधारण नहीं है। आहाहा! थोड़ा भी अन्तर पड़ा तो जड़बुद्धि-मूर्ख है। आहाहा!

तू एक आत्मा, तुझसे अनन्त पदार्थ अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! द्रव्य से भिन्न, क्षेत्र से भिन्न, काल से भिन्न, भाव से भिन्न है। उन्हें अपना मानना, यह महामिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! जहाँ अपने दो गुणों में अन्तर माने तो मिथ्यादृष्टि जड़ कहा। आहाहा! तो यह आत्मा अनन्त परपदार्थों को अपना जाने, अपने हैं - ऐसा जाने, वह मूर्ख है। आहाहा! यह अँगुली अपनी नहीं है। कहते हैं न कि मेरा शरीर पतला है, मेरा शरीर दलदार है। मेरा शरीर! बोलने में भी भान कहाँ है? बोलने के लिये बोलता हूँ या अभिप्राय में एकत्व से बोलता हूँ - इसकी भी खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **आत्मप्रतिपत्ति के अभाव के कारण...** जब आत्मा का ज्ञान पर को जाने और अपने को न जाने तो आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण **सर्वगतपना (भी) नहीं बनेगा**। सर्व को जाननेवाला नहीं रहेगा। तूने ऐसा कहा कि ज्ञान सर्व को जानता है और अपने को नहीं जानता। यदि अपने को नहीं जानता तो सर्व को कहाँ से जाने? आहाहा! ज्ञान सर्व को जानता है - ऐसा तूने कहा, सर्व को जाने तो अपने साथ ज्ञान का सम्बन्ध तो रहा नहीं। आत्मा ज्ञानरहित हो गया। आहाहा! न्याय से-लॉजिक से बात है, भाई! बनियों के व्यापारी की तरह, जैसे-तैसे गड़बड़ करे, ऐसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो जरा अन्तर पड़े तो बड़ा अन्तर (पड़ जाता है)। आहाहा!

सर्वज्ञ वीतराग मस्तक पर है, सिर पर भगवान है। आहाहा! त्रिलोकनाथ तीर्थंकर सर्वज्ञदेव परमेश्वर (मस्तक पर बिराजते हैं)। आहाहा! धर्मी ऐसा मानता है कि परमेश्वर मेरे सिर पर हैं। आहाहा! वे परमेश्वर कोई भी बात करते हैं, वह सब बात मुझे यथार्थ बैठी है। कहीं शंका को स्थान नहीं है। आहाहा!

रात्रि में कहा न? मिश्री की डली। ओहोहो! सब परमाणु एकरस हो गये हैं। मिश्री में सब एकरस (हो गये हैं)। प्रभु इनकार करते हैं कि एक परमाणु ने दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं किया है। आहाहा! यह बात वीतराग के अतिरिक्त कौन कहे? मिश्री की डली,

मिश्री । एकरस सब परमाणु । नहीं, नहीं; एकरस हुए ही नहीं । प्रत्येक परमाणु उस स्कन्ध में... (ऐसा) पाठ है । (गाथा) ८७ में पाठ है । स्कन्ध में भी परमाणु अपना भिन्न काम करता है, ऐसा पाठ है । आहाहा! पंचास्तिकाय में । परमाणु इस स्कन्ध-पिण्ड में रहे तो भी अपना काम अपने से भिन्न करता है । आहाहा! स्कन्ध में-पिण्ड में रहकर भी अपना काम भिन्न करता है । आहाहा! तो यह मिश्री भिन्न हुई । भेद! भेद! भेदाभ्यास का रात्रि को कहा था । भेद समझाते हुए । भेद समझे न! वह तो स्कन्ध पृथक् पड़ता है और एकत्रित होता है, ऐसा बताते हैं । परमाणु.. हो जाता है और वह परमाणु, परमाणु से भिन्न हो जाता है, ऐसी बात नहीं है । वह तो पूरे परमाणुओं का जो स्कन्ध है, उसमें कितने ही स्कन्ध आते हैं और कितने ही जाते हैं । भेद समझाते हैं । आहाहा! रात्रि को चेतन ने प्रश्न किया है था न । आहाहा!

यहाँ परमात्मा कहते हैं कि व्यवहारनय से जब तू ऐसा कहता है कि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो, सदा बाह्यस्थितपने के कारण, (ज्ञान को) आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा और (इसलिए) आत्मप्रतिपत्ति के अभाव के कारण सर्वगतपना (भी) नहीं बनेगा । आहाहा! है ? ज्ञान बाह्य स्थित है, ज्ञान बाहर पर को—सर्व को जाने तो आत्मा सर्वज्ञ रहा नहीं । आत्मा ज्ञानस्वरूप रहा नहीं । आहाहा! आत्मा का ज्ञान बाह्य को जाने, दर्शन अपने को देखे तो ज्ञान का सम्बन्ध बाह्य के साथ रहा, आत्मा के साथ रहा नहीं तो सर्वज्ञपना रहा नहीं । आहाहा! कठिन बात है, परन्तु भाषा तो सादी आती है । आहा!

इस कारण से, यह ज्ञान होगा ही नहीं (अर्थात् ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं होगा),... क्या कहते हैं ? - कि ज्ञान परपदार्थ के साथ सम्बन्ध रखे और आत्मा के साथ न रखे तो वह ज्ञान ही रहा नहीं, ज्ञान की अस्ति रही नहीं, ज्ञान की मौजूदगी रही नहीं । समझ में आया ? ज्ञान पर को (जाने) देखे । सर्व को देखने की ताकत है, भेद है इसलिए । परन्तु स्व को न (जाने) देखे तो आत्मा और ज्ञान दो रहे नहीं, तो आत्मा सर्वज्ञ रहा नहीं । आहाहा! ज्ञान का तो सर्व के साथ सम्बन्ध हुआ । आत्मा को सर्वज्ञ नहीं हो सकता । ज्ञान अकेला रहा तो आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता । ज्ञान पर को जाने और अपने को नहीं जाने तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता । आहाहा! ऐसा सूक्ष्म कब पढ़ा था ? चिमनभाई! आहाहा! यह वीतरागमार्ग केवलज्ञान से प्रत्यक्ष । तीन काल-तीन लोक प्रत्यक्ष हुए हैं । भगवान

महाविदेह में प्रत्यक्ष विराजते हैं। उन परमात्मा के ज्ञान को पर के साथ सम्बन्ध जोड़े तो ज्ञानरहित आत्मा होकर आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : सर्वज्ञ नहीं रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर ज्ञान ही नहीं रहा। ज्ञान उसको जानता है, अपने को नहीं जानता तो स्वयं तो सर्वज्ञ रहा नहीं। आहाहा! स्वयं के लिए अन्ध रहा। पर के लिये सूझता रहा, उसमें सर्वज्ञपना कहाँ आया? सर्वज्ञपना तो सब जाने, वह सर्वज्ञ। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग है। यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है। वीतराग कहते हैं, इसलिए ऐसा कुछ नहीं। वीतरागता तो जैसा स्वरूप है, वैसा जानने में आया, ऐसा कहने में आया। यह कहीं नयी रचना बनायी है कि इस जगत में पदार्थ कुछ है और नयी रचना की है – ऐसा है? आहाहा! यह तो त्रिलोकनाथ, सर्वज्ञपना सर्व को जानने की ताकत थी तो सर्व को जान लिया, सर्व को जान लिया तो सर्वज्ञ हो गये। यह पर का ज्ञान हुआ, उसे सम्बन्ध कहो और ज्ञान में सब जानने की शक्ति है, तो पर के साथ सम्बन्ध रखो और अपने साथ का सम्बन्ध छोड़ दो, सर्व को जानने की शक्ति है तो अपने को छोड़ दो तो वह सर्वज्ञ छूट गया। आहाहा! ओहोहो! बात इतनी सूक्ष्म। आचार्यों.. आहाहा!

ज्ञानगुण की सामर्थ्यता। पर अनन्त जाने तो भी अपने प्रदेश में अपने को जाने बिना रहे नहीं। अपने को जाननेपूर्वक पर को जाने। आहाहा! ज्ञान सर्व को-अनन्त को जानता है, इसलिए ज्ञान अपने प्रदेशों से च्युत हो गया, हट गया और ज्ञान बिना आत्मा रहा (–ऐसा माने तो) तू जड़ है। आहाहा! आत्मा के साथ वह ज्ञान सम्बन्ध रखता है। पर को जानने पर भी आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है। आत्मा को भी जानता है। ज्ञान आत्मा को भी जानता है और पर को भी जानता है। तू कहे – पर को जानता है और स्व को नहीं (जानता) देखता, और दर्शन स्व को देखता है, पर को नहीं देखता। दर्शन अभेद है न? इसलिए एक ही देखे – स्व देखे। पर को नहीं। आहाहा! गम्भीरता भरी है। गुण की-शक्ति की गम्भीरता से बात है। आहाहा!

सर्वगतपना (भी) नहीं बनेगा। इस कारण से, यह ज्ञान होगा ही नहीं... आहाहा! एक सर्वगतपना नहीं बने तो वह ज्ञान भी नहीं रहे। आहाहा! क्योंकि ज्ञान है, वह तो सर्व को जानता है। जाने, जाने उसमें भेद क्या? ज्ञान जानता है। बस, एक ही। तीन काल-तीन

लोक में नजर किये बिना, उपयोग दिये बिना, अपने में उपयोग रखकर सर्व को जानता है। नहीं तो वह ज्ञान भी रहा नहीं, तो सर्वा रहा नहीं, वह तो जड़ हुआ। ज्ञान पर के साथ सम्बन्ध रखे और अपने साथ सम्बन्ध न रखे तो वह जड़ है। परन्तु यह विचार कहाँ किया है? ज्ञान और दर्शन में क्या अन्तर है? क्या है? आहाहा! जय भगवान! भगवान कहे, उसे सच्चा मानो। आहाहा! दूसरा तर्क करोगे तो उसका मिथ्या पड़ेगा। निर्णय तो तूने किया नहीं। अभिप्राय में मिलान करके अभिप्राय में तुलना की नहीं। दूसरा तुलना करेगा तो तेरी शक्ति हट जाएगी। तेरी श्रद्धा रहेगी नहीं। आहाहा! स्वयं से निर्णय पक्का किया हो तो इन्द्र ऊपर से उतरे, तो भी नहीं (माने), वस्तु ऐसी है। जो भगवान ने कही, वैसी मुझे बैठी है। इस बात में फेरफार नहीं है। आहाहा!

यह तो थोड़ी-थोड़ी बात में फेरफार हो जाता है। आहाहा! यह देखो न, हमारे कुँवरजीभाई का परिवार मुसलमान को माने। हैदरशाह। है न हैदरशाह? इस ओर मन्दिर है। यह पालीताणा का हिन्दू का भैरवनाथ। इस ओर भैरवनाथ का मन्दिर है और इस ओर हैदरशाह का है। वह हैदरशाह बनिया दशाश्रीमाली। फकीर आया होगा। इतना उसने कहा कि हमारे यहाँ अभी आहार नहीं है। तो यह कहे नहीं-नहीं जाओ, जाओ। आहार होगा। उसे कहीं से परोसा आया हुआ था। परोसा आया था, इसलिए.. ओहो! फकीरबाबा ऐसा जानते हैं! यह मान्यता हो गयी थी। परोसा आया था और माल था। और यह कहे, हमारे यहाँ अभी कुछ है नहीं। क्या... माल है देख-देख होगा। परोसा आया हुआ देखकर, आहा! फकीरबाबा भारी जोरदार। उसने मान्यता की। उन्हें माननेवाले बहुत सब हैं। आहाहा! अब उन लोगों ने छोड़ दिया। दुकानवाले लड़के हैं, वे अब नहीं मानते। दूसरे कुटुम्ब के कुटुम्ब माननेवाले हैं। आहाहा! फकीर को माने। आहाहा!

यहाँ कहते हैं गुण-फेर को माने तो मिथ्यादृष्टि है। जो गुण जिसके स्वभाववाला है, वैसा नहीं मानकर, ज्ञान अकेले पर को जानता है - ऐसा मानना; ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है - ऐसा नहीं माना; और दर्शन का स्वभाव अकेले स्व को देखता है - ऐसा माना तो ऐसा भी नहीं है। दर्शन में भी स्व-परप्रकाशक प्रतीत करने की श्रद्धा है, स्व-पर दोनों है। स्व-पर दोनों हैं - ऐसा दर्शन उपयोग करने की शक्ति है। आहाहा! ऐसी सिरपच्ची कौन करे? यह तो दया पालो, व्रत पालो, मरकर जाए फिर चार गति में भटकने। आहाहा! प्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई! आहा! सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त

कहीं मिलान नहीं खाता। आहाहा! सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है कि एक वस्त्र का टुकड़ा रखकर साधु माने तो माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। अरे! प्रभु! यह तो पूरी दुनिया कपड़े पहनकर सबको साधु माने। अन्यमति, वैष्णव, स्वामीनारायण। यहाँ तो यह (कहा) कि वस्त्र पहिनकर साधु माने, वह मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है।

मुमुक्षु : परिग्रह का नियम लिया और परिग्रह रखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने परिग्रह माना नहीं। वस्त्र पहिने, सिर पर पगड़ी पहिने। स्वामीनारायण के बाबा सिर पर पगड़ी (पहिनते हैं)। यहाँ परमात्मा कहते हैं कि एक वस्त्र का टुकड़ा रखकर हम साधु हैं (-ऐसा) माने, मनावे, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! इतना अधिक अन्तर। यह तो यहाँ गुण में अन्तर मानता है। ज्ञान होता ही नहीं। ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता। जब ज्ञान को पर को जाननेवाला कहा और ज्ञान को आत्मा को जाननेवाला नहीं कहा तो आत्मा के साथ ज्ञान का सम्बन्ध रहा नहीं, तो ज्ञान का अस्तित्व रहा नहीं। आत्मा बिना ज्ञान रहे कहाँ? आहाहा! यह विषय सूक्ष्म है।

मृगतृष्णा के जल की भाँति आभासमात्र ही होगा। जैसे मृगतृष्णा। जल बिना जल जैसा दिखायी दे। उसे क्या कहते हैं? मृगजल जल-मृगजल का पानी दिखता है। मृग दौड़कर जाता है, वहाँ खड़ा रहे तो कुछ नहीं मिलता। इस प्रकार कहते हैं कि अज्ञानी इस तरह गुणधर्म का भेद मानेगा, वह मृगतृष्णा जैसी उसकी मान्यता है। आहाहा! है? **मृगतृष्णा के जल की भाँति आभासमात्र ही होगा।** ज्ञान तो आभासमात्र रहा। अपने को न जाने, वहाँ ज्ञान कहाँ रहा? पर को जाने और अपने को न जाने... आहाहा!

इसी प्रकार दर्शनपक्ष से भी,... दर्शन पक्ष में **दर्शन केवल अभ्यन्तरप्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है,...** ऐसे दर्शनोपयोग अकेले आत्मा को ही देखे, ऐसा नहीं है। समझ में आया? **कारण नहीं है, (सर्व प्रकाशन का कारण है);...** दर्शन भी अपने को और पर को सर्व को प्रकाशन का कारण है। दर्शन अपने आत्मा को भी देखता है और वह आत्मा सर्व पदार्थ को भी देखता है। भेद नहीं करता। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। इसकी अपेक्षा तो वह दया पालो, व्रत करना और जिन्दगी नाश कर डालना। हो गया जाओ। आहाहा! चले जाना चौरासी के अवतार में।

यहाँ तो कसौटी से सत्य का निर्णय करना और सत्य का निर्णय होने पर अपने में

परीक्षा प्रधान हुई तो दूसरा कोई इससे विरुद्ध कहे तो माने नहीं, तो इसने माना कहलाये। ऐसे कोई सम्प्रदाय में परीक्षा किये बिना मान ले 'अपरीक्षक दीठे न सिद्धि होई।' यदि परीक्षा किये बिना माने तो वह सिद्धि नहीं है। ऐसा पाठ है। दूसरा कोई मिलेगा, वह तुझे कहेगा तो उसका भी सत्य मानेगा। एक भी निर्णय तो है नहीं। आहाहा!

दर्शन केवल अभ्यन्तरप्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है,... क्या कहा? ज्ञान केवल पर को ही जाननेवाला नहीं है। वह आत्मा के साथ सम्बन्ध.. ऐसे दर्शन अकेले अपने को देखे, ऐसा नहीं है। दर्शन भी... आहाहा! दर्शन केवल अभ्यन्तरप्रतिपत्ति का ही कारण नहीं है, (सर्व प्रकाशन का कारण है); (क्योंकि) चक्षु सदैव सर्व को देखता है,... चक्षुदर्शन है, वह सदा-सदैव सर्व को देखता है। सदा-सदैव-सर्व को देखता है। आहाहा! यह दृष्टान्त लिया। अपने अभ्यन्तर में स्थित कनीनिका को नहीं देखता... अपनी बारीक कणिका है, उसे नहीं देखता और पर को देखता है। बारीक कणिका नहीं देखता। ऐसा कहते हैं कि अपने को ही देखता है और पर को नहीं। तो बारीक कणिका देखता नहीं और दूसरे सबको देखता है। आँख सबको देखे और बारीक कणिका को देखती नहीं। आहाहा!

चक्षु सदैव सर्व को देखता है,... आहाहा! अपने अभ्यन्तर में स्थित कनीनिका को नहीं देखता (इसलिए चक्षु की बात से ऐसा समझ में आता है कि दर्शन अभ्यन्तर को देखे और बाह्यस्थित पदार्थों को न देखे, ऐसा कोई नियम घटित नहीं होता)। इससे, ज्ञान और दर्शन को (दोनों को) स्व-परप्रकाशकपना अविरुद्ध ही है। इसलिए (इस प्रकार) ज्ञानदर्शनलक्षणवाला... ज्ञान-दर्शन-लक्षणवाला। यदि एक ही लक्षण कहो तो दो लक्षण नहीं रहते। ज्ञानदर्शनलक्षणवाला आत्मा स्व-परप्रकाशक है। ऐसा निर्णय करके, समझकर, न्याय से तुलना करके मानना चाहिए।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन-१९१, श्लोक-२७७, गुरुवार, अषाढ़ शुक्ल १२, दिनांक २४-०७-१९८०

‘नियमसार’। अमृतचन्द्राचार्य का प्रवचनसार का यह श्लोक है।

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि-भूतं समस्तं,
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥

क्या कहना चाहते हैं ? - कि इस आत्मा का जिसे कल्याण करना हो और आत्मा की शक्ति कितनी कैसी है, और विकास होवे तो कितना होता है ? उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! आत्मा है, आत्मा। यह कहते हैं, देखो!

श्लोकार्थ : जिसने कर्मों को छेद डाला है... इतनी शक्ति उसमें है कि कर्मों को एक क्षण में छेद डाला है। उस आत्मा की इसे ज्ञान और श्रद्धा पहले करना चाहिए। इसके बिना रास्ता निकले, ऐसा नहीं है। दूसरे चाहे जितने रास्ते बतावे। अभी तो सभी साहित्य एक करना चाहते हैं। आहाहा! एक सिद्धान्त यह है कि आत्मा अपने स्वभाव में परिपूर्ण है। वह जब स्वभाव का आश्रय लेता है, तो पूर्ण आश्रय लेता है तो पूर्ण कर्म का नाश होता है। अब इमसें दो मत कहाँ है ? आहाहा! जिसे आत्मा का करना है... आहाहा! वह आत्मा...

जिसने कर्मों को छेद डाला है... ऐसी उसमें शक्ति है। आहाहा! कर्म को करना और बाँधना, यह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! जिसे कल्याण करना है, वह चीज़ कैसी है ? और उसमें ताकत कितनी है ?- यह निर्णय किये बिना उसके सन्मुख नहीं हो सकता और सन्मुख हुए बिना कर्म का नाश नहीं होता। मार्ग तो यह एक है। आहाहा! अभी बड़ा (लेख) आया है। सब एक-इकट्टे होओ, सब। बड़ा लपसिंदर आया है। यहाँ आया है। तुम कुछ लिखो। ‘कनकविजय’ श्वेताम्बर का कोई साधु है। सब हजारों नाम दिये हैं। यह अमुक जगह साधु, अभी स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी, दिगम्बर, अन्यमति जैनमति सब। सबका ऐसा है कि तुम करते हो, वह ठीक करते हो। आहाहा! यहाँ लिखा है, तुम मेरे लिये कुछ लिखो। क्या लिखें ? यहाँ किसी को लिखते नहीं, और लिखना, वह क्रिया भी जड़ की है। यहाँ तो आत्मा का करना है। भाषा भले जड़ का नाश करने की

कही। परन्तु जड़ का नाश किया नहीं। अपनी परिणति अल्पज्ञ थी, उसका सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से नाश किया है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा कब जँचे? और मनुष्यपने बिना ऐसी पूर्ण शक्ति कभी किसी गति में उत्पन्न नहीं होती। आहाहा!

पहले यहाँ प्रतीति में लेना कि मेरा आत्मा सर्व कर्म का नाश करनेवाला है और कर्म को छेद डाले, तब **ऐसा यह आत्मा भूत, वर्तमान और भावी...** यह तो तीनों काल को जाननेवाला है। आहाहा! अब ऐसी धर्म की बात, भाई! इसमें इकट्ठा करो, सब इकट्ठा करो। बड़ी पुस्तक है। कितने हजारों नाम सबके (दिये हैं)। हमें ऐसा कहते हैं कि करने में ये सब सहमत हैं। मेरे ऊपर लिखो। आप सहमत करो। कुछ लिखो। क्या लिखें? भाई! आहाहा!

जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ अपनी परिपूर्ण शक्ति से भरपूर है। आहाहा! उसकी प्रतीति बिना स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ नहीं होता और कर्म का नाश नहीं होता। आहाहा! सर्व जगत को कल्याण करना हो तो उसकी आत्मा चीज़ कितनी, कैसी है? और उसमें गुण कितने हैं? और उसके गुण के आश्रय से अशुद्धता का नाश हो, तब तीन काल को जानता है। आहाहा! यह पहले में पहला विचार, प्रतीति और मनन में यह लेना चाहिए। लो, आया पहला। आहाहा! क्या कोई दूसरा रास्ता है?

जो वस्तु है, जैसा स्वभाव अन्दर है और भगवान ने जैसा अन्दर देखा है यह इस आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल... आहाहा! भरे पड़े हैं। वह पर के सम्बन्ध से अज्ञानपने के कारण विकारादि करता है। अपना स्वभाव विकार करना, ऐसा है नहीं। यदि विकार करने का स्वभाव होवे तो विकार का नाश करके कभी परमात्मा नहीं हो सकता। आहाहा! पहले में पहला.. आहाहा! **जिसने कर्मों को छेद डाला है...** ऐसे सर्वज्ञ लिये। प्रतीति में पहले सर्वज्ञ लिये। आहाहा! आत्मा ऐसा है। एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाननेवाला आत्मा है। कर्म का नाश करके यह करता है और यह बनता है। आहाहा! बाकी सब बातें हैं। लाख बात करे। छहढाला में आता है न? 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो छोड़ी जगत द्वंद्व-फंद निज आतम ध्याओ।' वस्तु तो यह है।

अब जिसे सर्वज्ञ ने देखा जो आत्मा और उसकी शक्ति और सामर्थ्य देखी,

तदनुसार जिसकी प्रतीति में नहीं आता, तो वह उस रास्ते नहीं जाता। वह प्रतीति में नहीं आता तो अन्तर में नहीं जाता। अन्तर में गये बिना राग का नाश और अज्ञान का नाश नहीं होता। आहाहा! मार्ग तो सीधा है। आहाहा! आत्मा है या नहीं? है तो कितना है? प्रदेश से भले असंख्य प्रदेश है। परन्तु भाव से? भाव से अनन्त भाव (स्वरूप है)। संख्या से अनन्त गुण और एक-एक गुण में अनन्त शक्ति और अनन्त सामर्थ्य है। ऐसा पहले स्वीकार किये बिना, कर्म का नाश करनेवाला था और सर्वज्ञ है, यह बात नहीं बैठती। समझ में आया?

सर्वज्ञ परमात्मा हैं.. ओहो! त्रिलोकनाथ एक समय में तीन काल-तीन लोक को देखते हैं। आया न? कर्मों को छेदकर.. आहाहा! एक समय में भूत, भावी और वर्तमान। आहाहा! इन तीनों काल के कर्मों को छेदकर। ऐसी उसमें ताकत है। ऐसा वह है। ताकत का अर्थ (यह कि) ऐसा ही आत्मा है। आहाहा! आत्मा ऐसा है - ऐसा स्वीकार किये बिना दूसरे प्रकार से पकड़ में आवे, और दूसरे प्रकार से कहे कि सब इकट्ठे हो जाओ। किस प्रकार इकट्ठे हों? आहाहा!

पहले तो जिसका कल्याण करना है, वह चीज कौन है? उसमें ताकत कितनी है? शक्तियाँ कितनी हैं? उस तत्त्व के ख्याल बिना तत्त्व-सन्मुख वीर्य काम करेगा नहीं। 'रुचि अनुयायी वीर्य।' यदि वह आत्मा अनन्त गुण, अनन्त शान्ति आदि है, ऐसी यदि रुचि हो तो रुचि अनुयायी वीर्य। रुचि है, वहाँ वीर्य काम करेगा। इसमें कोई पर का करना और पर की सेवा करना... आहाहा! यह तो कुछ आया नहीं। आहाहा! सेवा—स - एव। सेवा यह। स - एव। स-एव = सेवा। तू जैसा है, वैसा मानना, यह सेवा है। शान्तिभाई! मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा! यह कोई पक्ष नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा, वैसा कहा; तो यह चीज जैसी है, वैसी पहले ख्याल में न आवे, उसकी महत्ता, महिमा और उसका महात्म्य ज्ञान में, प्रतीति में, ख्याल में, विश्वास में, रुचि में न आवे, तब तक अन्तर्मुख का पुरुषार्थ होगा नहीं। तब तक पुरुषार्थ बाहर की ओर ढला हुआ रहेगा। आहाहा! मार्ग तो ऐसा है; प्रभु!

मुमुक्षु : पहले तो आगम ज्ञान से प्रतीति हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले ख्याल तो करे कि यह ऐसा आत्मा है। भगवान जैसा

कहते हैं, ऐसा है। जैसा है, वैसा कहा है और जैसा कहा, वैसा मानना। मानने के पश्चात् अन्दर जाकर अनुभव करना। इसके बिना कोई मार्ग है नहीं। कोई मार्ग ही नहीं है कि इसने यह मार्ग किया, इसने यह मार्ग किया, इसने यह मार्ग किया। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ।' आहाहा!

देहदेवल में भगवान आत्मा सब भगवान है। भगवान परमेश्वर आत्मा है। उस परमेश्वर की शक्ति और श्रद्धा जब होती है तो परमेश्वर की ओर उसका झुकाव होता है। उसका माहात्म्य न आवे, तब तक परसन्मुख का झुकाव हटता नहीं। आहाहा! आचार्य ने थोड़े शब्दों में गजब काम किया है। 'शुद्धोपयोग अधिकार' है न? पूर्ण पर्याय प्रगट हो, ऐसी तेरी चीज़ है। तेरी चीज़ ही ऐसी है। वह कोई नवीन चीज़ नहीं है। आहाहा!

कर्म को छेदकर तेरी शक्ति में केवलज्ञान भरा है, तो वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का जानना तुझे व्यक्त-प्रगट होगा। आहाहा! तब तेरा धर्म का काम पूरा हुआ। आहाहा! इसमें बाहर का कुछ करने का नहीं आया? आहाहा! परन्तु बाहर में वह है कहाँ? जहाँ है, वहाँ उसका पुरुषार्थ करना चाहिए न? आहाहा! भाषा समझ में आती है न? जिसका कल्याण करना है, जहाँ है, जैसा है; वैसा ख्याल में आये बिना उस ओर ढलता नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

पहले शब्द में ही इतना भरा है। लो! जिसने कर्मों को छेद डाला है... इसमें आत्मा और कर्म की दो अस्ति सिद्ध की। आत्मा है और कर्म भी है; और कर्म पर है, आत्मा स्व है। ऐसा यह आत्मा भूत, वर्तमान और भावी... गत काल, वर्तमान और भविष्य। समस्त विश्व को (अर्थात् तीनों काल की पर्यायों सहित...) आहाहा! तीनों ही काल की पर्याय द्रव्य में जो है, उस सहित। आहाहा! समस्त (पर्यायों सहित समस्त पदार्थों को) युगपत् जानता होने पर भी... समस्त पर्यायों को-ऐसी भाषा ली है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो द्रव्य है, उसकी क्रमबद्धपर्याय होगी। भगवान ने ऐसा देखा। जैसा देखा, वैसा होगा। देखा, इसलिए होगा - ऐसा नहीं। देखा, इसलिए होगा - ऐसा नहीं। यह तो देखा। क्या देखा? - कि तीन काल की पर्यायें। कौन सी? जो पर्याय भूतकाल की, वर्तमान और भविष्य की थी, उन पर्यायों को देखा। ऐसे आत्मा के ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य इतना है। आहाहा! उसके सन्मुख तो देखना नहीं, उसकी दरकार नहीं और बाहर की दरकार। मन्दिर बनाओ और यह करो और पैसा खर्च करो, पुस्तकें बनाओ। लो न!

यह आज आया, बड़ा लेख आया है। ओहोहो! सब जितनी पुस्तकें अभी, सबको इकट्ठा करो। आहाहा! पुस्तक में यह चीज़ होवे तो एक है। आहाहा! तो सब एक हो जाए। परन्तु ऐसे एक नहीं होते। सब केवलज्ञान पाकर कर्म को छेदकर अकेला आत्मा एकसाथ नहीं रहता। तू तेरा कर।

तू है या नहीं? आत्मा और कर्म दो है। आत्मा ने अपने सामर्थ्य से कर्म का नाश किया। नाश किया तो तीन काल की पर्याय को देखा। आहाहा! उसमें ऐसा भी आया कि जैसी तीन काल की क्रिया देखी, वैसी वहाँ पर्याय होगी। आहाहा! यह कोई देखी, इसलिए होगी - ऐसा नहीं। वहाँ होगी, ऐसा देखा। तीन काल के जो द्रव्य हैं, उनकी पर्याय तीन काल में जैसी देखी, जब होगी, वहाँ (वैसी) देखी। जैसा देखा, वैसा वहाँ होगा, है? आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म। लोगों ने क्रियाकाण्ड में चढ़ा दिया और ऐसी बात को एकान्त कहकर उड़ा दिया है। भाई! मार्ग ऐसा एकान्त है। आहाहा!

आत्मा के अतिरिक्त एक राग का रजकण तेरी चीज़ नहीं है। तुझे किसमें करना है? राग में करना है? रजकण में करना है? आत्मा में करना हो तो आत्मा में राग और रजकण है नहीं। वह तो कर्म को छेदकर केवलज्ञान प्राप्त करे, ऐसी ताकतवाला है। आहाहा! भूत और भावी और तीन काल की पर्यायों सहित समस्त पदार्थों को युगपद जानता होने पर भी... आहाहा! उन सब पर्यायों को, एक समय में पर है और पर को जानने पर भी (राग नहीं होता)। वरना पर को जाने तो राग होता है। स्व के अतिरिक्त पर को जानने में तो राग होता है। केवली को जाने तो भी राग होता है।

यहाँ कहते हैं कि ऐसा युगपत् जानता होने पर भी मोह के अभाव के कारण... यह कारण। कारण यह है। आहाहा! मोह के कारण से। पहले कहा न, कर्मों को छेद डाला। यहाँ ही कहा। ऐसा उपदेश है, भाई! मार्ग ऐसा है। आहाहा! भगवान आत्मा इतनी ताकत रखता है कि कर्म का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर सके, ऐसी उसमें ताकत है। आहाहा! कर्म शब्द से अशुद्ध परिणति। कर्म तो निमित्त से कथन किया। कर्म तो जड़ है। जड़ तो उनके कारण से बँधते हैं, परन्तु उनके बन्ध का कारण जो अशुद्धपरिणति है, उसका एक क्षण में नाश करके तीन काल-तीन लोक को जाने-देखे, ऐसी तेरी शक्ति है। आहाहा!

पर का करना, वह तो तुझमें है नहीं, परन्तु तुझमें सम्यग्दर्शनादि अर्थात् कि ऐसी

वस्तु है - ऐसी प्रतीति और भान हुआ, तब से रागादि का कर्ता भी नहीं। आहाहा! पर का कर्ता तो कभी नहीं, परन्तु आत्मज्ञान-धर्म जहाँ पहली श्रेणी का हुआ, तब से रागादि का कर्ता भी नहीं। क्यों? स्वयं निर्मलानन्द प्रभु, निर्मल का पिण्ड (है), वह मलिन क्षणिक विकार किसलिए करे? विकार करे तो पूरा द्रव्य विकारी हो जाए। ऐसा तो होता नहीं। आहाहा! ऐसा उपदेश है। यह कुछ करना कि यह कर... यह कर... (तो खबर भी पड़े)। परन्तु यह कहा न, यह करना। कर्म को छेदना - यह करना नहीं है? कब छिदते हैं? आत्मा अपने स्वरूपसन्मुख के सामर्थ्य की ओर झुके तो कर्म छिद जाते हैं। तो कर्म का नाश हो जाए तो तीन काल का ज्ञान होता है। तीन काल की पर्याय उसके ज्ञान में ज्ञात हो जाती है।

जगत के पदार्थों की तीन काल की पर्यायें केवलज्ञान में ज्ञात होती हैं। इस हिसाब से भी जहाँ पर्याय होगी, वहाँ होगी। आहाहा! क्रमबद्ध तो है ही। आहाहा! परन्तु ऐसा निर्णय करनेवाला अपने ज्ञायकस्वभाव-सन्मुख जाता है, तब यह क्रमबद्ध और भगवान ने देखा, वैसा होगा - ऐसा निर्णय होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग! यह जैनमार्ग ऐसा! दया पालना, व्रत पालना, एक-दूसरे की सेवा करना, एक-दूसरे पर समता रखना। समता तेरे ऊपर रख न! आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! दुनिया को एकान्त लगता है। एकान्त है.. एकान्त है... यह कोई व्यवहार को पालते नहीं। व्यवहार नहीं आया? कर्म को छेद डाला, यह व्यवहार नहीं आया? परद्रव्य का नाश कर डाला। अरे! अशुद्धता का नाश किया, यह भी व्यवहार आया। आहाहा!

कहते हैं कि तीन काल-तीन लोक को जाने, इतनी अधिक जानने की शक्ति खिल गयी होने पर भी मोह के अभाव के कारण... मोह के अभाव के कारण, पररूप से परिणमित नहीं होता... रागरूप परिणमित नहीं होता। आहाहा! यहाँ तो आत्मा की बात है, भगवान! करना तो यह है। करना इसे है और करना यह है। बाकी इसके अतिरिक्त यह आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता। राग का कर्ता भी नहीं है। यह तो ज्ञायकस्वरूप है। ज्ञायकस्वरूप हुआ। जब त्रिकाल का ज्ञान हुआ तो तीन काल-तीन लोक की पर्याय को देखता है, परन्तु मोह के अभाव के कारण राग नहीं होता। आहाहा! इतना सब... आत्मा सम्बन्धी की बात है।

आत्मा परन्तु आत्मा न होवे तो दूसरी (बात) है कहाँ? आहाहा! आत्मा की बात न होवे तो दूसरी है कहाँ? एक बार कहा था। बहुत वर्ष पहले (संवत्) १९८५ के वर्ष।

एक समय का ज्ञान – यह चीज़ जगत में है, बस। क्योंकि एक समय के ज्ञान में पूरा द्रव्य-गुण और सर्व अनन्त पर्यायें तथा तीन लोक तीन (काल) ज्ञात होते हैं, तो एक ही पर्याय जगत में है, वही वस्तु है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

‘कर्म को छेदकर’- इसमें यह बताया। एक समय की एक पर्याय कर्म का नाश करके, अपनी जो शक्ति थी, वह व्यक्त हुई तो उसकी एक ही पर्याय में पर्याय, पर्याय को जाने; पर्याय, द्रव्य-गुण को जाने; पर्याय दूसरी अनन्त पर्यायों को जाने; पर्याय दूसरे द्रव्य को जाने। आहाहा! तो एक पर्याय से बड़ा रहा कौन अब? उन अनन्त पर्यायों का पिण्ड द्रव्य बड़ा है। परन्तु एक पर्याय... आहाहा! इतनी ताकतवाला तेरा आत्मा है। आहाहा! उससे बड़ा द्रव्य है, बस! यह तो तेरा द्रव्य बड़ा तेरा है। एक पर्याय की इतनी ताकत में पूर्ण आ गया तो तेरे द्रव्य की तो क्या बात करना? प्रभु! आहाहा! लोगों को विश्वास आना कठिन पड़ता है। कुछ करना, उसमें उन्हें ठीक पड़ता है। जो इसमें नहीं है, यह नहीं है, उसे करना, उसमें इसकी नजर पड़ती है और कुछ होता है – ऐसा मानता है। परन्तु जानना-देखना होता है, वह कुछ किया जाता है अन्दर जानना-देखना, उसका इसे विश्वास नहीं आता। आहाहा!

मोह के अभाव के कारण पररूप से परिणमित नहीं होता, इसलिए अब, जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को... आहाहा! जिसने समस्त ज्ञेयाकार जितने लोकालोक के हैं अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार द्वारा... वह सब विकसित पर्याय ख्याल में आ गयी। ज्ञप्ति के विस्तार द्वारा स्वयं पी गया है... आहाहा! अपने आत्मा की इतनी सामर्थ्य है कि कर्म का नाश करके एक समय की पर्याय में पूरा लोकालोक—लोक और अलोक, भूत-भविष्य और वर्तमान तीन काल पी गया। आहाहा! पी गया अर्थात् क्या? जानने में आया। आहाहा! एक समय की पर्याय में... आहाहा! शरीरप्रमाण क्षेत्र छोटा, वह पर्याय का क्षेत्र। जाने तीन लोक-तीन काल। आहाहा! ऐसी पर्याय को पी गया है। इसलिए ऐसा कहा कि इतनी पर्याय तो एक समय में सम्पूर्ण ज्ञात हो गयी। कोई बाकी रही नहीं। आहाहा! ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपद् होता है – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। एक समय में सत् में होता है। एक समय में जाने और दूसरे समय में देखे, प्रभु! ऐसा भेद नहीं होता। आहाहा! ऐसी ताकत, एक समय में जाने, उसी समय में देखे। तीन काल-तीन लोक की पर्याय पी गया अर्थात् जानने-देखने में आ गया। आहाहा! अब ऐसा

उपदेश! कुछ करने का कहे कि दया पालो, भक्ति करो, व्रत करो, छह परबी खाना नहीं, कन्दमूल खाना नहीं, ब्रह्मचर्य पालना। अरे! भगवान! यह सब होता है, परन्तु यह सब नैतिक-नैतिक शुभभाव की क्रिया है। यह कोई (धर्म नहीं है)। आहाहा!

सहज स्वभाव... भगवान सहज स्वभाव। कुछ प्रगट होना और नाश होना – ऐसा जिसमें है नहीं, ऐसा नित्यस्वभाव। वह जब पर्याय में ख्याल में आया... आहाहा! तब लोकालोक ज्ञात हो गया। वह ज्ञायक किसका करे? भगवान दूसरे की दया पालन करे या नहीं? दया पालने का उपदेश दे न, उपदेश? उपदेश दे या नहीं? आहाहा! उपदेश वाणी है। वाणी की पर्याय तो ज्ञान में आ गयी है। आहाहा! तीन काल-तीन लोक ज्ञान में ज्ञात हो गया है। किसका करे? आहाहा!

अरे रे! जैन में जन्मकर जैन परमेश्वर ने आत्मा कहा, उसकी विचारश्रेणी नहीं, विचारधारा में रुकना नहीं और सिरपच्ची में दूसरे सब में रुके। आहाहा! और उसमें माने कि कल्याण होगा। आहाहा! इसीलिए यहाँ का एकान्त कहते हैं न? एकान्त ही है, प्रभु! तू कहता है, वह भले, तू भी वैसा ही है, नाथ! तुझे खबर नहीं। तुझमें भी एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानने की शक्ति है और कर्म का नाश करने की एक समय में तुझमें शक्ति है और तू इस तीन काल को जाने, कोई पर्याय ज्ञात हुए बिना न रहे, ऐसा तू है। भगवान! सब आत्मा ऐसे हैं। आहाहा! इतनी तेरी विशालता, इतनी तेरी महत्ता तुझे न जँचे, यह तो कलंक है। आहाहा! इतनी महत्ता और महिमा इसकी है। है, ऐसा अस्तित्व है। आहाहा! ऐसा अस्तित्व जब न जँचे तो तूने क्या किया? आहाहा!

तेरी पूर्ण चीज़ है, उसकी भी प्रतीति नहीं। तेरे घर में पूर्ण भरा हुआ है, उस घर की प्रतीति नहीं और दूसरे की प्रतीति करने जाए। आहाहा! गाथा में आचार्य का कथन बहुत सूक्ष्म। दिगम्बर सन्तों की वाणी... आहाहा! उसमें अमृतचन्द्राचार्यदेव और पद्मप्रभमलधारिदेव, ओहोहो! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, प्रभु! तेरी चीज़ की महिमा है। तुझे जो परसन्मुख की महिमा किसी चीज़ पर आती है, वह सब जाननेयोग्य है, उसकी महिमा क्या करता है? तुझसे (भिन्न) परचीज़ जो है – पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, कीर्ति, वह तो जाननेयोग्य है। जाननेयोग्य में मेरा मानता है। आहाहा! यह संसार में भटकने की बड़ी भ्रमणा है। आहाहा! इसमें कोई इन्कार करे, ऐसा नहीं है, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा!

आठ-आठ वर्ष के बालक अपनी चीज़ को अन्तर में जानते हैं। आहाहा! उग्र की आवश्यकता नहीं। आठ वर्ष का बालक उसकी महिमा में अन्दर उतर जाता है, केवलज्ञान ले लेता है। आहाहा! अरे! प्रभु! इतनी तेरी ताकत और तू हीनरूप से मानकर रुक गया है। प्रभु! कलंक है। आहाहा! तुझे तेरी शक्ति की महिमा की खबर नहीं। तेरी शक्ति की महिमा कितनी है, इसकी खबर नहीं, प्रभु! तुझे शंका है! आहाहा! अभी तो केवलज्ञान में केवलदर्शन में शंका करे। आहाहा! और आगे-पीछे करे। एक समय में जाने और दूसरे समय में देखे। अरे! प्रभु! ऐसा भंग नहीं होता। अखण्डानन्द का नाथ प्रभु—द्रव्य अखण्ड, गुण अखण्ड, पर्याय अनन्त एक समय में अखण्ड जाने। आहाहा! वह पर को जानने पर भी पररूप परिणमता नहीं।

इसलिए अब, जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को... समस्त ज्ञेय अर्थात् जानने में जो आवे वह और आकार अर्थात् स्वरूप। ज्ञेयाकारों को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार द्वारा स्वयं पी गया है... आहाहा! भगवान हो गया। वह भगवान था। भगवानपना गुप्त करके रखा था। आहाहा! सर्वज्ञपना, सर्वदर्शीपना तो इसका स्वभाव है—शक्ति है—गुण है। गुप्त रखा था, उसे प्रगट किया। आहाहा! उसमें नया ज्ञया किया? नयी चीज़ ज्ञया हुई? आहाहा! है, उसे प्रगट किया है। है तो तीन काल से। जो है, उसे एक समय में प्रगट किया है। तीन काल—तीन लोक को जानता है। आहाहा!

ऐसे तीनों लोक के पदार्थों को... आहाहा! पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ... भिन्न-भिन्न है भी जानता है और एकसाथ है, उन्हें भी जानता है। आहाहा! पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान तो पृथक्-अपृथक् सभी चीज़ को जानता है। आहाहा! ऐसी बात। इसमें कोई दृष्टान्त या बाहर की दलील (काम नहीं आती)। यह करना आया, परन्तु अन्दर करना आया। जहाँ तू है... वह। आहाहा!

मुमुक्षु : अपृथक् में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय लिये जाते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब जानता है। यह तो ज्ञान का स्वभाव बताना है। ऐसा कि पृथक् / भिन्न हो, उन्हें भी जाने और अपृथक् सर्व को जाने। ऐसा नहीं कि अमुक को जाने। सर्व को जाने। आहाहा! ऐसी तेरी चीज़ है। ऐसी तेरी चीज़ क्या, तू ऐसा ही है।

आहाहा! वह यहाँ जरा बीड़ी में-तम्बाकू में, पैसे में और स्त्री में (रुक गया) । आहाहा! अरे प्रभु! तेरी शक्ति तो केवलज्ञान लेने की है न, नाथ! प्रभु! यह तू कहाँ रुका? आहाहा!

प्रभु योगीन्दुदेव कहते हैं, प्रभु! तुझे भव करना कलंक है । आहाहा! तीन लोक का नाथ एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसे प्रभु को भव करना, (कलंक है) । आहाहा! ऐसी बात मिलना मुश्किल पड़े । आहाहा! यह करो, यह करो, यह करो... आहाहा! प्रभु! तुझमें अन्दर इतनी शक्ति है न, नाथ! तुझे भगवानरूप से तो बुलाते हैं । आहाहा! समयसार की ७२ गाथा में । ७२ गाथा में, भगवान आत्मा - ऐसा कहते हैं । आहाहा!

शुभ और अशुभभाव, यह अशुचि और मैल है । भगवान! तू तो मैलरहित है न! आहाहा! इस तरह आचार्य ने (आत्मा को) भगवानरूप से बुलाया है । आहाहा! वह भगवान तुझे सुनने में भी प्रतीति न आवे... आहाहा! और अन्तर में रुचि न आवे तो अन्तर में जाने की चारित्रदशा कहाँ से आयेगी? आहाहा! जो चीज़ जानने में नहीं आयी, उस चीज़ में रमना—एकाग्र किस प्रकार होगा? उसे चारित्र नहीं होता । आहाहा! समझ में आया? बात दूसरी ।

वे कहते हैं, सब इकट्ठे होओ... इकट्ठे होओ... ओहोहो! नाम लिखे हैं, पूरे हिन्दुस्तान के विद्वानों के नाम और धर्म के नाम । सबके नाम बताकर ऐसा कहते हैं कि सब एक होओ... एक होओ... सब एक हो जाओ । एक कहाँ से हो? प्रभु! एक द्रव्य के एक गुण भी इकट्ठे नहीं होते । एक द्रव्य का एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता । आहाहा! एक द्रव्य की एक समय की पर्याय दूसरी पर्याय के साथ एक नहीं होती, प्रभु! आहाहा! प्रभु! तेरी इतनी सामर्थ्य है । यह तो भगवान ने जैसा जाना, वैसा कहा है । भगवान ने कुछ किया नहीं है; जाना है (कि) प्रभु! तेरी एक समय की पर्याय में दूसरी पर्याय का सम्बन्ध नहीं है । आहाहा! ऐसा मैं देखता हूँ । आहाहा! प्रभु! तू भी भगवान जाननहार है, परन्तु अटका है, वह तुझे कलंक है । आहाहा! ऐसा कहकर इसे परमात्मा बनाना है । आहाहा! एक समय में भेद पाड़ना, ऐसा नहीं । एक समय में जाने और देखे, ऐसा तू भगवान है । ऐसा भगवान है ही । है, ऐसा हो जा । आहाहा! आहाहा! यह कहा न? पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है । पर से मुक्त है । जाने सबको, तो भी पर से मुक्त है ।

श्लोक-२७७

तथाहि -

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावत् सहज-परमात्मान-मेकं विदित्वा,
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्वृतं ज्ञेयजालम् ।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा,
ताभ्यां देवः स्व-पर-विषयं बोधति ज्ञेय-राशिम् ॥२७७॥

और (इस १६१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(वीरछन्द)

एक सहज निज परमात्मा को करे प्रकाशित ज्ञान प्रकाश ।
और त्रिलोक अलोक निवासी ज्ञेयों को भी करे प्रकाश ॥
नित्य शुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन भी स्व-पर प्रकाशक है ।
इनके द्वारा आत्मदेव भी निज-पर ज्ञेय प्रकाशक है ॥२७७॥

[श्लोकार्थः —] ज्ञान एक सहजपरमात्मा को जानकर लोकालोक को अर्थात् लोकालोकसम्बन्धी (समस्त) ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है (-जानता है) । नित्यशुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन (भी) साक्षात् स्व-परविषयक है (अर्थात् वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है) । उन दोनों (ज्ञान तथा दर्शन) द्वारा आत्मदेव स्व-परसम्बन्धी ज्ञेयराशि को जानता है (अर्थात् आत्मदेव स्व-पर समस्त प्रकाश्य पदार्थों को प्रकाशित करता है) ॥२७७॥

श्लोक -२७७ पर प्रवचन

(२७७ श्लोक) और (इस १६१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

ज्ञानं तावत् सहज-परमात्मान-मेकं विदित्वा,
 लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्रूपं ज्ञेयजालम् ।
 दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा,
 ताभ्यां देवः स्व-पर-विषयं बोधति ज्ञेय-राशिम् ॥२७७॥

आहाहा! मक्खन आया, भाई! मक्खन आज तो। ज्ञान एक सहजपरमात्मा को जानकर... आहाहा! प्रभु! तेरा ज्ञान तुझे सहज.. आहाहा! ज्ञान... अर्थात् आत्मा। एक सहजपरमात्मा को जानकर... आहाहा! अपने स्वाभाविक आत्मा को जहाँ पूर्ण जाना, वह लोकालोक को अर्थात् लोकालोकसम्बन्धी (समस्त) ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है... एक भगवान को जाना और तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को जाना। आहाहा! इतनी इसकी महिमा! परमेश्वर है, प्रभु है, परमात्मा है, भगवान है। आहाहा! ऐसा जो हुआ, वह ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है... तीन काल में जगत में जितने ज्ञेय हैं, उन सर्व को जानता है। सर्व को जानता है, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। वह ज्ञानस्वभाव राग को करे और पर को करे, यह कहाँ से बैठे? प्रभु! यह बात कहाँ से बैठे? कहो, हरिभाई! जो ज्ञान तीन काल-तीन लोक की पर्याय को केवलज्ञान जाने, उस ज्ञान से तुझे काम कराना है, पर का, देश का सुधार करो, सेवा करो।

मुमुक्षु : कब करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! पहले रामजीभाई सेवा करते थे। वहाँ डेबरभाई आते थे। इनके घर में पूछने आते थे। एक महीने जेल में जाना पड़ा था। आहाहा! दुनिया की यह... आहाहा!

प्रभु! तू ज्ञानस्वरूप है न! तो तू जाननेवाला है या किसी का करनेवाला है? आहाहा! ज्ञान एक सहजपरमात्मा को जानकर... एक आत्मा को यहाँ जाने, वहाँ लोकालोक को जानता है - ऐसा कहते हैं। एक को जाना, एक प्रभु आत्मा पूर्ण है, उसको जाना, उसने लोकालोक को जाना। आहाहा! एगं जाणहि सव्व जाणहि। आहाहा! बहुत कठिन काम। फेरफार बहुत हो गया। बड़ा लेख (आया है)। ओहोहो! कितने सबके नाम दिये हैं। तेरापंथी के, स्थानकवासी, श्वेताम्बर, मन्दिरनवासी। सब इतनों-इतनों ने इसमें उनका (अभिप्राय दिया है)। तुम यह करना चाहते हो, इसलिए अच्छा। इकट्ठे करो,

सबको इकट्ठे करो। एकरूप कब हो? प्रभु!

तेरे ज्ञान की पर्याय भिन्न-भिन्न, खण्ड-खण्ड होती है, उसे एकरूप कर। आहाहा! तेरी ज्ञानरूप पर्याय पर को जानने में खण्ड-खण्ड होती है, प्रभु! तुझे नुकसान है, प्रभु! आहाहा! उस खण्ड-खण्ड को रोक, अखण्ड बना। आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल पड़ता है। आहाहा! प्रभु का मार्ग तो यह है। अनन्त तीर्थकर अनन्त केवली, वर्तमान भगवान विराजमान हैं। वे यह बात करते हैं। यह व्यवहार से कहा जाता है। भाषा में आता है न, भाषा में?

ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है (-जानता है)। नित्यशुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन... क्षायिक दर्शन लिया। ऐसा कि ज्ञान सर्व को जाने तो दर्शन? क्षायिक दर्शन (भी) साक्षात् स्व-परविषयक है... तू कहता है कि स्व को जाननेवाला दर्शन और पर को जाननेवाला ज्ञान। तो यहाँ तो कहते हैं कि दर्शन स्व-पर विषयक दोनों को (देखनेवाला) जाननेवाला है। ज्ञान के साथ दर्शन हुआ। तुझे तेरे में देखना है, पर में देखना नहीं, प्रभु! यह बात करते हैं। आहाहा! तेरे में तुझे देखने से तूने एक को देखा तो सर्व को देखा। और उसके साथ ज्ञान के साथ दर्शन हुआ, वह भी स्व-परप्रकाशक है। नहीं कि दर्शन अकेला स्वप्रकाशक है। आहाहा! सन्तों ने करुणा करके.. आहाहा! यह विकल्प आया और यह लेखन आया। उन्हें कहाँ पड़ी है? उससे कहाँ लाभ मानते हैं कि हमने किया, यह हमें लाभ होगा। अरे! पर को लाभ होगा, यह भी उन्हें कहाँ है? आहाहा! वीतरागमार्ग अलौकिक है, भाई! दुनिया की पूरी पद्धति की अपेक्षा इसकी पद्धति ही अलग है। आहाहा!

यह कहते हैं साक्षात् स्व-परविषयक है (अर्थात् वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है)। ज्ञान जैसे स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है, वैसे दर्शन भी स्व-पर को प्रकाशित करता है। आहाहा! दर्शन स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है - ऐसी बात नहीं है। आहाहा! यह तो अन्दर के अन्दर गुणभेद का भी निषेध है। आहाहा! गजब बात! तो तू और वह, दो चीजें एक कहाँ से हुई? गुणभेद का निषेध। दो पर्याय एकसाथ सर्व को देखे। आहाहा! ज्ञान एक समय देखे और दर्शन दूसरे समय में देखे - ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : तब तो आधे काल ज्ञानरहित हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अल्प काल है, यह कहते हैं न। भगवान को आधा काल ज्ञान में और आधा काल दर्शन में रहे। श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं। पहले समय में ज्ञान, दूसरे समय में दर्शन, तीसरे समय में ज्ञान, चौथे समय में दर्शन, ऐसे भगवान को आधा काल ज्ञान और आधा काल दर्शन—श्वेताम्बर ऐसा कहते हैं। पहले समय में ज्ञान, दूसरे समय में दर्शन, तीसरे समय में ज्ञान, चौथे समय में दर्शन—इस प्रकार आधे काल ज्ञान, आधे काल दर्शन। आहाहा! आधा काल ज्ञान और आधा काल दर्शन। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, एक ही समय में स्व-परप्रकाशक साक्षात् उन दोनों (ज्ञान तथा दर्शन) द्वारा... इन दोनों ज्ञान और दर्शन द्वारा आत्मदेव स्व-परसम्बन्धी ज्ञेयराशि को जानता है... पहले गुण का कहा कि ज्ञान स्व-पर को जानता है, दर्शन स्व-पर को (देखता) जानता है। अब आत्मा का कहा कि जैसे ज्ञान-दर्शन स्व-पर को जानता है, वैसे आत्मा भी स्व-पर को जानता है। गुण स्व-पर को जानता है तो आत्मा भी स्व-पर को जानता है। पहले प्रश्न आया था न? - कि दर्शन स्व को देखता है, ज्ञान पर को जानता है। तब ज्ञान अपने को जानता नहीं, अन्धा रहा। ऐसा नहीं है। ज्ञान भी स्व-पर को जानता है, दर्शन भी स्व-पर को जानता (देखता) है, आत्मा भी स्व-पर को जानता है। जैसे गुण स्व-पर को जानता है, वैसे द्रव्य भी स्व-पर को जानता है - ऐसा कहते हैं। देखा!

उन दोनों (ज्ञान तथा दर्शन) द्वारा आत्मदेव स्व-परसम्बन्धी ज्ञेयराशि को जानता है (अर्थात् आत्मदेव स्व-पर समस्त प्रकाश्य पदार्थों को प्रकाशित करता है)। भगवान आत्मा, जिसके गुण ऐसे हैं तो द्रव्य भी ऐसा है कि स्व-पर को जानता-देखता है। यह उसकी शक्ति और स्वभाव है। किसी का करना और किसी को जानना, यह भी अभी व्यवहार है। करने का तो कुछ है नहीं, परन्तु पर को जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। तू तुझे जाने-देखे, ऐसा प्रभु! तेरा स्वभाव है। विशेष कहेंगे.....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१६२

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।
 ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥
 ज्ञानं पर-प्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।
 न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६२॥

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियम् । केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य चात्मप्रकाशकस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सहाविन्ध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत् । आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव, निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथवा यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते, अतस्त्रिभुवने न कश्चिदचेतनः पदार्थः इति महतो दूषणस्या-वतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकं इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्म-गतमित्यभिहितम् । ततः खल्विदमेव समाधानं सिद्धान्तहृदयं ज्ञानदर्शनयोः कथञ्चित् स्वपर-प्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपण्डितदेवैः -

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन ।
 ज्ञानं पूर्वापरी-भूतं सोऽय-मात्मेति कीर्तितः ॥

पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञान से दृग् भिन्न रे ।
 'परद्रव्यगत नहीं दर्श!' वर्णित पूर्व तब मंतव्य रे ॥१६२॥

अन्वयार्थः [ज्ञानं परप्रकाशं] यदि ज्ञान (केवल) परप्रकाशक हो [तदा] तो [ज्ञानेन] ज्ञान से [दर्शनं] दर्शन [भिन्नम्] भिन्न सिद्ध होगा, [दर्शनम् परद्रव्यगतं न भवति इति वर्णितं तस्मात्] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत (परप्रकाशक) नहीं है, ऐसा (पूर्व सूत्र में) वर्णन किया गया है ।

टीका : यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्व पक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा; (क्योंकि) सह्याचल और विंध्याचल की भाँति अथवा गंगा और श्रीपर्वत की भाँति, परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार होगा ? जो आत्मनिष्ठ (-आत्मा में स्थित है, वह तो दर्शन ही है।) और उस ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से), शून्यता की आपत्ति ही आयेगी; अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा (अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान पहुँचेगा) वे-वे सर्व द्रव्य चेतना को प्राप्त होंगे, इसलिए तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा, यह महान दोष प्राप्त होगा। इसीलिए (उपरोक्त दोष के भय से), हे शिष्य! ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है ऐसा यदि तू कहे, तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्वप्रकाशक) नहीं है ऐसा भी (उसमें साथ ही) कहा जा चुका है। इसलिए वास्तव में सिद्धान्त के हार्दरूप ऐसा यही समाधान है कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना है ही।

इसी प्रकार श्री महासेनपण्डितदेव ने (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

यह आत्म नहिं भिन्न ज्ञान से और न इसे अभिन्न कहा।

भिन्नाभिन्न कथञ्चित है पूर्वापरभूत ज्ञान आत्मा ॥

‘[श्लोकार्थः—] आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है, (सर्वथा) अभिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्नाभिन्न है; *पूर्वापरभूत जो ज्ञान सो यह आत्मा है ऐसा कहा है।’

प्रवचन-१९२, गाथा-१६२, शुक्रवार, आषाढ शुक्ल १३, दिनांक २५-०७-१९८०

‘नियमसार’ गाथा १६२

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥

* पूर्वापर = पूर्व और अपर; पहले का और बाद का।

ज्ञानं पर-प्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।
 न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६२॥
 पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञान से दृग् भिन्न रे ।
 'परद्रव्यगत नहीं दर्श!' वर्णित पूर्व तब मंतव्य रे ॥१६२ ॥

इसकी मूल गाथा यह है । गाथा की टीका है ।

टीका : यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्व पक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है । क्या कहते हैं ? - कि ज्ञान यदि अकेला परप्रकाशक हो तो ज्ञान आत्मा से भिन्न हो जाए और दर्शन स्वप्रकाशक हो तो दर्शन पर से भिन्न हो जाए । तो ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न हो जाए । ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे । दोनों गुण भिन्न हो जाएँ । अभिन्न न रह सकें । यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्व पक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है ।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो... यह विचार भी जगत में है । आज एक पुस्तक आयी है । विद्यासागर की पुस्तक आयी है । उसमें कितना ही (लिखा है) । पहला अनन्तानुबन्धी जाती है, फिर मिथ्यात्व जाता है, मिथ्यात्व कोई वस्तु नहीं । ऐसा लेख, ऐसी प्ररूपणा । लोग भी कैसे-कैसे झेलते हैं । दूसरा क्या कुछ कहा था न ?

मुमुक्षु : केवल पुण्य करे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पुण्यभाव करे, अकेला पुण्यभाव करे तो धर्म हो जाए । छोटी उम्र में लोग दीक्षा ले । परमात्मप्रकाश नहीं अपने ? भाई का - हुकमचन्द का । उसके जैसा एक लड़का । वह क्षुल्लक हुआ । लोगों को बाह्य त्याग पर बहुत महिमा लगती है । है लड़का बहुत रूपवान और दीक्षित हुआ । छोटी उम्र का । आहाहा ! परमात्मप्रकाश, हुकमचन्दजी का है न, उसके जैसा है । बाह्यत्याग पर लोग (मोहित हो पड़ते हैं) । मूल चीज क्या है ? बाहर के साथ सम्बन्ध क्या ? एक अपना गुण, एक पर को जाने और एक अपना गुण अपने को देखे । इसका अर्थ क्या ? इसका विचार नहीं करता । अन्दर अभेद वस्तु है । अनन्त गुण का एकरूप । जो एक गुण है, वैसा दूसरा गुण है । उसमें ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे, ऐसा है नहीं ।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञान

से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा;... ज्ञान यदि पर को ही जाने और दर्शन पर को न देखे तो ज्ञान-दर्शन दोनों भिन्न हो गये। परन्तु यह विचार करने को निवृत्ति कहाँ है ? यह वस्तुस्थिति है। जिसे आत्मा साधना है, वह आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है। वही चीज़ है और उसमें एक गुण जो है, वैसा ही दूसरा गुण है, उसकी ताकत इतनी और वैसी है। ज्ञान की ताकत पर को जानने की बहुत-बहुत और दर्शन को जानना (देखना) एक ही आत्मा (- ऐसा होवे तो) यह तो दो गुणों में बड़ा अन्तर पड़ गया। आहाहा! परन्तु ऐसा विचार करता कौन है ? धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पाप के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पाप के कारण, हों! आहाहा!

मुमुक्षु : अब तो यहाँ रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो भाई सामने (बैठे हैं), सबको (लागू पड़ता है), बहुतों को पापमय ही पूरी जिन्दगी, पाप ही करना। धर्म क्या ? आत्मा क्या ? एक घण्टे सुन आवे जो वहाँ गप्प मारी हो, वह सच्चा माने। सत्य क्या है ?

इसमें भी अन्तर है कि यह आत्मा वस्तु है, इसके दो गुण अभेद हैं। उसमें एक गुण पर को ही जाने, पूरे लोकालोक को जाने और एक गुण एक द्रव्य को ही जाने। आत्मतत्त्व गुण से अभेद है, गुण-गुणी भिन्न नहीं, ऐसी इसे प्रतीति नहीं आयी। बड़ा अन्तर है। ऐसे व्रत, तप और अपवास करके मर जाए, सूख जाए बाहर की क्रिया करके, परन्तु अन्तरतत्त्व क्या है, उसकी खबर नहीं। उसके बिना एकरहित शून्य है। दूसरा बहुत उसमें विरुद्ध कुछ होगा। भाई को, हिम्मत को दी है।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा; (क्योंकि) सह्याचल और विंध्याचल... दो पर्वत भिन्न-भिन्न आमने-सामने हैं। सह्याचल और विंध्याचल की भाँति अथवा गंगा और श्रीपर्वत की भाँति,... गंगा नदी कहीं रही और पार्वती कहीं रही। आहाहा! उनकी भाँति परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार होगा ? आहाहा! ऐसा भी माननेवाले हैं। श्वेताम्बर में तो स्पष्ट लेख ही है। ज्ञान-दर्शन दो के, दर्शन भिन्न है। आहाहा! आत्मप्रकाश दर्शन और परप्रकाश ज्ञान - यह किस प्रकार होगा ?

जो आत्मनिष्ठ (-आत्मा में स्थित है वह तो दर्शन ही है।) आत्मा में स्थित है, वह

तो दर्शन ही है। आत्मा में स्थित है। देखने का गुण आत्मा में स्थित है। और उस ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण... क्योंकि दर्शन स्व को देखता है - ऐसा कहा तो स्व में दर्शन स्थित है। स्व में दर्शन स्थित रहा। दर्शन को स्व का आधार मिला; और ज्ञान पर को जानता है तो ज्ञान को स्व का आधार मिला नहीं। न्याय समझ में आता है? दर्शन स्व को देखे तो उसे तो आधार मिला और ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान को तो आधार रहा नहीं। अपने को जाने नहीं तो ज्ञान को आधार रहा नहीं। ज्ञान में कहीं अनन्त पदार्थ रहे? अनन्त पदार्थ में ज्ञान रहे? अनन्त पदार्थों को जाने, परन्तु अनन्त पदार्थों में रहता नहीं। आहाहा! थोड़ा अन्तर परन्तु क्या अन्तर है, यह कहते हैं।

निराधारपने के कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से), शून्यता की आपत्ति ही आयेगी;... ज्ञान पर को जाने तो पर का आधार ज्ञान में रहा नहीं। वह तो जाने, उसमें ज्ञान का आधार नहीं रहा। ज्ञान का आधार आत्मा है तो आत्मा के आधार से ज्ञान रहा है। जाने भले पर को, परन्तु रहता है आत्मा के आधार से। तो आत्मा को भी जाने, जिसमें है, उसे भी जाने, जिसमें नहीं है, उसे भी जाने। दर्शन तो स्वयं ही अपने को देखे। यह तो ठीक। दर्शन भी परप्रकाशक है। क्योंकि जैसे ज्ञान परप्रकाशक है और ज्ञान का स्थान आत्मा है, वैसे दर्शन भी पर को देखता है, उसका स्थान-आवास-स्थिति आत्मा में है। आहाहा! ऐसा सब सूक्ष्म! वे (कहे) व्रत पालो, दया पालो। हो गया। अपवास करो, निर्जरा करो। तपस्या, वह निर्जरा, 'तापसा निर्जरा (च)' अपवास बहुत करे (तो) बहुत निर्जरा (हो - ऐसा अज्ञानी कहते हैं)। अपवास करके मर जाए - सूख जाए, वह तो विकल्प है।

उपवास—आत्मा में बसे बिना कल्याण कहीं नहीं है। वह तो अपवास है - बाहर में भटका करे। यह छोड़ा, पानी छोड़ा और आज यह छोड़ा। परन्तु उसमें आत्मा कहाँ आया? जिसमें आत्मा आवे नहीं, उसे धर्म कैसे कहा जाए? वास्तव में तो आत्मा का उपवास (निकटवास), इसका नाम उपवास है। आत्मा के उप अर्थात् समीप में बसे। उसकी खबर भी किसे है? अपना उपयोग अपने में बसे, तो वह ज्ञान अपने आधार से रहा - ऐसा कहा जाए। परन्तु ज्ञान पर को जाने और अपने को न जाने तो अपना तो आधार रहा नहीं। आहाहा!

इस प्रकार (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से), शून्यता की आपत्ति ही

आयेगी;... ज्ञान को आधार नहीं रहने से ज्ञान की शून्यता हो जाएगी। आहाहा! यह कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने लिये बनाया है। उसमें यह लिखा है। क्योंकि उस समय यह मत चलता था। श्वेताम्बरमत निकल गया था। उसके पश्चात् सौ वर्ष में हुए। आहाहा! उसमें यह चलता था, इसलिए उन्हें यह करना पड़ा। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य के पहले श्वेताम्बरमत निकल गया था। भगवान (महावीर) के पश्चात् पाँच सौ वर्ष में। पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य हुए। फिर कुन्दकुन्दाचार्य को यह बनाना पड़ा।

अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा... दो बात। यदि ज्ञान अपने को न जाने तो ज्ञान को अपना स्थान रहा नहीं। अपने को न जाने तो अपना स्थान तो रहा नहीं; और जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा, (अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान पहुँचेगा) वे-वे सर्व द्रव्य चेतना को प्राप्त होंगे,... क्या कहा? आहाहा! ज्ञान—जानने का स्वभाव यदि स्वयं में न रहे तो आधार बिना वह शून्य हो गया। और वह ज्ञान पर को जाने तो पर जड़दि सब पदार्थ चेतन हुए। क्योंकि इसका स्थान यहाँ तो रहा नहीं, स्व को जानने में तो रहा नहीं। पर को जानने में ज्ञान रहा, तो जड़ को जानने से जड़ भी चेतन हो जाए। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इसलिए तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा... यदि ज्ञान मात्र पर को जाने और अपने को न जाने तो ज्ञान को स्व का आधार रहा नहीं; और वह ज्ञान पर को जाने तो सभी परवस्तुएँ ज्ञानरूप हो गयी। क्योंकि यहाँ तो ज्ञान रहा नहीं। ज्ञान वहाँ रहा। उसे जाने, वहाँ ज्ञान रहा, यहाँ ज्ञान रहा नहीं। तो वे सब चीजें ज्ञानमय हो गयी। आहाहा! ऐसा होने पर सब अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होंगे। तो परमाणु, धर्मास्ति—जिसमें ज्ञान है नहीं, वे पदार्थ सिद्ध नहीं होंगे। आहाहा! बात तो न्याय से है न! बनिया को व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। न्याय नहीं मिलता, न्याय। वकील को न्याय समझ में आता है। आहाहा!

कहते हैं, ज्ञान पर को जानता है – ऐसा यदि तू एकान्त से कहे तो ज्ञान को अपना आधार रहा नहीं; तो अपने आधार बिना ज्ञान शून्य हो गया। दूसरी बात कि ज्ञान अपने को न जाने, ज्ञान सर्व को जाने तो सब जो अचेतन चीजे हैं, उन्हें जाने तो ज्ञान का स्थान वहाँ रहा, क्योंकि ज्ञान यहाँ जानने में रहा नहीं, इसलिए ज्ञान आत्मा में तो रहा नहीं। जिसे जाने, वहाँ ज्ञान रहा, तो अचेतन भी ज्ञानरूप हो जाएगा। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञान जब अपने को न जाने तो अपने में उसका स्थान तो रहा नहीं; और वह ज्ञान सर्व को जाने, इसके बिना, तो सबका अस्तित्व ज्ञानरूप सिद्ध हुआ। सबका अस्तित्व ज्ञानरूप सिद्ध हुआ। परमाणु भी ज्ञान, धर्मास्ति भी ज्ञान, पुद्गल भी ज्ञान और आकाश भी ज्ञान। क्योंकि यहाँ उसे देखने में रहा नहीं। वह ज्ञान पर में रुका। पर में रुका, इसलिए ज्ञान अचेतन हो गया। आहाहा! अचेतन अलग चीज़ रही नहीं। जरा सूक्ष्म है। निर्णय करना पड़ेगा न? आहाहा!

यह एक ही चीज़ जो तीन काल-तीन लोक एक समय में जाने-देखे, उसका अस्तित्व यहाँ है; उसका अस्तित्व बाहर कहीं नहीं है। और वह पर को जानता है - ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। उसके बदले तू (कहता है कि) ज्ञान पर को जानता है और दर्शन स्व को देखता है, तो पर का जानना, वह तो अभी व्यवहार है। आहाहा! अन्तर भगवान आत्मा अपने को देखे और अपने को जाने, वह अपना गुण है तो अपने को जाने-देखे बिना रहे ही नहीं। इसलिए जिसने आत्मा पर को जानता है - ऐसा कहा और अपने को जानने का निषेध किया, तो उस ज्ञान का आधार तो सब दूसरी अचेतन वस्तुएँ रहीं। अचेतन ज्ञान का आधार रहा तो वह भी ज्ञानरूप हो गयी। बात समझ में आयी?

यहाँ... आहाहा! प्रभु! ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण से स्व-स्वरूप विराजमान है। उसका एक गुण स्व को देखे, एक गुण पर को जाने तो स्व को देखे, उस गुण का स्थान तो आत्मा में रहा, परन्तु जो (गुण) पर को जाने, उसे तो आत्मा का स्थान रहा नहीं। एक बात। और जिसे जाने, उसमें ज्ञान घुस गया, इसलिए वह अचेतन, ज्ञान हो गया। आहाहा! न्याय समझ में आया? यह बनिये के न्याय से अलग प्रकार है। वकील न्याय समझते हैं। आहाहा! यह तो सादी भाषा है।

शरीर, वाणी, मन, कर्म - वे सब तो जड़ हैं और आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप, जड़कर्म को जाने तो कर्म का अस्तित्व चैतन्य हो गया। चैतन्य को रहने का स्थान जड़ और कर्म रहे, तो वे चेतन हुए। आत्मा चेतन रहा नहीं। आहाहा! यह तो न्याय की बात है। ऐसा का ऐसा मान ले (तो) दूसरा कोई मिले तो बदल जाए। वस्तु की स्थिति जिस प्रकार से है, उस प्रकार से न माने और दूसरे प्रकार से (मानता) हो जाए। आहाहा!

ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से),

शून्यता की आपत्ति ही आयेगी; अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा (अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान पहुँचेगा)... जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान जाने, वे-वे सर्व द्रव्य चेतना को प्राप्त होंगे,... आहाहा! इस प्रकार... यह कह सकने का नहीं। ऐई! रात्रि में कह सकूँ नहीं यह। या अद्भर से निकाल डालना है? यह आत्मा के लिए है। देखना भी तुझे और जानना भी तुझे। जाननेवाला-देखनेवाला तू है और वह जाननेवाले-देखनेवाले का अस्तित्व तुझमें और उसका आधार तू है। इस ज्ञान में पर जाने और पर आधार हो तो आत्मा ज्ञानरहित रहकर, दूसरे अचेतन, ज्ञान हो जाएँ। आहाहा! न्याय से बात ली है। अकेली भाषा नहीं रखनी चाहिए। अन्दर तुलना करनी चाहिए। अन्दर में मिलान करना।

दर्शन स्व को देखे और ज्ञान पर को देखे (जाने) - क्या बाधा आयी? क्या आपत्ति है? कहते हैं कि भाई! ज्ञान आत्मा का है। वह ज्ञान अपने प्रदेश छोड़कर बाहर नहीं जाता। जैसे दर्शन का आधार आत्मा में रहा, वैसे ज्ञान का आधार भी आत्मा ही है। उसके बदले तू ऐसा कहे कि ज्ञान पर को जानता है, स्व को नहीं। तो ज्ञान को आत्मा का आधार रहा नहीं। ज्ञान अचेतन हो जाए तो वहाँ अचेतन का आधार हो गया। ज्ञान का आधार तो अचेतन हो गया। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म।

इसलिए तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा... ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान तो अचेतन हो गया। अचेतन में रहा। क्योंकि यहाँ तो रहता नहीं। आत्मा को तो ज्ञान जानता नहीं, इसलिए आत्मा में ज्ञान रहता नहीं, तो वह ज्ञान अचेतन जड़ में रहता है। आहाहा! इसलिए अचेतन पदार्थ नहीं सिद्ध होगा। यह महान दोष प्राप्त होगा। आहाहा! ऐसी चर्चा भी कठिन पड़े। इसके गुण की सिद्धि करते हैं। इसके जो गुण हैं, वे इसमें हैं। भले जानने का पर का काम करे, वह भी व्यवहार है। पर को जानना, वह भी व्यवहार है। वह जानने-देखनेवाली स्वयं एक ही वस्तु है। स्वयं अभेद वस्तु है। ज्ञान, वह आत्मा और दर्शन, वह आत्मा, दोनों एक ही चीज़ है। आहाहा!

इसीलिए (उपरोक्त दोष के भय से), हे शिष्य!... आचार्य महाराज शिष्य को सम्बोधन करते हैं। ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है... ज्ञान केवल पर को जानता है - (ऐसा नहीं है)। आँख है, वह पर को देखे, परन्तु आँख, आँख को नहीं देखती। है या नहीं? आँख यह देखे, परन्तु स्वयं को नहीं देखती। इसी प्रकार ज्ञान पर को जानता है, परन्तु अपने को नहीं जानता - ऐसा नहीं है। आहाहा! यह भी दृष्टान्त है। दूसरी जगह।

आहाहा! ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है, ऐसा यदि तू कहे, तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्वप्रकाशक) नहीं है... दर्शन भी आत्मा में स्थित नहीं रहता। ज्ञान जैसे नहीं रहता, वैसे दर्शन को आत्मा का आधार नहीं रहे, तो दर्शन का अभाव हो जाएगा। आहाहा! ऐसा भी (उसमें साथ ही) कहा जा चुका है। जैसे ज्ञान, उसके साथ रहनेवाला दर्शन, ज्ञान जैसे पर को जाने तो वहाँ अस्तित्व नहीं रहा। पर का रहा। इसी तरह ज्ञान के साथ रहनेवाला, अभिन्न रहनेवाला दर्शन अकेले स्व को जाने तो स्व में ही रहा, पर को जान न सके, तो दर्शन पर को (देख) जान न सके। आहाहा! है ?

इसलिए वास्तव में सिद्धान्त के हार्दरूप ऐसा यही समाधान है... इसलिए सिद्धान्त का रहस्य, सिद्धान्त का हार्द, सिद्धान्त का हृदय (यह है)। आहाहा! कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना है ही। दोनों को स्व-परप्रकाशकपना है। दर्शन स्वप्रकाशक भी है और परप्रकाशक है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन का आधार आत्मा है। तो एक गुण पर को देखे और स्व को न देखे - ऐसा नहीं होता। इसलिए एक गुण जब पर को देखे तो वही गुण यहाँ दर्शन (है, वह) ज्ञान के साथ अभिन्न है (तो) दर्शन स्व को भी देखता है। आहाहा! न्याय से बात है, परन्तु अब न्याय कभी सीखे न हों। ऐसी की ऐसी मजदूरी की, मजदूरी। पूरे दिन व्यापार की मजदूरी। आहाहा!

अन्दर भगवान आत्मा... इन दो गुणों का अस्तित्व किस प्रकार है ? ऐसे का ऐसा मानना (- ऐसा नहीं), परन्तु अन्दर न्याय से, अन्दर परीक्षा करके ज्ञान और दर्शन आत्मा में एक समय में एकसाथ आधाररूप से किस प्रकार रहे हैं ? कि यदि ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान पर में चला गया। दर्शन स्व में रहा तो दो भिन्न पड़ गये। दो भिन्न पड़े तो दो का आधार रहा नहीं। ऐसा है नहीं। दर्शन और ज्ञान तो अभिन्न है। दर्शन और ज्ञान अन्दर अभिन्न है, एक है। जैसे ज्ञान पर को जाने, वैसे दर्शन भी पर को देखता है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। अभिन्न गुण में एक गुण पर को जाने और एक गुण इसे (स्व को देखे) जाने, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! ऐसी निवृत्ति किसे होती है ! यह किस प्रकार सिद्ध करते हैं और किस प्रकार है ?

प्रभु! तू कौन है ? तेरे बिना, प्रभु! सब शून्य है। आहाहा! तेरा अस्तित्व, तेरी मौजूदगी अभेद गुणवाली है। कोई गुण पर को जाने, पर के पक्ष में जाए और एक गुण स्व

के पक्ष में रहे, ऐसा आत्मा नहीं है। आहाहा! यह आत्मा का अस्तित्व ही उसमें नहीं है। एक गुण के साथ दूसरा गुण रहता ही है। एकसाथ रहे हुए हैं, उसमें एक गुण को पर में डाले और एक गुण को स्व में रखे तो दो साथ में नहीं रहते। दो साथ में नहीं रहते तो दो का आधार आत्मा भी नहीं रहता। समझ में आया? आहाहा! आचार्यों ने स्वयं के लिए ऐसा किया है। स्वयं के लिये, पर के लिये नहीं। आहाहा! पर को तो फिर उपदेश में चलता है। आहाहा!

इसी प्रकार श्री महासेनपण्डितदेव ने (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन ।

ज्ञानं पूर्वापरी-भूतं सोऽय-मात्मेति कीर्तितः ॥

श्लोकार्थः : आहाहा! आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,... क्यों कहा? ज्ञान पर को जानता है - ऐसा तू कहे तो आत्मा से ज्ञान पृथक् नहीं है। ज्ञान पृथक् नहीं है तो ज्ञान आत्मा को जाने बिना रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया? क्या कहा? कि आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,... वह ज्ञान पर को जाने तो आत्मा ज्ञान से भिन्न हो जाता है। ऐसा है नहीं। आहाहा! (सर्वथा) अभिन्न नहीं है,... आहाहा! ऐसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। क्योंकि एक गुण एक द्रव्य हो जाएगा। यदि सर्वथा अभिन्न होवे तो एक गुण एक द्रव्य ही हो जाएगा।

कथंचित् भिन्नाभिन्न है;... आहाहा! पर को जानने की अपेक्षा से एक। एक अपेक्षा से स्व-परप्रकाशक है। दर्शन भी एक अपेक्षा से स्व-परप्रकाशक हैं, तो कथंचित् भिन्नाभिन्न कहने में कोई दिक्कत नहीं है। आहाहा! दर्शन और ज्ञान के दो स्वभाव आत्मा की अपेक्षा से अभेद है। पर को जानने की अपेक्षा से दोनों एक सामान्य देखे और एक विशेष देखे, ऐसे कथंचित् भिन्न हैं। क्या कहा? आहाहा! आचार्यों ने श्लोक बनाये होंगे, वे कोई साधारण के लिए बनाये होंगे? आहाहा! थोड़े में बहुत सिद्ध करना है।

(गुणों से) आत्मा सर्वथा भिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्न है। क्योंकि ज्ञान एक गुण है। ज्ञान, वह पूरा आत्मा नहीं है। आहाहा! इस अपेक्षा से कथंचित् भिन्न है; और सर्वथा अभिन्न नहीं है। सर्वथा अभिन्न नहीं है। सर्वथा अभिन्न होवे तो पर को जान नहीं सके। आहाहा! पर को जानने की शक्ति भी उसमें है। अपने में रहकर पर को जानने की शक्ति

उसमें है। आहाहा! पर को जानने पर भी पररूप नहीं होता और पररूप न जाने तो वह ज्ञान का स्वभाव ही नहीं रहता। समझ में आया? यह भारी कठिन।

महासेन पण्डित, इन्होंने यह कहा कि आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,... कथंचित् जानने की अपेक्षा से भिन्न है। दूसरे गुण की अपेक्षा से भिन्न है। आनन्दगुण की अपेक्षा से भिन्न है। द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न नहीं है तथा दूसरे गुण और गुण सर्वथा सर्वथा अभिन्न नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात याद रहना भी मुश्किल पड़े। सिर व्यापार के घुस गया न! सिर वहाँ रखे। आहाहा! क्या कहा?

आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,... यदि अत्यन्त भिन्न होवे तो गुण और गुणी (दो नहीं रहते)। गुणी भिन्न चीज़ और ज्ञान भिन्न चीज़ - ऐसा हो जाएगा। आहाहा! द्रव्य भिन्न चीज़ और गुण भिन्न चीज़ - ऐसा हो जाएगा। तथा (सर्वथा) अभिन्न नहीं है,... सर्वथा एक नहीं है। सर्वथा एक होवे तो ज्ञान, वह द्रव्य और द्रव्य, वह ज्ञान - दोनों एक होने से द्रव्य-गुण दो भिन्न नहीं रहते। आहाहा! समझ में आया? आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है। गुण-गुणी की अपेक्षा से उन्हें भिन्न कहा है। और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। सर्वथा एक नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी, दो नाम भिन्न है। नाम भिन्न, संख्या भिन्न, प्रयोजन भिन्न। एक अपेक्षा से अभिन्न भी नहीं है। आहाहा! इसमें क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : स्वरूप भिन्न है, प्रदेश से अभिन्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेश से अभिन्न है तथा गुण और गुणीरूप से अभेद है। कहीं गुण भिन्न और गुणी भिन्न - ऐसा नहीं है। इस अपेक्षा से अभेद है, परन्तु नाम, लक्षण और प्रयोजनभेद से भिन्न भी है। आहाहा! ऐसी कथा युवकों को तो पहली बार सुनने को मिले। सब भटकन मिलती है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रेम से सुनते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान रखते हैं। सुनने में बराबर ध्यान है। आहाहा!

क्या कहा? आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है, (सर्वथा) अभिन्न नहीं है,... यदि सर्वथा अभिन्न होवे तो गुण और गुणी दो भिन्न नहीं हो सकते, एक ही हो जाएँ। द्रव्य है, वह तो अनन्त गुणरूप है और एक-एक गुण एक-एकरूप है। सर्वथा अभिन्न नहीं और सर्वथा भिन्न भी नहीं। कथंचित् भिन्न है। ज्ञान का जानना, दर्शन का देखना, आत्मा

का जानना-देखना एकसाथ सब । कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है । आहाहा ! कहो, हरिभाई ! समझ में आता है या नहीं इसमें ?

ओहोहो ! वीतरागी सन्त, अपने वीतरागी आनन्द का वेदन करते-करते ऐसा विकल्प आया । आहाहा ! अपना वीतरागी आनन्द । स्व के ऊपर दृष्टि होने से वीतरागी आनन्द करते-करते ऐसा विकल्प आया तो यह शास्त्र रच गया । आहाहा ! इस शास्त्र के परमाणु की रचना परमाणु ने की है । उनके विकल्प ने नहीं । आहाहा ! ऐसा मार्ग । करने का विकल्प आया, उससे यह शास्त्र बना नहीं और शास्त्र बनना था, इसलिए उन्हें विकल्प आया, ऐसा भी नहीं है । आहाहा ! ऐसी बात है, प्रभु ! कठिन पड़े । धीमे से समझे तो पकड़ में आता है । न पकड़ में आये, ऐसा कुछ नहीं है ।

गुण और गुणी भिन्न है । गुण है, वह एक है । गुणी अनन्तगुण का पिण्ड है; इसलिए कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न गुण-गुणी एकरूप है । दोनों के प्रदेश एक और वस्तु एक है, इसलिए अभिन्न भी है । आहाहा ! प्रत्येक गुण को (ऐसा है) । आहाहा ! यह पहली दर्शन और ज्ञान की बात की । ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान पर में चेतन हो जाए । अचेतन है, वह चेतन हो जाए । और स्व को न जाने तो अपने आधार बिना ज्ञान रहे कहाँ ? आहाहा ! दर्शन को देखने में अपना आधार रहा । ज्ञान को आधार रहा नहीं - ऐसा सिद्ध किया । पश्चात् यह महासेन पण्डित का आधार दिया कि ज्ञान और आत्मा, गुण और गुणी कथंचित् भिन्न-अभिन्न है । क्योंकि गुणी और गुण ऐसा नाम, संज्ञा, प्रयोजन (लक्षण) भिन्न है; इस अपेक्षा से भिन्न कहा जाता है । वस्तुरूप से एक है । सभी गुण, द्रव्य के अभिन्न प्रदेश हैं, इस अपेक्षा से अभिन्न भी हैं । आहाहा ! कथंचित् भिन्नाभिन्न है;... देखा ? कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न, कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं । आहाहा ! भिन्न और अभिन्न साथ ही है । आहाहा !

मुमुक्षु : दो में से एक निर्णय कर दो न, यह भिन्न और यह अभिन्न ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दो होकर नक्की है । दो में से एक नक्की है - ऐसा नहीं । दो में से दोनों इस प्रमाण नक्की है ।

मुमुक्षु : भिन्न और अभिन्नपना तो परस्पर विरुद्ध ही है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : विरुद्ध अन्दर है । द्रव्य है, वह अनन्त गुणों का स्वामी है और

एक गुण है, वह एक ही गुण है। एक गुण को द्रव्य सिद्ध करोगे तो विरोध होगा। आहाहा! एक गुण को गुणी सिद्ध करोगे तो विरोध होगा और गुण उसका है, उसमें रहता है – ऐसा नहीं माने तो विरोध होगा। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! इसमें कहीं निवृत्त नहीं मिलती, पत्थर और लोहे के कारण। आहाहा!

तीन बातें की। एक तो दर्शन स्व को ही देखता है, यह भी झूठ, क्योंकि दर्शन का आधार स्वयं है, ऐसे ही ज्ञान का आधार भी स्वयं है। तो उसका आधार ज्ञान, वह स्व और पर को जाने, तो दर्शन भी स्व और पर को देखता ही है। आहाहा! और उन गुण तथा गुणी को कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न, कथंचित् भिन्नाभिन्न (पना है)। आहाहा! गुण और गुणी के नामभेद से, लक्षणभेद से, प्रयोजनभेद से, कथंचित् भिन्न; स्वभाव के आश्रय से, प्रदेश के आधार से अभिन्न है। यह तो दोनों आया – कथंचित् भिन्नाभिन्न। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। वह तो दया पालो और व्रत करो। एक दिन रोटियाँ नहीं खायी तो हो गया अपवास। यहाँ तो कहते हैं कि पर के त्याग-ग्रहण रहित प्रभु विराजमान है। आहाहा!

अन्दर आत्मा अनादि काल से अनन्त काल में परवस्तु रजकण को ग्रहण नहीं किया तथा छोड़ता नहीं। आहाहा! मात्र जानने-देखने में पर को जाने, इतना व्यवहार आता है। आहाहा! पर के साथ का सम्बन्ध इतना—ज्ञायक-ज्ञेय, यह व्यवहार से इतना सम्बन्ध आता है। आहाहा! परन्तु बिल्कुल ज्ञान आत्मा से भिन्न ही है और पर को ही जानता है – ऐसा नहीं है। वैसे दर्शन आत्मा में अभिन्न है, इसलिए दर्शन पर को बिल्कुल नहीं (देता) – ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें! और वे इच्छामि पडिक्कमणा तत्सुतरी करणेण करेमि भंते लोगस्स उज्जोयगरेण नमोत्थुणं (करे तो) सामायिक हो गयी, उसे धर्म हो गया। धूल भी धर्म नहीं। सुन न! मिथ्यात्व का पोषण है। वीतरागभाव नहीं, उसे तू सामायिक माने, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! वह वीतरागभाव भी तुझमें है। जिसमें है, उसकी नजर किये बिना यह सामायिक हो गयी? जिसमें सामायिक-समता-वीतरागता पड़ी है, समता पड़ी है, समता। उस समतायुक्त प्रभु को न देखकर तुझे पर्याय में समता आ गयी? आहाहा! कहो, सुजानमलजी! सामायिक-बामायिक की होगी या नहीं दूसरी? लौकिक।

कहते हैं कि समतागुण तो तेरा है, तू ऐसा करे तो समतागुण आयेगा और अन्दर दृष्टि कर तो समतागुण आयेगा। क्योंकि समतागुण अन्दर है। समतागुण, तू विकल्प से

ऐसा करे कि मुझे यह करो... यह करो... वहाँ समतागुण आ जाए - ऐसा नहीं है। आहाहा! समतागुण तो अन्दर वीतरागता भरी है। समता का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! किसी के प्रति विरोध और अविश्वास है नहीं उसमें। ऐसा भगवान समता का पिण्ड है। वह समता है। उसके जाने बिना समता आयेगी कहाँ से? समता नाम का गुण वीतरागगुण, अकषायगुण - सब एक ही है। वह गुण अन्दर है, वहाँ नजर हुई नहीं और तुझे समता आयी कहाँ से? आहाहा! वहाँ नजर गयी नहीं और प्रौषध हुए कि मैंने यह पोषा। आत्मा को पोषण दिया। जैसे चना पानी में पड़े और पोला होता है न पोला? वैसे आत्मा प्रौषध करे तो गुण में पोषण मिले। परन्तु वस्तु की ही खबर नहीं तो पोषण किसे कहाँ से मिले? आहाहा! देवीलालजी! आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण का धनी, समता का सागर जहाँ भरा है, उसकी खबर न हो और समता हो जाए, बाहर से समता आती होगी? समता बाहर रहती होगी? कि बाहर के विकल्प और उसमें सामायिक हो जाए? आहाहा! अरे! जीव ने अनादि से अपनी दया नहीं खायी। मेरा होना होगा, वह होगा, परन्तु मैं यह तो बराबर करूँ। आहाहा! चलते हुए धन्धे में या चलते हुए व्यवसाय में कमी या त्रुटि न आवे, वह करूँ। मेरा चाहे जो हो। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं और धन्धा भिन्न है - ऐसा मानता कब है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही दिक्कत है न! आहाहा! पूरे दिन उसमें ध्यान। परन्तु जो ध्यान करनेवाला है, वह भिन्न है, उसकी तो खबर भी नहीं होती और उसमें रहने के लिए सामायिक करना, यह कहाँ से आया? उसमें पोषण... पोषण... पोषण... जैसे चना पानी में पड़े, और पोषित हो। परन्तु वस्तु - चना तो चाहिए न? इसी तरह वस्तु चाहिए न, जिसमें पोषण करना है वह। प्रौषध तो, वस्तु देखे, उसमें एकाग्र हो तो पोषण होता है। परन्तु वस्तु (को) जाना नहीं, वहाँ पोषण आया कहाँ से? आहाहा! सामायिक और प्रौषध, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो गया। आहाहा!

जो चीज़ है, उस प्रकार से उसे न जाने और वह प्रतिक्रमण अर्थात् पर से वापिस मुड़े। कहाँ से मुड़े? जहाँ है, वहाँ रहे। आहाहा! प्रतिक्रमण (अर्थात्) वापस मुड़ना। वस्तु में आना और नहीं है, उसमें से वापस हट जाना। अप्रतिक्रमादि की क्रिया रागादि, शुभरागादि अप्रतिक्रमण है। आहाहा! उसमें से हटकर वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा में स्थिर

होने से प्रतिक्रमण होता है। यहाँ तो उसकी खबर नहीं होती कि यह आत्मा कौन है ? और उसे प्रतिक्रमण और उसे प्रत्याख्यान (कहाँ से हो) ? आहाहा! प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग। आहाहा! पर का जहाँ त्याग हो गया, वहाँ त्याग। परन्तु इसकी पर्याय में अवगुण है, अवगुण है, उसका त्याग गुण की दृष्टि बिना नहीं होता। क्या कहा यह ? पर्याय में अवगुण है, वह गुण की और द्रव्य की दृष्टि बिना अवगुण नहीं मिटते, अवगुण नहीं टलते। आहाहा! ऐसा जिसका स्वरूप है। लो! आहाहा!

पूर्वापरभूत जो ज्ञान सो यह आत्मा है... पूर्व और अपर। पहले और बाद का। अर्थात् क्या कहते हैं ? पहले जाने, वह ज्ञान और बाद में जाने वह ज्ञान है। ज्ञान कोई भिन्न-भिन्न नहीं है। पहले जानने में आवे, वह भी ज्ञान है; पर को जाने, वह भी ज्ञान है। बाद में जाने, इसलिए दूसरी चीज़ हो गयी और पहले जाने, इसलिए दूसरी चीज़ हो गयी, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! आचार्य क्या न्याय निकालते हैं ! पहले जानना, इससे दूसरी घड़ी में दूसरा जाना। दूसरा जाना, इसलिए ज्ञान भिन्न पड़ गया ? इसलिए ज्ञान भिन्न है ? आहाहा! ऐसा नहीं है। एक घड़ी देखे तो अनन्त काल देखे तो ज्ञानस्वरूप तो ज्ञानस्वरूप भगवान है। केवलज्ञान जहाँ प्रगट हुआ... आहाहा!

राग के विकल्प से सूक्ष्मपने, ज्ञान और आनन्द को सूक्ष्मपने पकड़ने पर जो ज्ञान और सूक्ष्मता को विकास करने पर विकसितपना हो, वह केवलज्ञान है। इस वस्तु की तो खबर नहीं कि विकसित कौन होता है ? किसमें से विकसित होता है ? जिसमें वह शक्ति भरी है या जिस शक्ति में से वह आता है। आहाहा! यह तो बाहर के पुण्य के परिणाम में से मानो यह आता है। अब वह बाहर का परिणाम है। वह शाश्वत् टिकता तत्त्व नहीं है। आहाहा! शाश्वत् टिकते तत्त्व को जाने बिना गुण आयेगा कहाँ से ? - पर्याय आयेगी कहाँ से ? आहाहा! आचार्यों ने तो गजब काम किया है। संक्षिप्त थोड़े शब्द में... आहा! **ज्ञान सो यह आत्मा है ऐसा कहा है। विशेष कहेंगे...** (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२७८

तथाहि -

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्,
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।
सञ्ज्ञा-भेदा-दघ-कुल-हरे चात्मनि ज्ञान-दृष्ट्योः,
भेदो जातो न खलु परमार्थेन वह्न्युष्णवत्सः ॥२७८॥

अब (इस १६२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(वीरछन्द)

नहीं सर्वथा ज्ञान आत्मा नहीं सर्वथा दर्शन है ।
उभय स्वरूपी स्व-पर विषय को जाने और देखता है ॥
आत्मा और ज्ञान-दर्शन में संज्ञादिक का भेद सही ।
अग्नि और ऊष्णता तुल्य इनमें वास्तव में भेद नहीं ॥२७८ ॥

[श्लोकार्थः —] आत्मा (सर्वथा) ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार (सर्वथा) दर्शन भी नहीं ही है; वह उभययुक्त (ज्ञानदर्शनयुक्त) आत्मा स्व-पर विषय को अवश्य जानता है और देखता है । अघसमूह के (पापसमूह के) नाशक आत्मा में और ज्ञानदर्शन में संज्ञा भेद से भेद उत्पन्न होता है (अर्थात् संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से उनमें उपरोक्तानुसार भेद है), परमार्थ से अग्नि और उष्णता की भाँति उनमें (-आत्मा में और ज्ञानदर्शन में) वास्तव में भेद नहीं है (-अभेदता है) ॥२७८ ॥

२७८ कलश। १६२ गाथा।

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्,
 ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम्।
 सज्ज्ञा-भेदा-दघ-कुल-हरे चात्मनि ज्ञान-दृष्ट्योः,
 भेदो जातो न खलु परमार्थेन वह्न्युष्णवत्सः॥२७८॥

यह अधिकार अन्तिम अधिकार है।

श्लोकार्थ :- आत्मा (सर्वथा) ज्ञान नहीं है,... यह वस्तु तो नहीं। दृष्टि जिसे करनी है, उसे आत्मा ज्ञान ही है - ऐसा नहीं है। राग, शरीर, वाणी, कर्म, वे तो इसमें ही नहीं। परन्तु इसमें ज्ञान है, वह भी अकेला ज्ञान ही नहीं है। आत्मा अकेला ज्ञान नहीं है। एक ही ज्ञानगुण ही नहीं है। आहाहा! उसी प्रकार (सर्वथा) दर्शन भी नहीं ही है;... इसी तरह दर्शन नाम का गुण जो आत्मा में है, वह सर्वथा दर्शन आत्मा है - ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञान और दर्शन अभिन्न है। आत्मा में एकरूप है। ज्ञान भिन्न और दर्शन भिन्न, इसका अर्थ (यह कि) जानने में भिन्न कहने में आता है। ज्ञान सर्व को जाने और दर्शन सर्व को देखे, ऐसा कहते हैं। परन्तु ऐसा है नहीं। वह तो सर्व को जाने और सर्व को देखे, वह ज्ञान और दर्शन आत्मा है। आहाहा! करने का हित हो तो यहाँ है, कहते हैं। कषाय घटाना, वह कोई भी मूल चीज़ नहीं है। अन्तर में ज्ञान और दर्शन अभेद है। अभेद है, ऐसा निर्णय करना चाहिए। आहाहा! किसी चीज़ के साथ ज्ञान को सम्बन्ध नहीं है। जाने, तो भी सम्बन्ध नहीं है। दर्शन देखे, तो भी किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

वह उभययुक्त (ज्ञानदर्शनयुक्त) आत्मा... देखनेवाला और जाननेवाला दोनों गुणवाला आत्मा स्व-पर विषय को अवश्य जानता है... दोनों गुण स्व-पर विषय को जानते और देखते हैं। दर्शन भी स्व को देखता है, पर को देखता है। ज्ञान भी स्व को जानता है, पर को जानता है। आहाहा! इसमें करना क्या? क्रिया क्या करना? आज यह लेख आया है कि अनुभूति पहले नहीं, पहले कषाय घटाओ। बड़ा लेख आया है। कोई बिरधीचन्द है। उसके लेख आते हैं। परन्तु कषाय घटे कहाँ? कषाय पर दृष्टि रखकर

कषाय घटेगी ? जहाँ ज्ञान और दर्शन स्वभाव से भरपूर भगवान है, उसकी अन्तर्दृष्टि और अनुभव करे तो कषाय भिन्न पड़ जाए। भले कषाय सर्वथा घटे नहीं। सर्वथा तो केवल (ज्ञान) होवे, तब होता है, परन्तु भिन्न पड़ जाती है। आहाहा!

मुमुक्षु : भेदज्ञान होवे तो भिन्न पड़ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो गुण हैं, वे सब अभेद हैं। दर्शन कहा (तो वह) एक को देखने का कोई कहे, ज्ञान एक को जानने का कहे, ऐसा नहीं है। दोनों गुण जानने-देखनेवाले हैं। दर्शन भी जानने-देखनेवाला, ज्ञान भी जानने-देखनेवाला। ऐसी बातें! यह वस्तु ऐसी है। जानने-देखनेस्वरूप चैतन्यस्वरूप ही ऐसा है। उसमें कोई कर्म, शरीर, वाणी-बाणी कुछ है नहीं। आहाहा! पहले उस चीज़ की दृष्टि करना। पहले भले अनुमान से यह जाननेवाला है, वह आत्मा देखनेवाला है, वह आत्मा, परन्तु फिर दोनों का भेद छोड़कर ज्ञान और आनन्द का धरनेवाला आत्मा है, उस आत्मा का अनुभव करना। आहाहा! ऐसी बात है।

उभययुक्त (ज्ञानदर्शनयुक्त) आत्मा स्व-पर विषय को अवश्य जानता है और देखता है। अघसमूह के (पापसमूह के) नाशक आत्मा में... क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा का जहाँ स्वीकार होता है, दर्शन-ज्ञान का धारक, उसका जहाँ स्वीकार होता है, वहाँ कषाय का नाश हो जाता है। अघसमूह का नाश होता है। है न ? ऐसा लिया। वह ऐसा लेता है कि कषाय घटाओ, पहले अनुभूति नहीं। यहाँ तो अनुभव होने पर कषाय नाश होती ही है, करनी नहीं पड़ती। कहाँ बड़ा अन्तर है, यह लोगों को (खबर नहीं पड़ती)। इसमें बड़ा अन्तर है। कषाय पहले घटाओ और फिर अनुभव होना, इस (बात में बड़ा अन्तर है)। यहाँ तो जो ज्ञान और दर्शन धारक आत्मा है, उसका अनुभव करने पर कषाय का नाश होता है। आया न ?

(ज्ञानदर्शनयुक्त) आत्मा स्व-पर विषय को अवश्य जानता है और देखता है। अघसमूह के (पापसमूह के) नाशक आत्मा में... पाप और पुण्य का नाश करनेवाला आत्मा ज्ञानदर्शन में संज्ञा भेद से भेद उत्पन्न होता है... ज्ञान का नाम ज्ञान, दर्शन का नाम दर्शन, आत्मा का नाम आत्मा, ऐसे नामभेद से भेद हो, परन्तु स्वरूपभेद नहीं है। आहाहा! संज्ञा भेद से भेद उत्पन्न होता है... संज्ञा गुण एक है, द्रव्य अनन्त गुण का स्वामी है; ज्ञान

का नाम ज्ञान, आत्मा का नाम आत्म (-ऐसी) दोनों की संज्ञा भिन्न हुई। नाम भिन्न है, इसी प्रकार संख्या भिन्न है। ज्ञानगुण एक है और आत्मा अनन्त गुण का स्वामी है। संख्या से भी भेद है। ओहोहो! लक्षण... ज्ञान और दर्शन के लक्षण भिन्न हैं, आत्मा का लक्षण भिन्न है। यह द्रव्य का लक्षण है और यह गुण का लक्षण है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात ली है।

(और प्रयोजन की अपेक्षा से उनमें उपरोक्तानुसार भेद है),... ज्ञान-दर्शन में भी भेद है और ज्ञान, दर्शन, आत्मा में भी नाम और प्रयोजन अपेक्षा से भेद है, परन्तु वस्तु-अपेक्षा से कोई भिन्न (वस्तु) नहीं है। प्रदेश भिन्न नहीं है, भाव भिन्न नहीं कि अत्यन्त एकभाव अन्यत्र रहे और एक भाव अन्यत्र रहता है - ऐसा नहीं है। असंख्य प्रदेश में सब गुण रहते हैं। आहाहा! वहाँ दृष्टि करने से आत्मा की पहिचान होती है। आत्मा की पहिचान होने पर आत्मा का अनुभव होता है। अनुभव होता है तो आत्मा का आनन्द आता है और उस आनन्द की वृद्धि करने से केवलज्ञान होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। लोगों ने क्रियाकाण्ड का मार्ग चला दिया है। व्यवहार करते (-करते) होगा। परन्तु व्यवहार उसमें है नहीं न! उसमें होवे, उससे हो। राग और द्वेष उसमें है नहीं तो उनसे कैसे होगा? उसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द है तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द से होता है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द से आत्मा का अनुभव होता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं।

अनन्त काल हुआ। आहाहा! अनन्त चौबीसी, अनन्त पुद्गलपरावर्तन, तीर्थकर की उपस्थिति में अनन्त पुद्गलपरावर्तन किये। भगवान महाविदेह में विराजते हैं। वहाँ कभी तीर्थकर का विरह नहीं है। वहाँ भी अनन्त बार उत्पन्न हुआ। अनन्त बार समवसरण में गया, अनन्त बार दिव्यध्वनि सुनी, परन्तु कुछ शल्य बाकी रह गयी। कुछ ऐसा हो और वैसा हो और ऐसा हो। परन्तु पूर्णानन्द का नाथ अखण्डानन्दस्वरूप की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है, यह बात बैठी नहीं। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। फिर एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य को कोई लाभ हो, यह कहाँ रहा? क्या कहा, समझ में आया? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता। ओहोहो! स्पर्श भी नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, प्रवेश नहीं करता, छूता नहीं तो करे क्या?

यहाँ तो अकेली आत्मा की बात ली है, बस। वह दूसरी बात छोड़ दो। आत्मा में

भी ज्ञान-दर्शन आदि नामभेद हैं। वह नामभेद भले हो, वस्तुभेद नहीं है। नामभेद भले हो, वस्तुभेद नहीं है। बाहर की बात तो कहीं रह गयी। दया, दान, राग और अमुक, अमुक। बहुत कठिन काम, भाई!

चौरासी के अवतार... आहाहा! अनन्त बार घानी में पिला, अनन्त बार कुचला गया जीवित ऐसे। आहाहा! यह अभी सड़क पर दिखते हैं न। बड़े कुत्ते पड़े होते हैं ऐसे। धक्का लगा तो मर गये हुए पड़े होते हैं। ट्रक चले। उसके ऊपर चले पूरा। रात्रि के अन्धेरे में खबर न रहे। आहाहा! अरे! ऐसा अनन्त बार हुआ है। वह संयोग का दुःख नहीं है। जो जाति है, उसे जानता नहीं और जिसमें नहीं है, उस पर लक्ष्य किया करता है, वह दुःखी है। समझ में आया? दुःख की व्याख्या ही अलग है। यह संयोग जो सिर काटे, वह दुःख नहीं है। आहाहा! दुःख तो इस स्वभाव की दृष्टि छोड़कर – अपने स्वभाव की दृष्टि छोड़कर पर की दृष्टि में रुकना, वह दुःख है। ऐसी व्याख्या है।

अरे! काम किये हैं। आहाहा! आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों ने काम किये हैं। वे राज छोड़कर, मुनि होकर केवल (ज्ञान) को प्राप्त हुए हैं और करोड़ पूर्व के आयुष्यवाले राजा तथा अरबोंपति भी मर गये ऐसे के ऐसे नरक में गये। आत्मा का किये बिना नरक में चले गये। आहाहा! मेरी सत्ता कहाँ रहेगी? और मेरी सत्ता है क्या? आहाहा! कहते हैं कि गुणभेद का नाम हो, परन्तु गुण और गुणी में भेद नहीं है। आहाहा! आहाहा!

कहा न? परमार्थ से अग्नि और उष्णता की भाँति उनमें (-आत्मा में और ज्ञानदर्शन में) वास्तव में भेद नहीं है... क्या कहा? अग्नि और उष्णता में भेद नहीं है। नामभेद है। अग्नि का नाम अग्नि और उष्णता का नाम, उष्णता। ऐसे नामभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है। आहाहा! इसी तरह भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द – ऐसे नामभेद से भेद है। आत्मा का नाम आत्मा, आनन्द का नाम आनन्द, ऐसे एक-दूसरे से भिन्न नाम होने पर भी वस्तु में भिन्नता नहीं है। आहाहा! आनन्द, ज्ञान और दर्शन अन्दर एकसाथ पड़े हैं। भरपूर.. आहाहा! एक-एक गुण समुद्र की भाँति पड़े हैं। ऐसे अनन्त गुण हैं। समुद्र कहो, सागर कहो, दरिया कहो। आहाहा! जिसके स्वभाव की गहनता, ऐसे गुण के भेद भले हो, परन्तु आत्मा में नामभेद भले हो, परन्तु वस्तुभेद नहीं है। आहाहा!

जिसे आत्मा का करना है, उसे आत्मा पर नजर करनी है; गुणभेद पर भी नहीं।

आहाहा! कठिन काम। कठिन काम है, इसलिए दूसरा रास्ता निकाला है न, कोई कहे कि इस क्रिया से होगा, कोई कहे कषाय मन्द से होगा, कोई कहे - गुरु की कृपा से हो जाएगा। आहाहा! कोई कहे-बहुत सहन करते हैं, परीषह बहुत सहन करते हैं तो हो जाएगा। ऐसे अनेक उल्टे रास्ते निकाले हैं। आहाहा! एकलड़ो... आहाहा! उस स्तुति में आया नहीं? भाई ने नहीं गाया था उस दिन? 'प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा। प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा। पर की आश कहाँ करे प्रीतम, पर की आश कहाँ करे प्रीतम, कई बातें तू अधूरा?' आहाहा! तू किस बात में, किस भाव से अधूरा है? आहाहा! 'प्रभु मेरे सब बातें पूरा।' आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि नामभेद से (भेद) भले पड़ा। ज्ञान पूर्ण, दर्शन पूर्ण, आनन्द पूर्ण, नामभेद पड़ा परन्तु आत्मा में अन्दर नाम भिन्न, वस्तु भिन्न नहीं है। आहाहा! जैसे अग्नि और उष्णता नामभेद पड़ा, परन्तु उष्णता अग्नि में से निकल जाए; उष्णता में से अग्नि निकल जाए - ऐसा कभी नहीं होता। इसी प्रकार भगवान आत्मा यह आनन्द, वह आत्मा; ज्ञान, वह आत्मा; दर्शन, वह आत्मा। वह भी आनन्द और ज्ञान निकल जाए और आत्मा रहे; आत्मा निकल जाए और ज्ञान-दर्शन रहे - ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! ऐसा चैतन्य चक्रवर्ती... आहाहा! चक्रवर्ती ने तो छह खण्ड साधे। यह चैतन्य चक्रवर्ती लोकालोक को जानता है। आहाहा! इस जानने में पर के ऊपर उपयोग दे - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! स्व के उपयोग में सब ज्ञात हो जाता है। ऐसी ताकत भगवान आत्मा की (है)। हर देह में विराजता है। प्रभु तो अन्दर शक्ति सम्पन्न विराजता है। आहाहा! बाहर की अपेक्षा को छोड़ता नहीं। मानो भगवान की भक्ति करने से कल्याण होगा। भगवान का स्मरण करके हो जाएगा। आहाहा!

अभी यह चलता है न, क्या कहलाता है? बाहुबलीजी। बाहुबलीजी को यहाँ हजार वर्ष होते हैं। बड़ा लेख है। दस लाख लोग एकत्रित होनेवाले हैं, ऐसा लिखते हैं। भले होओ चाहे जितने। दस लाख। अब उस जंगल में सब रहने का, खाने का, पीने का सब प्रवृत्ति करना, वह कहीं धर्म है? आहाहा! आज आया है। दस लाख लोग। पहले आया था लाख लोग। एक लाख लोग गये थे। दिगम्बर मूल चार-पाँच लाख लोग। आवे, दूसरे आवे, देखने आवे। उसमें क्या है? आहाहा!

अन्तर भगवान विराजमान है। उसकी महिमा के समक्ष यह सब क्रिया कुछ गिनती में नहीं है। लाखों, करोड़ों रुपये खर्च करे, दस लाख को संभाले... आहाहा! उन्हें रहने के लिए स्थान बनावे, भोजन बनावे, इससे कहीं कल्याण हो जाए (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! स्व चीज के आश्रय बिना पर के आश्रय में कभी कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता। आहाहा! वह भी गुणभेद होने पर भी वस्तु तो अग्नि और उष्णता एक है। इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान-दर्शन एक है। ज्ञान-दर्शन नाम पड़े और आत्मा नाम पड़ा, इससे संज्ञाभेद से जो भेद पड़ा, प्रयोजनभेद से भेद पड़ा (परन्तु) अन्दर वस्तु एक है। आहाहा!

यह रजकण के रजकण यह शरीर, और अन्दर राग का रजकण, इन दोनों से अन्दर प्रभु अत्यन्त भिन्न है। ज्ञान और दर्शन से नामभेद से भिन्न है। इसमें तो नामभेद और भावभेद से भिन्न है। आहाहा! राग का, दया का, भक्ति का (भाव), बड़ा करोड़ों रुपये खर्च करके दस लाख को जिमाना और उसमें से कल्याण हो जाए (ऐसा है नहीं)। आहाहा!

इस अग्नि और उष्णता की भाँति उनमें (-आत्मा में और ज्ञानदर्शन में) वास्तव में भेद नहीं है (-अभेदता है)। आहाहा! ऐसा कहकर कहने का क्या आशय है ? - कि पर के प्रति तो लक्ष्य छोड़, राग से तो लक्ष्य छोड़ और गुणभेद से भी लक्ष्य छोड़। आहाहा! वहाँ प्रभु पूर्ण विराजमान है। है एक, परन्तु अनन्त गुण का पिण्ड रखकर बैठा है। उसकी नजर में उस निधान को नजर में ले। आहाहा! करने का तो प्रभु! यह है। बाकी सब व्यवहार की बातें बहुत अवे। पूजा और भक्ति और... आहाहा!

यह बिरधीचन्द है, वह ऐसा कहता है कि प्रतिष्ठा करते हैं, यह पंच कल्याणक, वह विरोध है। ऐसा कुछ है नहीं। उसने और यह निकाला कि आत्मा की अनुभूति पहले हो, ऐसा नहीं। ये भ्रम में पड़े हैं (कि) कषाय को घटाने की बात पहली है। हम लेख... यहाँ तो कहते हैं, प्रभु चैतन्यमूर्ति अन्दर में जाने पर, स्थिर होने पर कषाय का नाश करता है, वह इसे लागू नहीं पड़ता। आहाहा! क्योंकि जो नास्ति है, वह अस्ति में लागू नहीं पड़ती। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसे कषाय का नाश, यह भी लागू नहीं पड़ता, कहते हैं। यह आया है न, भाई! प्रारम्भिक गाथाओं में। समयसार की ३४ गाथा में। राग का नाश, वह भी एक नाममात्र है। आहाहा! उसके बदले कषाय का नाश करे तो ऐसा कि आत्मा नया हो। आहाहा! अब यह है कोई गृहस्थ।

यहाँ तो अस्ति है, वह है, उसमें अनन्त गुण है और ऐसे गुणभेद होने पर भी भेद नहीं है। ऐसी चीज़ का अनुभव करना, उस चीज़ का आदर-सत्कार-स्वीकार करना, इसका नाम धर्म है। आहाहा! परन्तु पहला मार्ग कुछ होगा या नहीं? मार्ग अर्थात् जानने के लिए आवे (कि) इसमें गुण क्या है? कैसे है? कितने है? परन्तु यह जाना, इसलिए अनुभव होवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! तीन लोक का नाथ, जिसकी कीमत की बात क्या करनी? इसकी कीमत करने जाए तो इसकी कीमत हो जाए। आहाहा! उस चीज़ पर किसी भी दूसरी चीज़ के कारण लाभ हो, भक्ति करने से हो, और यह करने से हो, बड़ा महोत्सव करने से हो, गजरथ करने से हो, रथ-शोभायात्रा निकालने से हो, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! बाकी बाहर के सब व्यर्थ है। यहाँ तो अन्दर में ज्ञानस्वरूपी भगवान, यह ज्ञान (मैं) हूँ - ऐसा विकल्प भी उसे नुकसानदायक है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार से साधन कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन कहा, वह तो हुआ, तब उसका आरोप दिया। व्यवहार तो अनन्त बार किया। साधन होवे तो अनन्त बार किया।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।

पे निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥

है न छहढाला में? 'मुनिव्रत धार...' उसकी आचरण की क्रिया अनन्त बार की। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पे निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' यह साधन वहाँ कहा होवे तो इससे हो जाना चाहिए। अनन्त बार किया तो भी हुआ नहीं। कठिन बात है, प्रभु! दुःख लगे, पूर्व का मानते हो, और साधु ने मनवाया हो। दुःख लगे, बापू! क्या हो? प्रभु! मार्ग तो ऐसा है। आहाहा! यह भगवन्त है, परमात्मा है, पूर्णानन्द के नाथ को समझने के लिये कोई भी अपेक्षा नहीं होती। आहाहा! अपेक्षा होवे तो वह पराधीन हो जाता है। आहाहा!

यहाँ तो कहा नहीं? उष्ण और अग्नि दो भिन्न नहीं है। इसी तरह गुण और गुणी भले नामभेद पड़े, परन्तु वे भिन्न नहीं है। अभेद करके वहाँ दृष्टि कर। आहाहा! एक तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। प्रभु! यह बात कैसे गले उतरे? गुणभेद है, वह तो अभेद है, परन्तु एक द्रव्य, एक परमाणु, एक आत्मा, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करते।

अब यह बात कैसे बैठे ? कहो, सोभागमलजी ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं । आहाहा ! गजब बात ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता । स्पर्श करे तो अन्दर प्रवेश हो जाए, स्वयं का अभाव हो जाए । आहाहा ! यह बात भगवान के अलावा, वीतराग त्रिलोकनाथ, वे भी दिगम्बर के तीर्थकर... आहाहा ! उनके अतिरिक्त किसी ने कहा नहीं । बात भी कहीं सुनी नहीं । वीतराग मुनि तीर्थकरदेव... कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं समयसार की तीसरी गाथा में कहते हैं । एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता । यह गजब बात ! शक्कर की डली इतनी... शक्कर.. शक्कर.. गांगड़ा को क्या कहते हैं ? डली । शक्कर की डली । तो भी उसमें एक-एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करते । आहाहा ! यह कैसे बैठे ? ऐसी बात !

मुमुक्षु : अगमनिगम की बात है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अगमनिगम की बात है, प्रभु ! आहाहा ! प्रभु ! तेरी बड़ी बात है, बापू ! आहाहा ! शीघ्र गम्य में न आवे, ऐसी वस्तु है ।

एक अपेक्षा से वस्तु सत् और सरल है । आहाहा ! एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्श नहीं करता, भाई ! यह कौन सुने ? किसने सुना और किसने कहा ? ये साधु सब कहते हैं इसका ऐसा करो, इसका ऐसा करो । परन्तु यहाँ कहते हैं कि एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्श नहीं करता । आत्मा एक रजकण को स्पर्श नहीं करता । अरेरे ! प्रभु ! अब इसे एक-दूसरे के काम कराना, वह मिथ्या मान्यता है । वे कोई इकट्ठे नहीं होते । आहाहा ! एक ठीक से धारवाली छुरी, कहते हैं कि एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता । उसमें परमाणु-परमाणु भिन्न काम करते हैं । गजब बात, प्रभु ! यह बात वीतराग के अतिरिक्त (कहीं नहीं है) । आहाहा ! यह धारदार... वह क्या कहलाता है ? भूल गये । छुरी लो, छुरी-छुरी चाकू । आहाहा ! उस मूल पर अधिक जोर जाए, तब वस्तु याद आती नहीं । आहाहा ! छुरी और चाकू के एक-एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्शते नहीं हैं । आहाहा ! यह बात कौन करे ? प्रभु ! आहाहा ! और एक रजकण उसकी क्रमसर पर्याय से पर्याय होती है, उल्टी-सीधी नहीं होती और किसी से नहीं होती । किसी से तो नहीं होती, परन्तु उल्टी-सीधी नहीं होती है । आहाहा ! ऐसी वीतराग की बात ! तीन लोक के नाथ का पुकार है । यह दो सिद्धान्त पकड़े तो इसे सब बात ख्याल में आ जाए । आहाहा ! एक-

दूसरे को स्पर्श नहीं करता और क्रमसर होता है। इसमें दूसरे के द्वारा नहीं होता। आहाहा! तीन लोक के नाथ से भी आत्मा में कुछ नहीं होता। आहाहा!

लेख आता है न, शास्त्र में लेख आता है। वह सब व्यवहार का कथन है। ऐसे कथन बहुत आते हैं। व्यवहार है न, ऐसा विकल्प उठत है न! प्रभु के प्रति प्रमोद आता है, गुरु के प्रति प्रमोद आता है, उपकार (आता है)। वास्तव में तो कुछ है नहीं, परन्तु उस छद्मस्थ की दशा में ऐसा विकल्प आवे, इसलिए व्यवहार है – ऐसा सिद्ध किया है। परन्तु व्यवहार से अन्दर प्राप्त होता है... आहाहा! ऐसा नहीं। इन जवानों ने तो ऐसा पहले सुना नहीं होगा। भक्ति करो, पूजा करो... एक परमाणु दूसरे को स्पर्श नहीं करता। यह अंगुली भगवान को स्पर्श नहीं करती। भगवान की प्रतिमा को अंगुली स्पर्श नहीं करती। चन्दन को यह अंगुली स्पर्श नहीं करती। चन्दन भगवान को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! गजब बात है। पूजा करे, वह तो यह क्रिया होती है। उसमें इसका विकल्प है, उतना शुभभाव है, बस। इससे आगे कुछ बात नहीं है। यह शुभभाव है और वह बन्ध का कारण है। आहाहा!

यहाँ अन्त में यह कहा कि गुणभेद भले नाम हो, वस्तुभेद नहीं है।

गाथा-१६३

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
 ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६३॥
 आत्मा पर-प्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम् ।
 न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६३॥

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोऽयम् । यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतं, इदानीमात्मा केवलं परप्रकाशश्चेत् तत्तथैव प्रत्यादिष्टं ह्य भावभाववतोरैकास्तित्व-निर्वृत्तत्वात् । पुरा किल ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातम् । अत्रात्मनः पर-प्रकाशकत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम् । अपि चात्मा न परद्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्न-मित्यवसेयम् । ततः खलवात्मा स्वपरप्रकाशक इति यावत् । यथा कथञ्चित्स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितं अस्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकस्वरूपत्वात् पावकोष्णवदिति ।

पर ही प्रकाशे जीव तो हो आत्म से दृग् भिन्न रे ।
 'परद्रव्यगत नहिं दर्श', वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे ॥१६३॥

अन्वयार्थः—[आत्मा परप्रकाशः] यदि आत्मा (केवल) परप्रकाशक हो [तदा] तो [आत्मना] आत्मा से [दर्शनं] दर्शन [भिन्नम्] भिन्न सिद्ध होगा, [दर्शनं परद्रव्यगतं न भवति इति वर्णितं तस्मात्] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत (परप्रकाशक) नहीं है ऐसा (पहले तेरा मंतव्य) वर्णन किया गया है ।

टीका : यह, एकान्त से आत्मा को परप्रकाशकपना होने की बात का खण्डन है ।

जिस प्रकार पहले (१६२वीं गाथा में) एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना खण्डित किया गया है, उसी प्रकार अब यदि ' आत्मा केवल परप्रकाशक है ' ऐसा माना

जाए तो वह बात भी उसी प्रकार खण्डन प्राप्त करती है, क्योंकि *भाव और भाववान एक अस्तित्व से रचित होते हैं। पहले (१६२वीं गाथा में) ऐसा बतलाया था कि यदि ज्ञान (केवल) परप्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा! यहाँ (इस गाथा में) ऐसा समझना कि यदि आत्मा (केवल) परप्रकाशक हो तो आत्मा से ही दर्शन भिन्न सिद्ध होगा! और यदि ' आत्मा परद्रव्यगत नहीं है (अर्थात् आत्मा केवल परप्रकाशक नहीं है, स्वप्रकाशक भी है)' ऐसा (अब) माना जाए तो आत्मा से दर्शन की (सम्यक् प्रकार से) अभिन्नता सिद्ध होगी ऐसा समझना। इसलिए वास्तव में आत्मा स्व-परप्रकाशक है। जिस प्रकार (१६२वीं गाथा में) ज्ञान का कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना सिद्ध हुआ, उसी प्रकार आत्मा का भी समझना, क्योंकि अग्नि और उष्णता की भाँति धर्मी और धर्म का एक स्वरूप होता है।

गाथा - १६३ पर प्रवचन

१६३ (गाथा)

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।

ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६३॥

पर ही प्रकाशे जीव तो हो आत्म से दृग् भिन्न रे।

'परद्रव्यगत नहीं दर्श', वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे ॥१६३॥

टीका : यह, एकान्त से आत्मा को परप्रकाशकपना होने की बात का खण्डन है। एकान्त से आत्मा पर को ही जाने और दर्शन स्व को ही देखे, इस बात का खण्डन है। बाहर में तो यह बात आती नहीं। पूरे दिन यह करो, यह करो और यह करो। वस्तु क्या है और कैसे उसकी स्थिति-मर्यादा है? वह स्वयं अपनी मर्यादा में रहकर टिक रहा है। किसी को स्पर्श कर टिका है या किसी की सहायता से टिक रहा है (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! यह पुस्तक इसके आधार से रही है? - कि नहीं। कौन माने? पागल ही कहे। घोड़ी के आधार से पुस्तक नहीं रही है। क्यों? - कि एक-एक परमाणु में षट्कारक गुण भरे हैं। एक-एक परमाणु में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण (गुण है)।

* ज्ञान भाव है और आत्मा भाववान है।

एक-एक परमाणु में अधिकरण नाम का गुण है, तो वह स्वयं अपने आधार से है। आहाहा! दुनिया से पूरी लाईन अलग है। यह तो पूरे दिन ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो और बहुत अच्छा करके आये तो अभिनन्दन दो, कुछ पैसा दो। आहाहा! वह प्रसन्न हो जाए। मेरी महिमा हुई, मुझे इनने पहिचाना। आहाहा! प्रभु! तुझे पहिचाने तो तू पहिचान। दूसरा कौन पहिचाने? आहाहा!

यहाँ कहते हैं -

पर ही प्रकाशे जीव तो हो आत्म से दृग् भिन्न रे।

‘परद्रव्यगत नहिं दर्श’, वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे ॥१६३॥

यह, एकान्त से आत्मा को परप्रकाशकपना होने की बात का खण्डन है। एकान्त से आत्मा को परप्रकाशकपना (ही है)... एकान्त से ज्ञान पर को ही जानता है, स्व को नहीं जानता, यह झूठ बात है। आहाहा! अनेकान्त है, वह जाने, ऐसा कहा। ऐसा आया कि अनेकान्त से जाने। यह व्यवहार है। ज्ञान पर को जानता है, यह व्यवहार है। क्या हो? पदार्थ की, व्यवहार की कथनी ऐसी आती है। उस कथनी में से अकेला निश्चय छॉट लेना। भगवान का तो स्वरूप अकेला भिन्न है। आहाहा! वह यहाँ आगे उसे जाने, ऐसा कहे न? एकान्त से आत्मा को परप्रकाशकपना होने की बात का खण्डन है। तो अनेकान्त से तो आत्मा परप्रकाशक भी है न? एकान्त से परप्रकाशकपना नहीं है। इतना यहाँ सिद्ध करना है। दर्शन की अपेक्षा से ज्ञान अकेला पर को जानता है, ऐसा तू ले तो ऐसा नहीं है। इतना यहाँ सिद्ध करना है। यह ज्ञान जैसे पर को जानता है, वैसे स्व को भी जानता है, इतना सिद्ध करना है। इसका अर्थ वापस ऐसा नहीं है कि यह ज्ञान पर को जानता है, इसलिए वह भी निश्चय है। आहाहा! ज्ञान तो ज्ञान को ही जानता है। ज्ञान की उस समय की ताकत पर को जानने सम्बन्धी की ताकत स्वयं की स्वयं के कारण खिली हुई है। आहाहा! यहाँ एकान्त से आत्मा को परप्रकाशकपना होने का (खण्डन करते हैं)। आत्मा को लिया, हों! ज्ञान की बात नहीं ली।

जिस प्रकार पहले (१६२वीं गाथा में) एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना खण्डित किया गया है,... क्या कहा? पहले ज्ञान का एकान्त का परप्रकाशक खण्डन किया। अब यहाँ आत्मा का अकेला परप्रकाशन का खण्डन है। आहाहा! पहले में और

इसमें अन्तर क्या किया ? एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना खण्डित किया गया है, उसी प्रकार अब यदि 'आत्मा केवल परप्रकाशक है' ऐसा माना जाए तो वह बात भी उसी प्रकार खण्डन प्राप्त करती है,... तो यह बात भी इसी प्रकार खण्डन के प्राप्त होती है। ज्ञान पर को जानता है, ऐसे आत्मा अकेले पर को जाने (तो) जैसा ज्ञान में दोष उत्पन्न होता है, उस ज्ञान को आधार पर हुआ। उस ज्ञान को जानने पर जैसे तुम अकेला परप्रकाशक सिद्ध करो, तो आत्मा परप्रकाशक आत्मा पर के आधार से रह गया। आत्मा पर के आधार से रहा। आहाहा! जैसा ज्ञान में दोष बताया था, वैसा आत्मा में बताया। आहाहा! ऐसी बात! अब ऐसा उपदेश! यहाँ कहे कि व्रत पालना, दया पालना, मण्डली इकट्ठी करना, मण्डल को इकट्ठा करके काम करना...

यह आत्मा... जैसे ज्ञान का परप्रकाशकपना, एकान्त का खण्डन किया था, वैसे इस आत्मा का एकान्तपना पर को प्रकाशकपना खण्डन करते हैं। बात समझ में आती है ? दोनों में यह क्या अन्तर पड़ा ? कहा न ? पहले (१६२वीं गाथा में) एकान्त से ज्ञान को परप्रकाशकपना खण्डित किया गया है, उसी प्रकार अब यदि 'आत्मा केवल परप्रकाशक है' ऐसा माना जाए तो वह बात भी उसी प्रकार खण्डन प्राप्त करती है, क्योंकि... यहाँ कुछ अशुद्धि हुई है। भाव और भाववान एक अस्तित्व से रचित होते हैं। क्या कहते हैं ? कि आत्मा यदि अकेले परप्रकाशन में रहे तो उसका अस्तित्व ही वहाँ रहा। उसका अपना अस्तित्व भिन्न नहीं रहा। अरेरे! ऐसी बातें! क्या कहा ? - कि आत्मा यदि पर का प्रकाशक होवे तो जैसे ज्ञान परप्रकाशक कहा था तो ज्ञान पर को प्रकाशित करे तो पर के आधार से रह गया। उसे आत्मा का ज्ञान नहीं रहा। वैसे आत्मा अकेले परप्रकाशक कहो तो आत्मा, आत्मा के आधार से नहीं रहा। आत्मा पर के आधार से रह गया। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें! तुम्हारे हीरा-माणिक में यह (बात) नहीं आती थी कहीं ? यह भी हीरा-माणिक में थे न ? आहाहा! अलग-अलग बात है।

पहले ऐसा कहा कि ज्ञान यदि पर को ही प्रकाशित करे, स्व को प्रकाशित न करे तो ज्ञान का आधार आत्मा नहीं रहा, ज्ञान का आधार पर रहा। इसी तरह आत्मा यदि पर को ही प्रकाशित करे तो आत्मा को आत्मा का आधार नहीं रहा। आत्मा पर को प्रकाशित करे, इतना रह गया। स्व को प्रकाशित करे, ऐसा वहाँ रहा नहीं। आहाहा! ऐसी चर्चा ली है। सम्प्रदाय में विवाद था न ? श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच बहुत विवाद। अनेक

प्रकार के (विवाद हों), इसलिए स्पष्ट करने के लिए सब बात करनी चाहिए न !

पहले (१६२वीं गाथा में) ऐसा बतलाया था कि यदि ज्ञान (केवल) परप्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा ! ज्ञान केवल परप्रकाशक होवे, तो दर्शन परप्रकाशक है नहीं । दर्शन तो स्वप्रकाशक है, ऐसी तेरी दृष्टि है । ज्ञान, दर्शन से भिन्न सिद्ध हुआ । आहाहा ! न्याय समझ में आता है ? आहाहा ! नित्य केवल परप्रकाशक, ऐसा । अकेला ही परप्रकाशक होवे तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा । यहाँ (इस गाथा में) ऐसा समझना कि यदि आत्मा (केवल) परप्रकाशक हो तो आत्मा से ही दर्शन भिन्न सिद्ध होगा ! आहाहा ! क्योंकि दर्शन है, वह स्व को देखे और आत्मा तो पर को जाने । आत्मा और दर्शन दो भिन्न हुए । समझ में आया ? आत्मा यदि पर को देखे, इतना कहो तो आत्मा दर्शन को देखे, यह तो नहीं । दर्शन को स्वयं देखे । दर्शन और आत्मा दो भिन्न हो गये । आहाहा ! आचार्यों ने करुणा करके एक-एक बात को जगत को समझाया है । साधारण बात भी स्पष्ट करके समझायी है । आहाहा ! वह तो विकल्प आया, उसके भी कर्ता कहाँ थे ? रजकण से वहाँ रचना हो गयी । आहाहा ! उसके भी कर्ता कहाँ थे ? बन गया । आहाहा !

यदि ' आत्मा परद्रव्यगत नहीं है... परद्रव्यगत नहीं । परद्रव्य को जाने, अकेला - तू ऐसा कहे, तो द्रव्य जैसे परद्रव्यगत अकेला जाने और द्रव्य बिना का आत्मा रह गया । ऐसे आत्मा पर को जिस कारण से जाने तो स्वयं को जानने का रह गया, इसलिए स्वयं ही रहा नहीं । आहाहा ! ऐसे न्याय दिये । बनिये को यह कहाँ धन्धा ? वकील-बकील होवे तो कायदा (समझे) । बनिये को कहाँ कायदा है ? हमारे भाई कहते थे । हीराचन्द मास्टर । हीराचन्द मास्टर नहीं थे ? क्या कुछ कहते थे ?

मुमुक्षु : पंतुजी

पूज्य गुरुदेवश्री : पंतु - पंतुजी । ये सब मास्टर पंतुजी है क्योंकि वह का वह सिखाते हैं । वकीलों को नये-नये केस आते हैं, नये-नये कानून, नये-नये... यह देश छोड़कर परदेश में चुकारा हुआ हो वह भी आधार चाहिए । इस व्यापारी को क्या, यह और पंतुजी - ऐसा कहा । पूरे दिन यह एक इसका यह जो कहना (हो, वह कहे) । वह का वह किया करे । नया कोई तर्क या कुछ है नहीं । पंतुजी कहते थे । हीराचन्द मास्टर विद्यालय के बड़े मास्टर थे । विद्यालय के मास्टर । रतिभाई के पिता । रतिभाई है न ? मुम्बई है ।

आत्मा परद्रव्यगत नहीं है... आहाहा! (केवल) परप्रकाशक हो तो आत्मा से ही दर्शन भिन्न सिद्ध होगा! केवल पर को देखे तो दर्शन स्व को देखे, तो आत्मा और दर्शन दो भिन्न हो गये। आहाहा! और यदि ' आत्मा परद्रव्यगत नहीं है (अर्थात् आत्मा केवल परप्रकाशक नहीं है, स्वप्रकाशक भी है) ' ऐसा (अब) माना जाए तो आत्मा से दर्शन की (सम्यक् प्रकार से) अभिन्नता सिद्ध होगी... दर्शन स्व को देखे और आत्मा पर को, ऐसा रहा नहीं। पर को देखे, वह स्व को भी देखे। दर्शन स्व को देखे और आत्मा भी पर को देखे और स्व को भी देखे। अभिन्नता रही। आहाहा! है ?

ऐसा (अब) माना जाए तो आत्मा से दर्शन की (सम्यक् प्रकार से) अभिन्नता सिद्ध होगी ऐसा समझना। इसलिए वास्तव में आत्मा स्व-परप्रकाशक है। आत्मा अकेला परप्रकाशक है - ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा निर्णय करने में समय दे नहीं। व्यर्थ के एक-दूसरे को विवाद उठाना। कहते हैं, आत्मा स्व-परप्रकाशक है। जैसे दर्शन स्व को और पर को दोनों को देखता है, वैसे ज्ञान भी स्व को-पर को दोनों को देखता है, तो दोनों गुणों का धारक आत्मा भी स्व-पर दोनों को देखता है। आहाहा!

जिस प्रकार (१६२वीं गाथा में) ज्ञान का कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना सिद्ध हुआ... स्व-परप्रकाशक सिद्ध किया। उसी प्रकार आत्मा का भी समझना,... आत्मा भी उस प्रकार कथंचित् पर को भी जानता है, कथंचित् स्व को जानता है। सर्वथा पर को जाने और स्व को न जाने - ऐसा नहीं है। और स्व को जाने तथा पर को न जाने सर्वथा - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा उपदेश। यह सिद्धान्त है। गुण की ताकत, एक द्रव्य की ताकत है। तो गुण की ताकत एकरूप है तो द्रव्य की ताकत एकरूप कहने पर द्रव्य नहीं रहे। एकरूप अर्थात्? परप्रकाशित है और ज्ञान स्व को न प्रकाशे तो ज्ञान का द्रव्य भी रहे नहीं। आहाहा! इसी तरह वास्तव में दर्शन स्व को ही देखे और पर को न देखे तो स्व-पर दर्शन रहा ही नहीं। ज्ञान परप्रकाशक और दर्शन स्वप्रकाशक, यह दो बात रही नहीं। दोनों स्व-परप्रकाशक हैं और आत्मा भी स्व-परप्रकाशक है। आहाहा!

क्योंकि अग्नि और उष्णता की भाँति धर्मी और धर्म का... धर्मी अर्थात् अग्नि; धर्म अर्थात् उष्णता। एक स्वरूप होता है। ऐसे गुण और गुणी। जब गुण में भिन्नता नहीं। दर्शन-ज्ञान, वे भी स्व-परप्रकाशक है, यह भी स्व-परप्रकाशक है। दोनों में भिन्नता है नहीं।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२७९

[अब, इस १६३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञान-दृग्धर्म-युक्तः,
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम् ।
सम्यग्दृष्टिर्निखिल-करण-ग्राम-नीहार-भास्वान्,
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया सन्स्थितां ताम् ॥२७९॥

(वीरछन्द)

दर्श-ज्ञान से युक्त अतः यह आत्मा सचमुच धर्मी है ।
पञ्चेन्द्रियरूपी हिम को जो रविसमान, समदृष्टि है ॥
उसमें अविचल स्थित रहकर जीव मुक्ति को पाता है ।
मुक्ति प्रगट हुई है जो वह तो सहज दशा से सुस्थित है ॥२७९ ॥

[श्लोकार्थः—] ज्ञानदर्शनधर्मों से युक्त होने के कारण आत्मा वास्तव में धर्मी है । सकल इन्द्रियसमूहरूपी हिम को (नष्ट करने के लिए) सूर्य समान ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव उसी में (ज्ञानदर्शनधर्मयुक्त आत्मा में ही) सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त होता है—कि जो मुक्ति प्रगट हुई सहज दशारूप से सुस्थित है ॥२७९ ॥

प्रवचन-१९४, श्लोक-२७९, गाथा-१६४, रविवार, आषाढ शुक्ल १५, दिनांक २७-०७-१९८०

‘नियमसार’ २७९-कलश है । २७९ कलश ।

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञान-दृग्धर्म-युक्तः,
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम् ।
सम्यग्दृष्टिर्निखिल-करण-ग्राम-नीहार-भास्वान्,
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया सन्स्थितां ताम् ॥२७९॥

श्लोकार्थ :- आहाहा! ज्ञानदर्शनधर्मों से युक्त... श्लोक का अर्थ। कैसा है यह भगवान आत्मा? ज्ञान-दर्शन, ऐसे जो इसके धर्म, उनसे सहित है - युक्त है। आहाहा! नाम अलग है। ज्ञान और दर्शन और आत्मा नाम अलग है, परन्तु ज्ञान जानन-देखन, इस धर्म से सहित आत्मा धर्मों है। लो, यह धर्मों की व्याख्या की। यह दया पाले, वह धर्मों और व्रत करे, (वह धर्मों), ऐसा नहीं कहा। जानन-देखन जो धर्म है, उस धर्मसहित, उससे युक्त सहित, वह धर्मों आत्मा। आहाहा! आत्मा की व्याख्या की।

वास्तव में धर्मों है। यह ज्ञानदर्शनधर्मों से युक्त होने के कारण आत्मा वास्तव में धर्मों है। आहाहा! आत्मा के अलावा किसी चीज़ के कारण उसमें उसे धर्म नहीं होता। उसे तो जानना-देखना दो धर्मसहित होने से, जानने-देखने की पर्याय हो, वह धर्म है। आहाहा! ज्ञान और दर्शन, वह त्रिकाली धर्म है। धर्मों ऐसा जो आत्मा, उसका दर्शन-ज्ञान - ऐसा धर्म त्रिकाली है। परन्तु उस दर्शन-ज्ञान का, पर्याय में दर्शन-ज्ञान का परिणमन करना, इसका नाम वर्तमान पर्याय धर्म है। आहाहा! यह सब झंझट... यह सब झंझट बाहर की है। भगवान तो ज्ञान और दर्शन सहित है। वह धर्मों स्वयं वस्तु ज्ञानधर्म, दर्शनधर्म सहित है। उसकी दृष्टि करने से, उसका स्वीकार करने से, जैसा वह धर्मों द्रव्य-गुण। गुणधर्म का धारक, वैसा वह पर्याय का धारक होता है। निर्मल पर्याय देखने-जानने की, स्वद्रव्य को देखने-जानने से होती है। उसे यहाँ धर्म कहते हैं। आहाहा!

सकल इन्द्रियसमूहरूपी हिम को... आहाहा! कैसा है भगवान ज्ञान और दर्शन? इन्द्रियसमूहरूपी हिम को (नष्ट करने के लिए)... जैसे सूर्य उगे और हिम का नाश हो, सूर्य उगे और हिम रहे नहीं। इसी तरह भगवान आत्मा, ज्ञान और दर्शन इसकी पर्याय में उगे तो अज्ञानरूपी हिम का नाश हो जाए। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान-दर्शन तो अभी है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शक्तिरूप है। माने, तब उसे है न! क्या कहा? है। परन्तु माने तो है न, नहीं माने तो उसे कहाँ है?

मुमुक्षु : ज्ञान-दर्शन तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। इसके लिये नहीं।

मुमुक्षु : यह ऐसा कहते हैं, पर्याय में ज्ञान-दर्शन प्रगट है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय में प्रगट है, परन्तु स्व के लक्ष्य से नहीं। पर के लक्ष्य से है। आहाहा!

यह प्रश्न हुआ था। नहीं? त्रिभुवनभाई वारिया ने प्रश्न किया था कि यह कारणपरमात्मा, कारणपरमात्मा आप कहते हो। इस देह में प्रभु कारणपरमात्मा बिराजता है। कारणपरमात्मा होवे तो कार्य तो आवे ही। कारण होवे तो कार्य आवे ही। यह प्रश्न किया था। त्रिभुवनवारिया, जामनगरवाला। कारणपरमात्मा है, इस देह में। प्रभु! कारणपरमात्मा सब है। आहाहा! यदि कारणपरमात्मा होवे तो कार्य आना चाहिए। कहा, तुम्हारी बात सत्य। परन्तु किसे? कारणपरमात्मा है, वह किसे? जिसे दृष्टि में आया है, उसे। दृष्टि में आया नहीं, उसे पर्याय लक्ष्य में है। कारणपरमात्मा लक्ष्य में है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। भाई! यह प्रश्न बहुत बार हो गया था। उसने कहा कि कारण है तो कार्य तो आना चाहिए। परन्तु कारण का स्वीकार करता है, ऐसा स्वीकार करे तो कार्य होता है या कारण है और स्वीकार भी नहीं और कार्य होगा? बाबूभाई! आहाहा!

अन्दर वस्तु है। वह कहीं बाह्य क्रियाकाण्ड से मिले, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! अभी यह सब प्रवृत्ति चल गयी है। अन्दर ज्ञान जानन-देखन, ऐसा जो धर्म का धारक धर्मी, उस धर्मी की दृष्टि करे तो... यह कहते हैं, देखो! **सकल इन्द्रियसमूह रूपी हिम को (नष्ट करने के लिए) सूर्य समान...** आहाहा! जैसे सूर्य उगे, और हिम नष्ट हो जाता है, वैसे यह भगवान ज्ञान-दर्शन... भाषा सादी है। बहुत अलंकार और विद्वताभरी नहीं है। सादी भाषा है। ज्ञान और दर्शन के धर्म से युक्त, ऐसा जिसने अनुभव किया, उसे जैसे सूर्य उगे और हिम नष्ट हो, वैसे जिसे ऐसा ज्ञान हो, वह सम्यग्दृष्टि होता है। इस मिथ्यादृष्टि, अनन्तानुबन्धी का नाश होता है। आहाहा!

लेख में आया है। विरधीचन्दजी कोई है। कोई सेठी-सेठी है। लेख आते हैं। ऐसा कहा कि पहले अनन्तानुबन्धी जाती है, पश्चात् मिथ्यात्व जाता है। अरे रे! यहाँ तो कहते हैं, मिथ्यात्व गया, तब ही अनन्तानुबन्धी गयी। अनन्तानुबन्धी, यह कषाय है। परन्तु उस कषाय का नाम अनन्तानुबन्धी क्यों पड़ा? - कि अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व। मिथ्यात्व को अनुसरती कषाय, इसलिए अनन्तानुबन्धी है। आहाहा! अर्थ करने में अन्तर डाले। पूरी

बात में अन्तर पड़ जाता है और अपना कक्का छोड़े नहीं। बाहर मनाया हो, लिखाया हो, उसमें (अन्तर करे नहीं)। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञान और दर्शन, ऐसा जहाँ अन्दर सूर्य उगा... आहाहा! यह चैतन्य के नूर, उसके पूर बहे। उसके पूर बाहर पर्याय में बहे, (वहाँ) अज्ञानरूपी हिम का नाश हो जाता है। उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आहाहा! है? सूर्य समान ऐसा सम्यग्दृष्टि... वापस भाषा। सूर्य समान सम्यग्दृष्टि। आहाहा! जिसने इस आत्मा का ज्ञान और दर्शनस्वभाव अनुभव में लिया है, प्रतीति की है, वेदन हुआ है – ऐसा जो सम्यग्दृष्टिरूपी सूर्य, उसे यह अज्ञानरूपी जो हिम, उसका (इन्द्रियसमूहरूपी हिम का) नाश होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा तो अनन्त धर्म का अधिष्ठाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न। वह अधिष्ठाता है न! उसमें कहाँ इनकार किया? यहाँ तो दर्शन-ज्ञान की बात चलती है। दर्शन स्व को देखे, ज्ञान पर को (जाने), यह बात चलती है न!

यहाँ तो दर्शन और ज्ञान दोनों अपने को जानते और देखते हैं। इसलिए वह दर्शन और ज्ञान का धारक जो आत्मा... ऐसा कहना है। पहले यह बात सिद्ध की न? दर्शन और ज्ञान नामभेद है, स्वभावभेद नहीं। जैसे ज्ञान स्व को प्रकाशित करता है, वैसे उसका दर्शन भी स्व को ही देखता है – ऐसा नहीं। स्व-परप्रकाशक है। अब कहते हैं, वह ज्ञान और दर्शन स्व-परप्रकाशक है; उनका धारक आत्मा, वह भी स्व-परप्रकाशक है। उसका जिसे अन्दर में अनुभव हुआ, उसका ज्ञान और उसका भान हुआ, वह सूर्य उगा। उसकी अज्ञानरूपी हिम नाश हो गयी और वह सम्यग्दृष्टि होता है। आहाहा! दूसरा कोई उपाय नहीं है, ऐसा नहीं कहा। पहले जानना आवे, जानपना आवे। परन्तु वस्तु ऐसी होवे। आहाहा! मार्ग कठिन, बापू! जन्म-मरण का अन्त लाना... आहाहा! वहाँ कहीं बाह्य की होशियारी काम नहीं करती। जानपने के करोड़ों श्लोक कण्ठस्थ हों तो वे कहीं वहाँ काम नहीं करते। आहाहा! वह तो मात्र वस्तु ज्ञान और दर्शन दोनों जब स्व-परप्रकाशक सिद्ध किये, तब उनका धारक भगवान भी स्व-परप्रकाशक हुआ। ऐसे स्व-परप्रकाशक आत्मा को... है न यह?

धर्मों से युक्त होने के कारण आत्मा वास्तव में धर्मी है। उस धर्मी की जिसे दृष्टि

हुई है। दर्शन और ज्ञान स्व-परप्रकाशक तो आत्मा भी स्व-परप्रकाशक। क्योंकि दर्शन और ज्ञान कहीं आत्मा से भिन्न नहीं है। ऐसी जिसकी दृष्टि हुई... आहाहा! वह **सकल इन्द्रियसमूहरूपी...** वह अनीन्द्रिय है। भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञान का धारक अनीन्द्रिय है और वह स्व-पर को प्रकाशित करता है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, वहाँ **इन्द्रियसमूहरूपी हिम...** आहाहा! पाँचों ही इन्द्रियों की ओर की झुकाव की दशा कट हो गयी, भिन्न पड़ गयी। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। इसके बिना जन्म-मरण का अन्त आनेवाला नहीं है। चौरासी के अवतार की बातों की अपेक्षा (बदले) इसका विचार करे तो उसे क्या हो? आहाहा! यह कहा नहीं था?

आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं, जहाँ ये जन्म-मरण और अनन्त भव किये, उनका जहाँ विचार करता हूँ; आचार्य समकित्ती, अल्पकाल में मोक्ष जानेवाले। आहाहा! वे समकित्ती मुनि-आचार्य ऐसा कहते हैं। मैं ऐसे भूतकाल के दुःख के भव को जहाँ याद करता हूँ, वहाँ हृदय में घाव लगता है। आहाहा! भाई! बातों से बड़ा नहीं होता। उसके ख्याल में... आहाहा! ये नरक के दुःख, निगोद के दुःख... आहाहा! कहाँ चौरासी की योनि, कहाँ क्षेत्र, कहाँ भिन्न क्षेत्र, कहाँ आवास, कहाँ जन्म, कहाँ स्थान, कहाँ बेदरकारी हुई? और कुछ भी साधन बिना जन्म होकर वहाँ रहे। आहाहा! और उसमें दूसरे जीव मार डाले। ऐसे अनन्त बार कुचला गया है। मार डाला, ऐसे का ऐसा तोड़ डाला। आहाहा!

आचार्य कहते हैं कि मैं जहाँ भूतकाल के दुःख का विचार करता हूँ, ये नरक के दुःख एक अन्तर्मुहूर्त के, रत्नकरण्डश्रावकाचार में ऐसा कहते हैं, अरे रे! उन दुःखों का वर्णन प्रभु! करोड़ों भव और करोड़ों जीवों से नहीं कहा जा सकता। आहाहा! प्रभु! वह दुःख कैसा होगा? विचार भी कहाँ किया है? दरकार भी कहाँ की है? आहाहा! यहाँ कोई मनुष्य हुआ और कुछ पंचेन्द्रिय हुआ और कुछ सुविधा मिली, उसमें यह धुन में चढ़ गया। उस धुन में चढ़ गया। आहाहा! कितने दुःख अनन्त भवों में किस प्रकार के सिक गये हैं, जला डाला, टुकड़े किये, छेद डाला, टुकड़े किये, जीते जी अग्नि में जलाया, जीते जी पानी में डाला... आहाहा! दुश्मनों ने जीते जी दोनों नाक के छेद बन्द कर दिये, और मुँह बन्द कर दिया, श्वास बन्द हो गयी, उलझकर मर गया। आहाहा! यह तो दुःख

के प्रकार कहे। ऐसे-ऐसे दुःख के अनन्त प्रकार भोगे। भूल गया। वर्तमान मात्र यह सुविधा कुछ देखी, (उसमें) भूल गया।

कहते हैं कि प्रभु! तुझमें इतनी ताकत है। यह जानने-देखने के दो स्वभाव की हमने सिद्धि की, परन्तु उसका प्रयोजन / हेतु क्या? वह जानने-देखनेवाला जैसे दर्शन को भी कहा, ज्ञान को भी कहा तो उनका धारक आत्मा भी स्व-परप्रकाशक है। उसे जिसने पकड़ा... ऐसा कहते हैं। प्रयोजन तो यह है न? ऐसा जो स्व-परप्रकाशक भगवान आत्मा... आहाहा! उसे जिसने अन्दर पकड़ा और सम्यग्दर्शन हुआ। आहाहा! वह सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य, पाँच इन्द्रियाँ... आहाहा! पाँचों ही इन्द्रियों के विषय की ओर का रस छूट गया। एक अनीन्द्रिय ऐसा भगवान, जानने-देखनेवाला, एक गुण दोनों को जानने-देखनेवाला। दो प्रकार से जानने-देखनेवाला। एक ही जानना-देखना, ऐसा नहीं। प्रत्येक गुण यह ज्ञान-दर्शन, जानना-देखना, तो आत्मा भी जानने-देखनेवाला। ऐसे आत्मा की दृष्टि हुई, उसे अज्ञानरूपी हिम, जैसे सूर्य उगे और नाश हो, वैसे इन्द्रिय के समूह... आहाहा! पाँचों इन्द्रिय के समूह की विकल्प की दशा नाश हो जाती है। एकत्वबुद्धि नाश हो जाती है। आहाहा! कहाँ प्रभु अनीन्द्रिय और कहाँ पाँच इन्द्रिय के बाहर के झुकाववाली इन्द्रियों की दशा। अनीन्द्रिय भगवान की दशा अन्तर में... आहाहा! अनीन्द्रिय की दशा, उसकी दिशा आत्मा। इन्द्रिय की दशा, उसकी दशा पर के ऊपर। आहाहा!

प्रभु कहते हैं कि तू एकबार यह तो देख। तो यह इन्द्रियों का समूह जो ऐसा सब झुक गया है। दुःख का समय भोगा है। आहाहा! तू मानता है कि मैं सुखी हूँ। पैसा है, स्त्री है, भोग है, इज्जत है, और... बापू! प्रभु! तेरे दुःख कैसे हैं, तुझे खबर नहीं। यह कषाय है, कषाय है अर्थात् अन्दर अग्नि सुलगती है। परन्तु शान्त वस्तु के स्वभाव बिना कषाय की अग्नि को किसके साथ तुलना करे? आहाहा!

शान्तस्वरूप भगवान है। वह स्व-पर को प्रकाशित करता है। यह इन्द्रियों का समूह... आहाहा! समूह लिया, देखा! पाँचों इन्द्रियों की ओर का झुकाव। आहाहा! यह तो जड़-मिट्टी। अन्दर भाव इन्द्रिय का झुकाव भी बाहर। आहाहा! उसके इन्द्रिय के समूह में हिम की भाँति, सूर्य-समान ऐसा सम्यग्दृष्टि... आहाहा! शब्द थोड़े परन्तु भाव अन्दर

बहुत। आहाहा! निवृत्ति लेकर (विचार करे कि) मेरा क्या होगा? मैं अकेला यहाँ से चला जाऊँगा। यह सब पड़ा रहेगा। शरीर के रजकण साथ नहीं आयेंगे। आहाहा! मैं अकेला रहूँगा कहाँ? मेरी अस्तित्व की सत्ता तो नित्य है। उसे नित्य का कुछ अनित्य हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ये तो सब नाशवान इन्द्रियों के समूह है। आहाहा! देह में आत्मा रहे तो आँखों से अन्धा हो जाए, कान से बहरा हो जाए, जीभ से बोल नहीं सके।

मुमुक्षु : पैर से चल नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैर से चल नहीं सकता, पैर उठा नहीं सकता। सर्वत्र है न! हमारे कुँवरजीभाई और आणंदजी दोनों। पैर उठाकर बैठाना पड़े। तूफान करते जब.. तूफान अर्थात् यह व्यापार। तूफान है न? आहाहा! व्यापार में तूफान करते तब मानो... आहाहा! दूसरे अपनी महत्ता और अपनी याददाश्त... याददाश्त-वाददाश्त ऐसा नहीं थी कुँवरजी की। आणंदजी की थी कुछ। परन्तु फिर भी पुण्य से पैसे इकट्ठे करे। दो-दो लाख रुपये वर्ष में उस दिन, हों! अभी तो दस लाख, चार लाख पैदा करे। आहाहा! धूल धाणी और वा पाणी। आहाहा!

बापू! मैंने कहा था। (संवत्) १९६४ के वर्ष में। भाई! यहाँ से कहाँ जाना है? बापू! यह पेढी और यह दुकान और यह माल। ऐसे पेढी पर (बैड़े तब) दिन में पाँच सौ-पाँच सौ की आमदनी हो। आहाहा! अरे! करोड़ों की हो तो इसकी चीज़ कहाँ है? वह तो इन्द्रियसमूह का विषय है। आहाहा! यह कहते हैं कि इन्द्रिय के समूह के विषय को, एक बार आत्मा के अतीन्द्रिय जानने-देखने के स्वभाव को पकड़कर जला दे। आहाहा! कहा न? दग्ध।

इन्द्रियसमूहरूपी हिम को (नष्ट करने के लिए) सूर्य समान ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव उसी में (ज्ञानदर्शनधर्मयुक्त आत्मा में ही)... आहाहा! धर्मी, जब उसे आत्मा ज्ञान-दर्शनयुक्त धर्मी अनुभव में आया। आहाहा! जैसे ये दूसरी चीज़ें इसे ज्ञान में तैरती है; वैसे ही जिसके ज्ञान और दर्शन में भगवान तैरता है, इसकी दृष्टि में वह तैरता है। उसी और उसी में जब रुकता है, तब कहते हैं... आहाहा! (ज्ञानदर्शनधर्मयुक्त आत्मा में ही) सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके... आहाहा! ऐसे एक बार मिल गया, इसलिए नहीं, ऐसा कहते हैं। वहीं का वहीं अविचल स्थिति प्राप्त कर। वहाँ से हट नहीं जाए। आहाहा! अरे

रे! सुना न हो। सुना, परन्तु उसके भाव की मर्यादा क्या है, वह जानी न हो, इससे वह दुःख और सुख की व्याख्या नहीं जान सकता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके...** सम्यग्दृष्टि जीव... आहाहा! ऐसे भगवान को दृष्टि में लेकर **सदा अविचल स्थिति...** एक ही बार देखा, देखा-जाना, ऐसा नहीं। बारम्बार उसमें स्थिर होकर सदा अविचल स्थिति, अकेले ज्ञान-दर्शन में स्थिर होना, एक धारावाही अन्दर अनुभव होना। अविचल-चलित नहीं ऐसी **स्थिति प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त होता है**— यह अकेली मुक्ति की प्राप्ति है। कोई क्रियाकाण्ड से मुक्ति की प्राप्ति नहीं है। आहाहा! क्योंकि उसका जो स्वभाव है, उसकी जो सत्ता का सत्व है, उस सत्व की खिलावट होकर पर्याय में सत्ता की खिलावट पूर्ण आवे, इसका नाम मुक्ति है। यह तो उस सत्ता के स्वभाव का साधक होता है और उसमें स्थिर होवे तो ही आवे। कोई राग करे, दया पाले, व्रत करे, भक्ति करे, (उसमें मुक्ति नहीं होती)। बहुत कठिन काम, भाई! आहाहा!

अन्दर में एकाग्र होकर सम्यग्दृष्टि जीव... यह कहा न? **मुक्ति को प्राप्त होता है—कि जो मुक्ति प्रगट हुई सहज दशारूप से...** कहते हैं, वह प्रगट जो दशा हुई, वह सहज दशारूप से (सदा) सुस्थित है। मुक्तदशा सदा सुस्थित है। सादि-अनन्त काल रहती है। आहाहा! यहाँ तो जरा समकित में या उसमें घड़ीक में जाए और फिर भी जाए। यह दशा जहाँ पूर्ण प्रगट की, सदा सुस्थित अन्तर आनन्द में सद्भाव जो आनन्द था, उस आनन्द के धारक स्व-परप्रकाशक प्रभु की अन्दर भेंट हुई... आहाहा! अविचलरूप से रहा। उसे मुक्ति हुई। वह मुक्ति सुस्थित सदा रहेगी। आहाहा!

यह संयोग कितने काल! यह तो कुछ २५-५० वर्ष की गिनती क्या? आहाहा! अनन्त काल के हिसाब से २५-५० वर्ष की गिनती एक सैकेण्ड जितनी भी नहीं है। आहाहा! यह लोकालोक, अलोक के हिसाब से लोक एक रजकण जितना। आहाहा! चारों ओर अलोक, उसका पार नहीं। उसमें चौदह ब्रह्माण्ड। अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद.. आहाहा! अनन्त वीर पुरुषार्थ करके परमात्मपद को प्राप्त हुए। वह सब रहने का स्थान कितना? अलोक के हिसाब से तो रजकण जितना। एक रजकण जितना। आहाहा! ऐसे अनन्त काल में अनादि-अनन्त आत्मा की स्थिति, उसमें रहने का काल कितना? यहाँ तो

एक समय। एक समय में क्या होगा? दूसरे समय क्या होगा? इसका कुछ इसे भरोसा और खबर नहीं होती। आहाहा! तुझे किसका सन्तोष होता है? ऐसा कहते हैं। है न?

प्रगट हुई सहज दशारूप से सुस्थित है। यह जो मुक्तदशा प्रगट हुई, वह सहजदशा सहज है, वह और इसलिए उस दशारूप सुस्थित है। आहाहा! 'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में।' - श्रीमद् में आता है न? 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो, अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त सहित जो, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?' सम्यग्दृष्टि भावना करता है। 'अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?' यह सब विद्यमान (चीज) दिखायी दे, उसे अविद्यमान करके और जिसे अनादि से अविद्यमान किया है, उसे विद्यमान बना। आहाहा! तो तेरी विद्यमान मुक्ति होगी। आहाहा! अरे! यहाँ तो जरा पाँच-पचास लाख जहाँ पैसे (रुपये) हों, वहाँ आकाश में... क्या कहलाता है? क्या कहलाता है वह? लात... लात। आकाश में लात मारे।

मुमुक्षु : स्वयं गिरे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह जूते ऐसे पहिने, वस्त्र ऐसे पहिने। ऐसे मानो... आहाहा! क्या है? प्रभु! तेरे दुःख की बातें भगवान कहते हैं, एक क्षण के दुःखों को करोड़ भवों में, करोड़ जीवों से नहीं कहा जा सकता, नाथ! तूने अनन्त बार भोगे हैं। तू भूल गया है। यहाँ आया और जहाँ स्त्री-पुत्र हुए, (वहाँ) भूल गया। आहाहा! यह स्थिति। मुक्ति प्रगटे, वह दशा सहज है। देखो! भाषा! स्वाभाविक है।

इसलिए सहज दशारूप से सुस्थित है। इसलिए वह सहजदशारूप से सुस्थित है। मुक्ति सुस्थित। आहाहा! धन्य अवतार! धन्य काल! अपूर्व अवसर यह। गाथा में तो बहुत समाहित किया है। आचार्यों के हृदय में गाथायें बनाने में गम्भीरता बहुत है। दिगम्बर आचार्य अर्थात् परमेश्वर। यह तो पहले आया नहीं? - कि परमेश्वर और मुनि में अन्तर मानें, हम जड़ हैं। आहाहा! वे जंगल में अकेले नग्न (रहे), वस्त्र का टुकड़ा नहीं, पात्र नहीं। आहाहा! इस जंगल में अकेले बाघ और भालू की त्राड़ पड़ती हो... आहाहा! उसमें शान्त... शान्त... स्थिर हैं। ऐसी दशा, उसे सहज मुक्तदशा हो जाती है।

गाथा-१६४

णाणं परप्पयासं व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ।
 अप्पा परप्पयासो व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥
 ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।
 आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६४॥

व्यवहारनयस्य सफलत्वप्रद्योतनकथनमाह । इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावसादितसकल-
 विमलकेवलज्ञानस्य पुद्गलादिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपर्यायप्रकरप्रकाशकत्वं कथ-मिति
 चेत्, पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात् व्यवहारनयबलेनेति । ततो दर्शनमपि तादृशमेव ।
 त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थकरपरमदेवस्य शतमखशतप्रत्यक्षवन्दनायोग्यस्य कार्यपरमात्मनश्च तद्देव
 परप्रकाशकत्वम् । तेन व्यवहारनयबलेन च तस्य खलु भगवतः केवलदर्शनमपि तादृशमेवेति ।

तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ -

(मालिनी)

जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
 प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चिताङ्घ्रिर्जिनेन्द्रः ।
 त्रिजग-दजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते,
 सममिव विषयेष्वन्योन्य-वृत्तिं निषेद्धुम् ॥

व्यवहार से है ज्ञान परगत दर्श भी अतएव है ।

व्यवहार से है जीव परगत दर्श भी अतएव है ॥१६४॥

अन्वयार्थः — [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [ज्ञानं] ज्ञान [परप्रकाशं]
 परप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिए [दर्शनम्] दर्शन परप्रकाशक है । [व्यवहारनयेन]

व्यवहारनय से [आत्मा] आत्मा [परप्रकाशः] परप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिए [दर्शनम्] दर्शन परप्रकाशक है।

टीका:—यह, व्यवहारनय की सफलता दर्शानेवाला कथन है।

समस्त (ज्ञानावरणीय) कर्म का क्षय होने से प्राप्त होनेवाला सकल-विमल केवलज्ञान पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन परद्रव्यगुणपर्यायसमूह का प्रकाशक किस प्रकार है—ऐसा यहाँ प्रश्न हो, तो उसका उत्तर यह है कि—‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)’ ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से व्यवहारनय के बल से ऐसा है (अर्थात् परप्रकाशक है); इसलिए दर्शन भी वैसा ही (-व्यवहारनय के बल से परप्रकाशक) है। और तीन लोक के *प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थकर-परमदेव को—कि जो सौ इन्द्रों की प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य हैं और कार्यपरमात्मा हैं उन्हें—ज्ञान की भाँति ही (व्यवहारनय के बल से) परप्रकाशकपना है; इसलिए व्यवहारनय के बल से उन भगवान का केवलदर्शन भी वैसा ही है।

इसी प्रकार श्रुतबिन्दु में (श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

(वीरछन्द)

इन्द्र नरेन्द्रों के मुकुटों की भासवान मालाओं से।
जिनके चरणकमल पूजित हैं, सकल दोष जिनने जीते ॥
एक-दूसरे में प्रविष्ट नहीं होते ऐसे सकल पदार्थ।
युगपत् जिनमें व्याप्त हुए हैं वे जिननाथ सदा जयवन्त ॥

[श्लोकार्थः—] जिन्होंने दोषों को जीता है, जिनके चरण देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रों के मुकुटों में प्रकाशमान मूल्यवान मालाओं से पुजते हैं (अर्थात् जिनके चरणों में इन्द्र तथा चक्रवर्तियों के मणिमालायुक्त मुकुटवाले मस्तक अत्यन्त झुकते हैं), और (लोकालोक के समस्त) पदार्थ एक-दूसरे में प्रवेश को प्राप्त न हों इस प्रकार तीन लोक और अलोक जिनमें एक साथ ही व्याप्त हैं (अर्थात् जो जिनेन्द्र को युगपत् ज्ञात होते हैं), वे जिनेन्द्र जयवन्त हैं।

* प्रक्षोभ = खलबली। (तीर्थकर के जन्मकल्याणकादि प्रसंगों पर तीन लोक में आनन्दमय खलबली होती है।)

१६४।१६४।

गाणं परप्पयासं व्यवहारणेण दंसणं तम्हा ।

अप्पा परप्पयासो व्यवहारणेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

व्यवहार से है ज्ञान पर-गत दर्श भी अतएव है ।

व्यवहार से है जीव पर-गत दर्श भी अतएव है ॥१६४॥

व्यवहार से कहा जाता है, कहते हैं। यह, व्यवहारनय की सफलता दर्शानेवाला कथन है। समस्त (ज्ञानावरणीय) कर्म का क्षय होने से प्राप्त होनेवाला सकल-विमल केवलज्ञान पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन परद्रव्यगुणपर्यायसमूह का... परद्रव्यगुणपर्यायसमूह का प्रकाशक किस प्रकार है—ऐसा यहाँ प्रश्न हो, तो... आहाहा! व्यवहार सिद्ध करते हैं। ऐसा कि स्वयं प्रकाशता है यहाँ और ज्ञात होते हैं यह! यह क्या? यह क्या ख्याल में लिया है? - ऐसा कहते हैं। ज्ञात हो यहाँ। यह और सब ज्ञात हो इसमें। और वह वस्तु ऐसे दूर रहे। यह किस प्रकार होता है? यह विचार ही कहाँ किया है? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

देखो, क्या कहा? (ज्ञानावरणीय) कर्म का क्षय होने से प्राप्त होनेवाला सकल-विमल केवलज्ञान पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन परद्रव्यगुणपर्यायसमूह का प्रकाशक... परद्रव्य, हों! इसमें यहाँ स्वद्रव्य नहीं लिया। यहाँ व्यवहारनय लेना है न? व्यवहार से परद्रव्यगुणपर्याय के समूह को जानता है। क्योंकि उनमें तन्मय हुए बिना जानता है, इसलिए व्यवहार। आहाहा! जिसे जानना, उसमें तन्मय होकर जाने, एकमेक होकर जाने, उसे निश्चय कहते हैं और जिसे जाने, उसे स्पर्श न करे... आहाहा! उसमें तन्मय नहीं हो और जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। परन्तु वह व्यवहार इस प्रकार होता है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार से व्यवहार होता है। आहाहा! व्यवहार से पर को ही, द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने और स्व को न जाने, इससे व्यवहारनय खोटा नहीं है। पर को, हों! स्व के अतिरिक्त। और एक ओर कहना कि व्यवहार, वह पराश्रित है। तब उसका अर्थ क्या अब? ऐसा कहते हैं।

‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)’ ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से व्यवहारनय के बल से ऐसा है (अर्थात् परप्रकाशक है);... आहाहा! पर को जानता है, इतना ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, इतना व्यवहार है। भले आदरणीय आश्रय करनेयोग्य नहीं है, परन्तु ‘है’, यह बात यहाँ सिद्ध की है। व्यवहारनय है। जिसे जाने, उससे स्वयं भिन्न रहे; उसे जाने, उसमें तन्मय न होने पर भी उसे जाने, यह व्यवहारनय से कहा जा सकता है। यह व्यवहारनय का बल - ऐसा कह सकते हैं, ऐसा कहते हैं। कहा न? ‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)’ ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से व्यवहारनय के बल से... आया न? आहाहा! ऐसा आवे, तब लोगों को ऐसा हो जाता है कि देखो! व्यवहार का बल लिया न? इसलिए व्यवहारनय के बल से भी निश्चय होता है। यह बात यहाँ कहाँ है? (निश्चय) होने की बात यहाँ कहाँ है? यह तो आत्मा अपने में रहकर, अपना क्षेत्र छोड़े बिना, पर के क्षेत्र में गये बिना पर को जाने, वह क्या कहा जाए उसे? वह व्यवहारनय का बल कहा जाता है। आहाहा! ऐसे कहाँ निवृत्त बैठे? आहाहा!

प्रभु यहाँ है और कहते हैं कि दूर इसके पास स्पर्श भी नहीं किया। इसका क्षेत्र नहीं, इसका काल नहीं, इसका भाव भी नहीं। उसका काल, द्रव्य, भाव उसमें है। इससे अत्यन्त भिन्न अन्य भाव है। उसे आत्मा को जाने, वह आत्मा इसे जाने। यह व्यवहारनय के बल से, ऐसा कहा जा सकता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्यवहार खोटा है, भगवान को व्यवहार से जाने...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार खोटा है। वह खोटा है तो निश्चय की अपेक्षा से। परन्तु व्यवहार और व्यवहार का विषय नहीं ही, ऐसा नहीं है। यह नय है, वह तो विषयी है। और यह विषयी है, उसका विषय होता है ही। नय विषयी है। उसका विषय न होवे तो विषयी ही नहीं होगा। व्यवहारनय है। आहाहा!

पहले आ गया है, कथनमात्ररूप से। व्यवहार कथनमात्र है, परन्तु इससे व्यवहार से लाभ होगा और व्यवहार से आत्मलाभ हो, वहाँ नहीं ले जाना, प्रभु! मात्र हम तो व्यवहार अर्थात् पराश्रित है, इतना स्थापित करने को हम व्यवहारनय कहते हैं। आहाहा! इसी तरह व्यवहाररत्नत्रय है, वह जानने के लिये है - ऐसा कहते हैं, परन्तु इसका अर्थ तो उससे आत्मा को लाभ हो जाए, ऐसा अर्थ करना नहीं। आहाहा! है? क्या कहा यहाँ?

व्यवहारनय के बल से ऐसा है... परप्रकाशक इस कारण से कहा। जानता है तो स्वयं अपने को परन्तु तो भी उसे जानता है - ऐसा कहा, वह व्यवहार प्रकाशक है। वह व्यवहार परप्रकाशक है। आहाहा! जिसे स्पर्श भी नहीं करता, जिसमें आत्मा जाता भी नहीं, जिसमें वह चीज़ आती नहीं, तो भी उसे जानता है - ऐसा कहना, वह व्यवहारनय है। व्यवहारनय है - ऐसा सिद्ध करना है, परन्तु इससे व्यवहारनय से लाभ होता है, ऐसा अर्थ निकाले - ऐसा (आशय) यहाँ नहीं है। आहाहा! जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा बहुत है। समयसार की जयसेनाचार्य की टीका। व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है, ऐसे कथन बहुत (आते हैं)। इसलिए उन ज्ञानसागर ने ऐसा अर्थ किया न? और विद्यासागर ने उसे मान्य रखा। क्योंकि व्यवहार साधन आवे न! परन्तु वह तो साधन तो आरोप से कथन है।

आत्मा राग से भिन्न पड़कर अपनी सत्ता की सँभाल करके, जहाँ अनुभव हुआ, तब जो यहाँ साधन का राग था, वह निश्चय साधन था, तब उसे व्यवहार साधन का आरोप दिया। निश्चय नहीं, उसे व्यवहार का आरोप है, ऐसा नहीं है। जिसे निश्चय नहीं है, उसके व्यवहार नहीं कहा जाता। आहाहा! इसमें तकरार, बड़ी तकरार। वह दर्शन... आता है जैनदर्शन (तत्कालीन पत्रिका)। प्रभु! प्रभु! हित के मार्ग में प्रभु! तुझे ठीक न पड़े। जानने के लिये व्यवहार है - ऐसा कहा जाता है। दूसरी चीज़ है। एक जानता है, क्योंकि जाननेवाला जानता है न? जाननेवाला पर को जानता है न? इतनी अपेक्षा से व्यवहारनय के बल से पर को जानता है - ऐसा कहा जाता है। इससे कहीं ज्ञान पर में तन्मय हो जाता है? जिसे जाने, उसमें ज्ञान तन्मय हो जाता है - ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसा उपदेश! वह तो दया पालने की बातें, व्रत करना, प्रत्याख्यान करना, संथारा करना... आहाहा! ऐसी बातें लोगों को मीठी लगे और बेचारे जुड़ जाएँ। संथारा किया था। बहुत सुना है न! हमारे थे न, बोटोद में? नहीं? धंधुका के पास रोचका। रोचका के थे न? उनका क्या नाम? दो भाई थे। हमारे निकट आजीवन ब्रह्मचर्य लिया। स्त्री मर गयी। फिर अन्त में संथारा किया। दृष्टि मिथ्यात्व। संथारा किया और फिर रेकड़ी में निकाला। लोग कहे... आहाहा! अहमदाबाद के अहमदाबाद। अरे, भाई! संथारा किसे कहते हैं? प्रभु! आहाहा!

अभी देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं बापू! बापू! हित की बात है,

इसमें दुःख नहीं लगाना चाहिए। हमें खोटा कहते हैं – ऐसे दुःख नहीं लगाना, भाई! तुझे भी कैसे हित हो? तुझे दुःख न हो, भाई! यह बात है यहाँ। किसी प्राणी को जरा भी दुःख न हो। सब भगवान होओ। पूर्णानन्द को प्राप्त होओ, प्रभु! आहाहा! ऐसी भावना आती है न? तीन-चार जगह (आती है)। सब भगवान होओ। भगवान हो, प्रभु! तुझे यह बात जँचती नहीं। अन्दर भगवान परमात्मा शक्तिस्वभाव से, सत्व से... आहाहा! वह है, वैसा हो जा, प्रभु! नहीं है, उसमें रहना, वह तुझे ठीक नहीं पड़ता प्रभु! आहाहा!

व्यवहार नहीं है – ऐसा नहीं है। यह जो था, हुआ, वह व्यवहार कहो। बाकी तो है, वह है। आहाहा! क्योंकि पर्यायमात्र व्यवहार है। द्रव्य है, वह त्रिकाली वस्तु है, वह वस्तु है। आहाहा! एकरूप त्रिकाल रहनेवाला नित्यानन्द नित्यदल आत्मा; उसमें सिद्ध पर्याय, केवलज्ञान, वह व्यवहार। आहाहा! भेद पड़ा न! पर्याय का भेद पड़ा न!

पंचाध्यायी में तो यह लिया है – द्रव्य अर्थात् निश्चय है; पर्यायमात्र व्यवहार है। मोक्ष और केवलज्ञान, वह व्यवहार है। आहाहा! उसका भेद है न? द्रव्य का भेद है न? इसलिए व्यवहारनय का विषय है। आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! व्यवहारनय ही नहीं है – ऐसा नहीं है। व्यवहारनय की चीज़ सामने है। पर, पर जाने, वह पर नहीं और पर को जाने तो बिल्कुल व्यवहार नहीं, ऐसा नहीं। आहाहा! परन्तु पर में तन्मय नहीं होता और पर में तन्मय होवे, तब तो दुःखी हो जाए। आहाहा!

तू तुझमें रह, प्रभु! तुझमें क्या कमी है? आहाहा! उसमें आया था, 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा। प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आश कहाँ करे प्रीतम, पर की आश कहाँ करे प्रीतम...' आहाहा! 'किस बात से तू अधूरा?' कैसे तू है अधूरा? 'प्रभु मेरे सब बातें पूरा।' सब बात से पूरा है। किसी बात से उसे आश्रय पर को ले तो उसे लाभ हो, ऐसी वस्तु है नहीं। वह कहीं आश्रय लेने के लिए लाभदायक है नहीं। मात्र जानता है, इतना सिद्ध करने को, पर है, तो भी जानता है। वास्तव में तो उस ज्ञान को ज्ञान जानता है। पर को जाननेवाला ज्ञान, वह ज्ञान ज्ञान को जानता है। आहाहा! परन्तु वह ज्ञान पर को जानता है, इतना भी व्यवहार है। आहाहा! उसका निषेध नहीं और वह व्यवहार है; इसलिए व्यवहार से निश्चय होता है, यह इसमें लागू नहीं पड़ता।

यह यहाँ कहते हैं व्यवहारनय के बल से ऐसा है (अर्थात् परप्रकाशक है);...

व्यवहारनय केवल से। अन्दर है न? इसलिए दर्शन भी वैसा ही... है। तो दर्शन भी वैसा ही है। कैसा? पर को प्रकाशे। दर्शन भी पर को प्रकाशित करता है। जब आत्मा परप्रकाशक है तो उसका दर्शनगुण भी परप्रकाशक है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। लोहा काटे छैनी, ऐसा कहते हैं। बारीक छैनी हो, वह लोहे को काटती है। कहीं हथौड़ा काटता होगा? आहाहा! ऐसी प्रभु की बात इसे सूक्ष्म लगती है। यहाँ शब्द-शब्द में भाव में अन्तर और भाव की महिमा है। यह भगवान जब व्यवहार से पराश्रित है - ऐसा शास्त्र का वचन होने से व्यवहारनय के बल से परप्रकाशक है; इसलिए दर्शन भी ऐसा है। दर्शन को भी परप्रकाशक कहने में आपत्ति नहीं है। आहाहा!

(-व्यवहारनय के बल से (दर्शन भी) परप्रकाशक) है। और तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत... आहाहा! तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थकर-परमदेव को — कि जो सौ इन्द्रों की प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य हैं... आहाहा! जो सौ इन्द्रों को-परदेव आदि सौ इन्द्रों को प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य है। सिद्ध है, वे परोक्ष वन्दना के योग्य है। यह क्या कहा? सिद्ध को वन्दन है, वे तो परोक्ष है; दिखते नहीं। यह तो भगवान प्रत्यक्ष दिखते हैं, प्रत्यक्ष दर्शन है। आहाहा! तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थकर-परमदेव को — कि जो सौ इन्द्रों की प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य हैं और कार्यपरमात्मा हैं... वे कार्यपरमात्मा हैं।

परमात्मा त्रिकाली कारणपरमात्मा है, उसमें ध्यान करने से पर्याय में कार्यपरमात्मा होते हैं। उन्हें—ज्ञान की भाँति ही (व्यवहारनय के बल से) परप्रकाशकपना है;... किसे? कार्यपरमात्मा को। आहाहा! कार्यपरमात्मा अर्थात् सिद्ध हुए, सिद्ध। केवलज्ञानी हो गये, अरिहन्त हो गये, उन्हें भी परप्रकाशक कहा जाता है। आहाहा! अब इसमें व्यवहार में कितना वजन देना और किसलिए देना? इसकी गड़बड़ करते हैं। अर्थात् एक दूसरी चीज़ है और ज्ञान में स्व-परप्रकाशक जानने की सामर्थ्य है, इससे ज्ञान पर को जानता है - ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है। पर को जानते हुए पर में तन्मय होकर जानता है, तब तो नारकी को देखते हुए भगवान दुःखी हो जाएँ। आहाहा! सातवें नरक के दुःख देखने पर स्वयं दुःखी हो जाएँ (यदि) आत्मा तन्मय होकर (जाने तो)। वह तो दूर रहकर अपनी सामर्थ्य से उसे देखते हैं, इतनी बात व्यवहार से कहने योग्य है। आहाहा!

विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१९५, गाथा-१६४, सोमवार, अषाढ़ कृष्ण १, दिनांक २८-०७-१९८०

फिर से लेते हैं, १६४ - गाथा ।

यह, व्यवहारनय की सफलता दर्शानेवाला कथन है। क्या कहते हैं ? - कि आत्मा ज्ञान और दर्शनस्वरूप है। ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव का पिण्ड है। वह जब ज्ञाता-दृष्टा प्रगटा होता है, तब दर्शन स्व को भी देखता है और पर को भी देखता है और ज्ञान भी स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। कोई ऐसा माने कि दर्शन स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है - तो ऐसा नहीं है। क्योंकि आत्मतत्त्व देह, वाणी, मन, राग, विकल्प से भिन्न तत्त्व अन्दर है और वह परिपूर्ण अनन्त-अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य आदि से परिपूर्ण वस्तु है। उसमें यह आत्मा अपने ज्ञान को-अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है। पूर्ण केवलज्ञान होवे इसलिए। दर्शन भी अपने को भी देखता है और पर को भी देखता है। दर्शन अपने को ही देखता है और ज्ञान पर को ही जानता है - ऐसा भेद नहीं है। ऐसा भेद मानता है, उसके सामने विरोध है।

समस्त (ज्ञानावरणीय) कर्म का क्षय होने से... भगवान आत्मा पूर्ण बल सम्पन्न है। उस पूर्ण बल सम्पन्न की जहाँ अन्दर में सावधानी की; पूर्ण बल सम्पन्न, पूर्ण ज्ञान सम्पन्न, पूर्ण दर्शन सम्पन्न अपने परिपूर्ण स्वभाव में ध्यान किया तो कर्म का क्षय हुआ। परन्तु यदि ध्यान किया कि पर मेरे हैं, राग मेरा है, पुण्य मेरा है, तब तो आवरण होता है। अपना स्वरूप ही चैतन्य ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप है। पूर्णानन्द ज्ञान जिसका स्वभाव है, वह अपूर्ण नहीं होता। वह स्वभाव पूर्ण है। तो दर्शन और ज्ञान भी अपना स्वभाव है, तो वह स्वभाव भी पूर्ण है।

यह (ज्ञानावरणीय) कर्म का क्षय होने से प्राप्त होनेवाला सकल-विमल केवलज्ञान पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन परद्रव्यगुणपर्यायसमूह का प्रकाशक किस प्रकार है—ऐसा यहाँ प्रश्न हो, तो उसका उत्तर यह है कि—‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)’... यहाँ व्यवहार सिद्ध करना है। अपने को देखता-जानता ही है परन्तु पर को जाने, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा! निश्चय से-यथार्थ में-वास्तव में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को चुम्बन नहीं करता, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को स्पर्श नहीं

करता, परन्तु अपने में रहे हुए जो गुण दर्शन, जो ज्ञान और दर्शन का जहाँ विकास हुआ, वह ज्ञान पर को ही जानता है - ऐसा व्यवहार से कोई कहे तो व्यवहार से कहने में आता है। दर्शन स्व को देखता है - ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। यह कहते हैं। सूक्ष्म बात है।

यहाँ प्रश्न हो, तो उसका उत्तर यह है कि—‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)’ ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से व्यवहारनय के बल से ऐसा है (अर्थात् परप्रकाशक है);... आहाहा! व्यवहार अर्थात् पर की अपेक्षा से पर को भी देखता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। निश्चय से पर को नहीं देखता। निश्चय से अपने में अपने को देखता है। आत्मा की जो सत्ता है, अपनी जो सत्ता—अस्तित्व, उसमें यह जो दिखता है, वह चीज़ नहीं दिखती। क्योंकि वह इसे स्पर्श नहीं करती। इसलिए उसे देखता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। परन्तु उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान-दर्शन है, उसे अपने स्वभाव से अपने का निश्चय से जानता-देखता है। व्यवहार से पर को जानता-देखता है, ऐसा कहने में आता है। व्यवहारनय से ऐसा कहने में आता है। जाने-देखे। पर का कुछ करे, (यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : वकील और डॉक्टर तो करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जो चीज़ है - यह अँगुली है, अँगुली। इसका अस्तित्व है। वह यह उसके (दूसरे के) अस्तित्व से नास्ति है। लॉजिक से समझना चाहिए न! एक चीज़-वस्तु है, वह स्वयं से अस्ति है और अपने सिवाय अन्य चीज़ से नास्ति है। अनन्त पदार्थों से एक पदार्थ नास्तिरूप है और स्वयं से अस्तिरूप है। आहाहा! यहाँ तो बहुत लेना होवे तो पर को जाने, ऐसा व्यवहार आवे। करना-फरना और पर का कर सकता है या डॉक्टर-बाक्टर दवा कर सकता है, इंजेक्शन दे सकता है; वकील, जज के निकट दलील कर सकता है (-ऐसा नहीं है)। सूक्ष्म बात है, भाई!

एक तत्त्व में, जो दूसरा तत्त्व है, अनन्त तत्त्व हैं। अनन्त तत्त्व, अनन्तरूप कब रहें? - कि एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अभाव होवे, तब वह तत्त्व रहेगा। एक तत्त्व में दूसरा तत्त्व आवे तो दो एक द्रव्य हो जाएगा, तो अनन्त, अनन्तरूप नहीं रहेंगे। यह बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! यह दरकार कहाँ की है। आहाहा!

निश्चय से तो ऐसी चीज़ है.. आहाहा! आत्मा जो अन्दर है, वह आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। वह शरीर को कभी स्पर्श भी नहीं है। वाणी को कभी स्पर्शा ही नहीं है। जो अपनी चीज़ में है, उसे स्पर्शा है? अपनी चीज़ में नहीं है, उसे कभी स्पर्शा भी नहीं है, क्योंकि पर से नास्ति स्वभाव है। अपने से अस्ति स्वभाव है। डॉक्टर! सूक्ष्म बात है, तुम्हारी डॉक्टरी के समक्ष। आहाहा!

दवा का एक रजकण, दवा। एक गोली, एक दवा, उस गोली में अनन्त परमाणु हैं। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। दुनिया से अलग बात है। जो वे परमाणु अनन्त परमाणु का पिण्ड है - गोली अनन्त परमाणु का पिण्ड है। ऐसा जो है तो एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। स्वयं से है और पर से नहीं, तब अपने अस्तित्व की पूर्णता सिद्ध होती है। आहाहा! मनुष्य को निवृत्ति कहाँ है? फुर्सत नहीं। आहाहा!

एक चीज़, अपनी चीज़ में जितने गुण हैं, उसे वह जाने, परन्तु अपने में जिस दूसरी चीज़ का अभाव है, उसे यह चीज़ स्पर्श भी नहीं करती। आहाहा! दुनिया से तो उल्टा है। परन्तु यहाँ, दूसरी बात एक ओर रखो, आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन में अपने को देखे-जाने, वह निश्चय, और अपने ज्ञान-दर्शन से पर, जो इसमें नहीं है और अपने से भिन्न है, उन्हें जानता-देखता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। क्योंकि अपना ज्ञान पर को जानने में वह ज्ञान पर में तन्मय नहीं होता, एकरूप नहीं होता। एकरूप नहीं होता, इसलिए व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! धर्म चीज़ ऐसी है। अनन्त काल चौरासी के अवतार में भटकते हुए अनन्त भव हुए। उसमें मैं कौन हूँ? और यह क्या है? उसमें भेदज्ञान—इसमें भेद है, उसका भेदज्ञान किया नहीं। एक, दूसरे से भिन्न हैं, भिन्न है, परन्तु भिन्न का ज्ञान किया नहीं।

यहाँ तो वहाँ तक लिया है कि अपने ज्ञान-दर्शन जहाँ खिले, अपने आत्मबल में से कर्म का नाश करके अपनी ज्ञान-दर्शन शक्ति जो स्वभाव है, वह व्यक्त अर्थात् प्रगट हो तो वह अपने को जाने ही, परन्तु पर को भी जाने - ऐसा व्यवहार कहने में आता है। जाने; पर का कुछ करे (नहीं)। आहाहा! यह हाथ भी हिला सके, वह आत्मा नहीं। आत्मतत्त्व दूसरे तत्त्व को स्पर्श भी नहीं करता तो उसका कर नहीं सकता। डॉक्टर! कभी सुनी न हो, ऐसी बात है। पूरे दिन यह किया... यह किया... यह किया... यह किया...

प्रभु! तू तत्त्व एक ही है या कुछ दूसरा है ? इसका विचार तो कर कि तू एक ही तत्त्व है या दूसरे भी हैं ? और दूसरे हैं तो कितने ? तुझसे भिन्न अनन्त हैं। अनन्त जो हैं, वे एक-दूसरे, एक-दूसरे में प्रवेश करे और काम करे तो अनन्त रहते नहीं। प्रत्येक तत्त्व अपने में रहे और पर से न रहे। आहाहा!

इतना अन्तर यहाँ बताते हैं कि यह ज्ञान और दर्शन अपने को देखे और पर इनमें नहीं, उसे देखे - ऐसा व्यवहार कहने में आता है। ऐसा व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! पर को जाने, वह व्यवहार! गजब बात है। यह तो पूरे दिन पर का करना... करना... करना... आहाहा!

लेख में आता है। क्रमबद्ध को अब बहुत से स्वीकार करते हैं। कितने ही बहुत विरोध भी करते हैं। क्रमबद्ध प्रत्येक द्रव्य में, प्रत्येक समय की जो अवस्था जो हालत, धारा प्रमाण प्रवाह चलती है, आगे-पीछे नहीं। आहाहा! प्रत्येक पदार्थ में अपनी पर्याय जो अवस्था बदलती है, वह अपने समय में होती है। पर से नहीं। अपने में आगे-पीछे नहीं। अरर! ऐसी बातें! परम सत्य बहुत अलौकिक बात है। अभी तो गड़बड़-गड़बड़ कर डाली। आहाहा! परन्तु इतना विरोध कि स्वयं को जाने; ऐसे व्यवहारनय से पर को जाने।

‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)’ ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से व्यवहारनय के बल से ऐसा है (अर्थात् परप्रकाशक है);... ऐसा कहा जाता है। अपना ज्ञान अपने को जाने और अपने को पर से स्पर्श बिना, पर का अस्तित्व अपने में आये बिना, पर का अस्तित्व उसमें रहकर, अपना अस्तित्व अपने में रहकर, अपना ज्ञान अपने को जाने, यह तो निश्चय, परन्तु वह ज्ञान पर को जानता है - ऐसा कहने में व्यवहार है। आहाहा! यहाँ तक जाना। निवृत्ति कहाँ है ? फुर्सत नहीं होती। पूरे दिन धमाल।

इसलिए दर्शन भी वैसा ही (-व्यवहारनय के बल से परप्रकाशक) है। पहले ज्ञान का कहा कि अपना ज्ञान जो जाननस्वभाव, वह अपने को जाने, यह तो निश्चय परन्तु वह ज्ञान पर को जाने, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। इसी तरह दर्शन अपने को देखे, वह निश्चय और ज्ञान जैसे पर को जाने, वैसे दर्शन पर को देखे, उसे भी व्यवहार कहने में आता है। पर का करे, कुछ कर सके, यह बात नहीं है। आहाहा! गजब बात! नजर में पड़ता है कि यह सब स्पर्श करता है और ऐसा होता है, ऐसा होता है। नजर में ऐसा नहीं

पड़ता। तेरी दृष्टि संयोग पर है; स्वभाव पर दृष्टि हो या तत्त्व पर दृष्टि हो तो तत्त्व, तत्त्व में है। वह तत्त्व दूसरे तत्त्व से नहीं है। अतः संयोग से न देखे तो वह तत्त्व अपना ही कर सकता है, पर का कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! है तो लॉजिक, परन्तु बहुत कठिन। दुनिया में पूरी प्रवृत्ति दूसरी। जैसे वह ज्ञान अपने को जाने, निश्चय; पर को जाने, वह व्यवहार। इसी तरह दर्शन भी स्व को जाने, वह निश्चय, दर्शन पर को देखे, वह भी व्यवहार। है ? इसलिए दर्शन भी वैसा ही है।

मुमुक्षु : स्व-पर को एकसाथ जानता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकसाथ। जाने और देखे एकसाथ ही है। यहाँ तो केवलज्ञान की बात है न ? अल्पज्ञ प्राणी है, उसे पहले दर्शन और पश्चात् ज्ञान (होता है), क्योंकि उसे अल्प ज्ञान है, उसमें पूर्णता का अभाव है। इसलिए अल्पज्ञानी का ज्ञान एक समय में जानता है, उस समय में ही देखता नहीं। आहाहा! जब पूर्ण हो गये, ज्ञान और दर्शन पूर्ण हो गये, तब अपने को भी जाने, ऐसे पर को भी जाने – ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा! पर का कर सके, यह प्रश्न नहीं है। एक अंगुली भी हिला सके, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! क्योंकि उसका अस्तित्व में उसमें है और ज्ञान का अस्तित्व आत्मा में है। अब एक अस्तित्व दूसरे अस्तित्व को स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करे तो एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अभाव / नास्ति है, वह नास्ति नहीं रह सकती। सब एक हो जाता है। और सब एक हो जाए तो दृष्टि मिथ्या हो जाती है। आहाहा!

(-व्यवहारनय के बल से परप्रकाशक) है। और तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थंकर-परमदेव को—कि जो सौ इन्द्रों की प्रत्यक्ष वन्दना के योग्य हैं... आहाहा! सौ इन्द्र हैं। इन्द्रों को वन्दन के योग्य भगवान हैं। आहाहा! और कार्यपरमात्मा हैं... त्रिकाल वस्तु है, त्रिकाल। त्रिकाल नित्य है, उसे-आत्मा को कारणपरमात्मा कहा जाता है और उसमें से विकास होकर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण आनन्द प्रगट हो, उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं। अरेरे! ऐसी भाषा! अन्य तो यह करो और यह करो, पर की सेवा करो तो कल्याण हो जाएगा। धूल में भी नहीं। सेवा कौन करता था ?

मुमुक्षु : अकल्याण नहीं होगा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर की सेवा की, यह पूर्ण अकल्याण है। पर की सेवा कर

सकता हूँ, यह अ-श्रेय पूर्ण है। आहाहा! ऐसी बात जगत में... तत्त्व की विचारधारा ही लोगों की घट गयी। बाहर की प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति रही नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि भगवान् कार्यपरमात्मा हैं उन्हें—ज्ञान की भाँति ही (व्यवहारनय के बल से) परप्रकाशकपना है;... भगवान् सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ, जिन्हें सर्वज्ञपना प्रगट हुआ है, वे व्यवहारनय से... पर-अपेक्षा, यह व्यवहार; स्व अपेक्षा, यह निश्चय। पर अपेक्षा से सर्वज्ञ परमात्मा को भी, पर को जानते हैं - ऐसा कहना, वह व्यवहार है। है ? इसलिए व्यवहारनय के बल से उन भगवान् का केवलदर्शन भी (वैसा ही है।) भगवान् का ज्ञान जैसे पर को जानता है, वैसे उनका दर्शन भी पर को जानता है, देखता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात पकड़ना मुश्किल पड़े। कभी किया नहीं।

जो है, वह स्व से है; पर से है नहीं। वरना तो स्व से है - ऐसा रह नहीं सकता। यह अँगुली, अँगुलीरूप से है; दूसरी अँगुलीरूप से नहीं। दूसरी अँगुलीरूप से नास्ति है। इस अँगुलीरूप से अस्ति है, दूसरी अँगुलीरूप से नास्ति है। नास्ति है तो वहाँ नहीं, यह भी अस्ति है। उसका नास्तिपना भी अन्दर में अस्ति है। नास्तिपना नहीं। आहाहा! ऐसा कहाँ करने जाए? धन्धा पूरे दिन करे।

अनन्त काल गया, प्रभु! चौरासी के अवतार करते-करते। चौरासी लाख योनियाँ; एक-एक योनि में अनन्त बार जन्म किये। शूकर के अवतार, नरक के अवतार, स्वर्ग के अवतार, मनुष्य के अवतार, दुःख की दशा में मिथ्याभ्रान्ति के कारण एक-एक में अनन्त बार अवतार कर चुका। आहाहा! जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा नहीं जानकर, विपरीत मानकर चौरासी (लाख योनियों) में परिभ्रमण किया। यहाँ बड़ा करोड़पति सेठ हो, माँस खाता हो तो जाए नरक में और न खाता हो तो शूकर या कौए में जाए। आहाहा! क्योंकि आत्मा तो नित्य है, शरीर का नाश होता है। वह भी नाश होता है, इसकी व्याख्या अलग है। शरीर की जो अवस्था शरीररूप है, वह परमाणु की दूसरी अवस्था होती है, इसका नाम शरीर का नाश है। कहीं परमाणु का नाश कभी नहीं होता। अस्ति है, परमाणु रजकण है। है, उसका कभी नाश नहीं होता। नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! ऐसा धर्म! वे तो कहे, दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, प्रभु की माला गिनो (जपो)। सीधा सट्ट था।

यहाँ आज बहुत विरोध आया है। ये लोग - सोनगढ़वाले ऐसा कहते हैं, भगवान्

की माला जपना, वह राग है, धर्म नहीं। लाख बार, करोड़ बार, अनन्त बार कहते हैं कि पर का - भगवान का स्मरण करना, वह राग है, पुण्य है; धर्म नहीं। मीठी हल्की भाषा से कहें तो भगवान का स्मरण - याद करे, वह राग है, वह भी अधर्म है। आहाहा!

अपनी निज चीज़ अस्तिरूप है और वह परिपूर्ण स्वभाव से भरपूर है। उसका भान और ज्ञान हुआ तो जैसे ज्ञान अपने को जाने, वैसे व्यवहार से पर को जाने। वैसे दर्शन अपने को जाने-देखे, वैसे व्यवहार से पर को देखे—ऐसा कहा जाता है। आहाहा! है ? इसलिए व्यवहारनय के बल से उन भगवान का केवलदर्शन भी वैसा ही है। भगवान का केवलदर्शन भी पर को देखता है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! कहा जाता है, हों! जानने में निमित्त। यह जाननेवाली जो चीज़ है, जाननेवाली चीज़ है, वह जिसे जाने, उसमें प्रवेश नहीं करती। जिसे जाने, उसमें प्रवेश नहीं करती। जिसे जाने, उसे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! शरीर को आत्मा कभी स्पर्श नहीं करता। आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता; शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता।

मुमुक्षु : अभी थोड़े समय से बलवानरूप से यह बात चलती है, एक दूसरे को छूते नहीं इसलिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोक की पूरी... लोक रखे शून्य। लोक तो सब शून्य रखे, ऐसी बात करते हैं। यह तो सर्वज्ञ भगवान से प्रत्यक्ष हुई, ज्ञान में प्रत्यक्ष हुआ वस्तु का अस्तित्व अर्थात् होनापना जैसा है, वैसा होनापने का कथन है। आहाहा!

कहते हैं कि मात्र यह ज्ञान-दर्शन तुझे होवे तो व्यवहार यदि करना हो तो पर को जाने-देखे, इतना व्यवहार है; परन्तु पर को अपना मानना, ऐसा कोई व्यवहार है ही नहीं। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

इसी प्रकार श्रुतबिन्दु में (श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-

प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चिताङ्घ्रिर्जिनेन्द्रः ।

त्रिजग-दजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते,

सममिव विषयेष्वन्योन्य-वृत्तिं निषेद्धुम् ॥

श्लोकार्थ :- आहाहा! जिन्होंने दोषों को जीता है,... यहाँ दो बात हुई कि आत्मा

है और दोष भी है। दोष नहीं होवे तो इस संसार में परिभ्रमण न हो। आहाहा! आत्मा है और दोष भी है। दोष न हो तो परिभ्रमण नहीं हो सकता। इसलिए जिन्होंने दोषों को जीता है,... जिन्होंने दोष को जीत लिया। आहाहा! वस्तु को छोड़ दी और वस्तु को स्पर्श नहीं किया, ऐसी यहाँ बात नहीं है। वह वस्तु तो अनन्त बार तुझसे छूटी ही पड़ी है। कभी तेरे पास आयी नहीं और कभी तू उसके पास गया नहीं। आहाहा! परन्तु दोषों को जीता है। अपने में जो दोष हैं, राग और द्वेष और विषय-कषाय, मैं पर का कर सकता हूँ, पर का भला कर सकता हूँ... आहाहा! यह वकील कहे, मैं पर को जिता सकता हूँ। डॉक्टर कहे मैं पर को दवा देकर रोग मिटा सकता हूँ। आहाहा! कठिन बात है। यह सेठ कहे, मैं पैसा दे सकता हूँ, पैसा दे सकता हूँ, कपड़े के व्यापार के लिये कपड़ा दे सकता हूँ। प्रभु! तेरे सिवाय पर का तू कुछ नहीं कर सकता। यदि बहुत लेना होवे तो मात्र तुझमें ज्ञान और दर्शन का विकास होवे तो व्यवहार से पर को जाने-देखे, इतना हो, बस! आहाहा! परन्तु व्यवहार से पर का करना, पर को सुधारना, बालक को सुधारना, बालक को पढ़ाना, शिक्षा देना...

मुमुक्षु : लड़के को अपने अनुभव का लाभ देना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन धूल दे सकता है? जो अपनी पर्याय है, वह अपने में रही; बालक की पर्याय उसके पास रही। उस पर्याय में इस पर्याय का प्रवेश नहीं। यह अवस्था उस अवस्था को स्पर्श नहीं करती। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा न होवे तो लड़के स्वच्छन्दी हो जाएँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के स्वच्छन्दी हों या न हों, वह तो उनकी पर्याय स्वतन्त्र है। इसकी पर्याय स्वतन्त्र है। कठिन बात है, भाई! आहाहा! यह नजदीक में शरीर रहा है, इसकी पलक भी नहीं फिरा सकता। आहाहा! क्योंकि अस्ति तत्त्व है और अस्ति तत्त्व है तो अपनी शक्ति अपनी में रखता है। अपने में है तो अपनी शक्ति से पलक फिरती है। आत्मा के कारण वह पलक फिरती है, ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : अभी नहीं फिरती पलक।

पूज्य गुरुदेवश्री : पलक धूल की है। यह धूल है, धूल। यह रहना, न रहना, उसके आधार से है; आत्मा के आधार से कुछ है नहीं। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा!

पानी पी सकता नहीं, भोजन खा सकता नहीं। आहाहा! क्योंकि वह दूसरी चीज़ है। दूसरा आत्मा दूसरी चीज़ को स्पर्श भी नहीं करता तो खा-पी कहाँ से सकता है? अरे! भगवान! यह बात। आहाहा! दुनिया पागल, उसे ऐसी बात पागल जैसी लगे। पागल जैसी लगे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, भगवान परमात्मा को पूर्ण ज्ञान-दर्शन प्रगट हुए हैं और इसलिए स्वयं को पूर्ण जानते हैं, वैसे व्यवहार से कहें तो पर को भले जाने। निश्चय से अपने को जानते हैं। दर्शन जहाँ पूर्ण हुआ तो निश्चय से अपने को देखते हैं। इतनी पूर्ण दशा हुई तो कुछ भी पर को करे, ऐसा कुछ है या नहीं? - कि पर का तो कुछ कर नहीं सकते, परन्तु वह तो पर को देखे, ऐसा व्यवहार किया जाता है। आहाहा! अन्दर है या नहीं? ऐसी बात है। अब हीरा-माणिक्य देते-देते हों और यह बात करे तो पागल कहे। ऐसे देते हों, प्रतिदिन की दो-दो, पाँच-पाँच हजार की आमदनी हो। आहाहा! पैसा। यहाँ कहते हैं कि तू पैसे को स्पर्श नहीं करता। तू उसे दे नहीं सकता। उसके पास से ले नहीं सकता। यह काम करनेवाला पर का काम कर सकता नहीं। हीरा को घिसता है? तो कहते हैं, नहीं; नहीं। हीरा को घिसने का चलता है न अभी? हीरा भिन्न है, तू भिन्न है। तेरा आत्मा हीरा को घिसे ऐसा तीन काल में है नहीं। बहुत तो इतना है कि उसे जाने, इतना व्यवहार है। आहाहा! होता है, उसे जाने; होता है, उसे देखे, इतना व्यवहार भले हो। परन्तु होता है, उसे बनावे (-ऐसा तो नहीं है)। आहाहा! पूरे दिन करना और यह कहते हैं कि कुछ कर नहीं सकता। यह भाषा चलती है, वह आत्मा से नहीं। प्रभु आत्मा अरूपी, वह ज्ञान-दर्शन-आनन्द से पूर्ण भरपूर। वह ज्ञान-दर्शन से जाने-देखे—ऐसा कहना, इतना भी व्यवहार है। आहाहा! पर को करे तो नहीं। कहो, शिवलालभाई! इन शिवलालभाई को डिब्बों का बड़ा व्यापार है। बाजरा, गेहूँ और चावल... यह तो दुनिया से ऊँची बात है। आहाहा!

यहाँ दो बात कहते हैं कि तू आत्मा है? है। तुझमें कोई शक्ति है या शक्तिरहित आत्मा है? शक्ति है। कौन सी शक्ति है? ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि शक्ति है। तो उस शक्ति का वर्तमान में पूर्ण विकास नहीं है। तो कदाचित् पर का नहीं कर सकता परन्तु भगवान को पूर्ण विकास हुआ... आहाहा! यहाँ ऐसा कहा न? वीतराग परमात्मा सर्वज्ञदेव राग का नाश करके पूर्ण ज्ञान-दर्शन प्रगट हुए तो वे पर में कुछ कर सकते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : राग होवे, वह करे न ? जिसे राग न हो, वह न करे ।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग होवे तो भी करता नहीं और राग न होवे तो भी करता नहीं । राग होवे तो राग का कर्ता हो, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है । आहाहा ! प्रभु तो ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, सच्चिदानन्द प्रभु है । सच्चिदानन्द, सत्-सत् है । चिदानन्द ज्ञान और आनन्द है । वह ज्ञान और आनन्द है । वह किसी का करता है - ऐसा नहीं है । आहाहा ! भारी कठिन काम ।

यहाँ यह कहते हैं कि भले पूर्ण विकास हुआ । अल्पज्ञानी तो कदाचित् करे, ऐसा कहो, मानो तो भी भ्रम है । परन्तु पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शन हुआ तो तीन काल-तीन लोक को जाने-देखे । परन्तु उस पर को जाने-देखे, इतना भी व्यवहार है । निश्चय से पर को जानता-देखता नहीं । क्यों ? - कि जिसमें तन्मय होता है, उसे निश्चय कहते हैं । जिसमें तन्मय हुए बिना दूर रहकर जाने, उसे व्यवहार कहते हैं । आहाहा ! ऐसी बात किस प्रकार की !

मुमुक्षु : पर में तन्मय होकर जाने तो बाधा क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका नाश हो जाए । अपना नाश होकर पर में जाए, यह किस प्रकार हो ? तन्मय-तन्मय अर्थात् उसरूप । अपने स्वरूप को (छोड़कर) यह स्वरूप पररूप चला जाए तो अपना नाश हो जाता है । लॉजिक से, न्याय से (बात है) । आहाहा ! यह बात सुनने को मिलना मुश्किल है । अभी तो सब गड़बड़, कार्यवाहक और सब डॉक्टर सब वकील और सब इकट्ठे होकर ऐसा करते हैं हम, हम ऐसा करते हैं, देश का ऐसा करते हैं । आहाहा ! कारीगर और मकान बनानेवाला, कुम्हार घड़ा बनानेवाला । कुम्हार घड़ा बना नहीं सकता । घड़ा मिट्टी से बनता है । मिट्टी में पर्याय पलटने का स्वभाव है, तो मिट्टी से घड़ा बनता है । आटा से रोटी बनती है । स्त्री से और तवा से रोटी नहीं होती । आहाहा !

यहाँ न्याय क्या कहते हैं ? कि भाई ! अल्पा है, तब तक तुमको भ्रम लगता है कि पर को कुछ न कुछ सहायता करते हैं । अब यहाँ तो पूर्ण दशा प्रगट हुई, वह भी पर का कुछ करे नहीं, परन्तु पर को जाने, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है । आहाहा ! व्यवहार से अर्थात् पराश्रित व्यवहार से कहने में आता है । आहाहा !

जिन्होंने दोषों को जीता है,... दो बात हुई। आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न है और उसकी दशा में दोष भी है। चार गति में भटकता है। अब यह दोष है, उसे जीत भी सकता है। क्योंकि अपनी पर्याय में अवस्था में दोष है। वस्तु में नहीं। वस्तु निर्दोष आनन्दकन्द प्रभु है। सच्चिदानन्द प्रभु की दृष्टि करने और उसमें लीन होने पर दोष नाश होते हैं। दोष है। दोष न हो तो परिभ्रमण नहीं कर सकता। परन्तु उन दोषों को जीता है। **जिनके चरण देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रों के मुकुटों में प्रकाशमान मूल्यवान मालाओं से पुजते हैं...** आहाहा! आहाहा! यहाँ क्या कहते हैं कि बड़े इन्द्र आकर जिन्हें पूजें तो भी वे पर का कुछ नहीं करते। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे का कुछ नहीं करते तो भी (दूसरे) चरण वन्दन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहता हूँ न। वे कौन इन्द्र? कैसे? आहाहा!

जिनके चरण... केवली सर्वज्ञ भगवान परमात्मा आत्मा होता है, तब देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रों के मुकुटों में प्रकाशमान मूल्यवान मालाओं से... मूल्यवान माला। अरबों की कीमती माला हो मुकुट में। ऐसे नम जाते हैं। भगवान के चरणकमल में नम जाते हैं। आहाहा! (अर्थात् जिनके चरणों में इन्द्र तथा चक्रवर्तियों के मणिमालायुक्त मुकुटवाले मस्तक अत्यन्त झुकते हैं), और (लोकालोक के समस्त) पदार्थ एक-दूसरे में प्रवेश को प्राप्त न हों इस प्रकार... आहाहा! तीन लोक और अलोक जिनमें एक साथ ही व्याप्त हैं... ऐसे इन्द्र जिन्हें नमन करें, वन्दन की क्रिया करे, तो भी भगवान तो तीन लोक-तीन काल को जाननेवाले हैं। वे (वन्दनादि) करते हैं, वह भी ज्ञान होने से पहले, केवलज्ञान हुआ, उस ज्ञान में ज्ञात हुआ था कि इस प्रकार करेंगे। परन्तु वे महा इन्द्र और नरेन्द्र जिनेन्द्र को नमस्कार और वन्दन करें तो भी वे पर का कुछ करते नहीं। आहाहा! दूसरे जब अपने को वन्दन करे, तब इन्हें कुछ तो करना चाहिए न? आहाहा! दुनिया से सब अलग, बापू! दुनिया तो अज्ञ-पागल हो गयी है। कुछ नहीं, डॉक्टर। यहाँ तो दुनिया को पागल कहते हैं। पढ़े हुए को।

अपना चैतन्यमूर्ति भगवान भिन्न है। उसके अस्तित्व की खबर नहीं और उसके अस्तित्व का विकास जब होता है, तब इन्द्रादि उनकी पूजा करते हैं। ऐसी वन्दनादि की क्रिया इन्द्र-नरेन्द्र करें तो भी भगवान पर का कुछ नहीं कर सकते। आहाहा!

मुमुक्षु : वन्दन तो धर्म नहीं, अधर्म है। भगवान उसे इनकार नहीं करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शुभभाव है। भाव होता है।

यहाँ तो कहना है यह कि इस प्रकार से जिन्हें नरेन्द्र और इन्द्र भी नमन करे, जिन्हें मुकुट की माला छुए, ऐसी वन्दन की क्रिया (करे), तो भी वे भगवान उनका कुछ नहीं करते। आहाहा! ये इन्द्रादि उन्हें नमन करते हैं। वे भगवान पर का कुछ नहीं करते। उन्हें आशीर्वाद नहीं देते कि जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा। यह नहीं। अरेरे! क्या बात यह! पागल जैसी बात लगे। बात ऐसी कठिन, बापू! वस्तु का स्वरूप कोई अलग प्रकार है। आहाहा! यहाँ यह कहना चाहते हैं।

मुमुक्षु : भगवान को तो तिन्नाणं तारयाणं कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब व्यवहार। व्यवहार से (कहा)। यह कहा, ऐसा व्यवहार, ऐसा यह व्यवहार। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि परमात्मा जब दोष का नाश करके निर्दोष होते हैं। पर्याय में दोष है और मिथ्यात्व-राग-द्वेष है। (मिथ्यात्व), राग-द्वेष टलकर अन्दर समकित हुआ और वीतरागता हुई है तो तीन काल-तीन लोक का जानना-देखना हुआ। नरेन्द्र और इन्द्र आकर मुकुट से नमन करे तो भी कुछ आशीर्वाद देकर कोई कल्याण कर सके, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : आज तो दिव्यध्वनि का दिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दिव्यध्वनि निकलती है। आज भगवान के श्रीमुख से दिव्यध्वनि (निकली)। वीर परमात्मा केवल (ज्ञान) को प्राप्त हुए थे बैशाख शुक्ल दसमी (को), बैशाख शुक्ल दसमी। परन्तु छियासठ दिन तक वाणी नहीं खिरी। वह वाणी आज खिरी थी। आहाहा! उसे यहाँ ढाई हजार वर्ष हुए। उस वाणी में यह आया था। गणधरों ने, सन्तों ने यह वाणी झेली और अपनी ताकत से केवलज्ञान प्रगट किया। आहाहा! तो भी भगवान को मैं नमस्कार करूँ, एक सर्वज्ञ हुए और दूसरे सर्वज्ञ हुए तो दूसरे सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ को नमन करे (ऐसा नहीं)। पहले के सर्वज्ञ हैं, इसलिए मैं नमन करूँ, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, पूर्ण ज्ञान और दर्शन जहाँ प्रगट हुए, वे पर का कुछ नहीं

करते। पर को वन्दन नहीं करते। आहाहा! और वन्दन करे, उसे आशीर्वाद नहीं देते कि तेरा कल्याण होगा। आहाहा! अरे प्रभु! वीतराग! बापू! प्रभु! तेरा स्वरूप। सर्वज्ञ-वीतराग तेरा स्वरूप है। आहाहा!

अनन्त-अनन्त काल हुआ। यह भव, पहले भव, भव... भव... भव... भव... भव... भव... अनन्त काल में भवरहित रहा नहीं। अनन्त भव किये। परन्तु कभी इसने आत्मज्ञान नहीं किया। आहाहा! पशु के अनन्त अवतार, मनुष्य के अनन्त अवतार, चींटी-कौए के अनन्त अवतार, शूकर के अनन्त अवतार, विष्ठा खाये, उसके अवतार... आहाहा! अनादि काल का है (तो) रहा कहाँ? आत्मा तो नित्य है। रहा कहाँ? इस भटकते परिभ्रमण में रहा। आहाहा! यह परिभ्रमण मिटाना हो तो तुझमें जो अज्ञान है कि मैं पर का करता हूँ और पर को मदद करूँ, सेवा करूँ—यह सब दोष है, उस दोष का नाश कर डाल और ज्ञाता-दृष्टा हो जा। ज्ञाता-दृष्टा होने पर इन्द्र आदि नमन करे तो भी तेरे ज्ञान-दर्शन में ऐसा विकल्प नहीं होगा कि तेरा कल्याण हो। ऐसी आपकी दशा है, प्रभु! आहाहा! समझना कठिन पड़े ऐसा है, प्रभु! जो यहाँ अधिकार चले, वह बात चले न! जिसे जगत ने सुना न हो... आहाहा!

चैतन्यप्रकाश के पूरे अन्दर भरे हैं। चैतन्यप्रकाश के नूर का पूरा आत्मा! आहाहा! वे भगवान् पूर्णानन्द को प्राप्त हों तो भी पर को कुछ आशीर्वाद देकर कल्याण करे, ऐसा नहीं है। यह तिन्नाणं तारयाणं आया न, वह तो स्वयं बोलते हैं। उन्हें क्या है? वे कहाँ किसी को तारते थे? आहाहा! जिस द्रव्य की-पदार्थ की जिस समय में जो उसकी पर्याय होनेवाली है, वह क्रमबद्ध होगी। उसे दूसरा करे अथवा वह पर्याय आगे-पीछे स्वयं करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! भारी कठिन बात। स्वयं आप फेरफार करे, ऐसा नहीं... आहाहा!

मुमुक्षु : हाथ पकड़कर बैठे रहना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बैठा रहा है। मानता है कि मैं यह करता हूँ। वह तो स्वयं ज्ञान और दर्शन, आनन्दस्वरूप में ही है। जहाँ-तहाँ मान्यता करता है कि यह किया.. यह किया.. यह किया... अभिमान। 'मैं करूँ... मैं करूँ - यही अज्ञान है'। नरसिंह मेहता कहते हैं। नरसिंह मेहता जूनागढ़ में हो गये न? वैष्णव में। 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान

है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे'। गाड़ी को जैसे कुत्ता खींचे। गाड़ी तो उसे छूती हो। गाड़ी तो बैल से चलती हो। उस कुत्ते को ऐसा कि मुझसे चलती है। इसी प्रकार इस दुकान पर बैठे तो कहता है, मुझसे यह सब चलता है। वह सब कुत्ता जैसे हैं। ऐसा है, बापू! यह तो इसके हित की बात है। आहाहा!

हमारे यहाँ हमारी दुकान में था न? पालेज में दुकान है न? कुँवरजीभाई बैठे तो यह सब मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ... हमारे बड़े भाई भागीदार थे। दो दुकानें थीं। उनका बड़ा भाई मेरा भागीदार और उनका छोटा भाई हमारे बड़े भाई का भागीदार। दो दुकानें थी। कि मैं करूँ... मैं करूँ... यह पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। यह (अभी) तो ९१ वर्ष हुए। डॉक्टर! शरीर को ९१-९१ वर्ष (हुए)। ९० और १। पिचहत्तर वर्ष पहले दुकान पर सब देखा है। आहाहा! अभिमान... अभिमान, मानों यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... कहा - यह क्या करता है? उस दिन मैंने कहा था। (संवत्) १९६४ के वर्ष। कितने वर्ष हुए? ६४? १८ वर्ष की उम्र थी। उस दिन मैंने कहा था। मैं तो पहले से भगत कहलाता था। उस दिन कहा, क्या पूरे दिन यह होली सुलगती है! मरकर ढोर में जाएगा, याद रखना। यह तेरे रुपये दो-दो लाख और पाँच-पाँच लाख की आमदनी यहीं पड़ी रहेगी। बोले नहीं, मेरे सामने बोले नहीं। यह भगत है। भगत है, भगत है, बोलने दो। मुझसे चार वर्ष बड़े थे। मेरे सामने कभी कोई बोले नहीं। उस समय १८ वर्ष पहले (१८ वर्ष की उम्र में) ऐसी छाप थी। दुकान तो मैं भी चलाता था। पाँच वर्ष (चलायी)। आहाहा! बापू! यह चीज़ कोई अलग है।

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि आत्मज्ञानी-आत्मदर्शी कदाचित् किसी का करे, ऐसा तुम मानो, तो मैं तो कहता हूँ, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी को पूर्ण इन्द्र नमन करते हैं, तो भी वे भगवान पर को कभी नहीं कहते। वे जानते हैं, ऐसा कहे तो वह भी व्यवहार है। वे भगवान उसे जानते हैं, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। बाकी निश्चय से तो अपने को जानते हैं। विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२८०

और (इस १६४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(मालिनी)

व्यवहरण-नयेन ज्ञान-पुञ्जोऽयमात्मा,
प्रकटतर-सुदृष्टिः सर्व-लोक-प्रदर्शी ।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२८०॥

(वीरछन्द)

ज्ञान पुञ्ज इस आत्मा को है केवलदर्शन प्रगट हुआ ।
इसीलिए व्यवहार दृष्टि से सर्व लोक को है देखा ॥
केवलज्ञान कला द्वारा यह मूर्त-अमूर्त पदार्थों को ।
जाने आत्मा, परम-श्रीरूपी कामिनी का वल्लभ हो ॥२८०॥

[श्लोकार्थः-] ज्ञानपुंज ऐसा यह आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दर्शन होने पर (अर्थात् केवलदर्शन प्रगट होने पर) व्यवहारनय से सर्व लोक को देखता है तथा (साथ में वर्तते हुए केवलज्ञान के कारण) समस्त मूर्त-अमूर्त पदार्थसमूह को जानता है । वह (केवलदर्शनज्ञानयुक्त) आत्मा परमश्रीरूपी कामिनी का (मुक्तिसुन्दरी का) वल्लभ होता है ॥२८०॥

प्रवचन-१९६, गाथा-१६५, श्लोक २८०-२८१, मंगलवार, आषाढ़ कृष्ण २, दिनांक २९-०७-१९८०

नियमसार, २८० (श्लोक) ।

व्यवहरण-नयेन ज्ञान-पुञ्जोऽयमात्मा,
प्रकटतर-सुदृष्टिः सर्व-लोक-प्रदर्शी ।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२८०॥

श्लोकार्थ :- आहाहा ! ज्ञानपुंज ऐसा यह आत्मा... आत्मा, वह ज्ञानपुंज है। कहने का आशय तो ऐसा है कि ज्ञानपुंज जैसे देखे, वैसे दर्शन भी देखता है। ज्ञानपुंज ऐसा यह आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दर्शन होने पर (अर्थात् केवलदर्शन प्रगट होने पर) व्यवहारनय से सर्व लोक को देखता है... केवलदर्शन साथ में है, इसलिए लोकालोक को नहीं देखता, ऐसा नहीं है। केवलदर्शन भी देखता है और केवलज्ञान भी लोकालोक को देखता है। आगे बहुत गाथाएँ ऐसी ली हैं। कोई ऐसा कहे कि दर्शन तो स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है, तो यह बात विरुद्ध है। ज्ञान जैसे पर को जानता है, और स्व को जानता है... यहाँ तो यह लिया न ?

आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दर्शन होने पर (अर्थात् केवलदर्शन प्रगट होने पर) व्यवहारनय से सर्व लोक को देखता है... आहाहा ! व्यवहार में से देखते हैं। तन्मय होकर नहीं। भिन्न होकर देखता है, इसलिए व्यवहारनय। आहाहा ! शिक्षण शिविर आयेगा, तब दूसरा लेंगे। यह तो छोड़ देंगे। सवेरे-दोपहर दोनों लेना है। यह तो अभी चलता है। **व्यवहारनय से सर्व लोक को देखता है...** क्या कहते हैं ? कि ज्ञान सर्व लोक को जानता है, उसके साथ दर्शन भी सर्व लोक को देखता है। आहाहा ! तथा (साथ में वर्तते हुए केवलज्ञान के कारण) समस्त मूर्त-अमूर्त पदार्थसमूह को जानता है। आहाहा ! दर्शन केवलज्ञान है, इसलिए साथ में रहा हुआ ज्ञान भेद को नहीं जानता, ऐसा नहीं है। ज्ञान भी सर्व को देखता है। आहाहा ! आ गया। दर्शन भी सर्व को देखता है। ज्ञान और दर्शन दोनों अभेद चीज़ है। जैसे ज्ञानपुंज सर्व को देखे, दर्शन साथ में होने पर भी दर्शन भी सर्व को देखे-जाने। आहाहा !

यह भारी चर्चा है, उसका कारण यह कि तेरे अतिरिक्त किसी परचीज़ को तू स्पर्श भी नहीं करता। तुझमें दर्शन-ज्ञान में भी जो भेद दिखता है कि दर्शन स्व को देखता है, वह भी नहीं है। यह भी ज्ञान पर को जाने और साथ में दर्शन भी पर को देखे। जानन-देखन तेरा स्वभाव है। किसी का करना... आहाहा ! या किसी से अपने में कुछ लेना, ऐसा नहीं है।

केवलज्ञान होने पर सर्व को जाने-देखे। किसी को दे सके कि केवलज्ञान हुआ तो पर को कुछ ले सके, ऐसा है नहीं। केवलज्ञान के साथ दर्शन है तो दर्शन भी, जैसे केवलज्ञान देखता है, वैसे दर्शन भी सर्व को देखता है। आहाहा ! किसी को लेना-देना है नहीं। पूर्ण स्वरूप हुआ तो वह कुछ देता नहीं। केवलज्ञान और केवलदर्शन पूर्ण हुआ तो कोई परमात्मा होकर पर को कुछ दे सकते नहीं। लाभ दे सकते नहीं। आहाहा ! यह बात विशेष करते हैं।

आत्मा परमश्रीरूपी कामिनी का... परमश्री अर्थात् केवलज्ञान की लक्ष्मी, उसकी कामिनी का (मुक्तिसुन्दरी का) वल्लभ होता है। अपने ज्ञान के आनन्द में लीन होता है। केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन भी साथ में सर्व को देखता है और पूर्ण परमात्मदशा का बल्लभ होता है। आहा! आया? आत्मा परमशुद्ध है। ऐसी शक्ति हुई कि दुनिया को कुछ भी लाभ होते नहीं? नहीं। अपनी परिणति शुद्ध में लीन है। आहाहा! परमात्मा तीन काल-तीन लोक को जानते हैं। तीन काल-तीन लोक को देखते हैं, तथापि पर को कुछ दे सकें, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! लोगस्स में आता है न? सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु। लोगस्स-लोगस्स। श्वेताम्बर में। अपने भी आता है। दिगम्बर में सामायिक है। सामायिक का पाठ है। प्रचलित नहीं है। पाठ है। उसमें यह सब पाठ है। आहाहा! सर्व को देखते हैं परन्तु किसी को देते नहीं। भाषा ऐसी है कि सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु। हे परमात्मा! आप पूर्ण दशा को प्राप्त हुए तो हमको भी दिखाओ। इसका अर्थ यह कि अपनी प्रयत्नदशा में पुरुषार्थ करके अपनी पर्याय प्रगट करता है, उसे सिद्ध को दिखाओ ऐसा कहने में आता है। कहीं सिद्ध दूसरे को दिखावे या सिद्ध पर को कुछ भी दे, (ऐसा नहीं है)। नमोत्थुणं में यह तो आता है न? तरणतारण, तिन्नाणं तारयाणं। नमोत्थुणं किया होगा या नहीं? उसमें नमोत्थुणं में आता है। तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोअगाणं... तिरनेवाला तिरता है और भगवान तारते हैं। तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं,... ज्ञान पाता है और सर्वज्ञ उसे ज्ञान प्राप्त कराते हैं। मुत्ताणं, मोअगाणं... आत्मा मुक्त होता है और परमात्मा मुक्ति देते हैं। किया है या नहीं मुखाग्र? नमोत्थुणं? है? यह सब व्यवहार की बात है। ले-दे कौन? आहाहा!

यहाँ तो (मुक्तिसुन्दरी का) वल्लभ होता है। क्या कहते हैं? कि जब अपनी पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, तो अपनी शुद्धपरिणति का वल्लभ होता है। दुनिया का वल्लभ होता है और दुनिया को लाभ होता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! अपनी शुद्धपरिणति को वल्लभ होता है। आहाहा! राग होता है। जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक राग होता है, तो राग होता है, तब तक दर्शन पहले और ज्ञान बाद में, ऐसा भेद पड़ता है। यहाँ वह भेद निकालकर पूर्णता की प्राप्ति होती है, तो अपनी पूर्णता की पर्याय का वल्लभ होता है। वह दुनिया का वल्लभ हो या न हो और दुनिया को कुछ दे सके, यह बात है नहीं। यह १६४वाँ कलश (गाथा) हुआ।

गाथा-१६५

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।

अप्पा अप्पपयासो णिच्छय-णयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

ज्ञान-मात्म-प्रकाशं निश्चय-नयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा आत्मप्रकाशौ निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६५॥

निश्चयनयेन स्वरूपाख्यानमेतत् । निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिहा-
भिहितं तथा सकलावरणप्रमुक्तशुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकले-
न्द्रियव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्तबहिर्विषयत्वात्
स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव । इत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्णसहजशुद्धज्ञानदर्शनमयत्वात्
निश्चयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिस्थावरजङ्गमात्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्यायविषयेषु आकाशा-
प्रकाशकादिविकल्पविदूरस्सन् स्वस्वरूपे सञ्ज्ञालक्षणप्रकाशतया निरवशेषेणान्तर्मुखत्वादनव-
रतं अखण्डाद्वैतचिच्चमत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

है ज्ञान निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है ।

है जीव निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है ॥१६५॥

अन्वयार्थः [निश्चयनयेन] निश्चयनय से [ज्ञानम्] ज्ञान [आत्मप्रकाशं]
स्वप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिए [दर्शनम्] दर्शन स्वप्रकाशक है । [निश्चयनयेन]
निश्चयनय से [आत्मा] आत्मा [आत्मप्रकाशः] स्वप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिए
[दर्शनम्] दर्शन स्वप्रकाशक है ।

टीका : यह, निश्चयनय से स्वरूप का कथन है ।

यहाँ निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान का लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है; उसी प्रकार
सर्व आवरण से मुक्त शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशक ही है । आत्मा वास्तव में, उसने सर्व

इन्द्रिय-व्यापार को छोड़ा होने से, स्वप्रकाशकस्वरूप लक्षण से लक्षित है; दर्शन भी, उसने बहिर्विषयपना छोड़ा होने से, स्वप्रकाशकत्वप्रधान ही है। इस प्रकार स्वरूपप्रत्यक्ष-लक्षण से लक्षित अखण्ड-सहज-शुद्धज्ञानदर्शनमय होने के कारण, निश्चय से, त्रिलोक-त्रिकालवर्ती स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्यगुणपर्यायरूप विषयों सम्बन्धी प्रकाश्य-प्रकाशकादि विकल्पों से अति दूर वर्तता हुआ, स्वस्वरूपसंचेतन जिसका लक्षण है ऐसे प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होने के कारण, आत्मा निरन्तर अखण्ड-अद्वैत-चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है।

गाथा - १६५ पर प्रवचन

अब १६५।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयण दंसणं तम्हा ।

अप्पा अप्पपयासो णिच्छय-णयण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

है ज्ञान निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है।

है जीव निश्चय निज-प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है ॥१६५॥

टीका : यह, निश्चयनय से स्वरूप का कथन है। पहले व्यवहार आया। व्यवहार से ज्ञान देखे तो दर्शन भी व्यवहार से देखे। तो जीव भी व्यवहार से देखे। दोनों अभेद है न? आहाहा! यह बहुत वर्णन करने का हेतु ऐसा है कि यह जानन-देखन शक्ति, जानन-देखन की पूर्णता करे। परन्तु इससे कहीं पर को लाभ हो... आहाहा! अपनी पूर्ण परिणति के अतिरिक्त दूसरे को कुछ भी लाभ दे सके, ऐसी चीज़ है नहीं। सिद्ध भगवान परमात्मा होते हैं, तो भी किसी को दे नहीं सकते। आहाहा!

मुमुक्षु : साहूकार लोग गरीब को मदद करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मदद का अभिमान। अभिमान करते हैं। पैसा दूसरे को देते हैं। ऐसा किया... ऐसा किया। (ऐसा अभिमान करते हैं)।

यह तो ज्ञान और दर्शनस्वरूप प्रभु जानन-देखन की उत्कृष्टता को प्राप्त करता है परन्तु जानन-देखन की उत्कृष्टता को प्राप्त होता है तो पर को कुछ दे सके, (ऐसा नहीं है), तो नीचे के प्राणी दे सकें, ऐसा है कहाँ? पूर्ण परमात्मदशा स्वतन्त्र प्रगट हुई और जो दर्शन

स्व को देखे ऐसा व्यवहार से कहा था, वह दर्शन स्व-पर को देखे, वह ज्ञान स्व-पर को जाने। अपने में रहे। पर को कुछ दे सकता या ले सकता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : पर को नहीं देता, इसलिए लोभिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूर्ण स्वरूप में लीन है, ऐसा यह लोभिया है। अपने में स्वयं चीज़। यहाँ भी ऐसा है। किसी को ले सके, दे सके (ऐसा नहीं है)। विकल्प करे कि मैंने इतना दिया, इतना लिया। आहाहा! राग आता है परन्तु आत्मा का स्वभाव तो राग को जानने का है। राग को भी जाने। आहाहा! इसका स्वरूप तो जानन-देखन चैतन्यपुंज है। राग आता है, द्वेष आता है, विषय-वासना होती है, उसकी क्रिया भी होती है। छियानवें हजार स्त्रियाँ (होती है) तो भी ज्ञान, ज्ञानरूप रहता है। ज्ञान, वह राग होता है, उसे जानता है। वह राग, विषय-वासना आयी, इसलिए जानता-देखता है, ऐसा भी नहीं है। इस समय ज्ञान ही स्व-पर का प्रकाशक अपने से अपने में उत्पन्न होता है। समझ में आया? राग आया तो राग के कारण राग को जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो अपना स्वभाव ही जानने-देखने का है। राग आया तो राग को भी जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। बाकी तो ज्ञान की पर्याय स्व-परप्रकाशक अपने से अपने में पर की अपेक्षा बिना उत्पन्न होती है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग! एक तिनके के दो टुकड़े नहीं कर सकता। यह सब... बहुत दिनों से आये। कल आहार कराने आये थे। पहले-पहले। आहाहा! शरीर की स्थिति ऐसी है। आहाहा!

केवलज्ञान हो जाए तो रोग नहीं होता और रोग हो, वह रहता नहीं। केवलज्ञान (होने से) पहले सनतकुमार चक्रवर्ती उसी भव में मोक्ष जानेवाले, गलित कोढ़ (हुआ था)। अंगुलियाँ गल जाए। साधु, सन्त छठवें गुणस्थान में आत्मा के आनन्द में लीन हैं, उनके अंग भी गल जाए। खून और माँस गल जाए। सात सौ वर्ष (तक ऐसी दशा रही)। सनतकुमार। आहाहा! छद्मस्थ अवस्था में ऐसी दशा होती है। केवलज्ञान होने के बाद नहीं। पूर्णानन्द का नाथ, वह किसी को दे नहीं, किसी को ले नहीं। शरीर में रोग और उपसर्ग हो नहीं सकते। केवली को कोई रोग या उपसर्ग नहीं है। दूसरा कोई उपसर्ग और परीषह केवली को नहीं कर सकता। केवलज्ञान न हो, तब तक (हो सकता है)। तू अपूर्ण क्यों है? आहाहा! वहाँ से दूसरा परीषह-उपसर्ग निमित्तरूप कहने में आता है। निमित्तरूप। आहाहा!

मुमुक्षु : ग्यारह परीषह...

पूज्य गुरुदेवश्री : ग्यारह परीषह नहीं। केवली को परीषह नहीं। नाममात्र कथन है। अरे! केवली को क्या, छद्मस्थ को परीषह स्पर्श नहीं करते। यह बात करते हैं न! संयोगी कोई अग्नि, सर्प, बिच्छु का दुःख नहीं है। उसे तो यह शरीर स्पर्श भी नहीं करता, वह इसे स्पर्श नहीं करता और शरीर उसे स्पर्श नहीं करता मात्र उस संयोग पर दृष्टि जाने से अन्दर द्वेष आवे कि ठीक नहीं है। उस द्वेष का वेदन है, संयोग का वेदन नहीं है। आहाहा! नारकी में कितने प्रतिकूल संयोग हैं। ओहो! तो भी उन संयोगों का दुःख नहीं है। संयोग पर लक्ष्य जाए, वहाँ रुक जाता है, उसका यह दुःख है। आहाहा! दूसरी चीज़ तो इसे स्पर्श भी नहीं करती। आहाहा!

इसका महात्म्य तो देखो! केवलज्ञान और केवलदर्शन होवे तब परीषह, उपसर्ग नहीं होते। किसी को ले-दे तो नहीं सकता, परीषह-उपसर्ग नहीं। आहाहा! और रोगादि नहीं। छद्मस्थ है, तब तक चार ज्ञान के धनी मुनि हैं... आहाहा! तो भी शरीर में रोग हो। ऐसी दशा नाश करके जहाँ पूर्ण दशा प्रगट हुई, (वहाँ उसे) रोग नहीं, उपसर्ग नहीं, परीषह नहीं, अल्पता नहीं और साथ में दर्शन भी स्व को देखे, इतना ही नहीं। दर्शन भी साथ में सबको देखे। ज्ञान सर्व को देखता है, वैसे दर्शन भी सर्व को देखता है। आहाहा!

यहाँ अब कहते हैं, निश्चयनय से स्वरूप का लक्षण है। यहाँ निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान का लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है;... पर निकाल डाला। है? निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान का लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है;... यह स्व-प्रकाशकपना। स्व-पर को जानना, यह स्व-प्रकाशकपना है। अपना स्वभाव ही इतना है कि स्व-पर को जाने तो भी वह स्व-प्रकाशक है। अपने में रहकर स्व-पर को जाने, वह अपना ज्ञान-दर्शन है। आहाहा! निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान का लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है; उसी प्रकार सर्व आवरण से मुक्त शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशक ही है। आहाहा! निश्चय से बात (की है)। जैसे पहले व्यवहार कहा था कि पर को देखता है। उसी प्रकार यहाँ निश्चय से स्व को देखता है। दर्शन भी स्व को देखता है। आहाहा! जैसे ज्ञान पर को नहीं देखता, निश्चय से तो स्व-प्रकाशक है, वैसे दर्शन भी स्व-प्रकाशक ही है। आहाहा!

आत्मा वास्तव में, उसने सर्व इन्द्रिय-व्यापार को छोड़ा होने से, स्वप्रकाशकस्वरूप लक्षण से लक्षित है;... यह क्या कहा? कि पहले जब ज्ञान को स्व-प्रकाशक कहा, फिर

दर्शन को स्व-प्रकाशक कहा तो आत्मा भी स्व-प्रकाशक है। आत्मा भी स्व-प्रकाशक है। आहाहा! निश्चयनय से जैसे अपना ज्ञान अपने को ही प्रकाशित करता है, जैसे दर्शन अपने को देखता है, वैसे आत्मा भी अपने को जानता है। यह गुण की बात की, गुण को धारण करनेवाले की बात की। देखो! आया? आहाहा!

इस प्रकार स्वरूपप्रत्यक्ष-लक्षण से लक्षित अखण्ड-सहज-शुद्धज्ञानदर्शनमय होने के कारण,... शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय होने के कारण निश्चय से, त्रिलोक-त्रिकालवर्ती स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्यगुणपर्यायरूप विषयों सम्बन्धी प्रकाश्य-प्रकाशकादि विकल्पों से अति दूर वर्तता हुआ,... आहाहा! स्वस्वरूपसंचेतन जिसका लक्षण है ऐसे प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होने के कारण,... आत्मा की बात करते हैं। पहले गुण की बात की। आहाहा! इतना महिमावन्त प्रभु अन्दर (विराजता है)। आहाहा! जैसे ज्ञान निश्चय से स्व-प्रकाशक है, दर्शन भी स्व-प्रकाशक है तो उसके गुण का धारक आत्मा भी स्व-प्रकाशक है। आहाहा! यह कहते हैं। अन्त में यह कहा।

ऐसे प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होने के कारण,... आत्मा अन्तर्मुख होने के कारण। है? आत्मा निरन्तर अखण्ड-अद्वैत-चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है। आहाहा! उसका गुण जैसे जानना-देखना सम्पूर्ण है। पर को नहीं, अपने को जानता-देखता है; वैसे भगवान आत्मा भी अपने को ही जानता-देखता है, पर को नहीं। आहाहा! आचार्य ने स्वयं अपने लिये यह बनाया है। इसमें यह बात ली है। नियमसार स्वयं अपने लिये बनाया है, उसमें यह विषय लिया है। अखण्ड वस्तु, यह गुण और गुणी अखण्ड है, ऐसा बताना है। कोई गुण भिन्न है और गुणी भिन्न है, ऐसा नहीं है। गुण जैसा कहा है, वैसे आत्मा का कार्य है। यदि व्यवहारनय से गुण को परप्रकाशक कहो तो आत्मा को व्यवहार से पर-प्रकाशक कहो। गुण को निश्चय से स्व-प्रकाशक कहा तो आत्मा भी निश्चय से स्व-प्रकाशक कहा है। आहाहा!

आत्मा निरन्तर अखण्ड-... पूर्ण, अद्वैत—एक चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है। पर को जानने-देखने में नहीं जाता। वह उपयोग भी पर में नहीं जाता। आहाहा! निश्चय से। व्यवहार से पर के ऊपर लक्ष्य है तो वह जानने में आता है तो व्यवहार कहा। वह व्यवहार असद्भूतव्यवहार है। आहाहा! अन्तर में अपना असंख्य प्रदेश अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द

से खिल उठा है, तो भी पर को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! अन्य में कहते हैं कि परमात्मा होवे तो दूसरे को लाभ दे। आहाहा! यहाँ भक्तों को कष्ट पड़ जाए, भक्तों को कष्ट करने राक्षस आवे तो उन्हें बचाने ईश्वर भी मोक्ष में से चले आते हैं। ऐसा है नहीं। यह बताना है। पूर्ण... पूर्णस्वरूप अपने में है। अनादि से अपने में ही है। पर को कुछ लिया-दिया है नहीं। आहाहा! अपने में विकार करे और विकार टाले। पूर्ण हुआ तो पूर्णानन्द में लीन है। अपनी पूर्ण दशा में आत्मा लीन है। निश्चय से बाहर को देखता है, वह भी व्यवहार से, निश्चय से नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा को यहाँ बहुत काम कराना... आहाहा! मैं बोलता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं पीता हूँ, मैं पर का कर्ता हूँ, मैं लिखता हूँ। कहो, जज! यह जज लिखते होंगे या नहीं? कोर्ट में बोलते हैं या नहीं? कनुभाई जज थे न? अहमदाबाद। भाषा-वाषा आत्मा कुछ नहीं कर सकता। दलील नहीं कर सकता। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु!

चैतन्यघन चैतन्यपुंज चैतन्यसागर अपने में डोलता है। आहाहा! डोलता है अर्थात् अपने में परिणमन करता है। परन्तु पर में उसकी कुछ मदद मिले या पर को मदद दे, ऐसा पूर्णानन्द के नाथ परमात्मा में होता नहीं। आहाहा! कठिन बात है, भाई! यहाँ रहा होने पर भी... ओहोहो! एक यह उठाने का काम आत्मा का नहीं। आत्मा उसे स्पर्श नहीं करता। इस अँगुली स्पर्श नहीं करता और यह अँगुली इसे स्पर्श नहीं करती। ओहोहो!

आत्मा पूर्ण हुआ तो ऐसी कोई शक्ति होगी या नहीं? यह प्रश्न चला है कि आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, तो उसमें एक शक्ति ऐसी भी होगी कि पर का कुछ कर सके। यह प्रश्न चला है। समझ में आया? संख्या से अनन्त शक्तियाँ अन्दर में हैं, तो एक शक्ति ऐसी भी होगी कि पर का कुछ करे। इनकार करते हैं कि ऐसा नहीं है। अनन्त शक्तियों में ऐसी कोई शक्ति नहीं है। गुण अनन्त हैं। संख्या से आत्मा में अनन्त गुण हैं। परन्तु कोई गुण ऐसा नहीं है कि पर का कर सके। तथा कोई गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे। आहाहा! पर का तो कर सकता नहीं परन्तु गुण ऐसा है कि विकार भी नहीं करे। सब अनन्त गुण पवित्र हैं। विकार जो होता है, वह तो पर्याय में अध्धर से निमित्त के आधीन, निमित्त के वश होकर पर्याय में विकार होता है। आहाहा! तत्त्व को समझना अलौकिक बात है। यह कहीं साधारण बात नहीं है। आहाहा! यह यहाँ कहा।

अखण्ड-अद्वैत-चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है। चैतन्य स्व-पर को जानता है,

ऐसा कहो तो भी अपने में रहता है। उस स्व-पर का अर्थ स्व ही है। आत्मज्ञान आत्मस्वरूप को जाने, उसका अर्थ आत्मज्ञ ही है। पर में जाता नहीं और पर को देखता नहीं; वह आत्मज्ञ ही है। आहाहा! अब यहाँ पूरे दिन पर के काम करना और मानना कि मैंने यह किया। उसे दिया, लिया, ऐसा देखा, उसे पत्र लिखा। पर को पत्र लिखा बुलाने के लिये तो वह आयेगा। यह सब अभिमान। आहाहा! परमाणु-परमाणु की क्रिया स्वतन्त्र है, उसका अभिमान (करता है), वह भी स्वतन्त्र है। अभिमान करने के लिये स्वतन्त्र है। केवलज्ञान होने पर सब छूट जाता है। पर का तो पहले से कर नहीं सकता परन्तु अपने में गुण विकाररूप नहीं होता परन्तु पर्याय में विकार था, वह भी पूर्णानन्द में नहीं है। पूर्णानन्द अपने में चैतन्य चमत्कार। **चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है।** पर का कर्ता है, पर को मदद करता है या भगवान की धुन लगावे... णमो सिद्धाणं... णमो सिद्धाणं... णमो सिद्धाणं... बहुत धुन लगावे तो सिद्ध कोई मदद करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य तो बाँधता है न? सिद्ध भगवान को स्मरण करने से पुण्य तो बाँधता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव। वह तो शुभभाव है। शुभभाव को घोर संसार कहा। उसमें है। कहीं लिखा है। विशेष.. विशेष.. क्या है वह देखा है, हों! कहाँ हो, यह खबर नहीं पड़ती। घोर संसार आया, लो! यह पृष्ठ ३०। देखो! ३० पर है न? **घोर संसार के मूलरूप समस्त सुकृत और दुष्कृत को, सुख और दुःख को अत्यन्त परिहरो।** आहाहा! क्योंकि वह घोर संसार है। वह अन्यत्र कहीं आया है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार, वह घोर संसार है। शुभभाव को ऐसा कहा है। हाथ नहीं आया। लिखा है, ऐसी खबर है। सुकृत और दुष्कृत कहते हैं न! संसार का मूल। आहाहा! भेदों के ज्ञान को पाकर भव्य जीव घोर संसार के मूलरूप सुकृत और दुष्कृत को, **सुख और दुःख को अत्यन्त परिहरो।** आहाहा! यह दूसरी जगह है। उसमें आया नहीं। लिखा अवश्य था। अनन्त संसार।

मुमुक्षु : पृष्ठ ३०...

पूज्य गुरुदेवश्री : पृष्ठ ३०? १८वाँ कलश? उसमें है। यह तो घोर संसार। यह

लो, उसमें आया। यहाँ १८वें कलश में आया न? मूल पाठ है, लो! 'घोरसंसारमूलम्।' है? १८वाँ कलश। ३० पृष्ठ। यह शुभभाव 'घोरसंसारमूलम्।' अर्थकार ने बराबर नहीं किया। संसार का मूल है, ऐसा कहा। संसार का मूल। दूसरी जगह घोर संसार का मूल (कहा है)। शुभराग, यह भगवान की भक्ति का राग, वह घोर संसार का मूल है। यहाँ देखो न, कहा न 'घोरसंसारमूलम्।' 'इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्।' आहाहा! १८ है। है। घोर शब्द नहीं डाला। इसमें है। है, यह रहा।

इस प्रकार कहे गये भेदों के ज्ञान को पाकर भव्य जीव घोर संसार के मूलरूप समस्त सुकृत और दुष्कृत को... सुकृत को घोर संसार का मूल (कहा)। १८वाँ कलश। कलश-कलश। ३०वाँ पृष्ठ। मूल पाठ में नीचे अर्थ में। मूल था, वह घोर ऐसा रह गया। दब गया। इस प्रकार कहे गये भेदों के ज्ञान को पाकर भव्य जीव घोर संसार के मूलरूप समस्त सुकृत और दुष्कृत को... समस्त। इसमें अमुक शुभभाव ऐसा... यह पाठ है। सुकृत और दुष्कृत को, सुख और दुःख... घोर संसार का मूल है। आहाहा! लोग बेचारे शोर मचाते हैं कि सोनगढ़वाले यह क्या कहते हैं?

शुभभाव हो या अशुभ हो, प्रभु! चैतन्य से विरुद्ध है। जबकि चैतन्य अमृत का सागर है, तब यह (शुभाशुभ) दुःखरूप है, घोर संसार है। आहाहा! सुकृत और दुष्कृत दोनों घोर संसार है। पंच महाव्रत घोर संसार है। आहाहा! शोर मचाते हैं। पंच परमेष्ठी का स्मरण शुभराग घोर संसार का मूल है। आहाहा! ऐसी कठिन बात है। वह घोर हाथ नहीं आता था। आहाहा! वह तो शुभभाव में मस्त रहे। पूरे दिन शुभभाव। परन्तु वह घोर संसार का मूल है। आहाहा! ऐसा तो कठिन लगे, बाबूभाई! हिन्दी में ऐसा कहने जाए... व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसे माननेवाले को यह कहना कि दुष्कृत और सुकृत, सुख और दुःख घोर संसार का मूल है। आहाहा!

एक ओर भगवान आनन्दस्वरूप, एक ओर पुण्य और पाप जहर। आहाहा! वह घोर संसार का मूल है और आत्मा मुक्ति का मूल है। आत्मा के परिणाम कहो या आत्मा मुक्तस्वरूप ही है। आत्मा मुक्तस्वरूप ही है और वह मुक्ति का मूल है। और पुण्य-पाप वह संसार का—घोर संसार का मूल है। आहाहा! ऐसा लोगों को कठिन लगता है। दूसरे बहुत बोल हैं, पूरा पृष्ठ लिखा है। आहाहा!

श्लोक - २८१

[अब, इस १६५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या,
दृष्टिः साक्षात् प्रहत-बहिराल-बना सापि चैषः ।
एकाकार-स्व-रस-विसरापूर्ण-पुण्यः पुराणः,
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ॥२८१॥

(वीरछन्द)

निश्चयनय से आत्मा है यह स्व-प्रकाशक ज्ञान स्वरूप ।
और आत्मा बाह्यालम्बन नाशक जो दर्शन उसरूप ॥
एकाकार स्वरस विस्तार सुपूर्ण अतः पुराण पावन ।
निर्विकल्प महिमा में निश्चित वास करे नित यह आत्म ॥२८१॥

[श्लोकार्थः —] निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशक ज्ञान है; जिसने बाह्य आलम्बन नष्ट किया है ऐसा (स्वप्रकाशक) जो साक्षात् दर्शन उस-रूप भी आत्मा है । एकाकार निजरस के विस्तार से पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है तथा जो पुराण (सनातन) है, ऐसा यह आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा में निश्चतरूप से वास करता है ।२८१ ।

श्लोक - २८१ पर प्रवचन

[अब, इस १६५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या,
दृष्टिः साक्षात् प्रहत-बहिराल-बना सापि चैषः ।

एकाकार-स्व-रस-विसरापूर्ण-पुण्यः पुराणः,
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निविकल्पे महिम्नि ॥२८१॥

श्लोकार्थ : आहाहा! निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशक ज्ञान है;... आहाहा! ज्ञान स्व-प्रकाशक है। पर का प्रकाशक कहना, वह तो निमित्त से असद्भूतव्यवहारनय से कथन है। आहाहा! यहाँ तक जाना। अभी यहाँ तो दया पालो, ब्रत करो, शास्त्र बनाओ, उससे कल्याण होगा। आहाहा! अखबार में बहुत आता है। अमुक पण्डित ने यह पुस्तक बनायी। अभी आया था। उसे यह ईनाम दिया, वस्त्र दिये, एक हजार रुपये दिये। यह फूलचन्दजी ने माँगा है। ये कैसे सागर? विद्यासागर। वहाँ गये तब उन्हें हजार रुपये दिये थे। सामने रखे। लोग बाहर के मान और अभिमान में प्रसन्न-प्रसन्न हो जाते हैं। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, देखो! निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशक ज्ञान है;... आहाहा! पर-प्रकाशक जो है, वह स्व-प्रकाशक ही है। वह तो पर के नाम की अपेक्षा ली है। बाकी स्व-परप्रकाशक अर्थात् निश्चय से स्व-प्रकाशक ही है। आहाहा! पर को जानता नहीं। निश्चय से पर को जानता नहीं। आहाहा! पर को करता तो नहीं, किसी भी पर की रचना तो करता नहीं परन्तु पर को जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। निश्चय से आत्मा स्व-प्रकाशक ज्ञान है। आहाहा! जिसने बाह्य आलम्बन नष्ट किया है ऐसा (स्वप्रकाशक) जो साक्षात् दर्शन... अब दर्शन में लेते हैं। दर्शन (भी स्वप्रकाशक ही है) उस-रूप भी आत्मा है। आहाहा! उस-रूप भी आत्मा है। स्व को देखने पर आत्मा स्व को ही देखता है, उसरूप है वह आत्मा। आहाहा!

एकाकार निजरस के विस्तार से पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है... भले दर्शन पर को न देखे, स्व को देखे, तथापि वह एकाकार निजरस के... एकाकार है। आहाहा! स्व-पर देखना, वह स्वरूप एक है। स्व-पर को देखना, वह स्वरूप एक है। स्व-पर को देखना, वह दो (स्वरूप) नहीं है। आहाहा! ऐसी व्याख्या। एकाकार निजरस के विस्तार से पूर्ण होने के कारण (दर्शन भी) जो पवित्र है... ज्ञान जैसे पवित्र है, वैसे दर्शन अपने को देखता हुआ पवित्र है, स्व-प्रकाशक है। आहाहा! निश्चय से आत्मा ने कभी पर के सामने देखा नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त, उसे भी देखना वह व्यवहार है।

अपने को देखने के अतिरिक्त पर को देखना है ही नहीं। पर को देखने का है नहीं तो पर का कर्ता तो कहाँ रहा? आहाहा! एक अक्षर बनाऊँ, अनन्त परमाणु की पर्याय का कर्ता आत्मा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! उस समय में अक्षर की पर्याय होनेवाली थी। क्रमबद्ध में इस परमाणु की पर्याय होनेवाली थी। आत्मा पर का कुछ कर सकता नहीं। आहाहा! पर का तो नहीं कर सकता, निश्चय से पर को जानता भी नहीं। आहाहा! यहाँ तक जाना। अन्दर दिखता है, यह चीज़ दिखती है न? चीज़ नहीं दिखती, वह अपनी दर्शनपर्याय, ज्ञानपर्याय दिखती है क्योंकि पर को तो स्पर्श नहीं करता। अपने अतिरिक्त पर को तो स्पर्श नहीं करता। आहाहा! आत्मा अपने क्षेत्र में रहकर अपने को देखता-जानता है। आहाहा! अरे! एक भी बोल उसे भी सख्त पूर्णरूप से उसकी प्रतीति होनी चाहिए। एक भाव को यथार्थ देखे तो सब भाव को यथार्थ देखे। आहाहा!

ज्ञान और दर्शन अपना स्वभाव है। उस पूर्ण स्वरूप अपने में अपने को देखना, वह उसका वास्तविक स्वरूप है। पर को देखना वह वास्तविक स्वरूप नहीं है। वह तो व्यवहार है। गजब बात है। तो पर का करना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। अपने आत्मा की क्रिया के अतिरिक्त राग का करना और पर का करना तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! निष्क्रिय हो जाना? निष्क्रिय है। हो जाना कहाँ? आहाहा! पर का कर्ता तो है ही नहीं। पर को जाने, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। निश्चय से तो है ही नहीं। आहाहा! क्योंकि पर को जानना, वह तो व्यवहार से कथनमात्र है। कथनमात्र से बोलने में आता है। दूसरी कोई बात है नहीं। आहाहा! अपनी चीज़ अपने में रखकर अपने को देखता है। आहाहा!

अपनी केवलज्ञान की पर्याय और केवलदर्शन की पर्याय स्व-प्रकाशक निश्चय से स्व-प्रकाशक है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, षट्कारक अपनी पर्याय में अपने से करता है। आहाहा! पर का जानना-देखना, वह नहीं। निश्चय से अपना कर्ता पर्याय में, अपना कार्य, अपना साधन, अपना करके स्वयं रखी, अपने से, अपने आधार से। उस केवलज्ञान की पर्याय का षट्कारक अपने से होता है। आहाहा! प्रत्येक द्रव्य की-छहों द्रव्यों की विकारी या अविकारी पर्याय अपने षट्कारक से परिणमित होती है। पर की कोई अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! यह सब बाहर का तूफान, उसमें महत्ता माने, धमाल करे। यह कोई विरधीचन्दजी हैं। उनका लेख आया है कि प्रतिष्ठा में यह पंच

कल्याणक और यह सब कहाँ से हुआ ? कहाँ से आया ? भगवान की प्रतिष्ठा करे, बस । यह सब पंच कल्याणक और उपाधि और लोग और माता-पिता बनाना । ऐसा लिखते हैं । आहाहा ! उसमें यहाँ का विरोध लिखते हैं । पर का कुछ कर सकता नहीं । व्यवहार से भी लाभ न दे । आहाहा ! बात तो सच्ची । व्यवहार से लाभ है—नुकसान का—विकार का लाभ है । व्यवहार वस्तु में है ही नहीं ।

यहाँ तो कहा न ? पर को देखना व्यवहार से है । अपने को देखना-जानना, वह निश्चय से है । राग को करना और पर को करना, वह तो कहीं रह गया । अरे ! ऐसी बात ! ऐसी विद्यार्थियों को मिली नहीं । मिली थी कहीं ? ऐसी सुनने को मिली नहीं । अभी सुनने को मिले, ऐसा नहीं है । आहाहा ! पर का कुछ कर सकता नहीं । अरे ! पर को जानना, वह भी व्यवहार है । गजब बात है । आहाहा !

ऐसा कहा न ? जो पुराण (सनातन) है... आत्मा ने अपनी पूर्ण पर्याय प्रगट की, वह पूर्ण पवित्र है । वह पुराण है, सनातन है । ऐसा यह आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा में निश्चितरूप से वास करता है । आहाहा ! अपने लिये पुस्तक बनायी, उसमें यह लिखा है । कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने लिये बनाया है । उसमें यह लिखा है कि अपना आत्मा अपनी पर्याय में लीन है, बस । बाहर में कुछ लेने-देने की बात नहीं है । आहाहा ! पर का करना और पर को भोगना, वह तो स्वरूप में है ही नहीं । परन्तु पर को जानना, पर को देखना, वह भी असद्भूत झूठे व्यवहार के कथन हैं । आहाहा ! अपने को अपना आत्मा जाने-देखे, वह भी सद्भूतव्यवहार है । जानना-देखना और आत्मा दो भेद पड़ गये न ? बाकी वह तो ज्ञायक ही ज्ञायक है । बस । ज्ञायक, वह पूर्ण ज्ञायक हुआ तो ज्ञायक रह गया ।

यहाँ तो कहते हैं कि यह आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा... विकल्प नहीं, भेद भी नहीं । आहाहा ! निश्चितरूप से वास करता है । अपनी पर्याय में परमात्मा सादि-अनन्त रहते हैं । कभी विकल्प नहीं उठता और पर का कुछ नहीं करते, पर को जानते हैं ऐसा कहना वह व्यवहार है । निश्चय से अपनी पर्याय में रहते हैं, यह वस्तु का स्वरूप है ।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-१६६

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।

जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूषणं होइ ॥१६६॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकौ न केवली भगवान् ।

यदि कोऽपि भणत्येवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥१६६॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम् । व्यवहारेण पुद्गलादित्रिकालविषय-
द्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलावबोधमयत्वादिविविधमहिमा-धारोऽपि
स भगवान् केवलदर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वात् केवलस्वरूप-
प्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरञ्जननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानन्दमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति
शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोऽपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न
खलु दूषणं भवतीति ।

प्रभु केवली निजरूप देखें और लोकालोक ना ।

यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ॥१६६॥

अन्वयार्थ : [केवली भगवान्] (निश्चय से) केवली भगवान् [आत्मस्वरूपं]
आत्मस्वरूप को [पश्यति] देखते हैं, [न लोकालोकौ] लोकालोक को नहीं—
[एवं] ऐसा [यदि] यदि [कः अपि भणति] कोई कहे तो [तस्य च किं दूषणं
भवति] उसे क्या दोष है ? (अर्थात् कुछ दोष नहीं है ।)

टीका : यह, शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से परदर्शन का (पर को देखने का)
खण्डन है ।

यद्यपि व्यवहार से एक समय में तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-
पर्यायों को जानने में समर्थ सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का

धारण करनेवाला है, तथापि वह भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी, परम निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा) अन्तर्मुख होने से केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन ऐसे निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा सच्चिदानन्दमय आत्मा को निश्चय से देखता है (परन्तु लोकालोक को नहीं)-ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तःतत्त्व का वेदन करनेवाला (जाननेवाला, अनुभव करनेवाला) परम जिनयोगीश्वर शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से कहता है, उसे वास्तव में दूषण नहीं है।

प्रवचन-१९७, गाथा-१६६, श्लोक २८२, बुधवार, आषाढ़ कृष्ण ३, दिनांक ३०-०७-१९८०

नियमसार, गाथा १६६।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।

जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

प्रभु केवली निजरूप देखें और लोकालोक ना।

यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ॥१६६॥

आहाहा! एक बात तो ऐसी है कि जहाँ-जहाँ आत्मा परमाणु के समीप में है, वह परमाणु को स्पर्शता नहीं है। कर्म, शरीर या कोई भी एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के शरीर। क्योंकि आत्मा तो ज्ञान और दर्शन (स्वरूप है), वह किसी चीज़ को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! मात्र उसकी भूल यह है कि आत्मा के अतिरिक्त किसी भी एक परमाणु से लेकर लोकालोक (लोक) के परमाणु, उन्हें कुछ भी, वह कभी स्पर्शा नहीं तो उनका किया तो है नहीं, तथा करा सकता नहीं। क्योंकि जड़ का कुछ करा नहीं सकता। मात्र होता है, उसे अनुमोदता है, वह उसका अज्ञान है। क्या कहा? आहा!

यह आत्मा... यहाँ कहते हैं कि अपने स्वरूप में है। वह पर को देखता ही नहीं। देखता नहीं वह तो ठीक, यहाँ तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय, जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ वह-वह परमाणु मन, वचन और काया के परमाणु उसके काल में, उसके क्षेत्र में उसकी पर्याय से हो, परन्तु आत्मा उन्हें स्पर्श नहीं करता। आहाहा! आत्मा तो अरूपी चीज़ है। अरूपी आत्मा है। वह रूपी एक रजकण से लेकर लोकालोक के परमाणु, स्कन्धों को—उन्हें कभी छूता, स्पर्श नहीं करता। आहाहा! मात्र करता हो तो इतना कि

वह उनका कर नहीं सकता कुछ, तथा करा नहीं सकता, मात्र करता हो, उसे अपने अभिमान से अनुमोदन देकर चार गति में भटकता है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा!

पूरी दुनिया के पुद्गल एकेन्द्रिय के शरीर से लेकर पंचेन्द्रिय के शरीर और बड़े स्कन्ध पूरे, उन्हें कभी चैतन्य अरूपी भगवान उन्हें कभी स्पर्शता ही नहीं। क्योंकि स्वयं स्पर्शरहित चीज़ है। वह स्पर्श कहाँ से? आहाहा! वह जहाँ रहा, वहाँ स्वयं परमाणु जड़ से तो भिन्न है ही। उसके साथ तो कुछ है नहीं। परन्तु उस जड़ का कर सकता तो नहीं। वह अरूपी ज्ञानघन और (जड़) वह रूपी, उसे करे क्या? उसे करा नहीं सकता कि भाई! तू इसका-जड़ का कर। वह माने भले कि मैं कराता हूँ, परन्तु करा नहीं सकता। मात्र होता हो, उसे अज्ञानभाव से अनुमोदन देता है कि यह तुमने अच्छा किया, यह तुमने यह किया, तुमने यह किया और तुमने यह किया। आहाहा! मण में आठ पन्सेरी की भूल। आठ पन्सेरी समझ में आया? मण में मण की भूल (अर्थात् कि) पूरी-पूरी भूल। आहाहा!

अरूपी प्रभु रूपी जगत की किसी चीज़ को या अरूपी धर्मास्तिकाय आदि, उन्हें कभी छूता नहीं, छुआ नहीं। आहाहा! उसका कभी एक तिनका तोड़ा नहीं, छोड़ा नहीं। स्पर्शा नहीं, वहाँ (छोड़ने की बात कहाँ रही)? आहाहा! इसलिए पूरी दुनिया के पुद्गल, जहाँ-जहाँ बसा वहाँ वह पुद्गल, उसकी-उसकी पर्याय से परिणमन कर पुद्गल खड़े हैं, उन्हें आत्मा ने स्पर्श नहीं किया तो कर्ता तो है नहीं, इसी तरह करा सकता नहीं। क्योंकि उसके अधिकार की बात नहीं है। जड़ की पर्याय जड़ से परिणमित होती है, उसे वह करा सकता नहीं है। आहाहा! परन्तु करा सकता हूँ और करता है, उसका अनुमोदन कर सकता हूँ, यह मान्यता उसका भ्रम है। आहाहा! गजब बात। क्योंकि प्रभु आत्मा तो अरूपी है और वह भी ज्ञान और दर्शन और आनन्द का धारक है। अब यदि उस त्रिकाली की दृष्टि से देखें, तब तो उसकी पर्याय में परपदार्थ का स्पर्श तो नहीं परन्तु उसकी पर्याय में पर का करना, कराना, अनुमोदन करने का जो विकल्प है, वह उसकी पर्याय में अज्ञान से है। वस्तु के स्वरूप से वह कुछ है नहीं। आहाहा!

आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ को चाहे जिस क्षेत्र में हो, वह परमाणु अपनी पर्याय से, अपनी पर्याय से वहाँ परिणम रहा है। उसे यह आत्मा ऐसा माने कि यह मुझसे होता है। वह भ्रमणा कर सकता है। आहाहा! तथा भ्रमणा करावे कि यह तुम करो... यह

करो... ऐसे भ्रमणा करा सकता है अर्थात् वह भ्रमणा करे तो करा सकता है, ऐसा कहा जाता है। बाकी पर को भ्रमणा करा भी नहीं सकता। भ्रमणा। परमाणु का तो कर नहीं सकता परन्तु दूसरे की भ्रमणा वह नहीं कर सकता। आहाहा!

एक बात रह गयी। इसने स्वयं अपनी जाति को जाना नहीं कि मैं एक आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ और जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। ऐसी चीज़ तो अपनी जाना नहीं, इसलिए जिसे जानने की ओर झुकाव है, उसमें वह रुककर मानता है कि मैं यह करता हूँ, यह कराता हूँ, इस कर्ता को अनुमोदन करता हूँ। दुकान अच्छी चलती हो, नौकर बराबर काम करते हों तो प्रसन्न होता है कि बहुत अच्छा काम करते हैं। आहाहा! ऐसी बात। ऐई! शान्तिभाई! ऐसा है।

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप अरूपी है। वह अपने को छोड़कर पर—रूपी या अरूपी पदार्थ को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तब यह भ्रम क्या? पूरे दिन अपने को भूलकर यह किया... यह करूँ... यह करूँ... यह किया... व्यापार किया, धन्धा किया, पैसे मिले, उसे पैसे दिये-लिये... आहाहा! पूरे लोक में जितने परमाणुओं का परिणमन होता है, उनका परिणमन स्वतन्त्र पुद्गल का है। जीव वहाँ खड़ा रहकर उसे देखनेवाला है। वह देखनेवाला है, ऐसा न मानकर मैं उन्हें कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता के कारण परिभ्रमण कर रहा है। आहाहा! समझ में आया? घीयाजी! बहुत कठिन बात, प्रभु!

यहाँ तो ऐसा विचार आया कि... अरूपी आत्मा तो अत्यन्त भिन्न है न! वह अन्दर के कर्म के रूपी को भी स्पर्श नहीं करता। शरीर को स्पर्श नहीं करता और जहाँ जाए वहाँ, जो-जो शरीर मिले, उसे कभी स्पर्श नहीं करता और उसे रख नहीं सकता, उसे सुधार नहीं सकता, उसे बिगाड़ नहीं सकता। आहाहा! मात्र अभिमान में अपना ज्ञान और दर्शन ऐसा जानना-देखना स्वरूप है। वह भी पर को जानना-देखना, जगत की जड़ की-पर की अवस्था उस काल में होने पर, उसे जानना-देखना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! करना तो मिथ्यात्व है, परन्तु उसे जानना, अपने में वह नहीं है, उसे जानना (कहना), इसका नाम व्यवहार और अपने में है, उसे जानना (कहना), इसका नाम निश्चय, इसका नाम सत्य और अपने में नहीं है, इसे जानना, उसका नाम उपचार। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। यह, शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से परदर्शन का (पर को

देखने का) खण्डन है। क्या कहते हैं ? आत्मा दर्शनस्वरूप है। वह पर को देखता ही नहीं। आहाहा! निश्चयनय से पर को देखता नहीं। आहाहा! यहाँ तो अभी पर का करना, मैं पर का कर दूँ, सवेरे उठे, दुकान पर जाए, नौकरों से काम लेना, दबाव करना, अपनी होशियार की छाप डालना (कि) जिससे इसे देखकर बिना कहे काम करे। आहाहा! यह सब भ्रम है। आहाहा! भगवान अरूपी चैतन्य, वह पर को कहीं स्पर्श नहीं करता, करता नहीं, कराता नहीं, करता को अनुमोदन नहीं करता। मात्र व्यवहार कहें तो वह पर को जानता-देखता है, इतनी मर्यादा है। व्यवहार कहें तो इतनी मर्यादा है। वह भी यहाँ इनकार किया है। आहाहा! वह भी यहाँ निश्चय से निषेध किया है कि पर को जानना-देखना भी झूठा है। आहाहा! ऐसी बात है।

चैतन्यतत्त्व अरूपी ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरपूर भगवान, इस अरूपी ने अरूपीपने... यह कहा न ? देखो न शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से परदर्शन का (पर को देखने का) खण्डन है। यद्यपि व्यवहार से एक समय में तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है,... तीन काल-तीन लोक... एक समय की संयोगी चीज़ को कर सकने को समर्थ नहीं है परन्तु तीन काल-तीन लोक को जानने-देखने में समर्थ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि तथापि वह भगवान,... केवलज्ञान द्वारा पर को जानने-देखने को समर्थ हैं, व्यवहार से। तो भी केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी,... आहाहा! केवलदर्शन अन्दर खिला, जो उसका मूल स्वभाव है, वह स्वभाव जहाँ पूर्ण प्रगट हुआ, वह स्व के आश्रय से (हुआ), पर का आश्रय जरा भी नहीं है। पर को तो स्पर्श भी नहीं करता, वहाँ आश्रय-फाश्रय कहाँ? कि संहनन मजबूत था, इसलिए केवल(ज्ञान) हुआ। आहाहा! उपदेश मिला, इसलिए केवलज्ञान हुआ, अच्छा संग मिला, इसलिए केवलज्ञान हुआ, यह वस्तु इसमें लागू नहीं पड़ती। वस्तु स्वतन्त्र है। पर के साथ कुछ 'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः' यह श्लोक आ गया है। (समयसार कलश) २००। 'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः' स्व और पर को किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! भ्रमणा करके मान रहा है कि मुझे और उसे इतना सम्बन्ध है। मेरा उसके साथ इतना सम्बन्ध है। उसका पुत्र

विवाह करे, तब मुझे अमुक तो देना पड़े, मेरा पुत्र विवाह करे तो यह देना पड़े। यह सब भ्रमणा है। आहाहा! परोसा देना पड़े, यह करना पड़े। क्या करता है? प्रभु! तू ज्ञान और दर्शन है न! वह चीज़ हो, उसे जाने-देखे ऐसा कहना वह व्यवहार है, तो उस चीज़ को कुछ करे, करावे और अनुमोदे, प्रभु! यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! लोगों से भारी उल्टा।

आत्मा अरूपी अत्यन्त भिन्न तत्त्व अन्दर है और यह अत्यन्त भिन्न शरीर, वाणी, मन, रजकण, जिन्हें कुछ खबर भी नहीं कि हम जड़ हैं या नहीं और जिन्हें खबर है, वह उसे स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! वह जड़ चीज़ है, उसे खबर नहीं की हम जड़ हैं। तथा साथ में जाननेवाला है, उसे उसकी खबर नहीं की यह जाननेवाला है। जड़ को खबर कहाँ है! आहाहा! जड़ को जड़ की खबर नहीं, जड़ को चैतन्य की खबर नहीं। अब रहा चैतन्य। उस चैतन्य को चैतन्य की खबर है। परन्तु कहते हैं कि व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि पर को देखता है, उसका भी यहाँ हम खण्डन करते हैं। आहाहा! बहुत कठिन बात है। दुनिया के साथ मिलान खाये ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह कहते हैं कि केवलज्ञान से लोकालोक को जाने, ऐसा महिमावन्त है। तथापि वह भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी,... उसे केवलदर्शन होने पर भी, केवलज्ञान से जाने और केवलदर्शन अन्दर होने पर भी परम निरपेक्षपने के कारण... आहाहा! पर को देखने की कोई अपेक्षा ही नहीं है। वह तो दर्शन और ज्ञान में ही है। आहाहा! भगवान स्वयं तो दर्शन और ज्ञानस्वरूप में ही है। पर को देखने और जानने वह नहीं जाता। आहाहा! पर का करना और कराना, अनुमोदन करना, वह तो उसमें ही नहीं परन्तु पर को देखने और जानने जाता नहीं। आहाहा! क्योंकि जानने-देखने की जो अवस्था है, वह तो अरूपी है और यह चीज़ जो सब है, वह तो रूपी है। अरूपी-अरूपी धर्मास्तिकाय है, वह अलग बात है। यह पहले कहा। केवलज्ञान में सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय जाने परन्तु उसके साथ दर्शन है, वह भी उसे देखे, ऐसा नहीं। उसका खण्डन करते हैं, निश्चयनय। आहाहा! स्पर्श नहीं करता, करता नहीं, कराता नहीं, कर्ता को अनुमोदता नहीं। मात्र होता है उसमें, उसे मैं देखता हूँ। होता है, उसे मैं देखता हूँ, इस व्यवहार का भी यहाँ निषेध किया है। अरे! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : तन्मय नहीं होता, यह बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर को स्पर्श नहीं करता, फिर कहाँ बात रही। वह तो अरूपी, यह चीज़ रूपी। चाहे जिस स्थान में हो, रूपी को स्पर्श भी नहीं करता, स्पर्श भी नहीं किया और तीन काल-तीन लोक में स्पर्श ही नहीं करेगा। आहाहा!

ऐसा जो भगवान अरूपी है, उसे कहते हैं कि ज्ञान से ऐसा कहते हैं कि ज्ञान से तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसा कहें। ऐसा माहात्म्य आया न? **केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है...** ऐसे विविध गुण का धारक आत्मा है। **तथापि वह भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी...** आहाहा! आँख तो है। केवलज्ञान लोचन / आँख है। केवलदर्शन अन्दर तीसरा लोचन है। तीन काल-तीन लोक को देखने की शक्ति है। ऐसी शक्ति होने पर भी... आहाहा! है? **परम निरपेक्षपने के कारण...** पर को देखना, उसकी अपेक्षा छोड़ दो, निरपेक्षरूप से लो तो दर्शन, दर्शन में ही रहा है। आहाहा! दर्शन पर को देखने में जाता है, ऐसा है नहीं। देखने में जाता है, ऐसा तो है नहीं परन्तु देखता है, पर को देखता है (—ऐसा नहीं है), वह तो अपनी अवस्था को देखता है। उस अवस्था को देखता है, उस पर को देखता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म!

अब यहाँ तो दया पालो, भक्ति करो, व्रत करो। प्रतिमा, मन्दिर बनाओ। होता है, ऐसा शुभभाव होवे, तब वह क्रिया सामने होने की होती है, होने की हो तो होती है, हों! यह शुभभाव किया, इसलिए वहाँ होती है, ऐसा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं पर को शुभभाव से करे, वह तो है नहीं... आहाहा! मन्दिर और शास्त्र शुभभाव से करे, वह तो है ही नहीं। क्योंकि वह पुद्गल पर जड़ है। जड़ को व्यवहार से कहे, ऐसा तो नहीं है। परन्तु केवलज्ञान के साथ रहे हुए केवलदर्शन को देखे, वह भी व्यवहार है, वह निश्चय नहीं। आहाहा! कहाँ पहुँचना? लोगों को नीचे से अभी आगे आया नहीं। दोनों है? गोगीभाई है, दोनों व्यक्ति थे। दो भाई कहाँ से इकट्ठे हो गये। कहो, समझ में आया? आहाहा! ओहोहो!

यहाँ तक लिया कि **केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है...** है न? धारण करनेवाला। कौन? आत्मा। आहाहा! केवलज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त सत्ता, अनन्त प्रभुता ऐसे अनन्त गुण का धारक आत्मा वह दर्शन से पर को देखे, ऐसा कहना वह भी निश्चयनय से नहीं है, सत्यदृष्टि में ऐसा नहीं है, वह तो

उपचार का कथन है। क्योंकि इसमें जाता नहीं और जो चीज़ है, वह अपने में आती नहीं, उसे जानना-देखना कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसा उपदेश! सूक्ष्म बात है, बापू! तेरा तत्त्व ही अलग है। तत्त्व है या नहीं? यह कहा न यहाँ? पहले कहा न?

यद्यपि व्यवहार से एक समय में तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ... यह भी व्यवहार। आहाहा! पर को जानने में समर्थ, यह भी व्यवहार ज्ञान। ऐसा सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि... केवलज्ञान आदि अनन्त गुण का धारक प्रभु। आहाहा! तथापि वह भगवान्,... ऐसी महिमा को धारण करनेवाला है। ज्ञान में पर को जाननेवाला कहा। समझ में आया? आहाहा! कहा या नहीं? सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है,... जानने में समर्थ। इसमें आया न? जानने में समर्थ। आहाहा! तो भी... अपने ज्ञानगुण से पर को स्पर्श भी नहीं करता परन्तु व्यवहारनय से पर को जानता है। व्यवहारनय से पर को जानता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े। मार्ग ऐसा है, बापू! देह चली जाएगी और आत्मा की सत्ता तो रहेगी। वह कहाँ जाएगा? किस जगह अवतरित होगा, किस जगह उपजेगा? आहाहा!

अनन्त-अनन्त बार अभिमान कर-करके मैंने यह किया... मुझे आता था। दुकान का आता था, वह मैं करता हूँ, मेरी होशियार से यह दुकान अच्छी चलती है। आहाहा! अरे! एक परमाणु पलटाने की शक्ति भगवान् आत्मा में नहीं है। आहाहा! ऐई! मनसुख! यह आणन्दजी तो वहाँ दुकान में बहुत करता था। बाहर से ऐसे लावे और ऐसे करे, ऐसे करे। तीन-तीन पुटी बात उसे याद थी। एक तो जिस भाव से माल आवे, उसमें कितना खपा और कितना नहीं खपा, वह ख्याल में था और उस माल का भाव अभी क्या है, वह उसके ख्याल में था। आहाहा! यह तो तेरे जन्म पहले की (संवत्) १९७४ के (वर्ष की) बात है। आहाहा! अरे! स्वयं भूला, अपनी जाति क्या है, उस ओर तो लक्ष्य किया नहीं। अपनी जाति चैतन्य जाति है। वह व्यवहार से पर को जाननेवाला भले कहा। ऐसा कहा न। आहाहा!

तो भी... आहाहा! परम निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा) अन्तर्मुख होने से... दर्शन तो अन्तर्मुख है। आहाहा! वह दर्शनगुण अन्तर्मुख है। वह केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन... केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र, अपने स्वरूपप्रत्यक्षमात्र में

दर्शन लीन है। लीन ऐसे निरंजन... ऐसे निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा... ऐसे निज सहज दर्शन द्वारा सच्चिदानन्दमय आत्मा को... आहाहा! बहुत संक्षिप्त भाषा परन्तु कितना भरा है! किसी का करे नहीं, यह तो आया। परन्तु केवलज्ञानमय आदि अनन्त सम्पदाओं से भरपूर है, इसलिए उसे व्यवहार से पर को जानता है, ऐसा कहते हैं। तथा यह दर्शन है, वह आत्मा व्यवहार से पर को देखता है, ऐसा कहा जाता है। निश्चय से तो देखता नहीं। आहाहा! अभी तो पर का करना छोड़ना सुहाता नहीं। आहाहा! पर का करना, हम यह करते हैं, तुझे वह स्पर्शता नहीं, हमें यह आता है। आहाहा! अभिमान ने मार डाला है। जीव को मार डाला है। मार डाला अर्थात् समझे? कलश-टीका में आता है। मार डाला। मरणतुल्य कर डाला। जिसका स्वरूप जानना-देखना, उसे पर का करना-कराने में मार डाला। तू यह जानना-देखना नहीं और तुझे यह करना और कराना सौंपते हैं। वह जीव का ज्ञाता-दृष्टापने को मार डाला। आहाहा! यह भ्रान्ति त्रिलोकनाथ तीर्थकर की वाणी से मिटेगी, ऐसा लिखा है। समझ में आया? कलश-टीका में। आहाहा!

ग्यारह अंग पढ़ गया, नौ पूर्व पढ़ गया, क्रिया में भी छह-छह महीने के अपवास... आहाहा! बालब्रह्मचारी (रहा), जिन्दगी में विषय (सेवन किया) नहीं। परन्तु प्रभु स्वयं अन्दर कौन है? आहाहा! उसकी सत्ता का कार्य क्या है? वह निश्चय से तो उसकी सत्ता का कार्य अन्तर में लीन रहना है। स्वरूप उस स्वरूप में लीन रहे, वह उसका कार्य है। आहाहा! उसे पर को देखना कहना, वह भी व्यवहार है। पर को जानना कहना, वह व्यवहार है। यह तो पहले जानने का कहा। जाननेवाला होने पर भी, दर्शन को पर को देखने का नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी साधारण बात है। परन्तु अन्दर बड़ी बात है, भाई! आहाहा! पूरी दुनिया के तत्त्व से तेरा तत्त्व अत्यन्त भिन्न है। कुछ सम्बन्ध नहीं होता। नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः। दूसरे जीव के साथ और दूसरे परमाणु के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। अकेला स्वयं भगवान है। द्रव्य-गुण तो ध्रुव है परन्तु अपनी उल्टी-सुल्टी पर्याय में संसार रहा।

यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञान द्वारा जिसके साथ दर्शन का सम्बन्ध है, ऐसे केवलज्ञानमयपने को धारण करनेवाला व्यवहार से पर को जानता है तथा वह व्यवहार से दर्शन पर को देखता है, उसका तो यहाँ निषेध किया। आहाहा! है न? सच्चिदानन्दमय

आत्मा को निश्चय से देखता है (परन्तु लोकालोक को नहीं)... आहाहा! अपने को देखता है, पर को नहीं। आहाहा! ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तःतत्त्व का वेदन करनेवाला... ऐसा जो कोई शुद्ध अन्तःतत्त्व में लीन वेदन करनेवाला... आहाहा! (जाननेवाला, अनुभव करनेवाला) परम जिनयोगीश्वर... परम जिन वीतरागी मुनि, सन्त आदि शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से कहता है,... कि पर को देखता नहीं, ऐसा कहता है। शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से कहता है, उसे वास्तव में दूषण नहीं है। आहाहा! कितनी लम्बी बातें। समझ में आया? पूरी दुनिया में तेरा तत्त्व वह अत्यन्त भिन्न रहा है। कभी किसी को स्पर्श नहीं किया है, कभी स्पर्श नहीं किया है, स्पर्श नहीं करता और स्पर्श नहीं करेगा। आहाहा! मात्र केवलज्ञान द्वारा व्यवहार से जाननेयोग्य जानता है। तथा दर्शन भी देखता है, ऐसा नहीं। निश्चय से तो वह देखता नहीं, ऐसा कहना है। आहाहा! पर को कोई देखने की अपेक्षा नहीं। ऐसा आया न? निरपेक्ष नहीं आया? पहले निरपेक्ष आया। निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा)... निःशेष अर्थात् सर्वथा। सर्वथा निरपेक्षपने। पर की कोई अपेक्षा ही नहीं। आहाहा! सूक्ष्म पड़े। रात्रि को प्रश्न करना। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! ओहो! यह तत्त्व अन्दर केवलज्ञान आदि अनन्त गुण का धारक होने पर भी और वह केवलज्ञानादि पर को जाननेवाला... है न?

तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ... होने पर भी। आहाहा! कितनी बात करते हैं! अपना ज्ञान तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसे स्वभावमय होने पर भी। आहाहा! उसके साथ दर्शनरूप जो तृतीय लोचन। देखना वह तीसरा लोचन, आहाहा! वह उससे पर को देखे, यह बात व्यवहार से है, निश्चय से नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम। वस्तु है न? तत्त्व है न? तत्त्व है तो उसमें सत्त्व है या नहीं? तत्त्व का सत्त्व है या नहीं? तत्त्व सत् है, तो सत् का सत्त्व है या नहीं? वह सत्त्व पर को देखता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! अपना सत्त्व दर्शन-ज्ञान है। यह व्यवहार से कहने में आता है कि केवलज्ञान पर को जानता है। परन्तु उसके साथ तृतीय लोचनदर्शन पर को देखता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो अपने निजस्वरूप में... ऐसा कहा न? आहाहा!

ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तःतत्त्व का वेदन करनेवाला... आहाहा! जिसे आत्मा शुद्धस्वरूप परम आनन्द को वेदन करनेवाला... आहाहा! (अनुभव करनेवाला) परम जिनयोगीश्वर... परम जिन योगी मुनि। उत्कृष्ट बात ली है न! शुद्धनिश्चयनय की...

शुद्धनिश्चयनय के कथन से, विवक्षा। शुद्धनय के कथन द्वारा उसे वास्तव में दूषण नहीं है। पर को (नहीं) देखे, वह शुद्धनिश्चयनय से दूषण नहीं है। आहाहा! यह प्रश्न किया था न किसी ने? कि पर को जानना, वह मिथ्यात्व है न? शान्तिभाई कहे, रात्रि में। जानना, वह मिथ्यात्व नहीं; जानना, वह व्यवहार है। मूल यह मार्ग ही पूरा बदल गया है। पूरा भटकने का मार्ग... आहाहा! परम सत्य कोई भी संयोग में तीन काल-तीन लोक के संयोगों में आया तो भी उन संयोगों को स्पर्श नहीं किया। आहाहा! संयोगों को स्पर्श नहीं किया।

निश्चय से केवलज्ञान अपने को जानता है। व्यवहार से पर को जानता है तो दर्शन को ही पर को जानना (देखना), ऐसा कहना, उसे पर की कोई अपेक्षा बिना अपने को देखता है, ऐसा लेना। आहाहा! इसमें क्या करना और क्या... सामायिक करना या यह जानकारी करना? यह सब कहीं पड़ा रहा। आहाहा!

[अब, इस १६६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] आहाहा! जहाँ-जहाँ प्रभु तू है, वहाँ-वहाँ तुझे परद्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में है, मुक्तिशिला में हो... आहाहा! सातवें नरक में हो या निगोद में हो। आहाहा! परन्तु प्रभु आत्मा वह परमाणु को बिल्कुल स्पर्श नहीं किया, बिल्कुल छुआ नहीं करता। आहाहा! वह तो अपनी सत्ता अपने में रखकर अपने में रहा है, पर की सत्ता को स्पर्श भी नहीं किया। अपनी सत्ता है, वह पर की सत्ता को स्पर्श ही नहीं करती। आहाहा! ऐसा सुनना कठिन पड़े।

मुमुक्षु : ऐसा ही सुनना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! बात सत्य। यह तो युवकों को देखकर कहते हैं। युवकों को इतना सुनना कठिन। आहाहा!

परम सत्य। भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव का निश्चय का परम कथन, परम सत्य। क्या कहते हैं? कि पर को देखे तो पर में लीन होता है, ऐसा नहीं है। वह तो अपने में लीन है। आहाहा! अपने में लीन है तो निश्चय से अपने को देखता है और जानता है। आया है न? यह अन्दर आया है न? शुद्ध अन्तःतत्त्व को वेदन करनेवाला। आहाहा! पर को जाननेवाला-देखनेवाला नहीं। आहाहा! अपने को वेदन करनेवाला, जाननेवाला। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तेरे घर की है, नाथ! आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुण का धनी, रंक होकर फिरे, वह किसी के कारण नहीं, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! स्वयं की भूल (हुई है)। 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' अपनी चीज़ बेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्द... आहाहा! जिसका उठान अर्थात् पानी में उफान आता है न? उफान। परन्तु वह उफान पोला है। क्या कहा? उस उफान का होता है न? वह तो पोला होता है। ऐसा बढ़ा, इसलिए पानी का वजन बढ़ गया, ऐसा नहीं है। यह तो ज्ञान-दर्शन बढ़े, वह पोला नहीं, मजबूत है। आहाहा! पर को जानने-देखने से विशेष बढ़ा, तथा वह वजनी दीवार हो गया। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा पर को देखने की निरपेक्षरूप से यहाँ तो ना करते हैं। पर की अपेक्षा भी यहाँ नहीं लेना। आहाहा! यहाँ पर की दया पालो तो धर्म होगा, पर की सेवा करो तो धर्म होगा... आहाहा! भगवान की भक्ति करो तो मुक्ति होगी, (ऐसा नहीं है)। होता है, व्यवहार होता है, व्यवहार नहीं होता—ऐसा नहीं है। परन्तु उसकी मर्यादा शुभभाव पुण्य जितनी मर्यादा है, बन्धन जितनी मर्यादा है; उससे जरा भी आत्मा को संवर-निर्जरा या शुद्धता का अंश प्रगट हो, ऐसा नहीं है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में तो आया न, शुभभाव में शुद्धता का अंश है। चिट्ठी में है। मोक्षमार्गप्रकाशक में पीछे (परिशिष्ट में) तील चिट्ठी है। एक चिट्ठी में ऐसा आया है। समझ में आया? क्या कहा?

मुमुक्षु : शुभ में शुद्ध का अंश।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें शुभ में शुद्ध का अंश कहा। उसे पकड़ते हैं। वह तो किस अपेक्षा से कहा? कि एक गुण बढ़ने पर दूसरा गुण उसके कारण बढ़ता है, ऐसा नहीं है। क्या कहा? कि आत्मा में अनन्त गुण हैं। उसमें एक ज्ञान का गुण बढ़े तो साथ में चारित्र्य का गुण भी बढ़े, ऐसा नहीं है। यह सिद्ध करने के लिये उस शुभभाव में, जरा शुद्धता का अंश है। परन्तु काम कब करेगा? ग्रन्थिभेद करे तब। राग की एकता तोड़कर आत्मा का अनुभव आनन्द का स्वाद ले, आत्मा के आनन्द का स्वाद ले, तब जो शुद्धता का अंश था, वह तब काम करेगा। आहाहा! बहुत दृष्टान्त देते हैं। देखो! शुभ में शुद्ध का अंश है। परन्तु किसे? ग्रन्थिभेद करे उसे। वैसे तो अनादिकाल का शुभ में शुद्ध का अंश है और अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया तो भी शुभ में शुद्ध का अंश था तो भी कुछ हुआ नहीं। आहाहा! वाँचन भी इतना नहीं होता। पूरे दिन पाप का पोटला। व्यापार... व्यापार... व्यापार... धन्धा... धन्धा... आहाहा! १६६ गाथा बहुत सरस ली है। आहाहा!

श्लोक - २८२

[अब, इस १६६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

पश्यत्यात्मा सहज-परमात्मान-मेकं विशुद्धं,
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम् ।
स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं,
तस्मिन्नैव प्रकृति-महति व्यावहार-प्रपञ्चः ॥२८२॥

(वीरछन्द)

जो है एक विशुद्ध और निज अन्तः शुद्धि का आवास ।
महिमामय, अत्यन्त धीर, निज आत्मा में नित अविचल वास ॥
निश्चय से यह आत्मा ऐसे सहज एक परमात्म को ।
उसको नित निरखे जिसमें व्यवहार प्रपञ्च न किञ्चित हो ॥२८२॥

[श्लोकार्थः—] (*निश्चय से) आत्मा सहज परमात्मा को देखता है—कि जो परमात्मा एक है, विशुद्ध है, निज अन्तःशुद्धि का आवास होने से (केवलज्ञानदर्शनादि) महिमा का धारण करनेवाला है, अत्यन्त धीर है और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है । स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में *व्यवहारप्रपञ्च (विस्तार) है ही नहीं । (अर्थात् निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं) ॥२८२॥

* यहाँ निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी ऐसा समझना कि—जिसमें स्व की ही अपेक्षा हो, वह निश्चयकथन है और जिसमें पर की अपेक्षा आये, वह व्यवहारकथन है; इसलिए केवली भगवान लोकालोक को—पर को जानते-देखते हैं—ऐसा कहना, वह व्यवहारकथन है और केवली भगवान स्वात्मा को जानते-देखते हैं—ऐसा कहना, वह निश्चयकथन है । यहाँ व्यवहारकथन वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिस प्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है, उसी प्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं हैं । छद्मस्थ जीव के साथ तुलना की अपेक्षा से तो केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं, वह बराबर सत्य है—यथार्थ है, क्योंकि वे त्रिकाल

श्लोक -२८२ पर प्रवचन

अब श्लोक । २८२ न ।

पश्यत्यात्मा सहज-परमात्मान-मेकं विशुद्धं,
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम् ।
स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं,
तस्मिन्नैव प्रकृति-महति व्यावहार-प्रपञ्चः ॥२८२॥

आहाहा! (निश्चय से)... नीचे है । यहाँ निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी ऐसा समझना कि—जिसमें स्व की ही अपेक्षा हो, वह निश्चयकथन है.... नीचे । और जिसमें पर की अपेक्षा आये, वह व्यवहारकथन है; इसलिए केवली भगवान लोकालोक को—पर को जानते-देखते हैं—ऐसा कहना, वह व्यवहारकथन है और केवली भगवान स्वात्मा को जानते-देखते हैं—ऐसा कहना, वह निश्चयकथन है । यहाँ व्यवहारकथन वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिस प्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है, उसी प्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं हैं । व्यवहार से कहा है, इसलिए जानते-देखते नहीं, ऐसा नहीं मानना । आहाहा ! केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं, ऐसा व्यवहार से कहा । छद्मस्थ बिल्कुल नहीं जानते, ऐसे नहीं जानते-ऐसा नहीं कहना है । मात्र पर की अपेक्षा रखकर व्यवहार कहा है । जानते तो सब हैं । तीन काल-तीन लोक एक समय में जानते हैं । आहाहा !

वास्तव में तो अनन्त गुण जो आत्मा में हैं, उनमें एक ज्ञानगुण की एक ही पर्याय, एक ही पर्याय जगत में है, बस । क्योंकि वह पर्याय द्रव्य को जानती है, गुण को जानती है, अनन्त पर्यायों को जानती है, लोकालोक को जानती है । उस ज्ञान की एक पर्याय में

सम्बन्धी सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को यथास्थित बराबर परिपूर्णरूप से वास्तव में जानते-देखते हैं । 'केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं' ऐसा कहते हुए पर की अपेक्षा आती है, इतना ही सूचित करने लिए, तथा केवली भगवान जिस प्रकार स्व को तद्रूप होकर निजसुख के संवेदनसहित जानते-देखते हैं, उसी प्रकार लोकालोक को (पर को) तद्रूप होकर परसुखदुःखादि के संवेदनसहित नहीं जानते-देखते, परन्तु पर से बिलकुल भिन्न रहकर, पर के सुखदुःखादि का संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं, इतना ही सूचित करने के लिए उसे व्यवहार कहा है ।

पूरा लोकालोक आ गया। आहाहा! समझ में आया? एक बार कहा था। (संवत्) १९८५ के वर्ष में। वढ़वाण में। बढ़वाण में नाराणभाई की दीक्षा थी। बाहर वह जति का ढेला नहीं? बाहर ढेला में। उस दिन की बात है। वीरजीभाई साथ में थे। कहा, देखो भाई! वास्तव में तो एक आत्मा की एक पर्याय—एक ज्ञान की एक पर्याय लोकालोक को जाने, अपने द्रव्य को जाने, गुण को जाने, अपनी अनन्त पर्याय को जाने, अपने को जाने। एक पर्याय में इतना सामर्थ्य है। आहाहा!

भगवान अन्दर है। परिपूर्ण परमात्मशक्ति पड़ी है। परमेश्वर है। उसकी शक्ति की बात क्या करना? आहाहा! उसके अनन्त गुण, उसकी अनन्त पर्याय, उसमें एक ही ज्ञान की पर्याय... आहाहा! अपने को जानने में पर का जानना आ गया। वह पर्याय अपने को जाने, उसमें लोकालोक आ गया। उसकी पर्याय का सामर्थ्य है। वह लोकालोक है तो लोकालोक को जानती है, ऐसा भी नहीं है। इतनी अपेक्षा नहीं, निरपेक्ष है। आहाहा! एक समय की पर्याय पर की अपेक्षा बिना लोकालोक और अपने अनन्त गुण और अनन्त पर्याय को एक समय की पर्याय जानती है। शान्तिभाई! यह सब कभी सुना नहीं।

मुमुक्षु : पर्याय में कितनी शक्ति है!

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में इतनी शक्ति है। हीरा-माणिक में समय बिताया हो, उसमें यह खबर कहाँ पड़े? ऐसी उसमें शक्ति है। आहाहा! एक पर्याय, हों! ऐसी अनन्त पर्यायें। प्रत्येक पर्याय में अनन्त ताकत। इस ज्ञानपर्याय में जरा ख्याल किया जा सकता है। ज्ञान द्रव्य को जाने, गुण को जाने, लोकालोक को जाने। आहाहा! ऐसी एक समय की पर्याय का अस्तित्व, वह भी पर है, उसे जाने यह अपेक्षा भी नहीं। निरपेक्षरूप से एक समय की पर्याय स्व-पर को जाननेरूप एकरूप है। स्व-पर को जाननेरूप एकरूप है, स्व-पर को जाननेवाली दो रूप नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। सुनना कठिन पड़े। वीतराग सर्वज्ञदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ की बात बहुत सूक्ष्म, बापू! यह साधारण लोगों ने जैनपना ऊपर से मनवा दिया। जैन कोई अलौकिक व्यक्ति है, वह कोई सम्प्रदाय पक्ष नहीं है, वह तो वस्तु का स्वभाव, वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! यहाँ यह कहा कि केवलज्ञान की पर्याय व्यवहार से लोकालोक को जाने तो दर्शन भी पर को देखे, ऐसा नहीं कहना। निश्चय से दर्शन भी अपने को ही देखता है, पर को नहीं। आहाहा! निश्चय से यहाँ आया

न! यहाँ व्यवहारकथन वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिस प्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है, उसी प्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं हैं। छद्मस्थ जीव के साथ तुलना की अपेक्षा से तो केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं, वह बराबर सत्य है—यथार्थ है, क्योंकि वे त्रिकाल सम्बन्धी सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को यथास्थित बराबर परिपूर्णरूप से वास्तव में जानते-देखते हैं। 'केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं' ऐसा कहते हुए पर की अपेक्षा आती है, इतना ही सूचित करने लिए, तथा केवली भगवान जिस प्रकार स्व को तद्रूप होकर.... स्व को तद्रूप होकर, ज्ञान, ज्ञान में लीन होकर निजसुख के संवेदन सहित... अपने अतीन्द्रिय आनन्द के वेदनसहित जानते-देखते हैं, उसी प्रकार लोकालोक को (पर को) तद्रूप होकर परसुखदुःखादि के संवेदन सहित नहीं जानते-देखते,... नारकी को देखे तो नारकी का दुःख का वेदन भगवान को होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! जानने-देखने का स्वभाव तो अपना अपने से है। आहाहा! वह पर के कारण नहीं है।

परसुखदुःखादि के संवेदन सहित नहीं जानते-देखते, परन्तु पर से बिलकुल भिन्न रहकर, पर के सुखदुःखादि का संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं, इतना ही सूचित करने के लिए उसे व्यवहार कहा है। बाकी निश्चय से तो अपने को आनन्दसहित वेदन करते हैं। ज्ञान आनन्दादि सर्व। जितनी ताकत लोकालोक की है, उतनी ताकत का ज्ञान अपने में है, उसे वेदन करते हैं। पर को वेदते नहीं परन्तु स्व को वेदते हैं, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। विशेष कहेंगे... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१९८, गाथा-१६७, श्लोक २८२, गुरुवार, आषाढ़ कृष्ण ४, दिनांक ३१-०७-१९८०

नियमसार, २८२ कलश। अधिकार ऐसा लेंगे कि केवलज्ञान अपने को जानता है। बाद की गाथा में लेंगे कि केवलज्ञान सर्व को जानता है। दोनों बातें ली हैं। आहाहा! उसमें मर्म क्या है? कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञानस्वरूप हर पल, हर क्षण जो रागादि चीज़ होती है, उसका तो वह जाननेवाला है। आहाहा! क्योंकि नवतत्त्व में राग-द्वेषादि भिन्न तत्त्व है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी ज्ञान का पिण्ड प्रभु, वह अपने को जानता है और राग को जानता है, यह व्यवहार कहेंगे। बाकी यहाँ तो अपने को ही जानता है। आहाहा!

(निश्चय से) आत्मा सहज परमात्मा को... सहज परमात्मा अर्थात् अपना स्वरूप । सहज परमात्मा अर्थात् अपना पूर्ण स्वरूप । आत्मा सहज परमात्मा को देखता है— आहाहा! ऐसी ताकत है । आत्मा मानना, वह कहीं साधारण बात नहीं है । अन्तर में उसकी शक्ति, आत्मा अपने परमात्मा के पूर्ण स्वरूप को देखता है, जानता है । आहाहा! वह प्रतीति में आना । विकल्परहित प्रतीति होती है । आहाहा! कि जो परमात्मा एक है,... स्वयं आत्मा स्वरूप से तो एक है । भले गुण अनन्त हों, तो भी वस्तु एक है । आहाहा! विशुद्ध है,... निर्मल है । विशुद्ध का अर्थ, शुभभाव के अर्थ में भी विशुद्ध आता है और शुद्धता के अर्थ में भी विशुद्ध आता है । विशुद्ध शब्द से यहाँ (आशय) निर्मल है । आहाहा!

भगवान् आत्मा विद्यमान जीव है । अपने अस्तित्व में विराजमान है । यह विशुद्ध है । एक है । गुणभेद आदि नहीं । द्रव्य एक है । आहाहा! और विशुद्ध है । निज अन्तःशुद्धि का आवास होने से... निज-अपनी शुद्धि का स्थान होने से । अपनी शुद्धि को रहने का वह स्थान है । आहाहा! (केवलज्ञानदर्शनादि) महिमा का धारण करनेवाला है,... आहाहा! यह बात बैठना... भाई! यह तो छद्मस्थ है, छद्मस्थ । राग होता है, उसे भी कहते हैं कि तेरा आत्मा तो प्रभु पूर्ण है न । आहाहा! और वास्तव में तो तू पूर्ण आत्मा को देखता है न, प्रभु! आहाहा! अपने को छोड़कर पर को देखना, वह तो व्यवहार है । वह व्यवहार कहेंगे । व्यवहार है, परन्तु निश्चय में तो अपने स्वरूप को स्वयं देखता है । आहाहा! छद्मस्थ को भी ऐसा है । यह कहा न? आहाहा!

(केवलज्ञानदर्शनादि) महिमा का धारण करनेवाला है, अत्यन्त धीर है... शाश्वत् धीर प्रभु है । ध्रुव धीर । आहाहा! उसकी अन्तर में दृष्टि करना, वही परमात्मा है । तू अन्दर परमात्मा है । यह कहा न? आत्मा सहज परमात्मा को देखता है— कि जो परमात्मा एक है,... तेरा स्वरूप पूर्ण है । आहाहा! वह निज अन्तःशुद्धि का आवास होने से... अन्तर निर्मल शक्तियों का आवास, घर, निवास है । आहाहा! अनन्त महिमा का धारण करनेवाला है, अत्यन्त धीर है और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से... निज आत्मा में... पर की बात यहाँ जरा भी नहीं है । पर को तो स्पर्श नहीं करता । पर का तो अपने में अत्यन्त अभाव-स्वभावस्वरूप है । आहाहा! ऐसा स्वरूप आत्मा का है । शुद्धोपयोग अधिकार है न? शुद्धोपयोग ।

परमात्मा अन्दर पूर्ण तुझमें है। अनन्त-अनन्त गुण का आवास। आहाहा! अनन्त गुण को रहने का स्थान तू है। राग और पुण्य और पर्याय, वह रहने का स्थान नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा को अन्तर (में) देखना और अनुभव करना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा! कठिन बात है। एक-एक कठिन बात वीतराग की तो है। आहाहा!

सवेरे कहा था न कि शुभभाव करे कोई भी... आहाहा! अब अभी तो ऐसा कहते हैं कि शुभभाव से शुद्ध होता है। प्रभु कहते हैं कि शुभभाव करे और शुद्ध को भूले, वह नपुंसक है। आहाहा! प्रभु को कहाँ दुनिया की पड़ी है? सन्तों को कहाँ पड़ी है? दिगम्बर सन्तों को दुनिया की कुछ पड़ी नहीं। दुनिया कैसे माने, न माने। सुगठित रहे, (न रहे) विषम तर्क। विषम तर्क उठावे, वह स्वतन्त्र है। दिगम्बर सन्तों को जगत की कुछ पड़ी नहीं है। नागा बादशाह से आघा। आहाहा! जिन्हें बादशाह की भी गिनती नहीं। सत्य को प्रसिद्ध करने में संकोचहीनता नहीं है। वह तो स्वरूप ऐसा है, ऐसा तुम मानो, जानो। छद्मस्थ में भले रागादि हैं, परन्तु वे तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! तू तो उनका जाननेवाला है। उन्हें जाननेवाला कहना, यह भी व्यवहार है। अपने में स्व और पर को जानने की शक्ति है तो अपने को जानता है। उसी क्षण में राग को भी अपनी सत्ता से पर की अपेक्षा बिना, राग की अपेक्षा बिना राग को अपने में जानता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप!

अत्यन्त अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है। प्रभु सर्वदा—तीनों काल द्रव्यस्वभाव से अन्तर्मग्न ही है। यह वस्तु जो आत्मा है—द्रव्य, वह कभी राग में, पुण्य में आया ही नहीं। आहाहा! सर्वदा अन्तर्मग्न है। अन्तर आनन्दादि गुण में मग्न है। ऐसी सूक्ष्म बात है। मार्ग दूसरा नहीं, भाई! तुझे तेरी कीमत करना न आवे, तब तक सब शून्य है। आहाहा! तेरी कीमत और तेरी क्या चीज़ है? तू परमात्मस्वरूप ही है। आहाहा! वह सर्व गुण को रहने का स्थान है। वह विकार को रहने का स्थान नहीं है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव रहने का स्थान नहीं है। आहाहा! कठिन पड़े। पुण्य से धर्म होता है... पुण्य से धर्म होता है... पुण्य से पवित्रता होती है। बस, यह लेख। लेख आते हैं। जैन में आते हैं न? उसमें यही पूरा लिखा है। पुण्य के कारण धर्म होता है, पुण्य के कारण पवित्रता होती है। आहाहा!

एक जगह दृष्टान्त आता है। पुण्य से पवित्रता। परन्तु वह पुण्य अर्थात् पवित्रता की

बात है। वह पुण्य शुभराग की बात नहीं है। आहाहा! पुण्य को पवित्रता कही है। परन्तु वह अपना पवित्र स्वभाव, उसे यहाँ पुण्य को पवित्र कहा है। शुभभाव को पुण्य कहकर पवित्र कहा है, ऐसा नहीं है। एक ओर कहते हैं कि शुभभाव अपनी चीज़ से दूर है। अपना स्वरूप पुरुषार्थमय है; राग, वह नपुंसकता है। आहाहा! बैठना कठिन पड़े। जैनधर्म वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी ने कहा हुआ यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है। किसी ने बनाया नहीं। भगवान ने कोई चीज़ बनायी नहीं। तथा भगवान उस चीज़ को स्पर्श भी नहीं करते। परन्तु चीज़ कैसी है, ऐसा जानना, वह भी व्यवहार जानने में मग्न है। अपने को परसम्बन्धी जो ज्ञान होता है, उसमें मग्न है। आहाहा!

वह सर्वदा अन्तर्मग्न है। तीनों काल भगवान आत्मा अन्तर अनन्त गुण में निमग्न है। आहाहा! कर्म में तो वह आया नहीं परन्तु पुण्य के शुभभाव में भी आया नहीं। ऐसा उसका स्वभाव त्रिकाल सर्वदा अन्तर्मग्न है। स्वभाव से महान... अपने स्वभाव से महान। आहाहा! मानना तो यह है। करके करने का तो यह है। दूसरा जाने, न जाने परन्तु आत्मा को जाने बिना सम्यक्त्व नहीं होता। आहाहा! आत्मा ऐसा है। दूसरे जो आत्मा कहते हैं, वह नहीं। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा कहा, उसका जितना अस्तित्व है और अस्तित्व की जो पद्धति है। अपने में मग्न, वह अपनी पद्धति है। आहाहा! बाहर में कभी आता नहीं। राग में द्रव्यस्वभाव कभी आता नहीं। आहाहा! और राग को जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। यह कहेंगे। बाद की गाथा में (कहेंगे)। जानता है। निश्चय से तो अन्तर्मग्न है। राग का ज्ञान होने पर भी अन्तर्मग्न है। आहाहा! ऐसा कभी सुना नहीं हो और बाहर में धर्म हो जाए। देव-गुरु की भक्ति या दया, दान (करो)। आहाहा!

प्रभु! तेरी कीमत अलौकिक है। तू पर की भक्ति करता है, वह भी तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! भगवान की भक्ति करता है, वह भी तेरी चीज़ नहीं। वह भी विकल्प है। उस विकल्प का अपने में अपने से ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में आत्मा मग्न है। विकल्प में मग्न नहीं। ओहोहो! यहाँ पहुँचना! दुनिया में से निवृत्ति नहीं न! इसके बिना भव का अन्त नहीं आयेगा, प्रभु! चौरासी के अवतार अनन्त-अनन्त अवतार किये। अपने में निमग्न आत्मा को जाना नहीं। किसी भी प्रकार से पराधीन और पर से अपना अस्तित्व जानकर... आहाहा! पर से कभी दृष्टि हटायी नहीं और हटाने का प्रयत्न किया नहीं। आहाहा! करना तो यह है। भगवान सर्वस्व अपने गुण में रहनेवाला अन्तर्मग्न है। है न?

अत्यन्त धीर है... आहाहा! और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल... स्वरूप में, निज आत्मा में अविचल। कभी अपने स्वरूप में से हटता नहीं। आहाहा! अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है। स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में... आहाहा! स्वभाव से महान। किसी ने बनाया है या उसे महान कहते हैं, इसलिए महान है, ऐसा नहीं है। वह सब महिमावन्त महान पदार्थ ही है। आहाहा! सहज। है न? स्वभाव से महान... स्वभाव से महान है। अपने स्वभाव से ज्ञान और आनन्द, शान्ति और स्वच्छता, वीतरागता आदि अपने स्वभाव की महिमा में मग्न है। आहाहा! उसके कारण महान है। स्वभाव से महान है। किसी का करे और किसी को बनावे तो उसकी महिमा है और महान है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसा सूक्ष्म।

स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में व्यवहारप्रपंच (विस्तार) है ही नहीं। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा में व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। है न? नीचे स्पष्टीकरण किया था। कल हो गया है। पर को जाने, इतना व्यवहार। यह प्रपंच भी उसमें नहीं है, कहते हैं। आहाहा! पर का तो करे नहीं परन्तु पर को जानना, ऐसा व्यवहार प्रपंच भी उसमें नहीं है। आहाहा! व्यवहार से कितने हटकर अन्दर में जाना, जहाँ भगवान का आवास है। आवास—रहने का स्थान, बँगला है, बँगला। अपना स्वरूप अपने में रहने का स्थान है। असंख्यप्रदेशी। आहाहा! वहाँ जाकर (रहने का है)। उसमें व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। आहाहा! वह कल नीचे का (फुटनोट) पढ़ा था। निश्चय से है, व्यवहार से जानते हैं परन्तु उसकी कुछ महिमा नहीं है। अपने को छोड़कर क्षेत्र से, भाव से, गुण अर्थात् भाव, पर्याय से, द्रव्य से अपने में से एक अंश भी दूर होकर पर के प्रपंच में पड़े, वह वस्तुस्वरूप है नहीं। आहाहा! ऐसा आत्मा अब। व्यवहार के रसवाले को एकान्त लगता है। आज व्यवहार का लेख बहुत आया है। पुण्य से होता है, पुण्य से ही भगवान मिलते हैं, पुण्य से ही पवित्रता होती है, पुण्य ही... पुण्य ही... ऐसा... नौ प्रकार के पुण्य करो, तुम्हारा कल्याण होगा। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, पुण्य को जानना, वह व्यवहारप्रपंच है। आहाहा! यह तो अपना ज्ञान, स्व-परप्रकाशक ज्ञान अपना स्वरूप है। उसमें मग्न है। आहाहा! कठिन पड़े।

(अर्थात् (स्वभाव से मानने से) निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं)। एकरूप चैतन्य प्रभु... आहाहा! उसमें कोई गुण भेदादि

व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। तो पर को जाने, ऐसा व्यवहार (प्रपंच) है ही नहीं। एकरूप चैतन्यमूर्ति भगवान अनादि सत्ता, जिसकी सत्ता में पर का प्रवेश नहीं है और पर में अपना प्रवेश नहीं है और पर के प्रवेश में अपना प्रवेश नहीं, ऐसा व्यवहारप्रपंच है ही नहीं। व्यवहारप्रपंच का विस्तार है ही नहीं। आहाहा! अन्दर है या नहीं? आहाहा! उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि केवलज्ञानी पर को नहीं जानते। तो छद्मस्थ भी यह जाने वह पर को नहीं जाने, ऐसा नहीं है। पर को जानते हैं परन्तु पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! नीचे का कल चला था। ऐसा कि केवली पर को नहीं जाने तो नीचे वाला तो पर को जाने नहीं। वह पर को जाने तो जानने की अपनी शक्ति है। स्व-पर प्रकाशक अपनी शक्ति अपने से है। पर को जानने की शक्ति से आत्मा में पर को जानने की शक्ति है, ऐसा है नहीं। स्व और पर को जानने की शक्ति स्वतः सहज अपनी महिमा में, अपनी महानता में वह तो है। आहाहा! और वह महानता यह है। अपने में रहना, यह महानता है। आहाहा!

निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं। आहाहा! एक ओर ऐसा कहते हैं तथा दूसरी ओर जानने का कहते हैं। निश्चय से... आहाहा! यह सब बात सिद्ध करने में आत्मा ज्ञान-दर्शन का पिण्ड है, (ऐसा कहना है)। ज्ञान वह अपने को और पर को व्यवहार से जाने-देखे। परन्तु दूसरा कुछ पर का करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! बहुत तो पर को जाने, ऐसा व्यवहार से कहो, परन्तु व्यवहार से पर को हिलावे-चलावे, क्रिया करे - यह वस्तु में तो है नहीं, प्रभु! आहाहा! कठिन काम है। यह कार्यकर्ता सब काम करे, उन्हें भारी कठिन लगता है। बहुत वर्षों पहले डेबरभाई के साथ चर्चा हुई थी। नीम के नीचे। वे कहें निमित्त तो हम होते हैं न? निमित्त होवें तो होवे न। आहाहा! निमित्त होवें तो होवे न। निमित्त होवे तो होता है तो जो सामने चीज़ है, वह पर्यायरहित है? अपने कार्यरहित है? जो चीज़ - द्रव्य निकम्मा पड़ा है? उसके कार्य बिना निकम्मी पड़ी है? कार्य तो पर्याय है। कोई भी द्रव्य कार्य बिना का पड़ा है? कार्य कहो या पर्याय कहो। आहाहा! निमित्त क्या करे? निमित्त कुछ नहीं करता। आहाहा! कहो, इस पुस्तक को रखा, इसलिए तो... आहाहा! कठिन बात है, भाई!

यह तो वीतराग है। परमात्मा कहते हैं कि जैसे हम हैं, वैसे तुम हो। अनादि काल से तू ऐसा है। तुझे भ्रम है (कि) अल्प हूँ, रागी हूँ, पर को जानने में रुकना, वह तुझे भ्रम है। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अनन्त दर्शन, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, उसका

वह घर और आवास है। आहाहा! बसने के लिये वह बास है। आवास अर्थात् वह रहने का स्थान है। पर को रहने का स्थान नहीं। राग भी आत्मा में रहे, ऐसा आवास नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! और वापस टीका करे कि तुम ऐसा कहते हो फिर यह जहाँ-तहाँ शिविर लगाना, दूसरे को समझाना और यह सब उपाधि किसलिए करते हो? ऐई! बाबूभाई! अरे! प्रभु! वह तो बनने के काल में बनता है। कोई करता नहीं। वास्तव में तो ज्ञाता है। उस काल में वह जड़ की पर्याय उस प्रकार से भाषा की पर्याय का काल है तो भाषा होती है। आहाहा! एक ओर कहे, किसी का कुछ कर नहीं सकता और अब दूसरी ओर तुम्हारे लोग जहाँ-तहाँ उपदेश देने घूमते हैं। तो उसमें कुछ कर सकते हैं या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : लोगों को मायाचारी जैसा लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मायाचारी जैसा... आहाहा!

भगवन्त! तेरा स्वरूप ही ऐसा है, नाथ! तू तुझे जाने; पर को जाने, वह परसम्बन्धी जाने नहीं। वह अपनी शक्ति स्व-परप्रकाशक है, उसे जाने। और वह स्व-परप्रकाशक शक्ति अपने में निवास करती है। अकेले पर को जानना, उसकी यहाँ बात नहीं है। आहाहा! पुण्य और पाप, दया और दान का तो आत्मा आवास है नहीं, परन्तु पर को जानने का भाव त्रिकाल में—स्व-परप्रकाशक शक्ति के पिण्ड में वह भी नहीं है। आहाहा!

निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं। आहाहा! और वह तो कहे पुण्य करो, करते-करते कल्याण हो जाएगा। पुण्य करो, दया करो, दान करो। करते-करते केवल(ज्ञान) हो जाएगा। व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। व्यवहार से निश्चय होगा। यहाँ तो कहते हैं, व्यवहार को जाने-ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! व्यवहार जो, व्यवहाररत्नत्रय का राग आता है, उसे जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहारप्रपंच है। अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति में ही द्रव्य लीन है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! दुनिया से अलग प्रकार है, इसलिए अलग लगती है। आहाहा! **लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं।** आहाहा! अब इससे उल्टा आया।

गाथा-१६७

मुत्त-ममुत्तं द्रव्यं चेषण-मियरं सगं च सव्वं च ।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६७॥

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च ।
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्ष-मतीन्द्रियं भवति ॥१६७॥

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत् । षण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्गलस्य पञ्चानां अमूर्तत्वं ; चेतनत्वं जीवस्यैवं पञ्चानामचेतनत्वम् । मूर्तामूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिकमशेषं त्रिकालविषयं अनवरतं पश्यतो भगवतः श्रीमदर्हत्परमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधानापोढं चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे -

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥

जो मूर्त और अमूर्त जड़ चेतन स्व-पर सब द्रव्य हैं ।
देखे उन्हें उसको अतीन्द्रिय ज्ञान है प्रत्यक्ष है ॥१६७॥

अन्वयार्थ : [मूर्तम् अमूर्तम्] मूर्त-अमूर्त [चेतनम् इतरत्] चेतन-अचेतन [द्रव्यं] द्रव्यों को-[स्वकं च सर्वं च] स्व को तथा समस्त को [पश्यतः तु] देखनेवाले का (जाननेवाले का) [ज्ञानम्] ज्ञान [अतीन्द्रियं] अतीन्द्रिय है, [प्रत्यक्षम् भवति] प्रत्यक्ष है ।

टीका : यह, केवलज्ञान के स्वरूप का कथन है ।

छह द्रव्यों में पुद्गल को मूर्तपना है, (शेष) पाँच को अमूर्तपना है; जीव को ही चेतनपना है, (शेष) पाँच को अचेतनपना है । त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-

अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को (स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को) निरन्तर देखनेवाले भगवान श्रीमद् अर्हत्परमेश्वर का जो क्रम, इन्द्रिय और *व्यवधान रहित, अतीन्द्रिय सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान, वह सकलप्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (५४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

जो अमूर्त को और मूर्त में भी प्रच्छन्न अतीन्द्रिय को ।
इन सबको अथवा निज-पर को देखे वह प्रत्यक्ष कहो ॥

‘ [गाथार्थ:—] देखनेवाले का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय को, और प्रच्छन्न को इन सबको—स्व को तथा पर को—देखता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है ।’

गाथा - १६७ पर प्रवचन

गाथा १६७

मुक्त-ममुक्तं दव्वं चेयण-मियरं सगं च सव्वं च ।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६७॥

जो मूर्त और अमूर्त जड़ चेतन स्व-पर सब द्रव्य हैं ।
देखे उन्हें उसको अतीन्द्रिय ज्ञान है प्रत्यक्ष है ॥१६७॥

टीका : यह, केवलज्ञान के स्वरूप का कथन है। छह द्रव्यों में पुद्गल को मूर्तपना है,... भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। उनमें पुद्गल जो है... आहाहा! उसे मूर्तपना है (शेष) पाँच को अमूर्तपना है; जीव को ही चेतनपना है, (शेष) पाँच को अचेतनपना है। आहाहा! एक चैतन्य। मूर्त के सामने एक चैतन्य। धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त तो हैं परन्तु यहाँ तो मूर्त के सामने एक चैतन्य है। आहाहा! और जीव को ही चेतनपना है, (शेष) पाँच को अचेतनपना है। त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को (स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को) निरन्तर देखनेवाले भगवान... लो! पहले

* व्यवधान के अर्थ के लिये २८वें पृष्ठ की टिप्पणी देखो।

वहाँ निषेध किया तो फिर यहाँ हाँ (किया)। व्यवहार से। आहाहा! व्यवहार है, वह आदरणीय नहीं। आहाहा!

कहते हैं कि निरन्तर त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को... जितने हैं, उन्हें। (स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को) निरन्तर देखनेवाले भगवान... देखो! आहाहा! निरन्तर देखनेवाले, ऐसा कहा न? आहाहा! उसमें कहा कि निरन्तर तो अन्दर रहनेवाले हैं। अत्यन्त अविचल सदा अन्तर्मग्न हैं। आहाहा! यह तो व्यवहार सिद्ध करते हैं। परवस्तु है, वह अपने ज्ञान की ताकत में स्व को जानते हैं, वैसे पर को जानते हैं। ऐसा व्यवहार है। व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

समस्त द्रव्यों को निरन्तर देखनेवाले... भाषा देखी! उसमें व्यवहारप्रपंच बिल्कुल नहीं, ऐसा कहा। यहाँ कहते हैं कि निरन्तर देखनेवाले। आहाहा! व्यवहार लिया न, व्यवहार? ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। है तो अपने कारण से, परन्तु परप्रकाशक (कहा उसमें) पर की अपेक्षा ली है, इसलिए पर को निरन्तर देखते हैं— ऐसा कहने में आया है। आहाहा! एक धोरण क्या इसमें तब? यह सच्चा या वह सच्चा? उनके स्थान में दोनों सच्चे। निश्चय निश्चय के स्थान में सत्य है, व्यवहार जाननेयोग्य है, इतना व्यवहार है, उतना भी सत्य है। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों सच्चे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों अपेक्षा से। जाने। जाने, वह बिल्कुल न जाने तो केवलज्ञानी लोकालोक को जानते हैं, यह भी मिथ्या पड़ जाए। है तो लोकालोक को जाने, वह असद्भूतव्यवहार है। क्या कहा? केवलज्ञान लोकालोक को जानता है भगवान, वह असद्भूतव्यवहार है, झूठा व्यवहार है। सद्भूतव्यवहार नहीं। सद्भूतव्यवहार तो आत्मा की पर्याय और पर्याय, वह आत्मा, यह सद्भूतव्यवहार है। पर को जानना, वह तो असद्भूतव्यवहार है। आहाहा! वह भी एक है। बिल्कुल निकाल डाले और बिल्कुल व्यवहार से भी पर को न जाने, (ऐसा) एकान्त में ले जाए तो उसके लिये बात की है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

मुमुक्षु : व्यासकर जाने तो असद्भूतव्यवहार, व्यापे बिना जाने तो सद्भूतव्यवहार?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के साथ सद्भूत है ही नहीं। पर के साथ सद्भूत है ही नहीं।

पर के साथ असद्भूतव्यवहार है। अपनी पर्याय को अपने में जाने, वह सद्भूतव्यवहार है। आहाहा! यह ११वीं गाथा में कहा है। ११वीं गाथा। व्यवहार, वह सब अभूतार्थ है। है? व्यवहार सब अभूतार्थ है। व्यवहार सब अर्थात् अध्यात्म के हिसाब से चार व्यवहार हैं। एक असद्भूत उपचार और अनुपचार। एक सद्भूत उपचार और अनुपचार। अर्थात् क्या? कि आत्मा में जब राग होता है, वह ख्याल में आता है, उसका नाम असद्भूत उपचार कहने में आता है। ऐसी लम्बी बातें! पाठ में व्यवहार अभूतार्थ कहा। समयसार की ११वीं गाथा में। व्यवहार सब अभूतार्थ है। आहाहा! व्यवहार सब, तब एक व्यवहार नहीं होता।

व्यवहार परन्तु सब तेरे अधिक व्यवहार, अध्यात्म के व्यवहार भी चार हैं। आगम के व्यवहार तो बहुत हैं। नैगमनय और संग्रहनय वह सब आगम के हैं। यह तो अध्यात्मनय में भगवान आत्मा सब व्यवहार से भिन्न है।

व्यवहार चार प्रकार के हैं। उनमें राग आता है तो ज्ञात होता है कि यह राग उपयोग स्थूल है। ख्याल में आता है तो वह उपचार व्यवहार है। असद्भूत उपचार। असद्भूत (अर्थात्) आत्मा में है नहीं। असद्भूत उपचार। और उस समय में उपयोग सूक्ष्म नहीं है, इसलिए राग ज्ञात नहीं होता, तथापि है, वह असद्भूत अनुपचार व्यवहार है। आहाहा! और सद्भूतव्यवहार के दो भेद। ज्ञान राग को जाने, वह सद्भूतव्यवहार उपचार। आत्मज्ञान राग को जाने, वह सद्भूत ज्ञान अपना, पर को जाने वह सद्भूतव्यवहार। यह उपचार है। पर को जाने वह भी सद्भूत उपचार है और ज्ञान वह आत्मा, यह सद्भूत अनुपचार व्यवहार है। आहाहा! यह अर्थ ११वीं गाथा में चला था। व्यवहार सब अभूतार्थ है, (ऐसा) मूल पाठ टीका है। पश्चात् सब इसका अर्थ इसमें नहीं है। सबका अर्थ यह है। व्यवहार पर को जाने, अरे! ज्ञान, वह आत्मा—ऐसा भेद (करना), वह भी अभूतार्थ है। ज्ञायक, वह ज्ञायक है। आहाहा! वह निश्चय है।

वहाँ कहा, कि व्यवहार का प्रपंच उसमें नहीं है। आहाहा! यहाँ कहा कि त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि... अपने स्वद्रव्यसहित, अकेला पर नहीं। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसहित अशेष को... दूसरे को भी स्वद्रव्यादि और अशेष... अर्थात् दूसरे। (स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को)... अशेष का अर्थ पर लिया। आहाहा! यह

कहने का आशय इतना है, प्रभु! कि तेरा स्वरूप तो जानन-देखन है। बस! कुछ करना, किसी का करना, फंसाना, पर का करना तो है ही नहीं। आहाहा! परन्तु राग को करना, वह भी तेरी चीज़ में नहीं है। ज्ञान करे या ज्ञान जाने? आहाहा! जानन के पास करना, बताना, इसे रचना, वह तो मिथ्या भ्रान्ति है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

सद्भूतव्यवहार—ज्ञान, वह आत्मा, यह सद्भूतव्यवहार अनुपचार। वह ज्ञान राग को जानता है, यह सद्भूत उपचार व्यवहार। राग को जानने-देखने में आवे, वह असद्भूत उपचार व्यवहार और जानने में न आवे, (तो भी) है। क्योंकि स्थूल उपयोग है तो ज्ञात नहीं होता। स्थूल राग ज्ञात होता है। जो ज्ञात नहीं होता, वह असद्भूत अनुपचार व्यवहार। यह दो के आत्मा में है ही नहीं। असद्भूतव्यवहार, उपचार और अनुपचार यह आत्मा में नहीं है। इसीलिए असद्भूत कहा। और यह सद्भूत कहा, भले राग को जाने परन्तु ज्ञान अपने में है न, और ज्ञान वह आत्मा, यह तो अनुपचार सद्भूत है। आहाहा! ऐसी सब बातें। वे तो एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय की दया पालना, हिंसा न करना और मूर्तिवाले को मूर्ति बनाना और भक्ति करना... ओहो! एक व्यक्ति बिरधीचन्द अभी लिखता है कि मूर्ति की प्रतिष्ठा थी। यह सब लाखों लप (आडम्बर) बाद में घुस गयी है। ऐसा लिखा है। वर्ष भी दिया है। अमुक वर्ष के बाद ऐसा होगा? नहीं होता। व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... उसमें यह कहाँ कर सकता है?

निश्चय से तो परमात्मा की प्रतिमा भी पधरा नहीं सकता। परद्रव्य को क्या करे? आहाहा! यह तो प्रतिष्ठा होने की पर्याय वहाँ होनेवाली हो तो होती है, तो आत्मा को निमित्त कहने में आता है। निमित्त है, इसलिए उससे यह हुआ, ऐसा है नहीं। बहुत कठिन काम। एक ओर मूर्ति पूजा... स्वाहा... (करके) चावल चढ़ावे, वह क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! वह तो नहीं कर सकता परन्तु यह राग आया उसका भी जाननेवाला रहता है; करनेवाला नहीं होता। आहाहा! यहाँ पहुँचना।

यहाँ कहते हैं, यह व्यवहार है। स्व और परद्रव्य को निरन्तर देखनेवाले भगवान... आहाहा! पहले कहते हैं कि व्यवहार का प्रपंच नहीं देखते। यह व्यवहार का प्रपंच है, व्यवहार का विस्तार है। यह कहते हैं निरन्तर देखनेवाले भगवान श्रीमद् अर्हत्परमेश्वर का जो क्रम,... परमेश्वर का जो क्रम इन्द्रिय और व्यवधान रहित,... उन्हें जानने में क्रम

नहीं है। भगवान भले पर को जाने परन्तु क्रम नहीं है। एक के बाद एक जाने, ऐसा नहीं है। एक समय में सब लोकालोक जाने। आहाहा! पहले लोक जाने और फिर अलोक जाने, पहले स्व जाने और फिर पर जाने, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

त्रिलोक के नाथ परमात्मा तब हुए कि क्रमरहित, इन्द्रियरहित, व्यवधानरहित... आहाहा! यह स्पष्टीकरण अन्दर २८ पृष्ठ पर किया है। व्यवधान-दखल नहीं, दखल। केवलज्ञान में पर का व्यवधान अर्थात् दखल नहीं है। २८वें पृष्ठ पर नीचे है। है? व्यवधान =आड़; पर्दा, अन्तर, विघ्न, फासला। ऐसा है नहीं। आहाहा! है न? ऐसा... ऐसा... सुनना मुश्किल पड़े। एक तो मिले नहीं और मिले तब सूक्ष्म पड़े। इसे किये बिना छुटकारा नहीं है, प्रभु! चौरासी के अवतार में इसने दुःख भोगे हैं। उस दुःख को देखनेवाले की आँखों में से धारा चली है। आहाहा! देख सके नहीं। प्रभु! अनन्त काल हुआ। मूल वस्तु अभेद चैतन्य... आहाहा! पर को जाने, ऐसा व्यवहार हो, परन्तु अपना स्थान छोड़कर पर में जाए, ऐसा है नहीं। आहाहा! अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चार को पर में जानने जाए, ऐसा है नहीं। आहाहा!

व्यवधान रहित, अतीन्द्रिय सकल-विमल... सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय-इन्द्रियरहित सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान वह सकलप्रत्यक्ष है। सकल प्रत्यक्ष हैं। सब प्रत्यक्ष है। मूर्त-अमूर्त, स्वद्रव्य-परद्रव्य, सब प्रत्यक्ष हैं। आहाहा! परवस्तु भी प्रत्यक्ष है। प्रवचनसार में बहुत लिया है। प्रवचनसार में सब आता है। भविष्य में पर्याय होगी, वर्तमान है नहीं, वह केवलज्ञान को प्रत्यक्ष है। तब किसी ने प्रश्न किया कि है नहीं और प्रत्यक्ष जानते हैं, यह तो खोटी बात हुई। अरे! खोटी बात हुई नहीं, सुन तो सही। यह तो माहात्म्य हुआ। भविष्य की पर्याय है नहीं, अनन्त काल के पश्चात् पर्याय होगी। उसमें अभी है नहीं, उसमें, उसे केवलज्ञान भगवान... यह यहाँ कहा न सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान, वह सकलप्रत्यक्ष है। उन्हें सकलप्रत्यक्ष है। आहाहा! एक ओर भगवान को व्यवहार प्रपंच कहा, वह तो पर की अपेक्षा से। यह जहाँ जानने का है व्यवहार, इतना स्व-परप्रकाशक।

स्व-परप्रकाशक दो प्रकार से है। एक स्व-परप्रकाशक स्व-रूप से है और एक स्व-परप्रकाशक पर की अपेक्षा लेने से परप्रकाशक है। आहाहा! क्या कहा? स्व-

परप्रकाशक दो प्रकार के हैं। एक अपना स्वरूप स्व-परप्रकाशक निश्चय से है। स्व-परप्रकाशक स्वरूप ही है। और स्व-पर स्व को को जाने और पर को जाने, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह कहा।

अतीन्द्रिय सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान वह सकलप्रत्यक्ष है। क्या सकलप्रत्यक्ष है? पहली चीज़ जैसी कही वह। छह द्रव्यों में पुद्गल को मूर्तपना है, (शेष) पाँच को मूर्तपना है;... प्रत्यक्ष। जीव को ही चेतनपना है, ... प्रत्यक्ष (शेष) पाँच को अचेतनपना है। प्रत्यक्ष। त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन स्वद्रव्यादि अशेष को (स्व तथा पर समस्त द्रव्यों को) निरन्तर देखनेवाले भगवान श्रीमद् अर्हत्परमेश्वर का जो क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान रहित, अतीन्द्रिय सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान, वह सकलप्रत्यक्ष है। आहाहा! भाई! इसका अञ्जयास न हो, उसे कठिन लगे, परन्तु वस्तु तो यह है। आहाहा!

अन्तर चैतन्य भगवान इस परमाणु को छुआ नहीं है। यह परमाणु, अनन्त परमाणु प्रत्येक समय में, उसकी-परमाणु की पर्याय होती है। उस पर्याय में अपने आत्मा का अधिकार बिल्कुल नहीं है। आहाहा! यह बोलने में, वाणी निकलने में, लिखने में आत्मा का बिल्कुल अधिकार नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

प्रभु! तू तो ज्ञान है न? ज्ञान क्या करे? ज्ञान तो ज्ञान करे। तो यह कहा कि पर का ज्ञान करे, इतना व्यवहार भले रखो। बाकी तो ज्ञान स्वयं अपने में समाता है। पर का ज्ञान करते समय ज्ञान ने कहीं अपना स्थान छोड़ा है, (ऐसा तो नहीं है)। आहाहा! इस प्रकार का धर्म! मार्ग तो ऐसा है, भाई! अरे! अनन्त काल से... आहाहा! चकनाचूर बालक को ऐसे। रास्ते में बालक बैठा था, उसमें एक ट्रक निकला, वह उसके ऊपर चल जाता है, चकनाचूर। आहाहा! भगवान! उसे भी तू जाननेवाला है। वह व्यवहार परन्तु उसे जाननेवाला व्यवहार है। बाकी जानना तो अपने में रहा है। जानने का स्थान, आवास, निवास, क्षेत्र, पर नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें! ऐसा धर्म! यहाँ तक आया। सकलप्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (५४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:— यह अब कहेंगे। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१९९, गाथा-१६८, श्लोक २८३, शुक्रवार, आषाढ कृष्ण ५, दिनांक ०१-०८-१९८०

प्रवचनसार की ५४वीं गाथा। ५४ गाथा आधार।

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छणं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥

आहाहा! प्रत्यक्षज्ञान किसे कहते हैं? ज्ञान, अपना जो स्वभाव, उसका प्रत्यक्षपना, वह उसका स्वभाव है। तो वह ज्ञान का प्रत्यक्षपना किसे कहते हैं? देखनेवाले का जो ज्ञान... है। देखनेवाले का जो ज्ञान अमूर्त को जानता है। अमूर्त को भी जानता है। आहाहा! आकाशादि अमूर्त सर्व को देखे। मूर्त... पदार्थों को भी देखे। मूर्त पदार्थ को देखे - जड़ परमाणु। और अतीन्द्रिय... को देखता है। अतीन्द्रिय भगवान ज्ञानस्वभाव... आहाहा! उसका प्रत्यक्ष स्वभाव ही है। वह अतीन्द्रिय को जानता है।

और प्रच्छन्न को... गुप्त है, उसे भी जानता है। भूत, भविष्य पर्याय पृच्छन्न-गुप्त है। उसे भी ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। आहाहा! ज्ञान का स्वभाव, आत्मा का ज्ञानस्वभाव, वह सर्व को प्रत्यक्ष जाने, वह उसका पूर्णरूप है। यह उसका-आत्मा का पूर्णस्वरूप है। तो कहते हैं पृच्छन्न। भविष्य की पर्याय जो अभी नहीं हुई, उसे भी जाने। भूतकाल की / गत काल की तो जाने, परन्तु भविष्य की जो पृच्छन्न पर्याय है, उसे भी प्रत्यक्ष जाने। प्रत्यक्ष जाने कि यह पर्याय इस जगह है। आहाहा! ऐसा ज्ञान का प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है। प्रत्यक्षस्वरूप ही उसका है। आहाहा! एक भी बात का माहात्म्य आने पर दूसरी सभी बातों का माहात्म्य ख्याल में आ जाता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप, वह किसी का करे नहीं, दया पाले नहीं, व्रत करे नहीं, कुछ कर नहीं। ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। तथा ज्ञान परोक्ष रहे, ऐसा भी स्वभाव नहीं। पर का तो कुछ करे नहीं परन्तु व्यवहार से परोक्ष रहे, वह भी नहीं। उसका तो प्रत्यक्ष रहने का स्वभाव है। ढंकी हुई बात, गुप्त बात को भी जाने। आहाहा! जानना उसका स्वभाव है, वह प्रत्यक्ष होकर जानता है।

और प्रच्छन्न को इन सबको—स्व को... सबका अर्थ स्व को तथा पर को—सब अर्थात् स्व तथा पर। आहाहा! सब देखता है,... ऐसा उसका स्वभाव है। किसी का

कुछ करना, ऐसा उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! पर की दया पालना, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं। गजब बात है। आहाहा! भगवान सर्वज्ञ परमात्मा, केवलज्ञानी प्रभु परमात्मा ने प्रत्यक्ष ज्ञान देखा। कहते हैं, यह तो जानना-देखना पूर्ण उनका स्वभाव है। किसी एक रजकण का करना या किसी की दया करना, किसी को सुखी करना या किसी को दुःख से हटाना, वह कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : गरीबों के आँसू पोंछना।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिपूर्णस्वरूप। आहाहा!

मुमुक्षु : गरीबों के आँसू पोंछना या नहीं? ऐसा पूछते हैं।

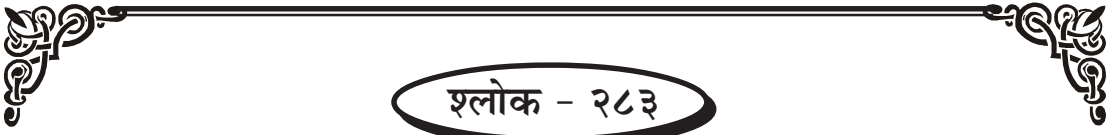
पूज्य गुरुदेवश्री : गरीब के आँसू-बाँसू पोंछता नहीं। कोई गरीब है ही नहीं। वास्तव में देखो तो भगवान आत्मा, सब शरीर में रहनेवाले आत्मा भगवान हैं। परिपूर्ण भगवान हैं, प्रत्यक्ष भगवान है ही, शक्तिरूप से तो प्रत्यक्ष स्वभाव है ही। आहाहा! किसी गरीब के आँसू पोंछना या किसी को भगवान की कृपा हो जाए तो कल्याण हो जाए, ऐसी बात है नहीं। यह तो प्रत्यक्ष एक समय में स्व और पर को अर्थात् सबको जाननेवाले हैं। है?

स्व को तथा पर को—देखता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष है, एक भाव का भी पक्का निर्णय करना। आहाहा! इसमें कितनी बात आ जाती है। आत्मा एक समय में प्रत्यक्ष सब जाने, इसमें कितनी बात आ जाती है। पर का कर सकता नहीं, पर को दे सकता नहीं, पर की दया पाल सकता नहीं। आहाहा! सत्य बोल सकता नहीं। भगवान सत्य बोल सकता नहीं। आहाहा! वह तो प्रत्यक्ष जाननेवाला भगवान है। बोलने की भाषा तो जड़ की है। जड़ की भाषा भी आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! यह प्रवचनसार की (गाथा है)।

वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसका नाम ज्ञान प्रत्यक्ष कहते हैं। स्व और पर को, पृच्छत्र और प्रगट को सबको एक समय में पर को स्पर्श किये बिना अपने में जानता है। वह पर को जानता है, ऐसा कहना, वह भी अभी व्यवहार है। आहाहा! अपने को-पूर्णस्वरूप को जानता है, उसमें सब आ गया। कठिन बात है, भाई! आहाहा! मोक्ष का मार्ग, वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा का मोक्षमार्ग बहुत अलौकिक है। आहाहा!

एक ही गुण में प्रत्यक्षपने का निर्णय करे तो उसमें बहुत बात आ जाती है। वह ज्ञान पर का तो कुछ करता नहीं। पर से ले नहीं, अल्पज्ञपना रह सके नहीं, अल्पपना रह सके नहीं, पूर्ण हो जाए—ऐसी उसकी शक्ति है। स्व और पर, प्रगट और अप्रगट सर्व को प्रत्यक्ष ज्ञान जानता है। ऐसे एक ज्ञानगुण की पर्याय का स्वभाव है। ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय का स्वभाव है। आहाहा! यह निर्णय करे तो मैं का कुछ कर सकता हूँ, पर से मुझमें कुछ आ जाता है, पर मुझमें कुछ मन्त्र-तन्त्र कर दे, ऐसा कुछ नहीं होता। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी चन्द्रप्रभु शीतलचन्द्रस्वभाव ज्ञान परिपूर्ण स्व और पर को सबको प्रत्यक्ष जाने, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। आहाहा! एक शब्द में तो बहुत भरा है। ज्ञान पंच महाव्रत पाले, पाप लगे तो दोष-प्रायश्चित्त ले, वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। आहाहा!

प्रत्यक्ष ज्ञान एक समय में पूर्ण स्व को और पूर्ण पर को, एक समय में पर को स्पर्श किये बिना अपनी ताकत से प्रत्यक्ष जाने, उसका नाम ज्ञान प्रत्यक्ष कहते हैं। वीतरागमार्ग में उसे ज्ञान प्रत्यक्ष कहते हैं। आहाहा!



श्लोक - २८३

तथाहि -

(मंदाक्रांता)

सम्यग्वर्ती त्रिभुवन-गुरुः शाश्वतानन्त-धामा,
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीयं यन्नयन-मपरं केवल-ज्ञान-सञ्ज्ञं,
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ॥२८३॥

और (इस १६७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):-

(वीरछन्द)

यह तृतीय सर्वोत्तम चक्षु जिसका केवलज्ञान सुनाम।
जिससे जग ने महिमा जानी ऐसे तीर्थनाथ भगवान् ॥

लोकालोक अचेतन-चेतन निज-पर को सम्यक् जानें।
जो हैं त्रिभुवन के गुरु उनका है अनन्त शाश्वत निज धाम ॥२८३॥

[श्लोकार्थः—] केवलज्ञान नाम का जो तीसरा उत्कृष्ट नेत्र, उसी से जिनको प्रसिद्ध महिमा है, जो तीन लोक के गुरु हैं और शाश्वत अनन्त जिनका *धाम है—ऐसे यह तीर्थनाथ जिनेन्द्र लोकालोक को अर्थात् स्व-पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को सम्यक् प्रकार से (बराबर) जानते हैं ॥२८३॥

श्लोक - २८३ पर प्रवचन

और (इस १६७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

सम्यग्वर्ती त्रिभुवन-गुरुः शाश्वतानन्त-धामा,
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीयं यन्नयन-मपरं केवल-ज्ञान-सञ्ज्ञं,
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ॥२८३॥

श्लोकार्थः आहाहा! केवलज्ञान नाम का जो तीसरा उत्कृष्ट नेत्र... आहाहा! यह नेत्र नहीं परन्तु तीसरा नेत्र। यह नेत्र तो जड़ है। इनसे देखे वह तो परोक्ष है, वह भी इनसे नहीं देखता। देखना तो देखनेवाली शक्ति देखती है। आहाहा! उस इन्द्रिय को नहीं देखता। यह तो जड़ है। अन्दर में देखनेवाला है, वह देखता है।

यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञान नाम का जो तीसरा उत्कृष्ट नेत्र... अन्तर में केवलज्ञान का तीसरा नेत्र जहाँ खुला... आहाहा! उसी से जिनको प्रसिद्ध महिमा है, जो तीन लोक के गुरु हैं... आहाहा! णमो अरिहन्ताणं। उनका केवलज्ञान कितना है, इसकी खबर नहीं। आहाहा! णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, ऐसा किया करे। अनन्त बार रटा करे। परन्तु उनका गुण, वस्तु का स्वतः सहजस्वभाव परिपूर्ण भरपूर है, ऐसी अन्दर अनुभव प्रतीति बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। धर्म की शुरुआत नहीं होती। आहाहा! और उस बात को पर

* धाम = (१) भव्यता; (२) तेज; (३) बल।

की बात की अन्दर अपेक्षा भी नहीं है। निरपेक्ष अपने को और पर को अन्दर जानता है। आहाहा!

केवलज्ञान नाम का जो तीसरा उत्कृष्ट नेत्र उसी से जिनको प्रसिद्ध महिमा है, जो तीन लोक के गुरु हैं... आहाहा! गुरु अर्थात् जाननेवाला। तीन लोक में उत्कृष्ट। तीन लोक के गुरु अर्थात् कहीं मालिक नहीं। तीन लोक में बड़े हैं। तीन लोक में बड़े में बड़ा प्रभु आत्मा है। आहाहा! यह पैसेवाला करोड़पति, अरबपति बड़ा गुरु है, यह बात तो कहीं धूल में भी रही नहीं। आहाहा! अरबोंपति मरकर नरक में जाए। आहाहा! चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त। अरबोंपति कहाँ? उसे तो एक मिनट में अरबों की आमदनी। एक मिनट में! ऐसा छह खण्ड का राज भोगा और अन्दर आत्मस्वरूप का भान किया नहीं। मरकर (नरक गया। यहाँ) रत्न के पलंग पर सोता था, रत्न के पलंग पर सोता हुआ... आहाहा! वह एक क्षण में जहाँ यहाँ सोता है, वह दूसरे क्षण में सातवें नरक में तैंतीस सागर (की आयु में) गया। आहाहा! विश्वास। सत्य और असत्य का फल क्या? और असत्य तथा सत्य का फल क्या है, इसकी परीक्षा किये बिना मानना, वह कुछ है नहीं। आहाहा! कहाँ रत्न के पलंग में सोता था। परन्तु पापी छह खण्ड का... आहाहा! राग और स्त्री, स्त्री। मरते हुए मुँह से कुरुमति... कुरुमति बोलता था। स्त्री। आहाहा! छियानवें हजार स्त्रियों में मुख्य स्त्री थी, उसका राग करता था। मरकर सातवें नरक में गया। अरे रे!

जिसका पूर्ण स्वभाव है, उसे नहीं मानकर पर में सुख है, पर को देखने से मेरी महिमा है, (ऐसा मानता है)। मेरी महिमा मुझे देखना, वह मेरी महिमा है। आहाहा! ऐसा नहीं मानकर पर की महिमा में रच-पच गया तो अपनी महिमा छूट गयी। यह बताते हैं। तीन लोक के गुरु। गुरु का अर्थ—तीन लोक में उनके जैसा बड़ा कोई नहीं। आहाहा! तीन लोक का कहीं स्वामी नहीं है। एक परमाणु का भी कहीं मालिक नहीं है। तीन लोक में बड़े गुरु, महागुरु। आहाहा!

और शाश्वत अनन्त जिनका धाम है— आहाहा! शाश्वत् जिसका तेज है। केवलज्ञानी परमात्मा, जिनका शाश्वत् धाम। धाम कहो, तेज कहो, स्थल कहो, स्थान कहो। आहाहा! पूर्ण जिनका तेज। चैतन्य का पूर्ण जिनका तेज खिल निकला है। वह अपने स्वभाव के आश्रय से (खिला है)। किसी क्रियाकाण्ड से नहीं। अभी गाया न?

उसमें वह भाषा भले सब आयी, परन्तु मूल बात यह 'करि वृत्ति अखण्ड सन्मुख' वजन वहाँ है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द में अपनी अखण्ड वृत्ति 'करि वृत्ति अखण्ड सन्मुख' स्वसन्मुख करना। वहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र उड़ गये। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति से कुछ होगा। 'करि वृत्ति अखण्ड सन्मुख' अपनी परिणति को अखण्ड स्वभाव सन्मुख करेगा उसे आत्मा का पता मिलेगा। आहाहा! किसी क्रियाकाण्ड से मिलता है, ऐसा है नहीं कि व्रत पाले और अपवास करे और यह करे इसलिए कुछ मिले (ऐसा नहीं है)। वह तो शुभभाव है, संसार है, उसमें भवभ्रमण है। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

यहाँ तो कहते हैं, गुरु हैं और शाश्वत अनन्त जिनका धाम है— उनका स्थान ही शाश्वत् अविनाशी... आहाहा! उसका बल, शाश्वत् अन्दर बल। अनन्त तेज, तेज का बल, अनन्त-अनन्त तेज और बल है। ऐसा शक्तिवान वह आत्मा भगवान है। आहाहा! ऐसे यह तीर्थनाथ जिनेन्द्र लोकालोक को अर्थात् स्व-पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को सम्यक् प्रकार से (बराबर) जानते हैं। सम्यक् प्रकार से जानते हैं। जैसा है, वैसा जानते हैं। आहाहा! भविष्य की पर्याय नहीं प्रगट हुई, उसे भी वर्तमान प्रत्यक्ष देखते हैं। यह मानना वह साधारण नहीं है। अनन्त काल, अनन्त काल के पश्चात् जो पर्याय अनन्त द्रव्य की होगी, वह वर्तमान समय की एक पर्याय में सब प्रत्यक्ष जानते हैं। वर्तमान एक समय के ज्ञान की पर्याय में सब जानते हैं। आहाहा!

यह तो एक बार कहा था न? कि एक समय की ज्ञान की पर्याय तीन लोक-तीन काल जाने। अपना पूर्ण द्रव्य जाने, पूर्ण गुण जाने और अनन्त पर्याय है, उसे भी जाने। तो एक ही पर्याय जगत में है, वह सब है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? यह बात यहाँ कहते हैं। केवलज्ञान... केवलज्ञान... केवलज्ञान... एक गुण की एक पर्याय, अनन्त गुण की पर्याय तो अनन्त रही। एक गुण की एक पर्याय वह अनन्त पर्याय को जाने, द्रव्य-गुण को जाने, अपने को जाने, लोकालोक को जाने। एक ही समय की पर्याय में सर्वस्व आ गया। आहाहा! यह बात कैसे जँचे? ओहोहो!

एक समय की पर्याय वह एक ही है। उसमें कुछ दूसरा है नहीं। दूसरे का उसमें ज्ञान है। एक ही समय की पर्याय वही सर्वस्व है। आहाहा! ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायें। प्रत्येक पर्याय में ऐसी परिपूर्णता है। आहाहा! कि जिसमें कुछ भी नहीं जाने, ऐसा है

नहीं। आहाहा! माहात्म्य आवे तब न! एक समय की एक केवल पर्याय केवलज्ञान त्रिकाली को जाने, द्रव्य को जाने, गुण को जाने, अपनी अनन्त पर्याय, ऐसी अनन्तगुणी है, उन्हें जाने और लोकालोक को जाने। आहाहा! एक समय की पर्याय की इतनी ताकत! परन्तु वृत्ति द्रव्य के सन्मुख हो, तब वह पर्याय प्रगट होती है। द्रव्यसन्मुख हो, अखण्डानन्द भगवान परमात्मा के सन्मुख होवे तो एक समय में ऐसी पर्याय प्रगट होती है। दूसरा कोई उपाय है नहीं। आहाहा! कठिन काम है। यह व्यवहार-व्यवहार करते हैं न पुण्य? पुण्य करो... पुण्य करो... पुण्य करो... शुभभाव करो... करते-करते होगा। धूल भी नहीं होगा। शुभभाव, वह घोर संसार है। बताया था न? इसमें बताया था न? शुभभाव घोर संसार। आहाहा! एक समय की पर्याय सर्व को जाने, ऐसा ही उसका प्रत्यक्ष स्वभाव है। शुभ-अशुभ भाव तो मैल है। मैल-वैल उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! थोड़ा भी सत्य होना चाहिए। वह पूर्ण पर्याय एक समय में जाने, उसकी ताकत ऐसी है। आहाहा!

यह प्रश्न उठा था न, कहा था न? (संवत्) १९७२ के वर्ष में। वे कहें, केवली ने देखा होगा, वैसा होगा। उसमें हम क्या करें? केवली हुए... १९७२ के वर्ष की बात है। कितने वर्ष हुए? ६४। डाह्याभाई! उस दिन प्रश्न उठा था, १९७२ के वर्ष में। भगवान ने देखा होगा, उसमें फेरफार नहीं होगा, इसलिए हम कुछ पुरुषार्थ नहीं कर सकते।

प्रभु! मैंने कहा। १९७२ की बात है। फाल्गुन महीना। १९७२ का फाल्गुन महीना। आहाहा! कहा, भगवान एक समय में सब जानते हैं, ऐसी प्रतीति पहले आयी? फिर केवलज्ञानी ने देखा होगा, वैसा होगा, यह बात बाद में। डाह्याभाई! आहाहा! एक समय में एक पर्याय सर्व को पूर्ण जाने, ऐसी सत्ता की अस्ति जगत में है। आहाहा! ऐसी सत्ता की श्रद्धा कब होती है? अपने ज्ञायक त्रिकाल स्वभाव के सन्मुख होकर एक समय की पर्याय सबको जाने और जाने वैसा ही होता है। परन्तु उसकी पर्याय की दृष्टि द्रव्य पर जाए, तब उसका निर्णय होता है। आहाहा! डाह्याभाई! यह तो १९७२ के वर्ष की बात है। ६४ वर्ष हुए। दो वर्ष चला। दो वर्ष सुना। १९७० और १९७१। ७० में दीक्षा। कहा, यह कहते हैं, वह झूठा कहते हैं। यह क्या करते हैं? केवली ने देखा होगा हम कुछ पुरुषार्थ नहीं करते। फिर एक व्यक्ति ने कहा था। वह उजमशी था न? रोजकावाला उजमशी नहीं? रोजकावाला। एक बार मैं बाहर बैठा था और उसे कहते थे। यह सब बात पहले

हो गयी न ? तो कहे, तुम ऐसा कहते हो, फिर यह मुँडाकर किसलिए बैठे हो ? अन्दर ही अन्दर विवाद। भगवान ने देखा होगा, तब होगा तो तुम्हारी मुँडाकर हाथ में तो आया नहीं। आहाहा! रोजकावाला उजमशी था। गुजर गया। श्रद्धा में कुछ ठिकाना नहीं था। सम्प्रदाय में श्रद्धा में कुछ ठिकाना नहीं। कुछ न कुछ विपरीत मिथ्याश्रद्धा सम्प्रदाय में। आहाहा! क्या करे ? इतनी दरकार भी कहाँ है ? धन्धे के कारण, पाप के कारण पूरा दिन।

यहाँ तो कहते हैं कि एक समय की पर्याय केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा यदि कोई निर्णय करे तो उसकी दृष्टि ज्ञान पर, आत्मद्रव्य पर जाती है। द्रव्य पर जाए तो सम्यग्दर्शन होता है। वह ऐसा मानता है कि जैसा होता है, वैसा जानना। परन्तु वह तो पुरुषार्थ से पहले प्रयत्न किया और समकित हुआ, वह मानता है। ऐसे का ऐसा माने कि देखा होगा, वैसा होगा; देखा होगा, वैसा होगा। परन्तु देखनेवाले हैं या नहीं ? जगत में देखनेवाले हैं या नहीं ? और देखनेवाले की सत्ता की सामर्थ्य कितनी है ? आहाहा! वह यहाँ कहते हैं।

केवलज्ञान अर्थात् एक समय का प्रत्यक्ष ज्ञान। ओहोहो! उसकी जहाँ अन्तरप्रतीति हुई, तब तो अन्तर द्रव्य सन्मुख हुआ और केवलज्ञान सन्मुख होनेवाला है। आहाहा! किस ओर में द्रव्य सन्मुख हुआ, उस ओर साध्य में केवलज्ञान। आता है न उपाय और उपेय में ? समयसार में आता है न उपाय-उपेय। समकित की का ध्येय द्रव्य है परन्तु साध्य सिद्ध है। समझ में आया ? यह थोड़ी-थोड़ी बात है। धर्मी जीव का ध्येय द्रव्यस्वभाव है। पूर्ण द्रव्य स्वभाव, वह उसका ध्येय है और उसका साध्य केवलज्ञान है। केवलज्ञान साधनार्थ... आहाहा! इसके अतिरिक्त दूसरी लप उसे है नहीं। आहाहा!

तीन लोक के नाथ महाविदेह में विराजते हैं। उनकी वाणी निकलती होगी। आहाहा! जहाँ एकावतारी इन्द्र, एक भवतारी इन्द्र, बत्तीस लाख विमान का स्वामी, वह यह बात कुत्ती के बच्चे की तरह बैठकर सुनते हैं। भालू, बाघ और सिंह, सिंह और बाघ भगवान के पास अभी महाविदेहक्षेत्र में सुनते हैं और बैठते हैं। आहाहा! ऐसे नजर करता हूँ, इसलिए वहाँ... इस ओर है। महाविदेहक्षेत्र में इस ओर भगवान विराजते हैं। आहाहा! उन परमात्मा की यह वाणी है। क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। साक्षात् समवसरण में सुना था। आहाहा! हम भी साथ में थे, सुना था। हम भगवान के पास थे। आहाहा! परिणाम में अन्त में अन्तर पड़ गया। यह गरीब भरतक्षेत्र, जिसमें केवलज्ञान

उत्पन्न नहीं होता, मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता, ऐसा यह गरीब क्षेत्र, यहाँ अवतार हो गया। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि एक समय की पर्याय... आहाहा! तीन काल-तीन लोक स्व और पर सबको देखते हैं। यह भाषा तो सुनी परन्तु अन्दर में प्रतीति होना... आहाहा! वह प्रतीति पूर्ण स्वभाव जो है, अभी प्रत्यक्ष अन्दर पूर्ण स्वभाव है, उस ओर दृष्टि करने पर 'करि वृत्ति अखण्ड सन्मुख' अन्दर परिणति, वृत्ति अर्थात् परिणति अन्तर में सन्मुख करने पर जो प्रतीति हुई, उसमें केवलज्ञान की प्रतीति भी आ गयी। आहाहा! जब जो होनेवाला होगा, वह भी उसमें आ गया, क्रमबद्ध भी आ गया। भगवान ने देखा, वह क्रमबद्ध। जिस समय में जो पर्याय जहाँ होगी, वह भगवान ने देखा है। आहाहा!

दूसरी बात कही थी? सभी द्रव्य जो हैं, वे सामान्य और विशेष हैं, तो सामान्य तो सब पदार्थ (हैं, वे) विशेष—पर्याय बिना नहीं रहते। विशेष पर्याय बिना दूसरी पर्याय दूसरा कर दे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। वस्तु का स्वरूप ही सामान्य-विशेष है। सामान्य अर्थात् ध्रुव, विशेष अर्थात् पर्याय। आहाहा! हसमुखभाई! ऐसा सब सुना नहीं। पत्थर में निकाला झपट्टा। हमारे आया है न मनसुख। वह वहाँ मजदूरी करे - धन्धा। आहाहा! यह प्रभु चैतन्यस्वरूप एक समय में सब जानता है। यह क्या कहते हैं?

समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को सम्यक् प्रकार से (बराबर) जानते हैं। आहाहा! इसमें तो कितना आया, भगवान! वह सब जानते हैं, तो जाने ऐसा ही होता है और होता है तदनुसार ही जानते हैं। जो होता है, उसकी अपेक्षा नहीं। आहाहा! अपनी अपेक्षा से जिस समय में जो होता है, वह अपनी अपेक्षा से अपने में स्व-परप्रकाशक शक्ति है। एक समय में जानते-देखते हैं। ऐसा भगवान का केवलज्ञान प्रत्यक्ष जैसा है, वैसा निर्णय करे, उसे सम्यग्दर्शन होता है। इसके भव का अन्त आता है। भगवान का निर्णय करे, उसे भव नहीं रहते। भगवान का निर्णय करे, उसे भव नहीं रहते। आहाहा!

तब १९७२ के वर्ष में कहा था। जब बहुत विवाद हुआ। हम दीक्षावाले बड़े हैं और यह तो नवदीक्षित है। दो वर्ष की दीक्षा, पच्चीस वर्ष की उम्र। ऐसा कहे तुम सब देखे, तदनुसार (होता है उसे) मिथ्या सिद्ध करते हो? कहा, परन्तु देखते हैं, उसकी प्रतीति करे, प्रभु! उसे देखे, सबको देखे ऐसी प्रतीति करे, वह पर्याय द्रव्य पर जाती है

और द्रव्य पर जाए, उसे भव नहीं रहते। डाह्याभाई! आहाहा! समझ में आया? यह तो ६४ वर्ष पहले की बात है। तुम्हारे जन्म से पहले। आहाहा! पूर्व के संस्कार थे न, १९७२ का वर्ष। १९७० में दीक्षा। १९७२ में प्रश्न उठा तो दो दिन बहुत बड़ी चर्चा चली। एक दिन तो सम्प्रदाय छोड़ दिया। यह नहीं चाहिए। हमें कोई भी बात अन्तर में न बैठे, वह सम्प्रदाय नहीं चाहिए। एक दिन सम्प्रदाय छोड़ दिया। फिर छोटी उम्र और सब सेठिया आये। कहा - महाराज! वापस पधारो। यह क्या हुआ? कभी ऐसा कुछ बोलते नहीं, ऐसा क्या हुआ? फिर कहा, मैं सुनता था। मुझे जँचता नहीं। यह बात मुझे जँचती नहीं। आहाहा!

जिसे भगवान सर्वज्ञ का निर्णय है, उसकी दृष्टि द्रव्य पर है और द्रव्य पर होने से भगवान ने उसके भव देखे नहीं। उसके भव का अभाव भगवान ने देखा है। आहाहा! वह बात यहाँ कहते हैं। केवलज्ञान... केवलज्ञान... केवलज्ञान... कहते हैं कि एक समय में स्व और पर को पूर्ण जानते हैं। आहाहा! अपनी पर्याय भी भविष्य में कैसी होगी, उसे जानते हैं। आहाहा! और भविष्य की पर्याय वर्तमान में कर सके, ऐसी केवली में भी ताकत नहीं है। आहाहा! उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर होने से (उसे) भव है नहीं। एकाध दो भव हैं, वह ज्ञान का ज्ञेय है। एकाध दो भव हैं तो वह ज्ञान का ज्ञेय है। ऐसा केवलज्ञान का प्रत्यक्ष निर्णय करने पर उसका यह फल है। हसमुखभाई! यह मानो कि केवलज्ञान अर्थात् क्या, णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... आहाहा! णमो अरिहन्ताणं कौन है? आहाहा! वह यहाँ कहते हैं। स्व-पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को सम्यक् प्रकार से (बराबर) जानते हैं।

गाथा-१६८

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं ।
 जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥१६८॥
 पूर्वोक्तसकलद्रव्यं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम् ।
 यो न पश्यति सम्यक् परोक्ष-दृष्टिर्भवेत्तस्य ॥१६८॥

अत्र केवलदृष्टेरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम् । पूर्वसूत्रोपात्तमूर्तादिद्रव्यं समस्तगुण-पर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः, अचेतनस्याचेतनगुणाः, अमूर्तस्यामूर्तगुणाः, चेतनस्य चेतन-गुणाः, षड्ढानिवृद्धिरूपाः सूक्ष्माः परमागमप्रामाण्यादभ्युपगम्याः अर्थपर्यायाः षण्णां द्रव्याणां साधारणाः, नरनारकादिव्यञ्जनपर्याया जीवानां पञ्चसन्सारप्रपञ्चानां, पुद्गलानां स्थूल-स्थूलादिस्कन्धपर्यायाः, चर्तुणां धर्मादीनां शुद्धपर्यायाश्चेति, एभिः संयुक्तं तद्द्रव्यजालं यः खलु न पश्यति, तस्य सन्सारिणामिव परोक्षदृष्टिरिति ।

जो विविध गुण पर्याय से संयुक्त सारी सृष्टि है ।
 देखे न जो सम्यक् प्रकार परोक्ष रे वह दृष्टि है ॥१६८॥

अन्वयार्थ : [नानागुणपर्यायेण संयुक्तम्] विविध गुणों और पर्यायों से संयुक्त [पूर्वोक्तसकलद्रव्यं] पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को [यः] जो [सम्यक्] सम्यक् प्रकार से (बराबर) [न च पश्यति] नहीं देखता, [तस्य] उसे [परोक्षदृष्टिः भवेत्] परोक्ष दर्शन है ।

टीका : यहाँ, केवलदर्शन के अभाव में (अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में) सर्वज्ञपना नहीं होता—ऐसा कहा है ।

समस्त गुणों और पर्यायों से संयुक्त पूर्वसूत्रोक्त (१६७वीं गाथा में कहे हुए) मूर्तादि द्रव्यों को जो नहीं देखता;—अर्थात् मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण होते हैं, अचेतन के

अचेतन गुण होते हैं, अमूर्त के अमूर्त गुण होते हैं, चेतन के चेतन गुण होते हैं; षट् (छह प्रकार की) हानिवृद्धिरूप, सूक्ष्म, परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य अर्थ-पर्यायें छह द्रव्यों को साधारण हैं, नरनारकादि व्यंजनपर्यायें पाँच प्रकार की *संसारप्रपंचवाले जीवों को होती हैं, पुद्गलों को स्थूल-स्थूल आदि स्कन्धपर्यायें होती हैं और धर्मादि चार द्रव्यों को शुद्ध पर्यायें होती हैं; इन गुणपर्यायों से संयुक्त ऐसे उस द्रव्यसमूह को जो वास्तव में नहीं देखता;—उसे (भले वह सर्वज्ञता के अभिमान से दग्ध हो तथापि) संसारियों की भाँति परोक्षदृष्टि है।

गाथा -१६८ पर प्रवचन

(गाथा) १६८

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जण संजुत्तं ।

जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥१६८॥

जो विविध गुण पर्याय से संयुक्त सारी सृष्टि है ।

देखे न जो सम्यक् प्रकार परोक्ष रे वह दृष्टि है ॥१६८ ॥

टीका : यहाँ, केवलदर्शन के अभाव में... पूर्ण देखने के अभाव में, पूर्ण प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में। आहाहा! तीन काल-तीन लोक पूर्ण एक समय में देखे, उसके अभाव में। यह यदि न हो तो उसके अभाव में (अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में) सर्वज्ञपना नहीं होता... आहाहा! तीन काल-तीन लोक देखे, यह नहीं होता। अभी शंका करते हैं। क्रमबद्ध की बात आयी न? क्रमबद्ध की बात में लोगों को शंका पड़ती है। क्रमबद्ध है तो फेरफार नहीं कर सकते। केवलज्ञान में भी शंका पड़ती है। केवलज्ञान में देखा, उसने भविष्य काल कैसा होगा, उसे नहीं जानते। भूतकाल देखते हैं, वर्तमान देखते हैं। भविष्य में क्या होगा? वह नहीं। ऐसी शंका करते हैं, क्योंकि उस केवलज्ञान का निर्णय करने जाए तो क्रमबद्धपर्याय सिद्ध हो जाती है।

* संसारप्रपंच = संसारविस्तार।(संसारविस्तार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—ऐसे पाँच परावर्तनरूप हैं।)

प्रत्येक द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी। दूसरे समय में दूसरी नम्बरवार। नम्बरवार। स्टेशन में टिकिट देते हैं न? २५-५० लोग ऐसे नम्बरवार खड़े होते थे न? एक के बाद एक टिकिट देते हैं न? यहाँ नम्बरवार पर्याय प्रगट होती है। आहाहा! सर्व पर्यायों को जाना, वह जाननेवाला केवलज्ञान। उस केवलज्ञान को जिसने जाना, उसे केवलज्ञान हुए बिना रहेगा नहीं। आहाहा! समझ में आया? बात साधारण है, परन्तु अन्दर रहस्य बहुत है।

केवलज्ञान एक समय की पर्याय, एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में, एक सेकेण्ड के असंख्य समय, उसके असंख्यवें भाग, एक समय में तीन काल-तीन लोक को प्रत्यक्ष देखते हैं। आहाहा! उसकी प्रतीति, विश्वास में पूरा द्रव्य आ जाता है। क्या कहा? उसकी प्रतीति में पूरा द्रव्य आ जाता है, तो द्रव्य की प्रतीति हुई, उसे भव नहीं रहते। आहाहा! कोई भी विचार बिना मानना, (वह तो) दूसरा कोई आवे तो बदल डाले। यथार्थ परीक्षा करके माना हो तो वहाँ पक्का होकर रहे। यह यहाँ कहते हैं।

यहाँ, केवलदर्शन के अभाव में (अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में) सर्वज्ञपना नहीं होता, ऐसा कहा है। समस्त गुणों और पर्यायों से संयुक्त पूर्वसूत्रोक्त (१६७वीं गाथा में कहे हुए) मूर्तादि द्रव्यों को जो नहीं देखता;— मूर्त और अमूर्त, द्रव्य और पर्याय। आदि में। मूर्त द्रव्य और उसकी पर्याय, जिस समय में होनेवाली है वह और अमूर्त में भी जिस समय में होनेवाली है वह। मूर्तादि... है न? आदि में द्रव्य, गुण और पर्याय सब आ गया। आहाहा! ऐसा उपदेश है। उसमें क्या करना? करना यह। प्रभु! करना यह है। पूर्ण ज्ञानप्रकाश का पूर। पूर्ण ज्ञानप्रकाश के नूर का पूर परिपूर्ण परमात्मा तू, ऐसे सन्मुख होकर अनुभव और प्रतीति करना, वह करना है। आहाहा! बाकी यहाँ कोई क्रिया करना, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा!

समस्त गुणों और पर्यायों... देखो! सभी पर्याय आयी न? भूत और भविष्य। तीन काल की द्रव्य की, तीन काल की जो पर्याय, उनके संयुक्त पूर्वसूत्रोक्त (१६७वीं गाथा में कहे हुए) मूर्तादि द्रव्यों को जो नहीं देखता;... उनकी पर्याय को न देखे, द्रव्य को न देखे... आहाहा! कोई भी अनन्त काल बाद की पर्याय को वर्तमान में न देखे... आहाहा! अनन्त काल बाद पर्याय होगी, उसे वर्तमान में यदि न देखे तो वह सर्वज्ञ नहीं है।

आहाहा! बात सादी भाषा (में) है। मर्म बहुत गहरा है। आहाहा!

जो ज्ञान भविष्य की अनन्त... अनन्त... अनन्त... पर्याय नहीं (हुई) वह है, ऐसा न जाने, न माने, उसे केवलज्ञान की श्रद्धा नहीं है, उसे द्रव्य की श्रद्धा नहीं है। उसकी द्रव्य पर दृष्टि नहीं है। उसकी दृष्टि पर्याय पर, कलंक पर है। आहाहा! भाषा सादी है। पूर्णस्वरूप... यह परमाणु तो जड़, मिट्टी-धूल है। कर्म अन्दर है, वह मिट्टी-धूल है। पुण्य-पाप के भाव, वे भी अजीब-जड़ हैं। इसके अतिरिक्त प्रभु चैतन्य है। वह परिपूर्ण प्रत्यक्ष होनेयोग्य है। आहाहा! तीन काल-तीन लोक की पर्याय सहित द्रव्य जाननेयोग्य है, जानने की शक्ति रखता है, ऐसा यदि न माने... आहाहा!

अर्थात् मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण होते हैं, अचेतन के अचेतन गुण होते हैं, अमूर्त के अमूर्त गुण होते हैं, चेतन के चेतन गुण होते हैं; षट् (छह प्रकार की) हानिवृद्धिरूप, सूक्ष्म, परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य अर्थ-पर्यायें... आहाहा! छहों द्रव्यों में एक समय की पर्याय में केवलज्ञान की पर्याय में भी षट्गुण हानि-वृद्धि होती है। आहाहा! अगम्य-गम्य बात है। केवलज्ञान तीन काल-तीन लोक जाने, उसमें कमी नहीं होती। परन्तु पर्याय में षट्गुण हानि-वृद्धि होती है। आहाहा! यहाँ परमात्मा जगत का अस्तित्व, कितने जोरवाला अस्तित्व है, सत्ता कितनी जोरवाली है, उसकी बात करते हैं। उस सत्ता का स्वीकार करे और जन्म-मरण रहे, ऐसा बिल्कुल नहीं होता। आहाहा! उसके जन्म-मरण का अन्त आ जाता है। उस सत्ता का स्वीकार करे, वहाँ (जन्म-मरण नहीं रहते)। आहाहा!

पूर्ण स्वरूप द्रव्यों को साधारण... देखो! (स्वीकार करनेवाला) अमूर्त के अमूर्त गुण होते हैं, चेतन के चेतन गुण होते हैं; षट् (छह प्रकार की) हानिवृद्धिरूप, सूक्ष्म, परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य... परमागम से स्वीकार करनेयोग्य है। सूक्ष्म षट्गुण वृद्धि की पर्याय। एक तो एक समय की पर्याय है। एक समय की पर्याय में षट्गुण हानि-वृद्धि। आहाहा! गजब बात है। षट्गुण हानि-वृद्धि का अर्थ अनन्त गुण वृद्धि और अनन्त गुण हानि होती है। केवलज्ञान मिटकर मनःपर्ययज्ञान हो जाता है, ऐसा नहीं और वृद्धि होती है तो केवलज्ञान से वृद्धि होकर दूसरी शक्ति बढ़ती है, ऐसा नहीं है। ऐसा परमागम ऐसा लिया। परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य... तेरे तर्क और युक्ति काम नहीं आयेंगे। आहाहा!

परमागम के प्रमाण से (यह सूक्ष्म) स्वीकार करनेयोग्य अर्थ-पर्यायें छह द्रव्यों को साधारण हैं,... छहों द्रव्यों में वह पर्याय है। आहाहा! वह है, सब है परन्तु उसका कारण क्या? यह सब है, उसकी सत्ता का स्वीकार क्या है? उसकी अन्दर महिमा है। यह सब है। एक समय की पर्याय में भी षड्गुण हानि-वृद्धि... आहाहा! यह परमागम से प्रमाण है। परमागम से प्रमाण करनेयोग्य है। तू तर्क करने जाएगा तो तर्क काम नहीं करेंगे। केवलज्ञान की पर्याय ने भी षड्गुण हानि-वृद्धि (होती है)। आहाहा! अनन्त गुण वृद्धि और अनन्त गुण हानि, असंख्य गुण वृद्धि और असंख्य गुण हानि, संख्य गुण वृद्धि और संख्य गुण हानि। एक समय में। एक समय में अनन्त गुण वृद्धि और दूसरे समय में अनन्त गुण हानि, ऐसा नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म!

एक ही समय में एक ही पर्याय में, एक ही समय में षड्गुण हानि-वृद्धि होती है। वहाँ तर्क काम नहीं करता। जहाँ युक्ति काम नहीं करती और इतना बाकी न रहे तो केवलज्ञान ने क्या जाना? आहाहा! वह केवलज्ञान में ज्ञात होता है। इसलिए कहा न? परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य अर्थ-पर्यायें छह द्रव्यों को साधारण हैं,... छहों द्रव्यों में वह षड्गुण हानि-वृद्धि है। बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : व्यय में हानि और उत्पाद में वृद्धि ऐसा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय होता है। उत्पाद-व्यय में षड्गुण हानि-वृद्धि कोई सूक्ष्म परमागम से प्रमाण करनेयोग्य है। आहाहा! तर्क से यह बात नहीं बैठती। केवलज्ञान में अनन्तगुणी वृद्धि और अनन्तगुणी हानि और वह भी एक समय में दोनों। हानि-वृद्धि एक समय में दोनों। हानि-वृद्धि में केवलज्ञान हीन होता है, तीन काल तीन लोक देखे और कम हो जाए तथा वृद्धि होने पर वृद्धि हो जाए, ऐसा है नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म आया।

परमागम के प्रमाण से... परमागम के प्रमाण से, यहाँ तो ऐसा कहा। भगवान की जो वाणी आयी, उसमें जो परमागम की रचना हुई, उस परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य अर्थपर्याय छहों द्रव्यों को साधारण है। छहों द्रव्यों में वह होती है। आहाहा! थोड़ा सूक्ष्म है। पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय तीन काल-तीन लोक को देखे, उसमें बढ़-घट नहीं होती। परन्तु कोई सूक्ष्म परमागम से केवलज्ञान को देखा... आहाहा! कि

केवलज्ञान की पर्याय में भी एक समय में अनन्त गुण वृद्धि, अनन्त गुण हानि एक समय में होती है, तो भी केवलज्ञान तो ऐसा का ऐसा प्रत्यक्ष तीन काल-तीन लोक जानता है। आहाहा! कठिन है। अभी स्थूल बात में भी विचार चलता नहीं और यह षट् द्रव्य में साधारण। छहों द्रव्यों में साधारण वह अर्थ पर्याय है। जो समय-समय में प्रत्येक पर्याय में षड्गुण हानि-वृद्धि एक पर्याय में नहीं परन्तु प्रत्येक में (होती है)। आहाहा! अनन्त गुण की जो अनन्त पर्यायें हैं, उन एक-एक पर्याय में षड्गुण हानि-वृद्धि परमागम से प्रमाण करनेयोग्य है। है या नहीं? आहाहा! इसे यहाँ तक जाना... आहाहा!

उसकी ताकत, पर्याय की ताकत। पूर्ण हुई, उस पर्याय में भी षड्गुण हानि-वृद्धि होती है, वह परमागम से प्रमाण करनेयोग्य है। तर्क से, युक्ति से नहीं बैठ सकती। आहाहा! वह भी यदि ज्ञात हो तो केवलज्ञान में क्या जानने का रहा? आहाहा! केवलज्ञान अद्भुत...! षट् द्रव्य में षट् द्रव्य अनन्त। अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें, एक-एक पर्याय में षड् गुण हानि-वृद्धि... आहाहा! वह आगम प्रमाण से माननेयोग्य है। आहाहा!

पहले आस्था हुई है, उसे यहाँ कहते हैं। आत्मा के द्रव्य की आस्था हुई है, गुण की हुई है, पर्याय की हुई है। उस पर्याय में भी एक समय में केवलपर्याय इतनी की इतनी रहती है और जानना देखना तीन काल-तीन लोक का (होवे), उसमें घट-बढ़ नहीं, परन्तु अन्दर में कोई घट-बढ़ होती है... आहाहा! वह एक समय में छहों प्रकार। अनन्त गुण वृद्धि, अनन्त गुण हानि, असंख्य गुण वृद्धि, असंख्य गुण हानि, संख्य गुण वृद्धि, संख्य गुण हानि। छह प्रकार एक समय में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य एक-एक पर्याय में षड् गुण हानि-वृद्धि भगवान देखते हैं। आहाहा! परमागम से माननेयोग्य है। आहाहा! आचार्यों को ऐसा कहना पड़ा। आया न?

परमागम के प्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य अर्थ-पर्यायें छह द्रव्यों को साधारण हैं,... छहों द्रव्य में है। आहाहा! एक परमाणु में भी अनन्त गुण, उसकी अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें, उसकी एक पर्याय में षड्गुण हानि-वृद्धि। ऐसी अनन्त पर्यायों में षड्गुण हानि-वृद्धि। तर्क करेगा तो नहीं बैठेगा। आहाहा! सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव परमात्मा ने ज्ञान में जो देखा कि अन्दर ऐसा होता है, वह छद्मस्थ के ख्याल में नहीं आता, इसलिए वस्तु बदल नहीं जाती। आहाहा! षड्गुण हानि-वृद्धि, वह छहों द्रव्यों में साधारण है। विशेष फिर कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नियमसार, गाथा १६८। अधिकार सूक्ष्म है परन्तु कहने का आशय ऐसा है कि सर्वज्ञ सब जानते हैं। ऐसे सर्वज्ञ कथित हों और उनके अतिरिक्त कुछ जाने नहीं और सर्वज्ञ नाम धरावे, वह अज्ञानी है। जिसे सर्वज्ञ की श्रद्धा करना है, उसे सर्वज्ञ सब जानते हैं- द्रव्य जानते हैं, गुण जानते हैं। अर्थपर्याय अर्थात् आकार बिना की अनन्त गुण की पर्याय को जानते हैं और व्यंजनपर्याय भी जिसे जो हो, उसे वे जानते हैं। ऐसा सिद्ध करने में सर्वज्ञपना सिद्ध करना है और सर्वज्ञ की श्रद्धा करानी है कि सर्वज्ञ ऐसे होते हैं। फेरफारवाले सर्वज्ञ हों, वे सर्वज्ञ नहीं हैं, ऐसा यहाँ कहना है।

संसारप्रपंचवाले जीवों को होती हैं। क्या कहते हैं? व्यंजन अर्थात् आकृति। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, नर, नारकी इसे होती हैं। ऐसा यहाँ लेना। नैगमनय से सबको होते हैं, ऐसा आरोप से पहले १८वीं गाथा में कथन आ गया है। नैगमनय से तो सबको भूतकाल की अशुद्धता भी वर्तमान सिद्ध में कहने में आती है। भूतकाल की अशुद्धता (देखकर)... आहाहा! वर्तमान में सिद्ध को भी अशुद्धता है, ऐसा नैगमनय से कहने में आता है। यह ज्ञान कराने के लिये है। तीनों काल का ज्ञान जिसे हो, सर्वज्ञ एक समय में उसकी शक्ति, उनकी शक्ति तीन काल-तीन लोक प्रत्यक्ष जाने, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे आत्मा की सर्वज्ञ श्रद्धा कराने के लिये सर्वज्ञ का विषय क्या है, यह बतलाते हैं। आहाहा!

अब यहाँ तो यह आया। **व्यंजनपर्यायें पाँच प्रकार की संसारप्रपंचवाले जीवों को होती हैं,...** नारकी, मनुष्य, देव आदि को होती है। सिद्ध को नहीं। यहाँ ऐसा लिया है। अशुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्याय किसे होती है? और जाननेवाला कौन पूर्ण है? यह बतलाना है और उस सर्वज्ञ की श्रद्धा करानी है। सर्वज्ञ ऐसे हैं। कोई अकेले द्रव्य की बात करे, वस्तु की बात करे, परन्तु पर्याय क्या है, उसे जाने नहीं। पर्याय में भी व्यंजनपर्याय अर्थात् आकृति, अर्थपर्याय अर्थात् अनन्त गुण की आकृति (परिणति)। एक प्रदेश गुण के अतिरिक्त। ऐसा विस्तार सर्वज्ञ जानते हैं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई यह वस्तु नहीं जानते। आहाहा! इस कारण से यह मुनिराज कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं। अपने लिये पुस्तक बनायी है। उसमें यह कहा कि सर्वज्ञ कैसे हैं? यह साधारण बात नहीं है, प्रभु! एक समय में तीन काल-तीन लोक और जिसकी-जिसकी अवस्था व्यंजन-आकृति उसे

उस प्रकार से और जिसके व्यंजन नहीं, साधारण छहों द्रव्यों को अर्थपर्याय है, उसे उस प्रकार से। केवली भगवान उस प्रकार से जानते हैं। आहाहा! ऐसा कभी पढ़ा नहीं होगा, सुना नहीं होगा।

सर्वज्ञ परमेश्वर। तेरी शक्ति सर्वज्ञ है, प्रभु! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है। ज्ञानस्वभावी तो सर्व को जाने। किसी को जाने बिना रहे नहीं। किसी का कुछ करे नहीं और किसी को जाने बिना रहे नहीं। आत्मा का स्वभाव, ज्ञानस्वभाव अपने अतिरिक्त किसी का करे नहीं और सर्व को जाने। जाने सर्व को, करे नहीं किसी का, ऐसा तेरा स्वभाव है। भगवान सर्वज्ञ की बात करते हैं, परन्तु तेरी चीज भी ऐसी है। आहाहा!

यह नरनारकादि व्यंजनपर्यायें पाँच प्रकार की संसारप्रपंचवाले जीवों को होती हैं, पुद्गलों को स्थूल-स्थूल आदि स्कन्धपर्यायें होती हैं... यह शरीरादि। बाहर में यह दिखाब सब। उन पुद्गलों को स्थूल-मोटी इत्यादि स्कन्ध पर्यायें होती हैं। और धर्मादि चार द्रव्यों को शुद्ध पर्यायें होती हैं;... धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल को भी शुद्धपर्याय होती है। ओहोहो! पर्याय में भी शुद्ध और अशुद्ध, अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय किसमें हैं? और वह भगवान एक समय में सब जाने, ऐसी ताकत है और ऐसी सर्वज्ञ की ताकत है, (ऐसे) सर्वज्ञ की श्रद्धावाले को उस ताकत की श्रद्धा होती है और अन्दर में जाता है तो वह सर्वज्ञ आत्मा ही है, तो आत्मा ही ऐसे स्वभाववाला है। आहाहा! इसके लिये बात करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं के लिये यह पुस्तक बनायी। यह कुछ वार्ता नहीं। आहाहा! यह क्रियाकलाप की साधारण बात नहीं है। परन्तु सर्वज्ञ तीन काल-तीन लोक, उसकी एक-एक समय की व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय भिन्न-भिन्न जाने। वह भी ज्ञेय में प्रवेश किये बिना और ज्ञेय ज्ञान में आये बिना (जानते हैं)। नेत्र है वह पर को जाने, परन्तु पर में प्रवेश किये बिना नेत्र जानता है और परवस्तु आँख में आये बिना ज्ञात होती है। परवस्तु ज्ञात होती है। ऐसे जाने तो आँख में आती है? परवस्तु नेत्र में आये बिना नेत्र जानता है। वैसे ही सर्वज्ञ लोकालोक को जानते हैं। उनमें सर्वज्ञपने का प्रवेश किये बिना जानते हैं और लोकालोक ज्ञान में आये बिना ज्ञान जानता है। आहाहा! यह कहीं मुफ्त बात नहीं करते। साधारण ऐसी बात... व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय... आहाहा! कहने का आशय तो बहुत सूक्ष्म है।

सर्वज्ञ तो एक-एक जो-जो पर्याय (होती है), जिसकी अर्थपर्याय अर्थात् प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त अनन्त गुण की पर्याय, एक द्रव्य में अनन्त गुण में प्रदेश गुण के अतिरिक्त अनन्त गुण की पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं। इस अर्थपर्याय को भी केवलज्ञान जानता है। छहों द्रव्य की एक समय में (जानते हैं) और व्यंजनपर्याय नर-नारकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव को भी जानते हैं और वह व्यंजनपर्याय जिसमें नहीं है, उसे भी जाने कि नहीं है। सर्वज्ञ के ज्ञान में कोई बात बाकी नहीं रहती। आहाहा!

ऐसा सर्वज्ञस्वभाव, प्रभु! तेरा सर्वज्ञस्वभाव है कि कोई बात जाने बिना न रहे। एक रजकण और राग का करना तो है ही नहीं, परन्तु जाने बिना कोई बात रहे, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! डाह्याभाई! ऐसी बात है। लोगों को साधारण बात लगे कि ऐसी बात क्या करे? परन्तु इस बात में माल है। आहाहा! एक तो वस्तु की स्थिति ऐसी बताते हैं। किसे व्यंजनपर्याय होती है और किसे अर्थपर्याय होती है यह (बताते हैं) और उस समय-समय की पर्याय सर्वज्ञ भगवान जानते हैं। उन सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धावन्त है, वह भी मानता है। आहाहा! वहाँ तो अकेला रहता नहीं। आहाहा!

ज्ञान की विशालता एक समय में अनन्त द्रव्य और अनन्त पर्यायों। पर्याय ली। द्रव्य-गुण तो अनन्त हैं परन्तु एक-एक समय की पर्याय को भी भगवान समय-समय में भिन्न-भिन्न जैसे होती है, वैसे जानते हैं। आहाहा! ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। तेरा स्वभाव ही ऐसा है। तू ऐसा ही है। किसी का करना, ऐसा तू है नहीं। किसी को जाने बिना रहे, ऐसा तू नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म में सूक्ष्म एक समय की पर्याय भी तुझे ज्ञात हुए बिना नहीं रहती। आहाहा! इसमें कब निवृत्त हो? वस्तु ऐसी है, इसलिए कहते हैं। यह नियमसार कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैंने तो मेरी (भावना के) लिये बनाया है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मेरे लिये यह बनाया है। उसमें यह बात आयी है। यह व्यंजनपर्याय, अर्थपर्याय (ली है)। इसकी सूक्ष्मता, द्रव्य-पर्याय की सूक्ष्मता बतायी और उसे जाननेवाले सर्वज्ञ की सूक्ष्मता बतायी। दोनों की यथार्थ श्रद्धा करायी। उसमें कोई जरा भी फेरफार करे तो वह सर्वज्ञ को नहीं जानता। पुद्गल को स्थूल आदि स्कन्ध हो जाती है और धर्मादि चार द्रव्यों की शुद्ध पर्याय होती है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल को शुद्धपर्याय होती है।

इन गुणपर्यायों से संयुक्त ऐसे उस द्रव्यसमूह को जो वास्तव में नहीं देखता;...

आहाहा! देखो! आया। इन गुणपर्यायों से संयुक्त ऐसे उस द्रव्यसमूह को जो वास्तव में नहीं देखता;—उसे (भले वह सर्वज्ञता के अभिमान से दग्ध हो तथापि) संसारियों की भाँति परोक्षदृष्टि है। इस प्रकार से है, ऐसा न जाने और दूसरे प्रकार से जाने अथवा न जाने तो वह सर्वज्ञ नहीं है। आहाहा! सर्वज्ञ का अभिमानी है। आहाहा!

श्लोक-२८४

[अब, इस १६८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:—]

(वसंततिलका)

यो नैव पश्यति जगत्त्रय-मेक-दैव,
काल-त्रयं च तरसा सकल-ज्ञ-मानी ।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं,
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात् ॥२८४॥

(वीरछन्द)

युगपत् एक समय में नहीं देखे जो त्रिभुवन तीनों काल।
उस जड़ को दर्शन प्रत्यक्ष तथा सर्वज्ञ न किसी प्रकार ॥२८४॥

[श्लोकार्थः—] सर्वज्ञता के अभिमानवाला जो जीव शीघ्र एक ही काल में तीन जगत को तथा तीन काल को नहीं देखता, उसे सदा (अर्थात् कदापि) अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है; उस जड़ आत्मा को सर्वज्ञता किस प्रकार होगी? २८४।

श्लोक - २८४ पर प्रवचन

[अब, इस १६८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:—]

यो नैव पश्यति जगत्त्रय-मेक-दैव,
 काल-त्रयं च तरसा सकल-ज्ञ-मानी ।
 प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं,
 सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात् ॥२८४॥

श्लोकार्थ : आहाहा! सर्वज्ञता के अभिमानवाला... बात सूक्ष्म है। जैन परमेश्वर के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। छह द्रव्य है नहीं, छह द्रव्य में गुण-पर्याय कितने, यह (बात) नहीं, पर्याय कितनी, कैसी। व्यंजन और अर्थ (पर्याय) कैसी किसे (होती है) वह भी नहीं। आहाहा! एक सर्वज्ञ परमेश्वर-जैन परमेश्वर ने यह जाना है। उसकी यह प्रतीति कराते हैं कि सर्वज्ञ ऐसे होते हैं। उससे कम, अधिक, विपरीत श्रद्धा सर्वज्ञ से अत्यन्त विपरीत है। यह कहते हैं।

सर्वज्ञता के अभिमानवाला जो जीव शीघ्र एक ही काल में तीन जगत को... देखो! तथा तीन काल को नहीं देखता,... आहाहा! तीन काल और तीन लोक, उसमें अलोक भी आ गया। एक समय में जो जानते नहीं, उसे सदा (अर्थात् कदापि) अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है;... अतुल-जिसकी तुलना नहीं, उसे प्रत्यक्ष दर्शन नहीं। उस जड़ आत्मा को... आहाहा! भगवान की बड़ी-बड़ी बातें करे और समझे नहीं कि छह द्रव्य है, व्यंजनपर्याय, उसे जाने ही नहीं। उस जड़ आत्मा को सर्वज्ञता किस प्रकार होगी? आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर ने छह द्रव्य देखे हैं। वे किसमें हैं? वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं हैं। एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण, वे किसमें हैं? अनन्त-अनन्त गुण हैं।

रात्रि में प्रश्न हुआ था कि उसमें अनन्तानन्त गुण हैं। आहाहा! तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे गुण हैं। प्रत्येक गुण की एक समय की पर्याय है। इसमें किसी को व्यंजनपर्याय और किसी को अर्थपर्याय (होती है)। ऐसे भिन्न-भिन्न द्रव्य को जो यथार्थ सर्वज्ञ है, वह जान सकता है। इसके अतिरिक्त सर्वज्ञ के अभिमानी इस बात को नहीं जानते, धर्म को जानते नहीं और धर्म की बातें करते हैं। ऐसी बातें करते हैं। छह द्रव्य और साधारण पर्याय, अर्थपर्याय साधारण और व्यंजनपर्याय तो अमुक को होती है। अनन्त पर्याय होती है और तीन काल में अनन्त होती है। आहाहा! ऐसा जाननेवाला सर्वज्ञ के अतिरिक्त—परमेश्वर त्रिलोकनाथ के अतिरिक्त कोई है नहीं। आहाहा! उन्हें माननेवाला भी कितना निर्मानी होता है! आहाहा!

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिया है। ज्ञानी क्षायिक समकिति हो, चार ज्ञान के धनी मुनि हों, तो भी ऐसा मानते हैं (कि) मेरी पर्याय केवलज्ञान के समक्ष पामर है। आहाहा! स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ऐसा लेख है। अरे! मैं कौन? चार ज्ञान और चौदह पूर्व की रचना गणधरदेव अन्तर्मुहूर्त में करते हैं। आहाहा! तथापि अपने को ऐसा मानते हैं। मैं वस्तु द्रव्यरूप से प्रभु हूँ परन्तु पर्यायरूप से मैं पामर हूँ। मैं पर्यायरूप से पामर हूँ। आहाहा! गणधर जैसे चार ज्ञान (के धारक) और चौदहपूर्व की रचना अन्तर्मुहूर्त में करनेवाले ऐसा कहते हैं, मैं सर्वज्ञ की पर्याय के समक्ष पामर हूँ। आहाहा! यहाँ जहाँ थोड़ा-बहुत जानपना हो जाए, वहाँ अभिमान चढ़ जाता है कि हमें इतना आता है और हमें इतना आता है। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! सर्वज्ञ के समक्ष गौतम गणधर ऐसा कहते हैं कि हम पामर हैं। जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना। बारह अंग किसे कहते हैं? एक अंग में अठारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक... आहाहा! ऐसे-ऐसे बारह अंग। उनमें दृष्टिवाद और पूर्ववाद में तो गजब बातें। उनकी जो अन्तर्मुहूर्त में रचना करे। आहाहा! आत्मा के ज्ञान की सामर्थ्य के समक्ष वह चीज़ कोई विशेष नहीं है। आहाहा! अन्तर्मुहूर्त में उसकी रचना करे तो भी कहते हैं, मैं तो केवलज्ञान के समक्ष पामर हूँ। आहाहा!

यह यहाँ पूर्णता बतलानी है और पूर्णता बताकर अभिमानरहित सर्वज्ञ कैसे होते हैं, वह बताते हैं। समझ में आया? यह लगे कठिन। दया पालना, यह करना, यह इसमें कुछ आया नहीं। दया पालने का आया नहीं। जैसा सर्वज्ञ का स्वभाव तीन काल-तीन लोक की जैसी पर्याय है, वैसी जाने, ऐसे सर्वज्ञ को इस प्रकार से माने तो सर्वज्ञ की दया पाली कहलाये। आहाहा! बाकी दूसरे की दया पाले, मारे, वह तो है ही कहाँ? आत्मा पर की दया पाल सके, ऐसा तीन काल में नहीं होता। उसी प्रकार पर की हिंसा कर सके, यह तीन काल में नहीं होता, परन्तु उस सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति करके एक समय में तीन काल-तीन लोक अनन्त पर्यायसहित एक समय में भविष्य की असद्भूत अनन्त पर्याय, वर्तमान एक समय में प्रत्यक्ष देखते हैं। आहाहा! यह क्या बात है! अनन्त काल की असद्भूत पर्यायें अभी हुई नहीं। वे भी प्रत्यक्ष में असद्भूत और प्रत्यक्ष में देखे, ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं। आहाहा! ऐसी प्रतीति करे, उसे सर्वज्ञ है-ऐसी प्रतीति है। कम-ज्यादा करे तो

भी उसे सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं है। आहाहा! णमो अरिहन्ताणं की प्रतीति नहीं है। आहाहा! णमो अरिहन्ताणं किसे है? अरिहन्ताणं, अरिहन्त कैसे? तीन काल-तीन लोक देखे। कैसे?

जो अनन्त पर्यायें छह द्रव्य की हैं, उनकी पर्याय को (देखे)। द्रव्य-गुण तो देखे परन्तु पर्याय एक समय की पर्याय को भी वर्तमान में भूतकाल, भविष्य की अनन्त पर्यायें नहीं हैं, उन्हें एक समय में देखते हैं। आहाहा! ऐसे सर्वज्ञस्वभाव की अस्ति ऐसी है, ऐसा यहाँ सिद्ध कराते हैं, ऐसी श्रद्धा कराते हैं। यह बात नहीं करते। बातें नहीं कि यह ऐसा किया, उसमें लो ऐसी बातें किसलिए की। बात में माल है, भाई! समझ में आया? क्योंकि नयी बात कुछ समझ में नहीं आती। सूक्ष्म बात की, इसलिए ऐसी (बात) क्या (करते होंगे)? परन्तु यह कारण है। आहाहा! एक आत्मा सर्वज्ञ होने के योग्य और सर्वज्ञ हुए (वे) ऐसे होते हैं, ऐसी श्रद्धा कराते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रत्यक्ष की श्रद्धा सच्ची कब होती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करे तब होती है। आहाहा!

तीन काल-तीन लोक और उसकी व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय तथा भविष्य की अनन्त पर्यायें अभी हुई नहीं। अनन्त काल... अनन्त काल... के बाद होगी, उन्हें वर्तमान प्रत्यक्ष जानते हैं। वर्तमान प्रत्यक्ष भगवान जानते हैं। आहाहा! इस प्रकार सब णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... करते हैं परन्तु अरिहन्त की ताकत कितनी है? किसे अरिहन्त कहना? और उनका वास्तविक स्वरूप क्या है? उसे जाने बिना अरिहन्त को माने, वह सब व्यर्थ है। आहाहा!

भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु को बालक या युवा या वृद्ध, ऐसा न देख। उसी प्रकार तू स्त्री, पुरुष या नपुंसक न देख। आहाहा! तेरा आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। उसकी सर्वज्ञ की शक्ति है, तो यह सर्वज्ञ की शक्ति पर्याय में प्रगटे तो तीन काल-तीन लोक की पर्याय भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यंजनपर्याय को भिन्न-भिन्न जैसा है, वैसा जानते हैं। आहाहा! यह जैन का केवलज्ञान जैन का केवलज्ञान अर्थात् जैन में ही केवलज्ञान होता है। अन्यत्र कहीं होता नहीं। आहाहा! सर्वज्ञ इसमें समा गये। दर्शन... उस जड़ आत्मा को सर्वज्ञता किस प्रकार होगी? यह श्लोक पूरा हुआ।

गाथा-१६९

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
 जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६९॥
 लोकालोकौ जानात्यात्मानं नैव केवली भगवान् ।
 यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥१६९॥

व्यवहारनयप्रादुर्भावकथनमिदम् । सकलविमलकेवलज्ञानत्रितयलोचनो भगवान् अपुन-
 र्भवकमनीयकामिनीजीवितेशः षड्रव्यसङ्कीर्णलोकत्रयं शुद्धाकाशमात्रालोकं च जानाति, पराश्रितो
 व्यवहार इति मानात् व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात्, निरुपरागशुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति,
 यदि व्यवहारनयविवक्षया कोऽपि जिननाथतत्त्वविचारलब्धः (दक्षः) कदाचिदेवं वक्ति चेत्,
 तस्य न खलु दूषणमिति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः -

(अपरवक्त्र)

स्थितिजनननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
 इति जिन सकलज्ञ-लाञ्छनं वचनमिदं वदताम्बरस्य ते ॥

तथाहि ह

भगवान् केवलि लोक और अलोक जाने, आत्म-ना ।

यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ॥१६९॥

अन्वयार्थ : [केवली भगवान्] (व्यवहार से) केवली भगवान् [लोकालोकौ]
 लोकालोक को [जानाति] जानते हैं, [न एव आत्मानम्] आत्मा को नहीं -[एवं]
 ऐसा [यदि] यदि [कः अपि भणति] कोई कहे तो [तस्य च किं दूषणं भवति] उसे
 क्या दोष है ? (अर्थात् कोई दोष नहीं है ।)

टीका : यह, व्यवहारनय की प्रगटता से कथन है।

‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहारनय पराश्रित है)’ ऐसे (शास्त्र के) अभिप्राय के कारण, व्यवहार से व्यवहारनय की प्रधानता द्वारा (अर्थात् व्यवहार से व्यवहारनय को प्रधान करके), ‘सकल-विमल केवलज्ञान जिनका तीसरा लोचन है और अपुनर्भवरूपी सुन्दर कामिनी के जो जीवितेश हैं (-मुक्तिसुन्दरी के जो प्राणनाथ हैं) ऐसे भगवान छह द्रव्यों से व्याप्त तीन लोक को और शुद्ध-आकाशमात्र अलोक को जानते हैं, निरुपराग (निर्विकार) शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं ही जानते’—ऐसा यदि व्यवहारनय की विवक्षा से कोई जिननाथ के तत्त्वविचार में निपुण जीव (-जिनदेव द्वारा कहे हुए तत्त्व के विचार में प्रवीण जीव) कदाचित् कहे, तो उसे वास्तव में दूषण नहीं है।

इसी प्रकार(आचार्यवर) श्री समन्तभद्रस्वामी ने(बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में श्री मुनिसुव्रत भगवान की स्तुति करते हुए ११४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

“[श्लोकार्थः—] हे जिनेन्द्र! तू वक्ताओं में श्रेष्ठ है; ‘चराचर (जंगम तथा स्थावर) जगत प्रतिक्षण (प्रत्येक समय में) उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है’ ऐसा यह तेरा वचन (तेरी) सर्वज्ञता का चिह्न है।”

गाथा -१६९ पर प्रवचन

लोयालयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।

जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६९॥

व्यवहारनय सिद्ध करते हैं।

भगवान केवलि लोक और अलोक जाने, आत्म-ना।

यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ॥१६९॥

टीका : यह, व्यवहारनय की प्रगटता से कथन है। ‘पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहारनय पराश्रित है)’ ऐसे (शास्त्र के) अभिप्राय के कारण, व्यवहार से व्यवहारनय की प्रधानता द्वारा (अर्थात् व्यवहार से व्यवहारनय को प्रधान करके), ‘सकल-विमल केवलज्ञान जिनका तीसरा लोचन है... आहाहा ! और अपुनर्भवरूपी सुन्दर कामिनी के जो जीवितेश हैं... जीवित के ईश्वर हैं। आहाहा ! (-मुक्तिसुन्दरी के जो प्राणनाथ हैं)...

भगवान... आहाहा! ऐसे भगवान छह द्रव्यों से व्याप्त तीन लोक को और शुद्ध-आकाशमात्र अलोक को जानते हैं,... व्यवहार सिद्ध करते हैं।

भगवान छह द्रव्य को, लोक को जानते हैं, अपने को नहीं जानते निश्चय से। व्यवहार से अपने को जाने तो तन्मय नहीं होता। पर को व्यवहार से जानते हैं, क्योंकि पर में तन्मय नहीं होता। उस प्रकार अपने को व्यवहार से जाने, तो तन्मय नहीं होता, ऐसा नहीं है। बात में अन्तर है। आहाहा! क्या कहा? 'सकल-विमल केवलज्ञान जिनका तीसरा लोचन है और अपुनर्भवरूपी सुन्दर कामिनी के जो जीवितेश हैं (-मुक्तिसुन्दरी के जो प्राणनाथ हैं) ऐसे भगवान छह द्रव्यों से व्याप्त तीन लोक को और शुद्ध-आकाशमात्र अलोक को जानते हैं, निरुपराग (निर्विकार) शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं ही जानते'— आहाहा! क्या कहा? छह द्रव्य को लोक को जानते हैं, परन्तु अपने को नहीं जानते, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। ऐसा कहकर व्यवहार सिद्ध किया है। सर्वथा व्यवहार है ही नहीं, व्यवहारनय का विषय है नहीं, व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसलिए व्यवहारनय का विषय नहीं—ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

व्यवहार से भगवान लोक-अलोक को जानते हैं; अपने को नहीं जानते। व्यवहार से अपने को नहीं जानते। व्यवहार से जाने तो तन्मय न हो जाएँ। अपने को निश्चय से जानते हैं; पर को व्यवहार से जानते हैं। आहाहा! किसे खबर क्या (होगा)? आहाहा! निरुपराग (निर्विकार) शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं ही जानते'— है? आहाहा! यह नय सिद्ध किया है। छह द्रव्य, उनके गुण-पर्याय, पहली व्यंजनपर्यायादि सर्व को जाने, ऐसा कहा, तो व्यवहार से पर को जानते हैं परन्तु व्यवहार से स्व को नहीं जानते। डाह्याभाई! व्यवहार से स्व को नहीं जानते। क्यों?

मुमुक्षु : क्योंकि वह उपचार हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तन्मय हुए बिना निश्चय नहीं होता। दूर रहकर जानना, वह व्यवहार है। लोकालोक को दूर रहकर जानने का नाम व्यवहार है और अपने में तन्मय होकर जानना, वह निश्चय है। हसमुखभाई! कभी सुना नहीं होगा। वहाँ कहाँ है? पैसा-धूल धाणी में जिन्दगी (चली गयी)। आहाहा!

क्या कहा? भगवान त्रिलोकनाथ व्यवहारनय से अपने अतिरिक्त दूसरे छह द्रव्य,

उनकी व्यंजन पर्याय आदि सर्व को प्रत्यक्ष जानते हैं। अपने को नहीं जानते। है ? शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं ही जानते... व्यवहार से अपने को नहीं जानते। व्यवहार से अपने को जाने तो तन्मय नहीं होगा। दूर रह जाएगा। पर को व्यवहार से जानते हैं तो दूर रहते हैं। दूर रहकर पर को जानना, वह व्यवहार है और तन्मय होकर जानना, वह निश्चय है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा! दोनों सिद्ध करते हैं। व्यवहार छह द्रव्य, छह द्रव्य की पर्याय, वह वस्तु है, वस्तु है। अकेला आत्मा ही है, ऐसा नहीं है। पर को जानने में पर में तन्मय होकर पर को नहीं जानता, दूर रहकर जानता है। और वह चीज़ वहाँ रहती है, यह आत्मा यहाँ है। उसे जाने, इसका नाम व्यवहार कहने में आता है और अपने को व्यवहार से नहीं जानते। आहाहा! शान्तिभाई! कभी सुना नहीं, कभी पढ़ा नहीं। ऐसी की ऐसी अभी तक मजदूरी की है। सब मजदूरी करते हैं न! क्या किया सबने? आहाहा!

चैतन्य भगवान स्व-परप्रकाशक आत्मा है। अकेले पर को प्रकाशित करे, उसे व्यवहार कहने में आता है तो व्यवहार से स्व को प्रकाशित करे, ऐसा नहीं है। तब तो स्व से दूर रह जाता है। डाह्याभाई! समझ में आया? आहाहा! निश्चय से स्व को जानते हैं। व्यवहार से पर को जानते हैं, ऐसा है। तो व्यवहार से पर को जानते हैं तो व्यवहार से स्व को जानते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा कभी सुना नहीं होगा यह सब गाँव के पत्थर में। पत्थर-पत्थर है न? जिसे जो धन्धा हो, उसे वह। हमारे मनसुख को बोरी के दाने का बोरी का उसमें वह भी बड़ा... दुकान में नहीं निकला था... यहाँ से पीछे जाना। कितनी बोरियाँ भरी हुई और बड़ा कोठार। आहाहा! अरे! प्रभु! तू कहाँ? तू कौन? तेरा क्या स्वरूप? तेरी क्या मर्यादा? आहाहा!

मुमुक्षु : आप ऐसा कहते हो कि जो ज्ञान स्व को नहीं जानता, अकेला पर को जानता है, वह अज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं-नहीं। वह दूसरी बात है। स्व को जाने बिना अकेले पर को जाने, वह अज्ञान। परन्तु स्व को जानता है, उसे व्यवहार कहना, उसमें तन्मय होकर नहीं जानता, इसलिए व्यवहार। परन्तु निश्चय से तन्मय होकर जानता है, इसलिए निश्चय। आहाहा! ऐसा मार्ग! सूक्ष्म बात है, भाई!

अन्दर तीन लोक का नाथ परमात्मा विराजता है। आहाहा! उसे तू हीन मत मान,

ऐसा कहते हैं। व्यवहार से पर को जाने, इतना ऐसा न मान। निश्चय से तुझे तू जानता है, ऐसा तू जान। अकेला पर को जानना, वह तो व्यवहार है। अकेला, हों! वैसे तो निश्चय स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव है। इस अपेक्षा से निश्चय से स्व को जानता है, उसमें पर का ज्ञान आ गया। समझ में आया? क्या कहा यह? निश्चय से स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव है, तो निश्चय से अपने को ही जानता है। पर को जानने का ज्ञान, वह भी अपना ज्ञान है। पर को जानने का ज्ञान भी अपना ज्ञान है। स्व का ज्ञान और आत्मा का ज्ञान। स्व को जानना, वह निश्चय है। पर को जाने, ऐसा अपना ज्ञान वह तन्मय अपने में है, वह निश्चय है। परन्तु पर को जानता है और पर के साथ एक नहीं होना और दूर रहना, इसका नाम व्यवहार है। ऐसी बात है, हसमुखभाई! आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! दिगम्बर आचार्यों ने गजब काम किया है।

ऐसा कहना चाहते हैं, प्रभु! तू जैसे पर को दूर रहकर जानता है, वैसे तू तुझसे दूर रहकर (तुझे) जाने, वह तो व्यवहार हुआ; निश्चय तो नहीं हुआ। नेत्र पर को जानता है, परन्तु पर में नेत्र जाता नहीं। आँख, आँख पर को जानती है परन्तु आँख पर में जाती नहीं; इसी प्रकार पर को जाने, वह परवस्तु आँख में आती नहीं। आती है? परन्तु यहाँ ऐसा कहते हैं कि चैतन्यरूपी नेत्र पर को जाने। एकमेक नहीं होता, इसीलिए इसका नाम व्यवहार कहते हैं। जानता है परन्तु पर अपेक्षा से उसे व्यवहार कहते हैं।

मुमुक्षु : ज्ञान तो सच्चा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान सच्चा है, व्यवहार से है वह। व्यवहारनय का विषय है। नहीं है, ऐसा नहीं। परन्तु निश्चयनय से अपने को नहीं जानता। आया?

शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं ही जानते— व्यवहार से अपनी आत्मा को नहीं जानता। समझ में आया? व्यवहार से पर को जानता है परन्तु व्यवहार से अपने को नहीं जानता। अपने को निश्चय से जानता है। आहाहा! पर को व्यवहार से भिन्न (रहकर) जानता है परन्तु परसम्बन्धी ज्ञान स्व-परप्रकाशक जो अपना है, उसे जाने तो वह निश्चय हो गया। आहाहा! अकेले पर को जाने, वह व्यवहार है। परन्तु पर का और स्व का ज्ञान यहाँ हुआ, वह अपना निश्चय अपने में है। पर के कारण से स्व-परप्रकाशक नहीं है। स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव—गुण है, तो उसे जाने, इसका नाम निश्चय है परन्तु स्व

को छोड़कर अकेले पर को जानना उसका नाम व्यवहार है और स्व को लक्ष्य में रखे बिना अकेले पर को जानना, वह मिथ्यात्व है। स्व को लक्ष्य में रखकर पर को व्यवहार से जानना, वह व्यवहारनय है। अरे ! कितना करना ? क्या कहा यह ? स्व का लक्ष्य रखकर पर को जानना, वह व्यवहार ज्ञान सच्चा है। अपना लक्ष्य छोड़कर अकेले पर को जानना, वह मिथ्या है। आहाहा ! यह तो सब कभी वहाँ सुना भी नहीं होगा। भाई इकट्ठे होकर कहीं ऐसी चर्चा भी करते नहीं आती होगी। पत्थर की बातें सब करे। यह तुम्हारी घड़ी की, इन्हीं हीरा-माणिक की। शान्तिभाई ! आहाहा !

यह तो प्रभु ! तेरी ऋद्धि तो देख ! तेरा स्वभाव तो देख, नाथ ! तेरा स्वभाव पर को जाने। जैसे पर को जाने, वैसे (स्व को) जाने ऐसा (स्वभाव) नहीं है। तेरा स्वभाव पर को जाने, वैसे आत्मा को जाने, ऐसा नहीं है। इस प्रकार यहाँ निषेध किया है। शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं ही जानते—आहाहा ! अपने को जानता है, वह निश्चय से है। आहाहा ! 'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः' ये दो शब्द आ गये हैं। आहाहा ! सूक्ष्म बात, बापू ! लोगों में यह प्रवृत्ति बन्द हो गयी है और बाहर की दया, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा में सब उलझ गये हैं। उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं मिलता। नुकसान है। आहाहा !

मुमुक्षु : निश्चय से स्व को जाने और पर को न जाने, इसमें सब आ गया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर को नहीं जानता, ऐसा सर्वथा नहीं है। व्यवहार से जानता है, यह सिद्ध करना है। नहीं तो फिर लोकालोक वस्तु अपने से भिन्न वह चीज़ ही नहीं है और उस चीज़ का यहाँ ज्ञान ही नहीं है, ऐसा हो गया। आहाहा !

अपना स्वरूप स्व-परप्रकाशक है। उसमें स्व और पर ज्ञात हों, वह निश्चय है। परन्तु अपने-स्व को जाने बिना अथवा स्व को जानकर अकेला व्यवहार पर को जानने में रुक जाए तो वह मिथ्या है। परन्तु पर को जानना, स्व को जानना, यह लक्ष्य में रखकर पर को जाने वह व्यवहारनय सच्चा है। आहाहा ! इतना सब याद रखना ? ऐसा मार्ग है, भाई ! कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने लिये बनाया है। यह गाथा-श्लोक सारा नियमसार अपने लिये बनाया है।

प्रभु ! अन्तर में अपने को देखे, वह निश्चय है। अपने को व्यवहार से नहीं देखता व्यवहार से देखे तो दूर रहता है। आहाहा ! जैसे पर को व्यवहार से जानता है तो परवस्तु

दूर रहती है। पर को व्यवहार से जाने और दूर रहता है तो व्यवहार है। इसी प्रकार तू स्व को जानने में व्यवहार से (जानता है, ऐसा कहे) तो व्यवहार से आत्मा दूर रहे, ऐसा नहीं है। व्यवहार से आत्मा जानता नहीं, इतनी बात। क्योंकि तन्मय होता है तो वह व्यवहार नहीं है। तन्मय होता है, वह व्यवहार नहीं है। अन्दर एकमेक हो गया, वह निश्चय; वह व्यवहार नहीं है - इतना बतलाना है। आहाहा! जाने बिना रहता है, ऐसा भी नहीं है। पर को जानता है तो एक अपेक्षा से व्यवहारनय से पर को जानता है। एक अपेक्षा से पर को नहीं जानता। क्या (कहा) ? अपना स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। निश्चय से स्वभाव है। उसमें स्व-पर आये, यह निश्चय आ गया। स्व-परप्रकाशक स्वभाव में पर आया, वह निश्चय आ गया। वह व्यवहार नहीं है। परन्तु अपने को छोड़कर अकेले पर को देखना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसा सुनकर... यह महिलाएँ निवृत्त नहीं होतीं। पूरे दिन पकाना होता है, लड़कों को सम्हालना... उन्हें ऐसी बातें। अरे रे! देह तो चला जाएगा, भाई! देह तो एक समय में छूट जाएगा। आहाहा!

यहाँ देखो न! यहाँ भाईलालभाई ऐसे चलते थे, जाते थे। ऐसे चले। उनके दामाद को चलकर मिलने गये। कुछ नहीं हुआ। जहाँ बैठे वहाँ कब असाध्य हुए, कुछ खबर नहीं। परन्तु सबकी सुनने पर नजर थी। मेरी नजर ऐसे गयी। कहा, भई यह क्या है? ऐसा कैसे है? असाध्य हो गये। भाईलालभाई असाध्य। गुजर गये। यहाँ इस खम्बे के पास थे। बाहर ले गये। फिर बाहर गुजर गये। डॉक्टर बहिन मधुरीबेन आयी। आहाहा! यहाँ रहने आये थे। क्या करे? स्थिति है, तदनुसार होता है। असाध्य हो गये, असाध्य। ऐसे पड़े। ऐसा दिखायी दिया तो कहा ऐसे कैसे होता है इन भाई को? देखा तो असाध्य हो गये। उन्हें उठाकर बाहर ले गये। आहाहा! क्षण में बदलते देर लगती है? यह कहाँ आत्मा है? यह कहाँ आत्मा की चीज़ है? यह कहाँ आत्मा के साथ एकमेक है? आहाहा!

आत्मा और उसके-दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है। भगवान आत्मा और शरीर दोनों के बीच में अत्यन्त अभाव है। उसे कभी स्पर्श भी नहीं करता। सुई में डोरा पिरोते हैं तो डोरा सुई को स्पर्श नहीं करता। डोरा सुई को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! क्यों?— कि वस्तु अनन्त है। यहाँ अनन्त को देखने में जैसे अनन्त है, वैसे देखना, इसका नाम सर्वज्ञ। अनन्त है तो अनन्त कब रहे? अपनी पर्याय अपने से क्षण-क्षण में होती है, पर

से नहीं। अनन्त पर्यायों अनन्त द्रव्यों की अपनी पर्याय अपने समय में अपने से है तो अनन्त रह सकते हैं। यदि पर से पर्याय होवे तो अनन्त नहीं रह सकते। आहाहा!

प्रत्येक पदार्थ अपनी अनन्त पर्यायसहित है। पर्याय-विशेष बिना द्रव्य नहीं होता। विशेष अर्थात् पर्याय। किसी समय में कोई पदार्थ अपनी विशेष पर्याय बिना नहीं होता, तो फिर दूसरा द्रव्य क्या करे? आहाहा! गजब बात है, भाई! इस अँगुली में एक-एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! आत्मा ने कर्म को स्पर्श नहीं किया। भाषा को आत्मा छूता नहीं। छूता नहीं अर्थात् स्पर्शता नहीं। आहाहा! वस्तु अस्ति है। अस्ति है तो उसकी अपनी वर्तमान पर्याय स्वयं से होती है तो अस्तिपना रह सकता है। अपनी विशेष दशा सामान्य में विशेष पर से होवे तो सामान्य भी नहीं रह सकता। आहाहा! गजब बात है। वीतरागमार्ग! एक सुई को डोरा छूता नहीं - स्पर्शता नहीं। सिलता है न, सिलता? उस सुई को डोरा छूता नहीं और डोरा वस्त्र को छूता नहीं। आहाहा! ऐसी अनन्तता पृथक्ता, अपनी सामान्य-विशेष पर्यायसहित, अपना कायमस्वरूप वर्तमान पर्यायसहित (जाने)। आहाहा!

वर्तमान पर्याय बिना का कोई द्रव्य नहीं है। आहाहा! वर्तमान पर्याय बिना का द्रव्य नहीं है तो पर्याय किसकी करे? स्व, स्व की करता है; पर, पर की करता है। आहाहा! गजब बात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! क्योंकि दो के बीच अत्यन्त अभाव है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म में सूक्ष्म बात केवलज्ञानी भगवान ने एक समय में प्रत्यक्ष देखी है। आहाहा! छद्मस्थ तो फिर वीतराग की वाणी सुनकर माने, तब माने। यहाँ तो परमात्मा ने तो एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे हैं। अपनी पर्याय अपने से होती है। पर्याय बिना का द्रव्य नहीं रहता। पर्याय विशेष है। विशेषपना, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! कोई भी विशेष हो, उसे भगवान जाने बिना नहीं रहते। और अपना विशेष और पर को जाने, अपने में तन्मय होकर जानते हैं, वह निश्चय है और तन्मय हुए बिना पर को जाने, इसका नाम व्यवहार है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म श्लोक है।

कुन्दकुन्दाचार्य सर्वज्ञपने की प्रतीति की है कि ऐसे सर्वज्ञ होते हैं, ऐसे केवली होते हैं, उन्हें मैं मानता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और ऐसे केवली दूसरे माने और मनावे... सच्ची बात। केवली अर्थात् भूत, वर्तमान जाने, भविष्य को न जाने। भविष्य में तो जैसा

होनेवाला है, जैसे आत्मा स्वयं करना चाहे, वैसे हो सकता है। परमाणु में भी करना चाहे, वैसे हो सकता है, (ऐसा नहीं)। भगवान ने तीन काल-तीन लोक देखे हैं। कोई कर सकता है, ऐसा नहीं है। उसकी पर्याय क्रम में आनेवाली हो, वही आती है। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात परमात्मा के सिवाय, सर्वज्ञदेव के सिवाय कहीं नहीं है। दूसरे तो पागल कहें। स्पर्श नहीं करता? यह तो सब चलता है न! यह सब करते हैं न। इस मशीन से दर्जी सिलता है, कुम्हार घड़ा बनाता है, कपड़ेवाला बुनकर कपड़ा बुनता है। सब झूठा है। आहाहा! सब सबकी पर्याय उस-उस समय में अपनी सामान्य में से विशेष होता है। दूसरे के सामान्य में से यह विशेष होता है, ऐसा नहीं है। ऐसा भगवान अपने को जानते हुए पर को भी इस प्रकार जानता है। पर में मिले बिना व्यवहार से पर को जानता है, ऐसे व्यवहार से अपने को जानता है - ऐसा नहीं है। अपने को तन्मय होकर जानता है, इसलिए निश्चय है। आहाहा!

ऐसा यदि व्यवहारनय की विवक्षा से कोई जिननाथ के तत्त्वविचार में निपुण जीव (-जिनदेव द्वारा कहे हुए तत्त्व के विचार में प्रवीण जीव) कदाचित् कहे, तो उसे वास्तव में दूषण नहीं है। व्यवहार से पर को जानता है और व्यवहार से अपने को (जानता) नहीं, ऐसा कोई समझकर कहे तो उसे कोई दूषण नहीं है। आहाहा! कोई प्रवीण कहा, हों! कहा? निपुण... तत्त्वविचार में निपुण... आहाहा! तत्त्व को विचारने में निपुण। कोई ऐसा कहे कि व्यवहार से पर को जानता है और अपने को नहीं जानता तो उसे दूषण क्या देना? अपने साथ व्यवहार से तन्मय नहीं है। निश्चय से तन्मय है। अपनी एक-एक पर्याय अपने में तन्मय है, उस स्व को जानना, वह निश्चय है और यह आत्मा पर को जानता है, ऐसा कहना, परन्तु पर में जाता नहीं। आँख परज्ञेय में जाती नहीं। ज्ञेय आँख में आता नहीं। इसी प्रकार ज्ञान पर को जाने तो पर में ज्ञान जाता नहीं और पर जाने, वह ज्ञान में आता नहीं। इस कारण से व्यवहार कहने में आया है। निश्चय से... आहाहा! कदाचित् कहे, तो उसे वास्तव में दूषण नहीं है।

इसी प्रकार(आचार्यवर) श्री समन्तभद्रस्वामी ने(बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में श्री मुनिसुव्रत भगवान की स्तुति करते हुए ११४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:— यह विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-२०१, गाथा-१७०, श्लोक २८५, रविवार, आषाढ़ कृष्ण ७, दिनांक ०३-०८-१९८०

नियमसार १६९ गाथा का आधार है। आधार।

(अपरवक्त्र)

स्थितिजनननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञ-लाञ्छनं वचनमिदं वदताम्बरस्य ते ॥

समन्तभद्रस्वामी कृत स्तुति है। हे जिनेन्द्र! तू वक्ताओं में श्रेष्ठ है;... जितने वक्ता कहलाते हैं, उनमें यह श्रेष्ठ है। 'चराचर (जंगम तथा स्थावर) जगत प्रतिक्षण (प्रत्येक समय में) उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है'... इसका अर्थ कि जानते हैं। आहाहा! अनन्त पदार्थ के एक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रुव। समय एक और तीन। आहाहा! सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग, वह एक समय। समय एक, देखना तीन को। प्रभु! यह आपके सर्वज्ञ का चिह्न है। समझ में आया? न्याय से लिया है।

हे जिनेन्द्र! तू वक्ताओं में श्रेष्ठ है; 'चराचर (जंगम तथा स्थावर) जगत प्रतिक्षण (प्रत्येक समय में) उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है' ऐसा यह तेरा वचन... है। ऐसा आपका वचन है अर्थात् आप जानते हैं। जानते हो तो वह आपका वचन है, नाथ! एक समय में... समय का भाग नहीं पड़ता। एक सेकेण्ड में असंख्य समय होते हैं। एक सेकेण्ड में असंख्य समय। ऐसा एक समय और प्रत्येक पदार्थ के तीन बोल—उत्पाद-व्यय-ध्रुव। समय एक और तीन को जानते हैं, ऐसे अनन्त तीन को जानते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। अन्तर विश्वास के लिये यह बात है।

समय एक और अनन्त जो वस्तु है, उस प्रत्येक वस्तु को एक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रुव ऐसी एक समय में उसकी तीन अवस्था है। एक समय में उन तीन को तीन काल को जाने। एक समय में तीन को तीन काल को (जाने)। आहाहा! क्या कहते हैं, समझ में आया? समन्तभद्रस्वामी का वचन है। वह तेरा वचन (तेरी) सर्वज्ञता का चिह्न है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसा कोई कह नहीं सकता। आहाहा!

एक समय में एक द्रव्य की उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन अवस्था। ऐसे अनन्त द्रव्य हैं। उन अनन्त द्रव्यों की उत्पाद-व्यय-ध्रुव की अनन्त अवस्था। वह एक समय में ज्ञात

होती है, ऐसा जो तुम्हारा वचन है, प्रभु! वह सर्वज्ञ का चिह्न है। आहाहा! वह सर्वज्ञ का लक्षण है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त (यह बात कहीं नहीं है)। एक समय में दो भाग नहीं होते। छोटे में छोटा काल एक समय और जगत की एक चीज के तीन भाग और ऐसे अनन्त पदार्थों के तीन भाग। साधारण बात नहीं है। आहाहा! लॉजिक से तत्त्व को सिद्ध करने से विश्वास आता है। प्रभु! तुम ऐसे केवलज्ञानी, ऐसा का ऐसा मान ले, ऐसा नहीं। परन्तु ऐसा केवलज्ञान है, जो एक समय में प्रत्येक पदार्थ में, अवस्था में तीन भेद नहीं। वस्तु के तीन भेद हैं। ऐसी अनन्त अवस्था के तीन भेद हैं। आहाहा! वह अवस्था तीन भेद अनन्त। ऐसा जो तुम्हारा वचन है, प्रभु! वह तुम्हारा सर्वज्ञ का वचन है। आहाहा! डाह्याभाई!

यहाँ सर्वज्ञ को सिद्ध करते हैं। सर्वज्ञ में बहुत शंका करते हैं न? यह क्रमबद्ध आने के पश्चात् सर्वज्ञ में भी (लोग) शंका करते हैं। समय-समय में जो होनेवाली हो, वह होगी, आगे-पीछे नहीं, तो केवलज्ञान में भी शंका करते हैं। केवलज्ञान भी जाने... यहाँ तो कहते हैं... अनन्त काल की उत्पाद-व्यय की पर्याय, अनन्त द्रव्य की, अनन्त उत्पाद-व्यय-ध्रुव एक समय में (जाने)। आहाहा! भाषा सरल है। भाव (गम्भीर है)।

एक समय में तीन काल के तीन लोक के द्रव्य जो तीन स्वरूप हैं, उन्हें एक समय में अनन्त को आप जानो, वह आपका सर्वज्ञ का चिह्न है। आहाहा! समझ में आया? भाषा सादी है, तत्त्व रहस्य विशाल है। समन्तभद्राचार्य को बड़ा कहना है। ओहोहो! प्रभु! तुम्हारा वचन ऐसा है कि एक समय में हम तीन काल को जानते हैं। एक समय में तीन काल की समय-समय की तीन पर्यायें, ऐसी अनादि-अनन्त, ऐसी अनन्त पर्याय... आहाहा! ज्ञान में ज्ञात होती है, ऐसा आपका वचन है, प्रभु! हम जानते हैं कि आप सर्वज्ञ का वह चिह्न है। उससे सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं। सर्वज्ञ के बिना ऐसा कोई जान नहीं सकता। समझ में आया? भाषा सादी है परन्तु अन्दर सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं।

स्वतः स्वभाव, सर्वज्ञ का स्वतः स्वभाव एक समय में। एक द्रव्य में तीन। एक समय का भाग नहीं और पदार्थ में तीन भाग। ऐसे अनन्त पदार्थों के तीन भाग। समय का भाग नहीं। एक समय के दो भाग नहीं हो सकते। ऐसे एक समय में अनन्त उत्पाद-व्यय-ध्रुव एक समय में तीन काल-तीन लोक में होते हैं। आहाहा! वह प्रभु आपका-सर्वज्ञ का चिह्न है। आहाहा! अरे! एक भी भाव बैठना चाहिए न! एक भी (भाव) यथार्थ जैसा है, वैसा (बैठना चाहिए)। सुने वह अलग बात है। आहाहा!

चारित्र का दोष हो, वह भी अलग बात है। आहाहा! क्योंकि क्षायिक समकित होता है, तो भी भरत को छियानवें हजार स्त्रियाँ हैं। छियानवें हजार स्त्रियाँ और क्षायिक समकित, तो समकित के दोष में वह चारित्र का दोष लागू नहीं पड़ता। आहाहा! प्रभु की बात सूक्ष्म है, भाई! यह तो एक गुण का दोष दूसरे गुण में लागू नहीं पड़ता और दूसरा गुण जो ज्ञान या श्रद्धा एक समय की, एक समय में द्रव्य में तीन भाग, समय का भाग नहीं और यहाँ भाग... आहाहा! ऐसे अनन्त पदार्थ, उत्पाद-व्यय और ध्रुव की अनन्त पर्यायें, एक की तो अनेक परन्तु अनेक की अनेक, ऐसी एक समय में आप जानते हो। आहाहा! प्रभु! यह सर्वज्ञ का लक्षण है। आपका वचन यह बताता है कि आप सर्वज्ञ हो। भाषा सादी है परन्तु अन्दर गर्भ (रहस्य है)। आहाहा!

जानने में काल की आवश्यकता नहीं कि दो समय हो, तीन समय हो तो जाने। जानने में जाननेयोग्य चीज़ एकरूप ही हो तो जाने, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! जानने में एक समय में जाननेयोग्य में एक-एक द्रव्य में तीन भाग, ऐसे तीन काल के तीन भाग... आहाहा! प्रभु! वह सर्वज्ञ है, ऐसा बताता है। आपकी वाणी सर्वज्ञपना सिद्ध करती है। आहाहा! गजब बात है। साधारण लोगों को लगता है कि यह क्या है? बहुत गूढ़ता है।

काल छोटा, वस्तु बड़ी और वह एक-एक समय में तीन भागवाली। एक-एक समय में तीन भागवाली। ऐसे अनन्त समय, अनन्त पदार्थ, एक पदार्थ में तीन भाग। एक समय में भाग नहीं पड़ते और जानते हैं। ऐसे अनन्त पदार्थ जो अनन्त गुणे... आहाहा! समन्तभद्रस्वामी ने न्याय रखा है। गजब किया है।

एक समय, प्रभु! और तीन काल के पदार्थ वे तो भले अनन्त हैं, परन्तु उन पदार्थों में एक समय में तीन भाग। उन सहित भविष्य की भी उत्पाद-व्यय और ध्रुव; भूतकाल के उत्पाद-व्यय और ध्रुव; वर्तमान में उत्पाद-व्यय और ध्रुव—ऐसी जो अनन्त चीज़, उसे समय के भाग किये बिना वह सब भागवाली चीज़ एक समय में ज्ञात होती है। आहाहा!

मुमुक्षु : महिमा तो ज्ञान की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

धारसीभाई! जैन में भी सर्वज्ञ में शंका पड़ गयी। क्रमबद्ध की बात आयी न, क्रमबद्ध की। क्रम से अर्थात् जिस समय में होनेवाली है वह। सर्वज्ञ देखते हैं, वैसा होवे

तो केवली वर्तमान और भविष्य का जानते हैं कि है इतना। परन्तु किस समय में कौन सी पर्याय होगी, ऐसा नहीं। केवली को माननेवाले ऐसी शंका करने लगे। समझ में आया? एक भी बोल अन्दर यथार्थ (बैठना चाहिए)। आहाहा! एक समय में एक द्रव्य की तीन अवस्था। एक समय के भाग नहीं पड़ते। ऐसे अनन्त पदार्थ भूत के, भविष्य के, वर्तमान के। प्रभु! एक समय में आप जानते हो। वह आपका सर्वज्ञ का वचन, वह आपका सर्वज्ञ का वचन सत्य है, प्रभु! आहाहा! समझ में आया? बारम्बार कहने में अन्दर गूढ़ता है। आहाहा! ऐसे का ऐसा मान ले कि भगवान तीन काल को जानते हैं, ऐसी बात तो अनन्त बार (सुनी है)।

अपनी एक समय की पर्याय, उसमें उत्पाद-व्यय और ध्रुव, ऐसे अनन्त पदार्थ में एक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रुव। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह उत्पाद-व्यय और ध्रुव। समय के भाग नहीं और एक के तीन भाग। ऐसे अनन्त-अनन्त पदार्थों के भाग। आहाहा! अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु इससे अनन्तगुणे। ओहोहो! आकाश सर्व-व्यापक, परन्तु एक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रुव। प्रभु! आपका ज्ञान जानता है, ऐसा आपने कहा। प्रभु! बराबर है। आपका वचन यथार्थ है। अरे! यह यथार्थ वस्तु बैठे, उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? ऊपर से साधारण बात करे तो ऐसी नहीं है। आहाहा!

आप किस प्रकार जानते हो? अपने में जानते हो। कितने काल में? एक समय में। कितने को? अनन्त भंगवाली उत्पाद-व्यय-ध्रुववाली चीज़ एक समय में। ऐसी अनन्त चीज़ों को-सबको आप जानते हो। प्रभु! आप सर्वज्ञ हो, इसकी हमें प्रतीति हो गयी। आहाहा! आप सर्वज्ञ हो। इस स्थिति में आप सर्वज्ञ हो, ऐसी प्रतीति हमें हो गयी। आहाहा! बात साधारण नहीं है। भगवान तीन काल को जानते हैं... तीन काल को जानते हैं... समय एक, उसके दो भाग नहीं। आहाहा! एक समय के असंख्य समय, एक सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग, उसमें एक समय, ऐसे तीन काल के समय। एक समय का भाग नहीं और भागवाली चीज़ें अनन्त... आहाहा! एक साथ एक ही भागवाली चीज़ नहीं। एक चीज़ अनन्त भागवाली। उत्पाद-व्यय और ध्रुव ऐसे तीन भागवाली। आहाहा! प्रभु! आपने कहा कि हम यह जानते हैं। यह आपका-सर्वज्ञ का वचन है। प्रभु! आप सर्वज्ञ हो, इसका हमें निर्णय हो गया। आहाहा! प्रभु! आप सर्वज्ञ हो। दूसरा कोई त्रिकाल

में सर्वज्ञ ऐसी चीज़ है नहीं। आहाहा! ऐसे केवलज्ञान के अतिरिक्त किसी को ऐसा केवलज्ञान है नहीं, प्रभु! ऐसी हमें प्रतीति हो गयी। आपने वचन कहा कि हम तीन काल को जानते हैं और समय एक है। जाना कि यह तो सर्वज्ञ हैं। आहाहा! बात ऐसी है। बात सादी है परन्तु सादी में गूढ़ता बहुत है, भाई! आहाहा!

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ भगवान अनन्त-अनन्त हो गये। उन अनन्त सर्वज्ञों की अनन्त पदार्थ के भागवाली, एक समय में भाग बिना अनन्त सिद्ध और अनन्त केवली जानते हैं। प्रभु! यह विश्वास कोई अलग प्रकार का है। आहाहा! यह बात नहीं। उसका विश्वास...

मुमुक्षु : महिमा...

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! अलौकिक। आहाहा! गजब काम किया है! उस दिन देखा, तब ऐसा कहते कि ओहोहो! समन्तभद्राचार्य यही कहना चाहते हैं।

प्रभु! आप सर्वज्ञ हो, ऐसा हमने निर्णय किया है। किस प्रकार? आधार से। एक समय और तीन काल में अनन्त पदार्थ और एक-एक पदार्थ में एक समय में तीन भाग, एक समय में भाग नहीं और एक पदार्थ में तीन भाग, ऐसे अनन्त पदार्थ भागवाले। आप एक समय में भाग बिना जानते हो। आहाहा! प्रभु! ऐसे केवलज्ञानी आपके अतिरिक्त दुनिया में दूसरे कोई है नहीं। आहाहा! दूसरे सर्वज्ञ और केवली और बहुत नाम धराते हैं, परन्तु प्रभु! आपका जो चिह्न है, वह ख्याल में आ गया कि आप ही सर्वज्ञ हैं। इस स्थिति में। इसके अतिरिक्त कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। समझ में आया? आहाहा! यह भाषा इतनी है और भाव (गूढ़ है।) आहाहा!

उत्पाद-व्यय और ध्रुव लक्षण। तीन। ऐसा यह तेरा वचन (तेरी) सर्वज्ञता का चिह्न है। प्रभु! आहाहा! एक समय में सर्वज्ञ हो सकते हैं। यह आपका वचन हमें प्रतीति में आ गया। क्योंकि एक समय में भाग नहीं और भागवाली चीज़ अनन्त, उसे एक समय में जाने, वही आपका सर्वज्ञपना है, वही आपका सर्वज्ञपना है। आहाहा! समझ में आया? बारम्बार कहने में कुछ गूढ़ता बतानी है। बात गूढ़ है, भगवान! सर्वज्ञ को मानना, यह बात... आहाहा! वह विकल्प से माने, यह नहीं। धारणा से माने, यह नहीं। आहाहा! तीन लोक के नाथ परमात्मा तीर्थकरदेव अनन्त तीर्थकर, अनन्त केवली हुए। एक समय में तीन काल प्रत्यक्ष देखते हैं। प्रभु! आप सर्वज्ञ हो, इसका हमें विश्वास आया। यह

न्याय से हमें विश्वास आ गया। इसमें शंका को स्थान नहीं है। आहाहा! गजब बात है। भाषा सादी है, भाव गम्भीर है। आहाहा!

अपने सन्मुख देखे तो खबर पड़े। ओहोहो! अपने सन्मुख में समयान्तर में ज्ञानान्तर हो जाता है। आहाहा! यह क्या कहा? मिथ्याज्ञान में से सम्यग्ज्ञान एक समय के अन्तर में हो जाता है। समयान्तर। पहले समय में ज्ञान, दूसरे समय में ज्ञान। आहाहा! प्रभु! यह उत्पाद-व्यय और ध्रुव आपने कहा भिन्न-भिन्न समय में, तो यह बात सिद्ध हो गयी। आहाहा! पहले समय में भले मिथ्याज्ञान हो और दूसरे समय में सम्यग्ज्ञान हो जाए। उत्पाद हुआ और उत्पाद दूसरे समय में व्यय होता है। आहाहा! और उसका आधार द्रव्य है, तथापि वह तीनों बिना किसी काल नहीं रहता। उत्पाद, उत्पाद के कारण से; व्यय, व्यय के कारण से; ध्रुव, ध्रुव के कारण से। प्रवचनसार में आया है। उत्पाद ध्रुव के कारण से नहीं; व्यय ध्रुव के कारण से नहीं; व्यय उत्पाद के कारण से नहीं। आहाहा!

एक ओर ज्ञान-भगवान, एक ओर ज्ञेय, उसका विषय। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भागवाला विषय। एक द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तो आपने कहा न? उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा तो सब द्रव्यों में उत्पाद-व्यय-ध्रुव हुए। तो तीन काल-तीन लोक में उत्पाद-व्यय-ध्रुववाली एक-एक चीज़ के तीन भाग हो गये। ऐसे अनन्त काल में अनन्त भाग हुए। आहाहा! आपको एक समय में भाग है नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! कब विचार किया है वहाँ पैसे के कारण?

यह चीज़... आहाहा! सर्वज्ञ आत्मा सिद्ध करते हैं। भगवान आत्मा सर्वज्ञ है। क्योंकि ऐसे सर्वज्ञ की जो श्रद्धा करता है, उसकी श्रद्धा में भी एक समय में अन्तर पड़ जाता है। पहली श्रद्धा पहले समय में दूसरी थी, दूसरे समय में दूसरी हो जाती है। सम्यग्दर्शन में भी अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उत्पाद-व्यय और ध्रुव आपने एक साथ देखा है तो जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब मिथ्यात्व का व्यय होता है। व्यय होता है तो उत्पाद भी होता ही है। उत्पाद होता है तो ध्रुव भी रहता ही है। आहाहा! आधे घण्टे चला। वैसे तो तीन लाईनें हैं। तीन पूरी नहीं हैं। आधी है। आहाहा!

क्या प्रभु की वाणी! कहीं दुनिया में नहीं है। किसी स्थान में ऐसी वाणी नहीं है। यह भी दिगम्बर पन्थ के अतिरिक्त कहीं नहीं है। श्वेताम्बर में भी एक समय में पहले

ज्ञान और दूसरे समय में दर्शन-देखते हैं, ऐसा कहते हैं और श्वेताम्बर (सम्प्रदाय) कालद्रव्य को मानता नहीं। उसका हेतु अन्तर में रहस्य क्या है ? बहुत वर्ष पहले कहा था कि अपनी पर्याय में काल बदला नहीं है। अपना स्वकाल बदला नहीं तो परकाल की प्रतीति हुई नहीं। आहाहा! अपनी पर्याय में स्वकाल बदले तो परकाल की प्रतीति आये बिना रहे नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है प्रभु का। आपकी तो कितनी शक्ति से पहुँचे! आहाहा! सर्वज्ञ जब इसकी बात करे, चार ज्ञान के धनी गणधर जब बात करे... आहाहा! एक शब्द में कितना भरा हो कि भगवान उसका स्पष्टीकरण और गणधर उसका स्पष्टीकरण करे। दूसरे की ताकत नहीं है। आहाहा! यह गाथा हुई।



श्लोक-२८५

और (इस १६९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(वसंततिलका)

जानाति लोक-मखिलं खलु तीर्थ-नाथः,

स्वात्मान-मेक-मनघं निज-सौख्य-निष्ठम् ।

नो वेत्ति सोऽय-मिति तं व्यवहार-मार्गाद्,

वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः ॥२८५॥

(वीरछन्द)

वास्तव में सम्पूर्ण लोक को जानें तीर्थनाथ भगवान।

एक अनघ निज सुख में स्थित है जो निज ज्ञायक भगवान-

उसे न जानें तीर्थनाथ वे - ऐसा यदि कोई मुनिराज।

कहते हैं व्यवहार मार्ग से, तो नहीं दोषी वे मुनिराज ॥२८५॥

[श्लोकार्थः—] तीर्थनाथ वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक, अनघ (निर्दोष), निजसौख्यनिष्ठ (निज सुख में लीन) स्वात्मा को नहीं जानते—ऐसा कोई मुनिवर व्यवहारमार्ग से कहे तो उसे दोष नहीं है ॥२८५॥

और (इस १६९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

जानाति लोक-मखिलं खलु तीर्थ-नाथः,
स्वात्मान-मेक-मनघं निज-सौख्य-निष्ठम् ।
नो वेत्ति सोऽय-मिति तं व्यवहार-मार्गाद्,
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः ॥२८५॥

आहाहा! क्या कहते हैं? तीर्थनाथ वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक, अनघ (निर्दोष), निजसौख्यनिष्ठ (निज सुख में लीन) स्वात्मा को नहीं जानते— क्या कहते हैं? – कि आनन्द में लीन हैं, तो आत्मा को नहीं जानते, पर को जानते हैं। ज्ञान का स्वभाव है कि आनन्द में लीन होने पर भी पर को तो जानते हैं। आहाहा! तथापि आत्मा को नहीं जानते, ऐसा कोई व्यवहार से कहे तो क्या दोष है? समझ में आया?

फिर से। तीर्थनाथ वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक, अनघ (निर्दोष), निजसौख्यनिष्ठ (निज सुख में लीन) स्वात्मा को नहीं जानते—ऐसा कोई मुनिवर व्यवहारमार्ग से कहे तो उसे दोष नहीं है। आहाहा! यह बात ही कोई... अपने स्वरूप में लीन हैं तो पर को भले जाने। ज्ञान का स्वभाव है। वह भले उपयोग इस ओर हो तो भी ज्ञान का स्वभाव है तो पर को जानते हैं। परन्तु अपने में लीन हैं तो अपने को नहीं जानते, ऐसा कोई व्यवहार पक्षवाला कहे तो उसमें क्या दोष है? आहाहा! अटपटी बात है।

मुमुक्षु : ऐसा कहते हैं कि भगवान तो स्व-पर दोनों को जानते हैं, यह तो तीसरा मनुष्य कहनेवाला ऐसा कहता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहता है परन्तु व्यवहार से ऐसा सत्य है। ऐसा कहना है। तीसरा व्यक्ति भले कहे परन्तु उसका कहना सच्चा है। किस अपेक्षा से? आहाहा! तीसरा कहता है चाहे जो परन्तु किस अपेक्षा से? कि निर्दोष निजसौख्यनिष्ठ। आनन्द में लीन है। भगवान तो आनन्दगुण में लीन हैं। आहाहा! साथ में रहा हुआ ज्ञानगुण, वह ज्ञानगुण भले दूसरे को जाने परन्तु वह यहाँ आत्मा लीन है तो अपने को नहीं जानता, ऐसा कोई व्यवहारनय से कहे तो उसमें कोई दोष नहीं है। कठिन बात है, भगवान! यह तो वीतराग

के शास्त्र हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर दिगम्बर के शास्त्र अर्थात् परमेश्वर की वाणी। साक्षात् श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि। आहाहा! वह कहीं साधारण शब्दों की बात नहीं है। बहुत गूढ़ है। वार्ता नहीं, कथा नहीं, तत्त्व का रहस्य है। आहाहा!

क्या कहा? कि आत्मा आनन्द में लीन है। आनन्द में लीन है तो आनन्द में जानने की शक्ति नहीं है। ज्ञान का भाव है तो आनन्द में लीन है, तो भी ज्ञान पर को जाने। पर को जानने का भाव है। उस आनन्द में लीन है परन्तु पर को जानने की बात कुछ चली जाती है? क्या कहा, समझ में आया? आहाहा! यहाँ भी जब आत्मा निर्विकल्प ध्यान में आता है, तब ज्ञान में पर का जानना चला जाता है? समझ में आया? पर के ऊपर लक्ष्य नहीं है, उपयोग नहीं है। आहाहा! क्या कहा? अपने स्वरूप में जहाँ ध्यान में लीन है, तब ज्ञान का स्वभाव तो है। पहले जो ज्ञान में जाना है, वह ध्यान में है तो ज्ञात हुआ, उसका नाश होता है? क्या कहा? समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

यह बहिन के अक्षर उत्कीर्ण होनेवाले हैं, भाई! सुना है न? हसमुखभाई की ओर से ग्यारह हजार रुपये और भाई की ओर से हीराभाई की ओर से छह हजार दिगम्बर मन्दिर हैं, उन प्रत्येक मन्दिर में एक-एक पुस्तक देना। यह बहिन का है न, बहिन की पुस्तक। पूरे हिन्दुस्तान में छह हजार दिगम्बर मन्दिर हैं। प्रत्येक मन्दिर में बहिन की एक-एक पुस्तक देना। आहाहा! पहले कहा था। जब हाथ में आयी, तब रामजीभाई को कहा था। तीस लाख पुस्तकें प्रकाशित हो गयीं परन्तु किसी पुस्तक के लिये हमने कहा नहीं कि छपाओ या करो। कुछ कहा नहीं। परन्तु यह पुस्तक जब हाथ में आयी तो ऐसा कहा, रामजीभाई! एक लाख पुस्तक छपाओ। उसमें लगभग छिहत्तर हजार तो प्रकाशित हो गयी है। आहाहा! लोग पक्षपात छोड़कर जरा विचार करे कि सत्य क्या है? कैसा होना चाहिए? यह ख्याल रखे तो ख्याल आवे। नहीं तो ख्याल आवे नहीं। आहाहा! हरिभाई नहीं? गये लगते हैं। आये नहीं। तबीयत बराबर नहीं? ठीक नहीं होगा। सवेरे भी नहीं थे। सवेरे भी अलौकिक बात थी। अभी भी है। आहाहा!

जयसेनाचार्य में एक ऐसा लेख है कि कोई भी एक भाव पूरा अन्दर, उसका रहस्य... एक भाव जाने तो सब भाव जाने। ऐसा पाठ है। एक भाव, कोई भी एक भाव। यह सर्वज्ञ, उत्पाद-व्यय-ध्रुव आहाहा! अपने में लीन... ज्ञान का स्वभाव तो पहले पर को बहुत जाना था। जानने में लीन है, इतना ही लिया है? समझ में आया? अन्दर ध्यान

में आया परन्तु जो ज्ञान में पर को पहले जाना था, वह जानने का कहीं चला गया है ? तो जानते हैं। परन्तु अन्तर में लीन हैं... आहाहा! है ?

निजसौख्यनिष्ठ (निज सुख में लीन) स्वात्मा को नहीं जानते—आहाहा! क्या कहना है ? आनन्द में रहते हैं, उन्हें अपने ज्ञान का ख्याल नहीं। उस ज्ञान में पर को जानना भले रहा, परन्तु अपने आनन्द में लीन है तो उसे जानना वहाँ रहा नहीं। आनन्द में लीन है। आहाहा! डाह्याभाई! आहाहा! वीतराग की वाणी अलौकिक! अलौकिक!! दिगम्बर सन्तों की वाणी कहीं है नहीं। कितने ही लोगों को दुःख लगता है। श्वेताम्बर या स्थानकवासी को। प्रभु! यह वाणी कहीं है नहीं। यह वाणी कृत्रिम नहीं है। दूसरों ने तो कृत्रिम बनाया हुआ है और कहीं कोई गहरे-गहरे तर्क करने जाए तो मिलान नहीं खाता। यहाँ तो चाहे जितना गहरा तर्क करने जाए, वहाँ बात सिद्ध होती है। आहाहा! चाहे जिस एक बात को स्पष्ट करने जाए तो वह बात सिद्ध ही होती है। आहाहा! यह ऐसी बात है। आहाहा! भाग्यशाली को कान में पड़े, वह वाणी है। आहाहा!

मुमुक्षु : महाभाग्यशाली को, अकेले भाग्यशाली नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : महाभाग्यशाली। आहाहा!

मुमुक्षु : आज का व्याख्यान तो बहुत गूढ़, गम्भीर और सूक्ष्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है, वहाँ यह गहरा कहना है। आहाहा!

तीर्थनाथ वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक, अनघ (निर्दोष), निजसौख्यनिष्ठ (निज सुख में लीन) स्वात्मा को नहीं जानते—आहाहा! ऐसा कोई मुनिवर व्यवहारमार्ग से कहे... देखो! व्यवहारनय है, उसका विषय भी है। नय है तो विषयी है। विषयी है, उसका विषय है, परन्तु आदरणीय नहीं है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि व्यवहारनय से कोई ऐसा कहे कि पर को जानते हैं और अपना आत्मा आनन्द में है तो अपने को नहीं जानते तो उसे क्या कहना ? व्यवहारनय से कहते हैं। आहाहा! गजब बात!

मुमुक्षु : व्यवहारनय का विषय पर है...

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं जानूँ, वहाँ रहा नहीं। आनन्द में है और पर का जानना तो अन्दर ज्ञान में था, वह रह गया है। वह कहीं चला नहीं गया है। ध्यान में, आनन्द में आ गये, इसलिए पर का जानना, क्षयोपशम में पर्याय में था, वह कहीं चला नहीं गया। आहाहा! डाह्याभाई! आहाहा!

गाथा-१७०

णाणं जीव-स्वरूपं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥१७०॥

ज्ञानं जीव-स्वरूपं तस्माज्जानात्यात्मकं आत्मा ।
आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम् ॥१७०॥

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्केणोक्तः । इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति, ततो हेतोरखण्डाद्वैतस्वभावनिरतं निरतिशयपरमभावनासनाथं मुक्तिसुन्दरीनाथं बहिव्यावृत्तकौतूहलं निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु स्वभाववादः । अस्य विपरीतो वितर्कः स खलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः । कथमिति चेत्, पूर्वोक्त-स्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा, स्वरूपावस्थितः सन्तिष्ठति । यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति । हंहो प्राथमिकशिष्य अग्नि वदयमात्मा किमचेतनः । किम्बहुना । तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहितपरशुवत् इदं हि नार्थक्रियाकारि, अत एव आत्मनः सकाशाद् व्यतिरिक्तं भवति । तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति ।

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः -

(अनुष्टुप्)

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥

तथाहि

है ज्ञान जीव स्वरूप इससे जीव जाने जीव को ।

निज को न जाने ज्ञान तो वह आतमा से भिन्न हो ॥१७०॥

अन्वयार्थः : [ज्ञानं] ज्ञान [जीवस्वरूपं] जीव का स्वरूप है, [तस्मात्] इसलिए

[आत्मा] आत्मा [आत्मकं] आत्मा को [जानाति] जानता है; [आत्मानं न अपि जानाति] यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो [आत्मनः] आत्मा से [व्यतिरिक्तम्] व्यतिरिक्त (पृथक्) [भवति] सिद्ध हो!

टीका : यहाँ (इस गाथा में) 'जीव ज्ञानस्वरूप है' ऐसा वितर्क से (दलील से) कहा है।

प्रथम तो, ज्ञान वास्तव में जीव का स्वरूप है; उस हेतु से, जो अखण्ड अद्वैत स्वभाव में लीन है, जो 'निरतिशय परम भावना सहित है, जो मुक्तिसुन्दरी का नाथ है और बाह्य में जिसने 'कौतूहल व्यावृत्त किया है (अर्थात् बाह्य पदार्थों सम्बन्धी कुतूहल का जिसने अभाव किया है) ऐसे निज परमात्मा को कोई आत्मा—भव्य जीव—जानता है।—ऐसा यह वास्तव में स्वभाववाद है। इससे विपरीत वितर्क (-विचार) वह वास्तव में विभाववाद है, प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है।

वह (विपरीत वितर्क—प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय) किस प्रकार है ? (वह इस प्रकार है:—) "पूर्वोक्तस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा को आत्मा वास्तव में जानता नहीं है, स्वरूप में अवस्थित रहता है (-आत्मा में मात्र स्थित रहता है)। जिस प्रकार उष्णतास्वरूप अग्नि के स्वरूप को (अर्थात् अग्नि को) क्या अग्नि जानती है ? (नहीं ही जानती)। उसी प्रकार ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्प के अभाव से यह आत्मा आत्मा में (मात्र) स्थित रहता है (-आत्मा को जानता नहीं है)।"

(उपरोक्त वितर्क का उत्तर:—) "हे प्राथमिक शिष्य! अग्नि की भाँति क्या आत्मा अचेतन है (कि जिससे वह अपने को न जाने)? अधिक क्या कहा जाये ? (संक्षेप में,) यदि उस आत्मा को ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति, *अर्थक्रियाकारी सिद्ध नहीं होगा, और इसलिए वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा!

१- निरतिशय=कोई दूसरा जिससे बढ़कर नहीं है ऐसी; अनुत्तम; श्रेष्ठ; अद्वितीय।

२- कौतूहल=उत्सुकता; आश्चर्य; कौतुक।

* अर्थक्रियाकारी=प्रयोजनभूत क्रिया करनेवाला। (जिस प्रकार देवदत्त के बिना अकेली कुल्हाड़ी अर्थक्रिया—काटने की क्रिया—नहीं करती, उसी प्रकार यदि ज्ञान आत्मा को न जानता हो तो ज्ञान ने भी अर्थक्रिया—जानने की क्रिया—नहीं की; इसलिए जिस प्रकार अर्थ क्रियाशून्य कुल्हाड़ी देवदत्त से भिन्न है। उसी प्रकार अर्थक्रियाशून्य ज्ञान आत्मा से भिन्न होना चाहिए! परन्तु वह तो स्पष्टरूप से विरुद्ध है। इसलिए ज्ञान आत्मा को जानता ही है।)

वह तो (अर्थात् ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता तो) वास्तव में स्वभाववादियों को संमत नहीं है। (इसलिए निर्णय कर कि ज्ञान आत्मा को जानता है।)”

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में १७४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

ज्ञानस्वभावी है आतम अरु कहा स्वभाव विनाश विहीन ।
ज्ञानभावना भाओ यदि हो अभिलाषा शाश्वत पद की ॥

“[श्लोकार्थः—] आत्मा ज्ञानस्वभाव है; स्वभाव की प्राप्ति वह अच्युति (अविनाशी दशा) है; इसलिए अच्युति को (अविनाशीपने को, शाश्वत दशा को) चाहनेवाले जीव को ज्ञान की भावना भाना चाहिए।”

गाथा - १७० पर प्रवचन

१७० गाथा ।

णाणं जीव-सरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥१७०॥

है ज्ञान जीव स्वरूप इससे जीव जाने जीव को ।
निज को न जाने ज्ञान तो वह आतमा से भिन्न हो ॥१७०॥

पहले हाँ किया, पश्चात् यहाँ निषेध किया। किस नय का वाक्य है? आहाहा! व्यवहारनय है या नहीं? लोकालोक को जानते हैं, वह असद्भूतव्यवहारनय है। असद्भूतव्यवहारनय न हो तो लोकालोक जाने, पर को स्पर्श करे नहीं और जाने, केवलज्ञान पर को स्पर्श करे नहीं और जाने, ऐसा कहना वह तो असद्भूतव्यवहारनय है। तो वह है या नहीं? लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं, वह है। भले असद्भूतव्यवहारनय है। आहाहा! अपने को जानते हैं और पर को नहीं जानते, यह निश्चयनय है। आहाहा! और स्व-पर प्रकाशक अपना जो गुण है, वह तो अपने को अपने में जानता है। पर शब्द आया, इसलिए पर को जानता है, ऐसा नहीं है। अपने में परसम्बन्धी और अपने सम्बन्धी जो स्व-

परप्रकाशक (ज्ञान है), वह निश्चय से है। वह निश्चय से है। पर शब्द आया, इसलिए व्यवहार है, ऐसा नहीं है। आहाहा! और अकेले पर को जाने, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात! सम्प्रदाय में तो यह सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, आत्मा बिना, वर बिना बारात (जोड़ दी है)। वररहित बारात तो लोगों का झुण्ड कहलाता है। अरे! प्रभु! तू कौन है? तेरी सत्ता क्या है? तेरी शक्ति क्या है? तेरे में शक्ति कितनी भरी हुई है? किस नय से तू तुझे जानता है और किस नय से पर को जानता है? और पर को जानने पर भी निश्चय से स्व को जानता है... आहाहा! स्व-पर (जानने का) अपना स्वभाव है तो उस स्व-पर को जानना, वह निश्चय है। परन्तु स्व को छोड़कर अकेले पर को जाने, वह व्यवहार है। आहाहा! यह सब निर्णय करने के लिये फुर्सत नहीं है। आहाहा!

यहाँ क्या कहा?

है ज्ञान जीव स्वरूप इससे जीव जाने जीव को।

निज को न जाने ज्ञान तो वह आत्मा से भिन्न हो ॥१७०॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) 'जीव ज्ञानस्वरूप है' ऐसा वितर्क से (दलील से) कहा है। आहाहा! भगवान ने अमृत बरसाया है! मुनियों ने तो अमृत बरसाया है। थोड़े से शब्दों में गहरे भाव भरे हैं। आहाहा! तो भी उन शब्दों के करनेवाले हम नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शब्द की रचना जड़ से होती है, प्रभु! हम तो आत्मा हैं, नाथ! आत्मा जड़ से तो अत्यन्त भिन्न है। जड़ को आत्मा स्पर्श नहीं करता न! आहाहा! भाषा को आत्मा स्पर्श नहीं करता न! भाषा के परमाणु में एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता न। आहाहा! वीतराग का मार्ग तीन लोक-तीन काल में अन्यत्र कहीं है नहीं। सबने कल्पना करके कल्पना से मान लिया है। यह तो प्रत्यक्ष सर्वज्ञ भगवान ने (कहा)... सीमन्धर भगवान साक्षात् विराजते हैं। उन्होंने जो प्रत्यक्ष देखा, वह यह बात है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। आठ दिन रहे थे। साक्षात् सुना है और सुनकर आये और यह कहा। आहाहा! उसमें भी यह शास्त्र स्वयं के लिये बनाया है। समयसार और प्रवचनसार, वह तो सबको समझाने के लिये कहा है। यह स्वयं के लिये बनाया है। स्वयं के लिये यह बनाया है। अन्तिम गाथा है। मेरी भावना के लिये मैंने यह किया है। कुन्दकुन्दाचार्य तीसरे नम्बर में (आते हैं)। भगवान... आहाहा! मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं

कुन्दकुन्दार्यो । तीसरे नम्बर में आये हैं । आहाहा ! गणधर के पश्चात् उनका (नम्बर है) उनकी वाणी है । आहाहा ! गजब है । ऊपर-ऊपर से पढ़ जाए तो इसका मर्म हाथ में नहीं आता । हेमराजजी बराबर आ गये, मौके से आ गये । बात निकली और आ गये हैं । आहाहा ! ऐसी बात है, प्रभु !

(इस गाथा में) 'जीव ज्ञानस्वरूप है' ऐसा वितर्क से (दलील से) कहा है । प्रथम तो, ज्ञान वास्तव में जीव का स्वरूप है;... आहाहा ! ज्ञान और आत्मा कोई अलग नहीं है । इस अपेक्षा से जीव का स्वरूप है । उस हेतु से, जो अखण्ड अद्वैत स्वभाव में लीन है, जो अखण्ड अद्वैत एक स्वभाव में लीन है । जो निरतिशय... कोई दूसरा जिससे बढ़कर नहीं है ऐसी; अनुत्तम; श्रेष्ठ; अद्वितीय । आहाहा ! अजोड़ परम भावना सहित है, जो मुक्तिसुन्दरी का नाथ है... आहाहा ! पूर्णानन्द की परिणति के स्वामी हैं । भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है । वह पूर्णानन्द की परिणति प्रगट हुई तो उस पूर्णानन्द की परिणति का वह स्वामी हो गया । आहाहा ! आनन्द में बाकी रहा नहीं । आहाहा !

मुक्तिसुन्दरी का नाथ है और बाह्य में जिसने कौतूहल व्यावृत्त किया है... आहाहा ! इन्तजार; उत्सुकता; आश्चर्य; कौतुक । उसे निवृत्त किया है । आहाहा ! (अर्थात् बाह्य पदार्थों सम्बन्धी कुतूहल का जिसने अभाव किया है) ऐसे निज परमात्मा को कोई आत्मा — भव्य जीव — जानता है ।— ऐसा यह वास्तव में स्वभाववाद है । वह वास्तव में स्वभाववाद है । आत्मा आत्मा को जाने, वह स्वभाववाद है । आत्मा पर को जाने, वह सब व्यवहारवाद है । आहाहा ! बात साधारण है, परन्तु अन्दर गम्भीरता है । अभ्यास, अभ्यास नहीं । मूल तत्त्व का अभ्यास नहीं होता । ऊपर की बात जानने में रुक जाते हैं ।

कुतूहल का जिसने अभाव किया है, ऐसे निज परमात्मा को कोई आत्मा — भव्य जीव — जानता है ।— ऐसा यह वास्तव में स्वभाववाद है । अपने को ज्ञान ज्ञान जाने, वह स्वभाववाद है । आहाहा ! ज्ञान ज्ञान को जाने, वह स्वभाववाद है । ज्ञान पर को जाने, वह व्यवहारनय का विषय है । आहाहा ! इससे विपरीत वितर्क (-विचार) वह वास्तव में विभाववाद है, ... आहाहा ! स्वयं अपने को जाने, वह स्वभाववाद है । उससे विपरीत पर को (जाने), वह विभाववाद है । आहाहा ! जानने में आता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है परन्तु वह तो असद्भूतव्यवहारनय है । पर को जाने, केवलज्ञानी तीन काल-

तीन लोक को जाने, वह असद्भूतव्यवहारनय है। सद्भूतव्यवहार भी नहीं। आहाहा! राग को जाने, ख्याल में राग आया, उसे जाने, वह असद्भूत उपचारनय है और स्थूल उपयोग है तो राग उस समय ज्ञात होता है, साथ में न ज्ञात हो, उसे जानना, वह असद्भूत अनुपचारनय है। आहाहा! और उस राग को ज्ञान जाने, वह सद्भूत उपचार है और ज्ञान, वह आत्मा है, वह सद्भूत व्यवहार अनुपचार है। आहाहा! ऐसी बात है। ग्यारहवीं गाथा में व्यवहार सब अभूतार्थ कहा है। वह अध्यात्म का व्यवहार। वस्तु वस्तुरूप से है। उसे भेद डालकर कहे कि आत्मा आत्मा को जानता है, उससे क्या सिद्धि है? यह अपने समयसार में आ गया है। उसमें क्या सिद्धि है। अपने को अपने में जाने, आत्मा अपने को जाने, वह भी सद्भूतव्यवहारनय है। आहाहा! भेद है न? ज्ञायक तो ज्ञायक है। आहाहा! यह निश्चय है, यह वास्तविक है। पर्याय कहते हैं।

यह कहते हैं, ऐसे निज परमात्मा को कोई आत्मा—भव्य जीव—जानता है।— ऐसा यह वास्तव में स्वभाववाद है। इससे विपरीत वितर्क (-विचार) वह वास्तव में विभाववाद है, प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है। इतना लिया। ऐसा लेंगे... षट्खण्डागम में ऐसा लेते हैं। प्राथमिक शिष्य का यह अभिप्राय है कि दर्शन स्व को देखता है, ज्ञान पर को देखता (जानता है), ऐसा प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है। उसे गुरु समझाते हैं तो यह बात उसे बैठ जाती है। ऐसी बात है। विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन-२०२, गाथा-१७०, श्लोक २८६, सोमवार, आषाढ़ कृष्ण ९, दिनांक ०४-०८-१९८०

नियमसार, १७० गाथा। इसका दूसरा पैराग्राफ। जरा सा ज्ञान का वर्णन करते हैं। आचार्य ने स्वयं के लिये बनाया है न, इसलिए एकदम बहुत स्पष्ट करते हैं। लगे साधारण को सूक्ष्म परन्तु स्पष्ट बराबर करते हैं। यह आत्मा... अज्ञानी वितर्क करता है।

वह (विपरीत वितर्क — प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय) किस प्रकार है? (वह इस प्रकार है: —) “पूर्वोक्तस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा को आत्मा वास्तव में जानता नहीं है,... आहाहा! मात्र आत्मा आत्मा में स्थिर हो गया। स्थिर होने के पश्चात् जानना

कहाँ रहा ? जानना और जाननेवाला, ऐसा कि विकल्प है। तर्क करता है, हों! बात मिथ्या है। व्यवहारवाला तर्क करता है कि आत्मा अपने में स्थिर हो जाता है, फिर और जानना, ऐसा विकल्प कहाँ रहा ? ऐसा कहता है। कहो, ऐसी बात परन्तु...

आचार्य ने स्वयं के लिये यह बनाया है। उसमें एक-एक की स्पष्ट बात। केवलज्ञान की भी स्पष्ट बात करते हैं। “पूर्वोक्तस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा को आत्मा वास्तव में जानता नहीं है, स्वरूप में अवस्थित रहता है... आहाहा! पर का तो करे नहीं, पर से तो अपने में कुछ होता नहीं। परन्तु शिष्य का तो प्रश्न यह है कि आत्मा आत्मा को भी जानता नहीं। क्योंकि आत्मा आत्मा को जाने तो द्विविध विकल्प उठे। इसलिए आत्मा स्थिर है, उसमें जानता नहीं। ऐसा उसका प्रश्न। आहाहा! इस प्रश्न में तो ऐसा आया कि ज्ञानस्वरूप भगवान अपने अतिरिक्त किसी दूसरी चीज़ को स्पर्श नहीं करता और कर नहीं सकता। यह बात तो बराबर है। परन्तु आत्मा, आत्मा को स्थिर होकर जानता है, आत्मा आत्मा में स्थिर होकर जानता है, यह किस प्रकार ? यह प्रश्न है। आहाहा! डाह्याभाई! प्रश्न का हेतु यह है कि भगवान ज्ञानस्वरूपी आत्मा, वह अपने अतिरिक्त पर का तो कुछ करे नहीं। एक अक्षर भी लिख नहीं सके। अक्षर भी बोल नहीं सके। आहाहा! यह कैसा लगे लोगों को ? यह तो सवेरे था, आहार आत्मा ले नहीं सकता। ओहोहो!

मुमुक्षु : उसे देह ही नहीं न! आत्मा को देह ही नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेरक है परन्तु... प्रेरक पर का कुछ कर सके, ऐसा नहीं।

जैसे ध्वजा, वायु प्रेरक है। ध्वजा होती है न, ध्वजा ? वायु प्रेरक है तो भी वायु उसे कुछ करती नहीं। क्या कहा ? ध्वजा है न, ध्वजा ? ऐसे जो हवा आती है तो वह प्रेरक है। वायु प्रेरक है, तथापि वह कपड़े को हिला नहीं सकती। धर्मास्ति आदि प्रेरक नहीं है। स्वयं गति करे तो है - निमित्तरूप से है। निमित्त से होता नहीं। धर्मास्तिकाय है तो आत्मा गति करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! धर्मास्तिकायवत् सर्व जगत में... धर्मास्तिकायवत् निमित्त कहा है। इष्टोपदेश, इष्टोपदेश में ३५वीं गाथा, ३५वीं गाथा। जगत में सब निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं। अर्थात् निमित्त पर में कुछ नहीं करता। निमित्त तटस्थ रहता है और प्रत्येक द्रव्य का अपनी पर्याय का कार्य स्वयं से होता है। यह इष्टोपदेश की ३५वीं गाथा में कहा है। आहाहा! ऐसा सुना नहीं होगा।

परमाणु का नहीं कर सकता। इस हाथ का नहीं कर सकता। कर्म नहीं बाँध सकता। आत्मा कर्म नहीं बाँध सकता, कर्म नहीं तोड़ सकता, क्योंकि कर्म परमाणु स्वतन्त्र है। उनकी पर्याय में कर्म होनेयोग्य हो तो होते हैं और कर्म की पर्याय बदलकर अकर्मरूप होना (होवे तो वह स्वयं होती है)। कर्म के नाश का अर्थ, कहीं कर्म का नाश नहीं होता। नाश का अर्थ—अकर्मरूप पर्याय परिणमे, उसका नाम नाश किया। आहाहा! वीतरागवाणी, दिगम्बर सन्तों की वाणी कहीं है नहीं। आहाहा! उनकी एक-एक बात में पूरा चौदह ब्रह्माण्ड का रहस्य भरा है, परन्तु लोग पढ़ते नहीं और पढ़कर भी ऐसा का ऐसा अपनी दृष्टि प्रमाण दिये रखते हैं। ऐसा नहीं होता, बापू! यह तो वीतराग का मार्ग है।

परमात्मा सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि इस वायु को भी प्रेरक कहा जाता है, ध्वजा के लिये, परन्तु फिर भी प्रेरक वायु के कारण वह ध्वजा हिलती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा पर के किसी कार्य में प्रेरक है, ऐसा नहीं है। परन्तु शिष्य का प्रश्न तो इससे विशेष है। पर का कर्ता और प्रेरक तो नहीं है परन्तु अपने में स्थिर, स्वयं तो अपने को भी नहीं जानता। और स्थिर होना और जानना ये दो कहाँ से आये? आहाहा! यह तो आचार्य स्वयं तर्क उठाकर व्यवहारवाले को बुलाते हैं। व्यवहारवाले ऐसा बोलते हैं। आहाहा!

(-आत्मा में मात्र स्थित रहता है)। जिस प्रकार उष्णतास्वरूप अग्नि के स्वरूप को (अर्थात् अग्नि को) क्या अग्नि जानती है? यह शिष्य का प्रश्न है। अग्नि की उष्णता को अग्नि जानती है? आहाहा! उष्णतास्वरूप अग्नि के स्वरूप को (अर्थात् अग्नि को) क्या अग्नि जानती है? क्या अग्नि अपने स्वरूप को जानती है? (नहीं ही जानती।) उसी प्रकार ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्प के अभाव से... इसका कहने का आशय अब यहाँ है। आत्मा, ज्ञान और स्वयं को जाने, ज्ञेय—दो कहाँ से आये? समझ में आया? पूछनेवाले का हृदय यह है। आचार्य को यह स्पष्ट करना है कि यह आत्मा ज्ञान है। आपने तो यहाँ तक कहा कि एक रजकण को भी ग्रहण नहीं करता। आहाहा! रजकण को भी स्पर्श नहीं करता। तब यह ज्ञान और ज्ञेय दो है न? जाननेवाला और जानने में आनेवाला स्वयं आत्मा। जाननेवाला आत्मा और ज्ञात होनेयोग्य ज्ञेय आत्मा। ऐसे दो हुए। ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्प... ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी... आहाहा! गजब बात है। कहाँ ले जाते हैं! अभाव से यह आत्मा आत्मा में (मात्र) स्थित रहता है... शिष्य का व्यवहार का

प्रश्न है। आत्मा तो आत्मा में स्थिर (रहता है), बस। पर का कर्ता नहीं और अपने को जानता नहीं। आहाहा!

इसका उत्तर। (उपरोक्त वितर्क का उत्तर:—) ऊपर कहे हुए वितर्क का उत्तर। “हे प्राथमिक शिष्य! अग्नि की भाँति क्या आत्मा अचेतन है... आहाहा! प्रश्न क्या है? कि आत्मा पूर्ण हो जाता है। स्थिर-स्थिर (हो जाता है), फिर और अपने को जाने, ऐसा कहाँ से आया? ऐसा कहता है। अन्तिम अवस्था हुई। स्थिर हो गया, केवलज्ञान हो गया। अपने में स्थिर हुआ, वह स्वयं अपने को जाने, ऐसे दो भेद कहाँ से आये? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। आहाहा! यह विकल्प भी उसे होता नहीं, ऐसा कहता है। शिष्य तो प्रश्न करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

अन्तर चैतन्य की महिमा का पार नहीं है, प्रभु! चैतन्य में अनन्त रत्न भरे हैं। चैतन्य रत्नाकर। चैतन्यरूपी रत्नों का आकर—समुद्र। आहाहा! परन्तु उसमें ज्ञेय, स्वयं ज्ञेय है, उसे ज्ञान नहीं जानता, ऐसा नहीं है। भले ज्ञान और ज्ञेय, ऐसे दो भेद पड़े। आहाहा! परन्तु न जाने, ऐसा नहीं है। आहाहा! कर्ता-कर्म अधिकार की १४२ गाथा। आत्मा जाननेवाला है और आत्मा जानता है अपने को, ऐसा करे तो विकल्प होता है। वह दूसरी चीज़ है। समझ में आया? यह कहा कि आत्मा स्वयं अपने को जाने, अपने को जाने। वह यहाँ पहले समयसार में भी आ गया। वह अपने को जाने, उसमें भी दो भेद आ गये। वह तो ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। आहाहा! आ गया, आ गया न! और वहाँ भी गाथा ली है कि आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला है, यह भी सद्भूतव्यवहारनय हुआ। व्यवहारनय हुआ। आहाहा! अभी यह तो बाहर के व्यवहार में रुका है। पर का करूँ, दया पालूँ, व्रत करूँ, यह करूँ और वह करूँ। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि अपने स्वरूप में स्थिर हुआ और अपने को जाने, ऐसा कहाँ से हुआ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

कहा कि भाई! अग्नि की भाँति क्या आत्मा अचेतन है... अग्नि तो अचेतन है। आत्मा क्या अचेतन है? (कि जिससे वह अपने को न जाने)? आहाहा! यहाँ तो जानना... जानना... जानना... जानना... पर को; स्व को जानने के अतिरिक्त कोई बात आत्मा में नहीं है। आहाहा! हसमुखभाई! कभी सुना नहीं। वहाँ तुम्हारी बहियों में कुछ नहीं मिलता। पुस्तकें रखी हो तो पढ़ी न हो। पढ़े तो वापस समझे नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : मेहनत करे तो समझ में आये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पत्थर छोड़कर निवृत्त हो तब न ? इसकी कहाँ बात है ? यह हमारे मनसुख, चावल की बोरियों के ढेर किया करता है, मकान में। मकान में जाते थे न तो बोरियाँ की बोरियाँ भरी है। आहाहा! इसमें से निवृत्त कब होगा ?

यहाँ तो वहाँ तक प्रश्न किया, शिष्य के मुख में यह प्रश्न रखकर इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि आत्मा अपने को जानता है ? नहीं। स्थिर होता है। तो उत्तर कहते हैं कि भाई! ज्ञान है, वह जैसे अग्नि, अग्नि को नहीं जानती। अग्नि में ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार क्या आत्मा में ज्ञान नहीं है ? आहाहा! है ? अग्नि नहीं जानती। **अधिक क्या कहा जाये ? (संक्षेप में,) यदि उस आत्मा को ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति,...** आहाहा! क्या कहा ? दृष्टान्त है, हों! कुल्हाड़ी से कर सकता है, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यह तो दृष्टान्त देकर समझाते हैं। कुल्हाड़ी को तो वह कुल्हाड़ीवाला स्पर्श नहीं करता और हिला नहीं सकता, परन्तु यहाँ तो दृष्टान्त देकर उसमें से न्याय बताना है। इसलिए फिर यह कहते हैं कि देखो! एक ओर निषेध करते हैं कि पर का कुछ नहीं करता और यहाँ कुल्हाड़ी से काटता है। भाई! सुन न, भगवान! तेरे स्वरूप की बलिहारी है, बापू!

तू तेरे स्वरूप में स्थिर रहे, तो भी अपने को जाने बिना नहीं रहता और फिर भी विकल्प नहीं होता। राग-विकल्प नहीं होता, ऐसा तेरा स्वरूप है, प्रभु! आहाहा! अपने में स्थिर रहे और अपने को जाने, ऐसा कैसे बने ? ऐसे बने क्या ? इसमें ऐसा स्वभाव है। स्वयं स्थिर भी रहे और अपने को जाने। जाननेवाली चीज़ है। अग्नि कोई जाननेवाली चीज़ नहीं है। आहाहा! कहाँ ले गये बात! साधारण लोगों को तो बेचारों को... अभी एकड़े की खबर नहीं होती, यह बड़ी... एल.एल.बी. और एम.ए. की बात करते हैं, ऐसा अन्दर से लगता है। तत्त्व की शुरुआत यहाँ से है।

नव तत्त्व में जीवतत्त्व जो है, वह पुण्य-पाप, आस्रव, और बन्धतत्त्वरूप नहीं है। नहीं तो भेद पड़े नहीं। परन्तु यह ज्ञायकतत्त्व है तो संवर-निर्जरा-मोक्षरूप भी नहीं है, क्योंकि वह पर्याय भिन्न है। आहाहा! पर्याय में द्रव्य आता नहीं और पर्याय द्रव्य को स्पर्श करती नहीं। बहुत सूक्ष्म बात पड़ती है, प्रभु! पर को तो स्पर्श नहीं करती। पर्याय का अस्तित्व द्रव्य की अपेक्षा बिना षट्कारक से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान,

अधिकरण से प्रत्येक द्रव्य की पर्याय षट्कारक से स्वयं से होती है। आहाहा! तो उस समय कर्ता आत्मा स्थिर होकर कर्म—जानने का कार्य तो करता ही है। आहाहा! पर्याय की बात है न? ध्रुव में कहाँ है? ध्रुव में कहाँ करने का है? ध्रुव तो ध्रुव है। वह तो एकरूप त्रिकाल ध्रुव है, उसमें तो पलटना, बदलना होता नहीं। पर्याय में स्थिर रहे और जाने, यह दोनों स्वभाव पर्याय के हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों कार्य करते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों कार्य भिन्न हैं। आहाहा!

इस प्रकार ऐसा कहकर क्या कहते होंगे? ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू ज्ञानस्वरूप है न! तुझमें स्थिर होगा तो भी तुझे जानना छूटेगा नहीं। आहाहा! तेरा स्वभाव ज्ञान है। किसी को करना और किसी को छूना, वह तो तेरे स्वरूप में नहीं है। परन्तु तुझे जानना नहीं, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा लिया है। बहुत निकाल करते-करते तो शिष्य कहता है, अपने में स्थित हो तो अपने को जानता भी नहीं। क्योंकि दो भेद हो गये। ज्ञेय और ज्ञायक आया न? अन्दर आया न?

अर्थक्रियाकारी सिद्ध नहीं होगा,... नीचे (फुटनोट में) अर्थ। **अर्थक्रियाकारी= प्रयोजनभूत...** अर्थ अर्थात् प्रयोजनभूत। **क्रिया करनेवाला।** (जिस प्रकार देवदत्त के बिना अकेली कुल्हाड़ी अर्थक्रिया—काटने की क्रिया—नहीं करती,...) ऐसी शंका नहीं करना कि एक ओर कुछ कर नहीं सकता और फिर यह कुल्हाड़ी से काटता है। यह तो दृष्टान्त है। **कुल्हाड़ी अर्थक्रिया—काटने की क्रिया—नहीं करती, उसी प्रकार यदि ज्ञान आत्मा को न जानता हो तो ज्ञान ने भी अर्थक्रिया—जानने की क्रिया—नहीं की; इसलिए जिस प्रकार अर्थ क्रियाशून्य... प्रयोजनभूत जानने का शून्य। कुल्हाड़ी देवदत्त से भिन्न है। उसी प्रकार अर्थक्रियाशून्य ज्ञान आत्मा से भिन्न होना चाहिए!** ज्ञान और आत्मा भिन्न होना चाहिए। आहाहा! कितनी बात कही है? आहाहा! यह तो बाहर की प्रवृत्ति का अभिमान छोड़ता नहीं। यह किया, मैंने यह किया, मैंने पुस्तक बनायी, मैंने छब्बीस लाख का मकान बनाया। कौन बनावे? प्रभु! वह तो परमाणु की पर्याय उस समय में होनेवाली है, उसे कारीगर ने की नहीं, रामजीभाई ने की नहीं, हमारे वजुभाई ने की नहीं। आहाहा! वह तो उस समय में वह पर्याय होनेवाली थी। आहाहा! कोई पैसे देनेवालों ने की नहीं। आहाहा!

पर का कुछ करे नहीं तो स्थिर होने में अपने को न जाने, उसमें क्या ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उत्तर दिया कि परन्तु यह तो स्वरूप से विरुद्ध है। अग्नि उष्णता को जाने नहीं। वह तो जड़ है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा को जानता ही है। ज्ञान तो आत्मा को जानता ही है। आहाहा! अर्थक्रियाकारी है। ज्ञान की प्रयोजनभूत क्रिया यह जानना है। आहाहा! आत्मा, आत्मा को जाने, ऐसा विकल्प क्यों करता है ? कि विकल्प नहीं, यह स्वरूप है। आत्मा अपने को जाने, ऐसा उसका स्वरूप है।....

दूसरी लाईन। ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी विकल्प। ऊपर की लाईन में। आत्मा ज्ञान और अपने को जाने, ऐसा विकल्प उसमें नहीं है। वह तो उसका स्वभाव ही है। आहाहा! जानना, वह एक ही आत्मा का स्वभाव है। पंच महाव्रत को पालना, पर की दया पालना, परोपकार के काम करना, गौशाला बनाना, वह कुछ कर नहीं सकता। वह कुछ कर नहीं सकता। उसी तरह अपने को जान नहीं सकता, ऐसा नहीं है। अन्दर स्थिर हुआ तो अपने को जानकर स्थिर है। अपने को बराबर जानता है। समझ में आया ? इसीलिए आत्मा से भिन्न सिद्ध हो गया।

(अर्थात् ज्ञान और आत्मा की सर्वथा भिन्नता तो)... ज्ञान और आत्मा भिन्न हों तो ज्ञान न जाने। परन्तु यहाँ तो अभिन्न है। वास्तव में स्वभाववादियों को सम्मत नहीं है। आहाहा! ज्ञान आत्मा, आत्मा में स्थिर वीतराग हो जाए और जाने नहीं, यह स्वभाववादियों को सम्मत नहीं है। स्वभाववादी सिद्ध किया। आहाहा! अपना स्वभाव ज्ञान है। वह ज्ञान, ज्ञान को जानता है। नहीं जानता, यह स्वभाववादियों को मान्य नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात। उसमें पूरे दिन इच्छामि... आहाहा! प्रतिक्रमण करना और निर्दोष आहार लेना, सदोष (आहार) छोड़ना। अरे! प्रभु! यह व्यवहार से कथनशैली आती है परन्तु यह सब जाननेयोग्य है। आत्मा जानने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता। आहाहा! चाहे जितने जिनके बड़े व्यापार हो मिल के, एक तिनका भी बदल नहीं सकते। परन्तु उस पर को बदल नहीं सकते तो अपने में स्थिर होकर अपने को जानता नहीं, ऐसा नहीं है। अपने को जान सकता है। ज्ञाता स्थिर होकर, आनन्द में, आनन्द में स्थिर होकर अपने को-ज्ञेय को जानता है। ज्ञाता अपने ज्ञेय को जानता है। ज्ञाता ज्ञेय को जानता है, इसलिए विकल्प उठते हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

वास्तव में स्वभाववादियों को सक्कमत नहीं है। (इसलिए निर्णय कर कि ज्ञान आत्मा को जानता है।) निर्णय कर। आत्मा ज्ञान को ज्ञान से जानता है। स्थिर होकर भी जानता है, केवलज्ञान होने पर भी जानता है। आहाहा! अपने को जाने बिना रहता नहीं। जानने का उसका स्वभाव है। स्वभाववादियों को यह मान्य नहीं कि स्वयं अपने को नहीं जानता। जिसने स्वभाव माना, भगवान आत्मा का ज्ञानस्वरूप, स्वभाव है—ऐसा जिसने माना, उसे तो ज्ञान ज्ञेय को जानता है। विकल्प बिना जानता है। भेद होने पर भी विकल्प होता नहीं। आहाहा!

कर्ताकर्म (अधिकार) में तो यहाँ तक कहा है कि मैं ज्ञायक हूँ, यह भी विकल्प है। १४२ (गाथा)। आहाहा! मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा विकल्प राग है, तब तक तुझे क्या लाभ है? आहाहा! कर्ताकर्म में यह लिया है। १४२ गाथा। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा विकल्प करने से तुझे क्या लाभ है? आहाहा! ज्ञायक स्व को जानता हूँ, उससे भी तुझे क्या लाभ है? भेद हुआ। यह भेद यहाँ सिद्ध करते हैं। आहाहा! किस अपेक्षा से कहा है? वहाँ कर्ताकर्म में इनकार करते थे। आत्मा, आत्मा को जानता है, यह विकल्प है, राग है। सद्भूतव्यवहारनय का विकल्प है। आहाहा! निश्चयनय भी नहीं। यहाँ (शिष्य) कहता है, जानता नहीं। तो यह कहते हैं कि जाने बिना रहता नहीं। आहाहा! ज्ञान आत्मा को जानता है।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में १७४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।

तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥

श्लोकार्थः—आत्मा ज्ञानस्वभाव है; स्वभाव की प्राप्ति... आहाहा! वह अच्युति (अविनाशी दशा) है;... अपना ज्ञानस्वभाव आत्मा अपने को जाने, वह अविनाशी वस्तु है। आहाहा! यह दया, दान का राग आता है, उसे ज्ञान जाने, वह भी निश्चय नहीं है। वह सद्भूतव्यवहारनय है, सद्भूत उपचार व्यवहारनय है। आहाहा! क्या कहा? अन्दर व्यवहाररत्नत्रय देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा समकित सहित। समकित बिना व्यवहार नहीं होता। जिसे सम्यक् अनुभवसहित व्यवहार है, देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, शास्त्र के ज्ञान का विकल्प, उसे जानना, वह भी सद्भूत उपचार व्यवहारनय है; निश्चय नहीं।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान अपने को जाने, वह निश्चय है। किस अपेक्षा से कहा? समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि ज्ञान अपने को जाने। वहाँ कर्ताकर्म में लिया कि आत्मा आत्मा को जानता है, यह भी भेद है। व्यवहारनय से तुझे क्या प्रयोजन है? वहाँ ऐसा लिया है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! यह तो वीतराग के घर की बात है। उसे सूक्ष्म तो पड़ती है क्योंकि यह बात चलती नहीं। बाहर में यह प्रवृत्ति करो, और यह करो और यह करो, यह छोड़ो। कुछ करना और छोड़ना आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! ज्ञान है, ज्ञान।

इसलिए अच्युति को (अविनाशीपने को, शाश्वत दशा को)... चाहनेवाले जीव को, जिसे शाश्वत्—आत्मा की शाश्वत् दशा, मोक्षदशा चाहनेवाले जीव को ज्ञान की भावना भाना चाहिए। ज्ञान की भावना भाना चाहिए। कोई दया, दान, व्रत, व्यवहार करना चाहिए, ऐसा नहीं। आहाहा! भावना का अर्थ एकाग्रता है। भावना का अर्थ विकल्प नहीं है। इसलिए अच्युति को (अविनाशीपने को, शाश्वत दशा को) चाहनेवाले जीव को... मोक्ष के चाहनेवाले जीव को ज्ञान की भावना... (भाना चाहिए)। आहाहा! मैं तो ज्ञान हूँ। सर्व को जाननेवाला, ऐसा कहना, वह भी मेरा स्वभाव है। पर को जाने इसलिए व्यवहार हुआ, ऐसा भी नहीं। मैं तो जाननेवाला हूँ, ऐसी भावना भाना चाहिए। ऐसी भावना करना चाहिए। इतना सब करने का छोड़कर अकेला यह करना? पूरे दिन बाहर की सिरपच्ची में पड़े हैं।

आचार्य महाराज कहते हैं, जिसे मोक्ष की अभिलाषा है, अविनाशी दशा की भावना है, वह ज्ञान की भावना करे। मैं ज्ञानस्वरूप त्रिकाल हूँ। उसकी भावना—एकाग्रता (करे), दूसरी बात छोड़ दे। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय बीच में आता है, परन्तु उसे भी जानना, वह व्यवहार का उपचार है। क्या कहा? अपने को जानकर अनुभव में रहता है और व्यवहाररत्नत्रय ज्ञात हुआ तो व्यवहाररत्नत्रय को जाना, वह भी एक सद्भूत उपचार है। क्योंकि जाननेवाली पर्याय अपनी है तो सद्भूत है और अपनी चीज़ नहीं, इसलिए उपचार है तथा भेद पड़ा, इसलिए व्यवहार है। आहाहा! अब ऐसी बातें! आचार्य महाराज ने स्वयं के लिये यह बनाया है। मेरी भावना के लिये मैंने यह बनाया है। उसमें यह चीज़ है। लोगों को उसमें से बहुत मिले, ऐसी चीज़ है। आहाहा!

इसलिए अच्युति को (अविनाशीपने को, शाश्वत दशा को)... अर्थात् मोक्ष । मोक्षदशा को चाहनेवाले जीव को ज्ञान की भावना भाना चाहिए । जीव तो ज्ञानस्वरूप है, इसलिए ज्ञान की भावना भाना चाहिए । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ज्ञान की पर्याय हैं । भले दर्शन की पर्याय है परन्तु वह भी ज्ञान... ज्ञानस्वरूपी भगवान् चैतन्य दल अनन्त गुण का पिण्ड रस... आहाहा ! बनाते हैं न ? काशीफल-काशीफल । काशीफल की बेल है, वह पतली है । काशीफल की बेल पतली है और पकता है पौन-पौन मण का । हिन्दुस्तान में तो उसकी खेती करते हैं । देखा है । आहाहा !

इसी प्रकार भगवान् शरीरप्रमाण है, परन्तु उसकी महिमा और ज्ञान और अनन्त... अनन्त... अनन्त... है । ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, शान्ति अनन्त, वीर्य अनन्त, प्रभुता अनन्त, स्वच्छता अनन्त, कर्ता अनन्त, कर्म अनन्त, करण अनन्त, शान्ति अनन्त, प्रभुता अनन्त । आहाहा ! और वह भी एक गुण में जो भाव है, उस गुण में अनन्त गुण के जो भाव हैं, उनका एक गुण में रूप है । क्या कहा ?

एक गुण में सब गुण का रूप है । जैसे ज्ञान जानता है, परन्तु जानता है और अस्तित्व गुण भिन्न है । तो भी ज्ञान 'है' ऐसा अस्तित्व का रूप ज्ञान में भी है । ज्ञान है, वह अस्तित्व आया । आहाहा ! अस्तित्वगुण उसमें नहीं आया, परन्तु अस्तित्व का रूप आया । ज्ञान है । आहाहा ! वीतराग की बातें अलग प्रकार की है, भाई ! आहाहा ! प्रभु परिचय चाहिए, थोड़ा अभ्यास चाहिए ।

अनन्त काल से भटकता है । चौरासी के अवतार में कहीं पता नहीं । यहाँ से वापस कहाँ जाएगा, उसका इसे निर्णय करना पड़ेगा । आहाहा ! देह तो छूट जाएगा, उसकी तो अवधि है । फिर सत्ता तो आत्मा की रहनेवाली है । आत्मा का अस्तित्व तो रहेगा । तो अस्तित्व कहाँ रहेगा ? यहाँ से अन्यत्र जाना है । आहाहा ! यदि सच्चा ज्ञान, सच्चा दर्शन, सच्चे चारित्रादि (प्रगट किये होंगे) तो वह मोक्षमार्ग में जाएगा । आहाहा ! और उस मोक्षमार्ग के अतिरिक्त राग-द्वेषादि करे... आहाहा ! अकेला राग, क्रोध, मान, माया... सूक्ष्म है, भाई ! राग की बात बहुत सूक्ष्म है । द्वेष सूक्ष्म है, क्रोध-मान-माया सूक्ष्म है । यदि सूक्ष्म शल्य रह जाए तो मरकर तिर्यच-पशु होगा क्योंकि सीधा मार्ग ग्रहण नहीं किया । टेडा मार्ग पकड़ा । मनुष्य ऐसे सीधे हैं । पशु आडे हैं । आडा कषाय का मार्ग ग्रहण किया तो उस रास्ते से पशु होगा । आहाहा !

मुमुक्षु : यह सब पैसेदार पशु ही बननेवाले हैं ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसेदार धूल में भी नहीं हैं । था कब ? यह तो हमारे भाई को कहा था । मनसुख का पिता । भाई ही होता है न ? हमारी बुआ का लड़का होता था । बुआ का लड़का । 'उगामेड़ी' कहा, बहुत यह पूरे दिन मेहनत करते हैं, गाँव में साधु आवे तो सामने देखे नहीं । रात्रि में जाए । वे साधु सवेरे आठ बजे (आवे), यह बारह घण्टे तक सामने देखे नहीं । किसकी लगायी है ? क्या किया है तूने यह ? कहाँ जाना है ? कहा । पशु होगा, याद रखना । ऐई ! मनसुख । (संवत्) १९६४ के वर्ष । तेरे जन्म से पहले । तेरा जन्म (संवत्) १९७४ । यह तो ६४ के वर्ष, साठ वर्ष पहले । आहाहा ! पूरे दिन माया, लोभ, राग, इच्छा का ही घोंटन । प्रभु ! तुझे कहाँ जाना है ? आहाहा ! इच्छा के असंख्य प्रकार हैं और इच्छा, वह लोभ है । लोभ, वह राग है । आहाहा ! उस असंख्य प्रकार के राग के सेवन में प्रभु कहते हैं कि आडा हो जाएगा । वर्तमान में आडायी (वक्रता) की है न ? पशु आड़े होते हैं । गाय, भैंस, बिच्छु ऐसे आड़े होते हैं, सीधे नहीं । ओहोहो ! गोम्मटसार में पाठ है । गोम्मटसार में । प्रभु ! ऐसा अवतार न देख । आहाहा !

यहाँ तो यह वहाँ तक ले जाते हैं कि मोक्ष को चाहनेवाला । आहाहा ! अच्युति अविनाशी पदवी प्राप्त हुई तो वहाँ से चलना नहीं होता । आहाहा ! ऐसी मोक्षदशा पाने के लिये ज्ञान की भावना भानी चाहिए । ज्ञान अर्थात् आत्मा । आहाहा ! यह सब पूरे दिन यह करना... करना... करना... ज्ञान की भावना कब करना ? आहाहा ! भाई ! मार्ग कोई अलग है । वीतराग का मार्ग दुनिया के साथ सिफारिश चले, ऐसा नहीं है । कुदरत में किसी की सिफारिश... सिफारिश को क्या कहते हैं ?

जो स्वभाव जिस प्रकार से होता है, उस अनुसार यदि न माने और उससे विपरीत किया तो चार गति में भटकेगा । आहाहा ! उस ज्ञान की भावना करने से मोक्ष मिलेगा । आहाहा ! कुछ करने-फरने की बात नहीं है । मैं दूसरे को पढ़ाऊँ और पुस्तक बनाऊँ... भाई नहीं आये ? हीरालाल नहीं आये ? हीरालाल । हिन्दुस्तान में छह हजार मन्दिर हैं । छह हजार दिगम्बर मन्दिर । उन सब मन्दिरों में एक-एक पुस्तक भेंट देनी है । छह हजार पुस्तक भेंट देनेवाले हैं । पूरे हिन्दुस्तान में १-१-१ । न माने उसे देना है । मन्दिर में रखना । बहिन की पुस्तक । बहिन की पुस्तक बहुत अलौकिक है । उसके अर्थ बहुत सूक्ष्म हैं । आहाहा !

यहाँ कहते हैं, जीव को मोक्ष की चाहना हो, उसे ज्ञान की भावना आना चाहिए। कहीं ऐसा नहीं कहा कि ऐसे पढ़ना या छह द्रव्य को जानना। इस ज्ञान में सब ज्ञान आ जाता है। अपना ज्ञान हुआ, वहाँ ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, उसमें सब आ जाता है। आहाहा! आचार्य महाराज पुकार करते हैं। कलश है न? पद्मप्रभमलधारिदेव। ज्ञान की भावना... बहुत लिया। ओहोहो! मैं तो ज्ञानस्वरूपी हूँ। किसी चीज़ को करना-फरना, छोड़ना-रखना, रक्षा करना, वह मेरे अधिकार की बात नहीं है। आहाहा! तो फिर यह स्त्री-पुत्र-परिवार को कहाँ छोड़ना। आहाहा!

मुमुक्षु : स्त्री, पुत्र कहाँ आड़े आये? अपना राग आड़े आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर संयोग कहाँ बाधक है? राग बाधक है। नारकी में भी नारकी को जो प्रतिकूलता है, उसका दुःख नहीं है, संयोग का दुःख किसी को नहीं है। संयोग पर लक्ष्य जाने से राग होता है, उसका दुःख है। समझ में आया? यहाँ लोहा स्पर्श करे तो उसका दुःख नहीं है। उस ओर लक्ष्य जाए अं हं.. (होता है), उसका दुःख है। आहाहा! गजब बात है। वीतराग की बात जगत से अलग प्रकार है। आहाहा! सिर पर घन पड़े, उसका दुःख नहीं, मात्र उस ओर लक्ष्य जाने पर ठीक नहीं है, अठीक है, ऐसा द्वेष करता है, उसका दुःख है। क्योंकि घन मारे तो घन तो सिर को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! वह वीतराग तीन लोक के नाथ की वाणी।

यहाँ तो वजन कहाँ है? कि जीव को ज्ञान की भावना भाना चाहिए। सब छोड़कर, चाहे जितना जानपना हुआ। परन्तु वह अन्तरवस्तु भगवान ज्ञानस्वभाव, स्वभाव, हों! यह धारणा, वह नहीं। ग्यारह अंग की धारणा की, वह भी नहीं। वह तो बाहर से। सुनकर ग्यारह अंग का ज्ञान हुआ, वह भी बन्ध का कारण है। आहाहा! अपना जो अबन्धस्वरूप प्रभु ज्ञान जो अबन्धस्वरूप अन्दर त्रिकाल है, जो त्रिकाल निरावरण है। त्रिकाल अखण्ड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय है। शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप निज परमद्रव्य है, उसकी भावना भाना चाहिए। आहाहा! यहाँ लाकर रखा। कभी बात की नहीं। आहाहा!

श्लोक-२८६

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्ध-जीव-स्वरूपं,
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम् ।
तच्च ज्ञानं स्फुटित-सहजावस्थयात्मानमारात्,
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥२८६॥

तथा चोक्तं -

णाणं अविदितं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ॥

और (इस १७०वीं गाथा की टीका के कलशरूप से टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(वीरछन्द)

शुद्ध जीव का है स्वरूप यह ज्ञान अतः मेरा आतम ।
वर्तमान में निश्चय से है जाने अपना निज आतम ॥
और यदि यह ज्ञान प्रगट निज सहज परिणति के द्वारा ।
जाने नहीं प्रत्यक्ष आत्म को निश्चित उससे भिन्न हुआ ॥२८६॥

[श्लोकार्थः—] ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है; इसलिए (हमारा) निज आत्मा अभी (साधक दशा में) एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है । और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा!२८६ ।

और इसी प्रकार (अन्यत्र गाथा द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

ज्ञान जीव से है अभिन्न इसलिए आत्मा को जाने ।
यदि आत्मा को नहीं जाने तो भिन्न सिद्ध हो आत्मा से ॥

[गाथार्थः—] ज्ञान जीव से अभिन्न है, इसलिए वह आत्मा को जानता है; यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह जीव से भिन्न सिद्ध होगा!

श्लोक - २८६ पर प्रवचन

कितना ? २८६ ?

और (इस १७०वीं गाथा की टीका के कलशरूप से टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्ध-जीव-स्वरूपं,
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम् ।
तच्च ज्ञानं स्फुटित-सहजावस्थयात्मानमारात्,
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥२८६॥

श्लोकार्थः : ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है;... आहाहा! भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप पवित्र परमात्मा। आत्मा परमात्मा ही है, परमेश्वर है। यह ज्ञानस्वभाव से बराबर शुद्ध जीव स्वरूप है। यह ज्ञान जानना... जानना... जानना... अपने को, वह इसका स्वरूप है। जानने के अतिरिक्त दूसरा कोई अपना स्वरूप नहीं है। ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है; इसलिए (हमारा) निज आत्मा अभी (साधकदशा में) एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है। आहाहा! मुनिराज कहते हैं। साधकदशा है तो अपने आत्मा को ही जानते हैं। स्थिर होते हैं, उसे जानते हैं। आहाहा!

और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को न जाने... आहाहा! आत्मा अपना ज्ञानस्वरूप है, वह सीधा अपना ज्ञान, पर की अपेक्षा बिना वह ज्ञान यदि ज्ञान को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! उसे मुक्ति सिद्ध नहीं होगी, चार गति सिद्ध होगी। आहाहा! एक बार तो ऐसे ढीला कर दे, ऐसा है। पैसे का उत्साह और कीर्ति का उत्साह... आहाहा! नैरोबी में कहा था न? साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। अभी गये थे न? साढ़े चार सौ!

मुमुक्षु : ऐसी बात करो आप तो हमको बहुत मीठी लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में मीठा नहीं। सबको... और पन्द्रह तो अरबपति। पन्द्रह अरबपति। एक अरबपति व्याख्यान में आता था। यहाँ तो यह बात है, बापू! यह सब हा.. हो.. और पच्चीस लाख का मकान बनावे - मन्दिर बनावे, इसलिए धर्म होगा - ऐसा नहीं है। यहाँ तो स्पष्ट बात है। साठ लाख इकट्ठे किये थे। पन्द्रह लाख पहले किये थे। परन्तु हमारे जाने के बाद छब्बीस दिन में पैंतालीस लाख इकट्ठे किये थे। साठ साल रुपये। वहाँ तो करोड़ोंपति है न? आहाहा! ऐसा पच्चीस लाख का मन्दिर का मकान बनावे, वह आत्मा बना सके, आत्मा वह मन्दिर बना सके, ऐसा तो नहीं। बनाने का भाव है, शुभभाव है, वह पुण्य है, बन्धन का कारण है। आहाहा! तो भी आये बिना नहीं रहता। व्यवहार आता है। भक्ति, पूजा, दया, दान के शुभभाव आते हैं, परन्तु है बन्ध का कारण। आहाहा! पैसे खर्च किये, इसलिए मोक्ष निकट हो जाएगा, तो गरीब लोगों को रोना पड़ेगा।

यहाँ तो आत्मा यहाँ ऋद्धि पड़ी है तेरे पास। गरीब और धनवान सबके पास आत्मा पड़ा है। है, उसकी भावना करनी है। आहाहा! है? और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल... अर्थात् मोक्ष। आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! अविचल दशा से तो भिन्न होगा, अपने स्वरूप में नहीं रहेगा। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात आयी है। थोड़ा न समझ में आये तो रात्रि को प्रश्न करना। ज्ञान पर को जाने, यह तो व्यवहार, परन्तु अपने को जाने, यह निश्चय है। आहाहा! न जाने, ऐसा नहीं है। भगवान् चैतन्य सूर्य, चैतन्यप्रकाश का समुद्र, चैतन्यप्रकाश का सागर है। उसका ध्यान कर, उसकी भावना कर, यह मोक्ष का कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-२०३, गाथा-१७१, श्लोक २८६-२८७, मंगलवार, आषाढ कृष्ण १०, दिनांक ०५-०८-१९८०

नियमसार, २८६ कलश है न? २८६ कलश। आचार्य ने स्वयं अपने लिये बनाया है। अपने लिये बनाया है। यह सार में सार अन्त में (कहते हैं), ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है;... है? ज्ञान जाननस्वरूप वह तो बराबर शुद्ध जीव का स्वरूप है। आहाहा! करना यह है। लाख बात की बात परन्तु करना तो यह है। शुद्ध जीव का स्वरूप, उसका अनुभव।

यहाँ तो आचार्य ऐसा कहते हैं कि यह मुनि है। इसलिए (हमारा) निज आत्मा... क्योंकि ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है; इसलिए... आहाहा! ज्ञान जाननस्वभाव है भगवान चैतन्य, बराबर शुद्ध जीवस्वरूप है। इस कारण से हमारा निज आत्मा अभी (साधकदशा में) एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है। विशेष नहीं परन्तु एक आत्मा को जानता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप, वह जीव। वह बराबर ज्ञानस्वभावी आत्मा ही, वही आत्मा बराबर (हमारा) निज आत्मा... यह साधक की बात है। आहाहा! निज आत्मा अभी (साधकदशा में) एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है। आहाहा! एक आत्मा को जानता है। और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा... यदि उसकी सहज अवस्था प्रगट हुई तो दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को न जाने... आहाहा! असंख्य प्रदेश, अनन्त गुण, अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें... वह वर्तमान साधकदशा में तो एक आत्मा में ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा अनुभव है। परन्तु जो ज्ञान की प्रगट दशा होगी, तब आत्मा पूरा असंख्य प्रदेशी और अनन्त गुण प्रत्यक्ष देखने में आयेंगे। आहाहा! समझ में आया? आड़ी-टेढ़ी बात कुछ नहीं। मुद्दे की यह है। लोगों को लगता है कि यह एक की एक बात है। परन्तु एक की एक बात... आचार्य ने स्वयं के लिये बनाया है, वह यह बनाया है। आहाहा!

यह ज्ञानस्वरूप भगवान बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है;... ज्ञान। इस कारण से (हमारा) निज आत्मा अभी (साधक दशा में) एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है। असंख्य प्रदेश और उसका विस्तार और इतना सब साधक में नहीं (जानते)। आहाहा! और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा... आहाहा! कहते हैं, उसकी ऋद्धि-पूर्ण समृद्धि जो ऋद्धि है, वह जो प्रगट हुई... आहाहा! तो सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को न जाने... ऐसी प्रगट दशा में सीधा आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! तो वह ज्ञान अविचल ऐसे आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न शुद्ध होगा। परन्तु ऐसा है नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं?

छद्मस्थ को वर्तमान में तो ज्ञान शुद्ध जीव का स्वरूप है, इसलिए बराबर वर्तमान में हम आत्मा का जैसा शुद्ध जीवस्वरूप ज्ञान है, वैसा जानते हैं परन्तु अन्तर की सब

शक्तियों को प्रत्यक्ष, असंख्य प्रदेश प्रत्यक्ष और अनन्त शक्ति प्रत्यक्ष (नहीं जानते)। वह तो प्रगट हुई सहज दशा द्वारा... प्रगट हुई सहज अवस्था... प्रगट होगी। प्रगट दशा पूर्ण होगी। आहाहा! यह करना है। इसमें व्रत और तप यह कहाँ आया? यह सब क्रिया बन्ध का कारण है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा... ऐसा यदि बराबर शुद्ध जीवस्वरूप का अनुभव होवे तो एक आत्मा ही ज्ञात हुआ। परन्तु यदि उस आत्मा में पूर्ण दशा हो और आत्मा को पूर्ण रीति से न जाने तो आत्मा ज्ञान नहीं। आहाहा! करना यह है।

कोई आत्मा ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त पर का तो कुछ करता ही नहीं। आहाहा! पूरे दिन यह करना और यह करना और यह करना... वह आत्मा कर नहीं सकता। आत्मा को पर का कर्ता मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। वह जैन नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! आत्मा अपने अतिरिक्त परपदार्थ को स्पर्श ही नहीं करता। छूता नहीं तो कर्ता कहाँ से होगा? शरीर को भी स्पर्श नहीं करता, आँख को स्पर्श नहीं करता, कर्म को स्पर्श नहीं करता। ऐसा भगवान अन्दर आत्मा ज्ञानस्वरूपी वर्तमान में तो हमने हमारे आत्मा को जाना। परन्तु उसकी उत्कृष्ट दशा जब प्रगट होगी, तब प्रत्यक्ष न जाने तो वह आत्मा नहीं है। आहाहा! है?

अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! तो वह ज्ञान भिन्न, ज्ञान से आत्मा भिन्न सिद्ध होगा। ज्ञान प्रत्यक्ष होकर वर्तमान में हम जानते हैं और प्रत्यक्ष रीति से पूर्ण न जाने तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! साधारण लोगों को, जिन्हें क्रियाकाण्ड का रस है, उन्हें यह बात समझना कठिन पड़ती है। क्रियाकाण्ड तो जितना किया जाए, वह सब बन्ध का कारण है। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा सब शुभराग है और बन्धन का कारण है। कठिन पड़े, प्रभु!

यहाँ तो रागरहित शुद्ध जीवस्वरूप। ऐसा है न? शुद्ध जीवस्वरूप का अर्थ यह कि रागरहित। पहली लाईन आयी न? **बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है;**... कौन? ज्ञान। उसमें नहीं राग, दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प है ही नहीं। वह ज्ञान बराबर जीवस्वरूप है। उसे हम जानते हैं। परन्तु जब पूर्ण प्रगट होगा, तब आत्मा को अन्दर न जाने तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! यह तो अन्दर में करने का आया। बाहर में करने का तो कुछ आया नहीं। भगवन! तेरी महिमा तेरे स्वरूप में है। प्रभु! तेरी प्रभुता तो तेरे पुरुषार्थ में है। तेरी प्रभुता कोई राग में (नहीं है)। आहाहा! रागादि शुभराग में भी पुरुषार्थ करना... आहाहा! कठिन लगे। नपुंसक कहा है—समयसार में शुभभाव को आत्मा के वीर्य से विरुद्ध नपुंसक है (ऐसा कहा है)। आहाहा! गजब बात है।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है;... पर का कुछ करना-फरना यह नहीं। आहाहा! शुभभाव, जैसे नपुंसक को वीर्य नहीं है तो पुत्र नहीं होता, उसी प्रकार शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह शुभभाव नपुंसक जैसे हैं। इसमें धर्म की प्रजा उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! ऐसी बातें! ऐसी कठिन बात है। समयसार में पुण्य-पाप के अधिकार में आया है। दो जगह आया है। एक अजीव अधिकार में आया है। दो जगह नपुंसक आया। संस्कृत टीका में क्लीव (कहा है)। क्लीव अर्थात् नपुंसक। गजब बात है, प्रभु!

यहाँ तो कहते हैं कि अकेले ज्ञानस्वरूप का अनुभव, वह आत्मा का ज्ञान है। इसके अतिरिक्त शुभ-अशुभभाव, वह वीर्य नहीं है। पीछे शक्तियाँ हैं न? सैंतालीस शक्तियाँ हैं न, समयसार में? उसमें ऐसा लिया है कि वीर्य किसे कहते हैं? वीर्य कहते किसे हैं? आत्मबल... बल... बल... बल... बल... कहते किसे हैं? कि जो आत्मा के आनन्दादि स्वरूप की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं। आहाहा! गजब बात है। सैंतालीस शक्ति में है। सैंतालीस शक्ति है न? आहाहा! यह तो नियमसार है। आत्मा के अन्दर ज्ञान जैसे स्वरूप है, वैसे वीर्य भी स्वरूप बल है। परन्तु जो वीर्य अपने में रहने का पुरुषार्थ न करे और वीर्य पुण्य अर्थात् शुभभाव की रचना में रुके (तो वह नपुंसक)। आहाहा! कठिन बात, भगवान! वीतराग का धर्म अलौकिक है। वीतराग के अतिरिक्त कहीं यह बात है नहीं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात और वह भी दिगम्बर धर्म के अतिरिक्त... आहाहा! ऐसी बात कहीं अन्यत्र है नहीं। आहाहा! श्वेताम्बर के करोड़ों श्लोक देखे, यह बात नहीं है। आहाहा!

आत्मा अपने वीर्य-पुरुषार्थ से अपनी ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि निर्मल पर्याय को रचे, उसे आत्मा का बल कहा जाता है। लोग कहते हैं कि मुझमें बहुत बल है। यह तो शरीर का बल होवे तो कहे, मुझमें बल है। वह मिथ्या है। शरीर में बल है, वह तो जड़ का बल है। परन्तु आत्मा का बल उसे कहते हैं, आत्मा का बल / वीर्य उसे कहते हैं कि उसकी अपनी शुद्ध पवित्र आनन्द की रचना करे। आहाहा! बात-बात में अन्तर पड़ता है, इसलिए लोगों को एकान्त जैसा लगे न! एकान्त है... ऐ... सोनगढ़ का एकान्त है। सब सुनते हैं। सब खबर है। जैसा कहे वैसा, प्रभु! तुझे इस भाव में आना पड़ेगा। इस भाव में आये बिना कहीं उसका हल आवे ऐसा नहीं है। आहाहा!

लाख करोड़ शुभभाव करे तो उससे आत्मा में एक भव भी घटे उसे, ऐसा तीन काल में नहीं है, क्योंकि आत्मा में भव नहीं है। भव नहीं है, उसके आश्रय से भव घटते हैं। जिसमें भव नहीं, उसके आश्रय से भव घटते हैं। राग को, शुभराग तो घोर संसार है। आहाहा! पाठ है। घोर संसार। राग अन्धकार (स्वरूप है)। राग अपने को नहीं जानता, राग चैतन्य को नहीं जानता, वह चैतन्य द्वारा ज्ञात होता है, इसलिए वह राग अजीव और जड़ है। आहाहा! डाह्याभाई! जड़, जड़ कहा। गजब बात है। यह सब व्यवहार चलता है इस प्रकार। बापू! भाई! आता है। शुभभाव आता है परन्तु वह आदरणीय नहीं है। हेय है। शुभभाव आता है, भक्ति, वन्दन आदि होते हैं परन्तु हेयबुद्धि से है, उपादेयबुद्धि से नहीं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को (पूर्ण रीति से) न जाने तो वह... आत्मा नहीं है। वह ज्ञान ही नहीं है। वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! क्योंकि ज्ञान पूर्ण प्रगट हुआ और आत्मा को न जाने तो ज्ञान और आत्मा दोनों भिन्न हो गये। क्या कहा समझ में आया? ज्ञान वर्तमान में शुद्धस्वरूप है, यह तो कहा। हमारा निज आत्मा अभी एक आत्मा को निश्चय से जानता है। हमारा ज्ञान अपने को वर्तमान में जानता है। और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूप से)... आत्मा को प्रत्यक्षरूप से न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! ज्ञान ऐसा प्रगट हुआ और आत्मा को न जाने तो भिन्न हो गया। आत्मा और ज्ञान भिन्न (सिद्ध) हुए। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें! वे तो सीधे यह करो, सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, भक्ति करो, पूजा करो, सम्मेदशिखर की यात्रा करो। सम्मेदशिखर की लाख यात्रा कर न! उस परद्रव्य की ओर का लक्ष्य अकेला राग है।

तीन लोक के नाथ ऐसा पुकारते हैं कि 'परदव्वादो दुग्गई'। मैं परद्रव्य हूँ, मेरे ऊपर तेरी नजर जाएगी तो तुझे शुभराग होगा। आहाहा! कठिन काम है। बात धार लेना, वह अलग है और उसरूप होना, आत्मा-आत्मा के ज्ञानस्वरूप होना, (वह दूसरी बात है)। जो रागरूप है, उसे ज्ञानस्वरूप की, शुद्ध जीवस्वरूप ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञान का जीवस्वरूप में एकाकार होना, वह न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है। आहाहा! बात सादी, परन्तु बात बड़ी है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूपी प्रभु है। शरीर, वाणी, मन तो जड़-मिट्टी-धूल है। कर्म धूल है। पुण्य और पाप वह तो जड़ अचेतन है। क्योंकि पुण्य और पाप राग है। राग में जानने की शक्ति नहीं है। आहाहा! उससे भिन्न अकेली जानने की शक्तिस्वरूप शुद्ध जीवस्वरूप में हूँ। उसे मैं जानता हूँ परन्तु पूर्ण शक्ति प्रगट हो और पूर्ण आत्मा न जाने तो वह ज्ञान और आत्मा एक नहीं है। तो ज्ञान और आत्मा भिन्न-भिन्न हुए। आहाहा! है न डाह्याभाई! अवश्य भिन्न सिद्ध होगा! आहाहा!

और इसी प्रकार (अन्यत्र गाथा द्वारा) कहा है कि:—

णाणं अन्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ॥

गाथार्थः—ज्ञान जीव से अभिन्न है... दो नाम पड़े। ज्ञान और जीव, तो भी ज्ञान जीवस्वरूप अभिन्न है। दो नाम भले पड़े। एक का नाम ज्ञान और एक का नाम जीव। ऐसे दो नाम भेद पड़े। तो जीव ज्ञानस्वरूप ही है। आहाहा! यह तो जानने-देखने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! हिलना, चलना, बोलना, यह तुम्हारे धन्धे का व्यापार... ऐई! हसमुखभाई! हमारे मनसुख है। पूरे दिन व्यापार में यह किया और यह किया और यह किया। कौन करे? प्रभु! जानने-देखने ऐसा आत्मा पर का करे तो वह आत्मा रहा नहीं। आहाहा! आत्मा का कर्तृत्व हो जाए तो आत्मा ज्ञानमूर्ति रहे ही नहीं। आहाहा! बहुत कठिन बात है।

ज्ञान जीव से अभिन्न है... ज्ञानस्वभाव जो है, वह स्वभाववान जो आत्मा, उससे एकमेक है, भिन्न नहीं। नाम भिन्न पड़ते हैं। इसलिए वह आत्मा को जानता है; यदि ज्ञान आत्मा को न जाने... आहाहा! क्या कहा? ज्ञान जीव से अभिन्न है, इसलिए वह आत्मा को जानता है;... न्याय दिया, समझ में आया? ज्ञान जीव से अभिन्न है, इसलिए वह आत्मा को जानता है;... आहाहा! ज्ञान आत्मा से अभिन्न है, इस कारण से ज्ञान आत्मा को जानता है। सूक्ष्म है। भाषा एकदम वैसी है। विषय सूक्ष्म है। आहाहा! ज्ञान जीव से अभिन्न है, इसलिए वह आत्मा को जानता है;... अभिन्न है, इसलिए ज्ञान आत्मा को जानता है। आहाहा! यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह जीव से भिन्न सिद्ध होगा! तो वह ज्ञानस्वभाव जीव से भिन्न सिद्ध होगा। तो वह आत्मा ही नहीं है। ज्ञान बिना आत्मा है ही नहीं। आहाहा! यह १७० हुई न?

गाथा-१७१

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा स-पर-पयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्ध्यात्मको न सन्देहः ।
तस्मात्स्व-पर-प्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ॥१७१॥

गुणगुणिनोः भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत् । सकलपरद्रव्यपराङ्मुखमात्मानं स्वस्वरूप-परिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानस्वरूपमिति हे शिष्य त्वं विद्धि जानीहि तथा विज्ञानमात्मेति जानीहि । तत्त्वं स्वपरप्रकाशं ज्ञानदर्शनद्वितयमित्यत्र सन्देहो नास्ति ।

संदेह नहीं, है ज्ञान आत्मा, आत्मा है ज्ञान रे ।
अतएव निज पर के प्रकाशक ज्ञान-दर्शन मान रे ॥१७१॥

अन्वयार्थः [आत्मानं ज्ञानं विद्धि] आत्मा को ज्ञान जान, और [ज्ञानम् आत्मकः विद्धि] ज्ञान आत्मा है, ऐसा जान;—[न संदेहः] इसमें सन्देह नहीं है । [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं] ज्ञान [तथा] तथा [दर्शनं] दर्शन [स्वपरप्रकाशं] स्व-परप्रकाशक [भवति] है ।

टीका : यह, गुण-गुणी में भेद का अभाव होनेरूप स्वरूप का कथन है ।

हे शिष्य! सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप जान, तथा ज्ञान आत्मा है, ऐसा जान । इसलिए तत्त्व (-स्वरूप) ऐसा है कि ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्व-परप्रकाशक हैं । इसमें सन्देह नहीं है ।

गाथा - १७१ पर प्रवचन

(गाथा) १७१ ।

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।

तम्हा स-पर-पयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

संदेह नहीं, है ज्ञान आत्मा, आत्मा है ज्ञान रे ।

अतएव निज पर के प्रकाशक ज्ञान-दर्शन मान रे ॥१७१॥

दोनों ज्ञान-दर्शन में डाला । आहाहा ! दर्शन डाला । जैसे ज्ञानस्वरूप जीव है, वैसे दर्शनस्वरूप भी जीव है । दर्शन और जीव भिन्नता नहीं है । दर्शन क्या ? अपने को देखना । आहाहा ! पर को देखता ही नहीं । परवस्तु को स्पर्श नहीं करता । ज्ञान आत्मा परवस्तु को स्पर्श नहीं करता, तो स्पर्श किये बिना, उसका ज्ञान होता है स्पर्श किये बिना, परन्तु वह व्यवहार है । आहाहा ! अपना ज्ञान अपने को वेदन में आकर अनुभव में आता है । इसलिए ज्ञान और आत्मा अभिन्न है । आहाहा ! कहा न ? भाषा बहुत सादी । कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं के लिये बनाया हुआ है । यह पुस्तक स्वयं के लिये बनायी है । आहाहा ! उसमें ऐसी बात डाली है, जो जगत को कठिन पड़ती है ।

टीका : यह, गुण-गुणी में भेद का अभाव होनेरूप स्वरूप का कथन है । क्या कहते हैं ? ज्ञान, गुण और आत्मा, गुणी, इसके भेद का अभाव । भेद का अभाव है । आहाहा ! जीवद्रव्य है, वही ज्ञानस्वरूप है । ज्ञानस्वरूप है, वही जीवद्रव्य है । जीवद्रव्य और ज्ञानस्वरूप यदि भिन्न होवे तो इस भेद का अभाव है । भेद का अभाव है । आहाहा ! क्या कहते हैं ? ज्ञान तो ठीक जानना... जानना... जानना... परन्तु आत्मा में तो सब अनन्त गुण है न ? तो आत्मा दूसरी चीज़ को कर सकता है या नहीं ? ज्ञान कुछ नहीं कर सकता । वह तो जाननेवाला है । आँख-नेत्र पर को देखता है, परन्तु परचीज़ में आँख प्रवेश नहीं करती । आहाहा ! आँख पर को देखती है परन्तु पर में प्रवेश नहीं करती । इसी प्रकार यह चीज़ आँख में नहीं आती । जिसे देखता है, वह चीज़ इसमें नहीं आती । इसी प्रकार ज्ञान पर को जानता है, परन्तु परचीज़ ज्ञान में नहीं आती और ज्ञान पर में, ज्ञेय में नहीं जाता । वह ज्ञान और आत्मा अभिन्न है । आहाहा ! ऐसी बातें !

यह, गुण-गुणी में भेद का अभाव होनेरूप स्वरूप का कथन है। हे शिष्य! आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य महाराज जैसा है, वैसा कहते हैं। इसका अर्थ (यह कि) शिष्य को कहते हैं न? तम्हा स-पर-पयासं णाणं तह दंसणं होदि। कहते हैं, तब शिष्य को कहते हैं न? आहाहा! किसलिए इसमें से यह बात निकली?

हे शिष्य! सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ... आहाहा! सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख... आहाहा! तीर्थकर और तीर्थकर की वाणी और समवसरण तथा तीर्थकर भगवान की प्रतिमा और मन्दिर, इन सर्व से भिन्न आत्मा है। आहाहा! सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख... है। भाषा ऐसी ली है, देखा! पराङ्मुख है। परद्रव्य से आत्मा पराङ्मुख है। सन्मुख नहीं, विमुख है। आहा! हे शिष्य! सर्व परद्रव्य से... सर्व द्रव्य में क्या बाकी रहा? तीर्थकर, तीर्थकर की वाणी, समवसरण, पंच परमेष्ठी सब परद्रव्य आये। आहाहा! प्रभु! जरा कठिन पड़े परन्तु परद्रव्य में पंच परमेष्ठी आये, वह परद्रव्य है। इस परद्रव्य पर तेरा लक्ष्य जाएगा तो तुझे राग होगा। आहाहा! उसकी भक्ति और उसका स्मरण (करने से) राग होगा। आहाहा! यह कहते हैं। हे शिष्य! सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख... सर्व द्रव्य से पराङ्मुख। कोई बाकी रहे? यहाँ कहे, सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो अड़तालीस भव में मोक्ष जाए, इतने भव में मोक्ष जाए।

मुमुक्षु : ४९ भव में मोक्ष जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : ४९ भव में। कहते होंगे। आये थे न महावीरकीर्ति, उन्होंने कहा कि सम्मेदशिखर की यात्रा करो तो ४९ भव में मोक्ष होगा। कहा, यह वीतराग की वाणी नहीं है। वीतराग की वाणी स्वाश्रय के अतिरिक्त लाभ नहीं बताती। पराश्रय से तो बन्धन बताती है। दो सिद्धान्त सीधे। आहाहा! स्वाश्रय से लाभ, पराश्रय से अलाभ। चाहे तो त्रिलोकनाथ तीर्थकर हों, वे भी अपने से पर हैं। पर का आश्रय करने से तो राग ही होगा। भले पुण्य हो, परन्तु वह पुण्य भी राग है। वह पुण्य भी अपवित्र है। अभी तो चारों ओर यह चलता है। पुण्य पवित्र है... पुण्य पवित्र है... पुण्य पवित्र है। पवित्र से काम होगा। आहाहा!

हे शिष्य! सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख... आहाहा! भगवान आत्मा अपने अतिरिक्त सर्व द्रव्य से पराङ्मुख है। आहाहा! गजब काम किया है न? यह तो परमात्मा वीतराग

की वाणी है। सन्त हैं, वे केवली के पथानुसारी हैं। दिगम्बर सन्त, वे तो केवली के मार्गानुसारी हैं। और ये कुन्दकुन्दाचार्य तो भगवान के पास गये थे। भगवान सीमन्धरस्वामी विराजते हैं। वहाँ आठ दिन रहे थे, भगवान के पास। वहाँ से आकर यह बनाया और उसमें भी कहते हैं कि यह तो मेरे लिये बनाया है। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड़ बनाये, परन्तु यह पुस्तक तो मेरे लिये बनायी है। मेरे आत्मा के घोलन के लिये बनायी है। आहाहा! मैं तो ज्ञानस्वरूप, सर्व परद्रव्यों से पराङ्मुख मैं हूँ। पैसे से तो पराङ्मुख, देव-गुरु-शास्त्र से पराङ्मुख है। आहाहा! भगवान! तेरी चीज़ महिमावन्त अन्दर है। तुझे कोई पर की अपेक्षा नहीं है। पर की अपेक्षा करेगा तो राग हुए बिना रहेगा नहीं। राग हो, वह बन्धन बिना नहीं होता। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा...** ओहोहो! प्रभु आत्मा, अपने आनन्द और ज्ञानादि सम्पन्न है। यह परद्रव्य से पराङ्मुख है। सन्मुख नहीं, पराङ्मुख है। आहाहा! **सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख...** इसमें पंच परमेष्ठी भी आये, तीर्थंकर आये, तीर्थंकर की वाणी आयी, समवसरण आया। उन सर्व परद्रव्यों से आत्मा पराङ्मुख है। आहाहा! गजब बात। धन्धे के कारण मन्दिर के दर्शन करने का समय नहीं मिलता। आहाहा! इसके बदले यहाँ कहते हैं कि मन्दिर के दर्शन हैं, वे शुभभाव हैं; धर्म नहीं।

गये थे न वहाँ? अफ्रीका। अभी अफ्रीका गये थे न? उन लोगों ने साठ लाख रुपये इकट्ठे किये हैं। हम वहाँ गये, छब्बीस दिन रहे। पैंतालीस लाख रुपये इकट्ठे हुए। पहले पन्द्रह लाख किये। पैंतालीस लाख बाद में किये। पच्चीस लाख का जिनमन्दिर बनाना है। भगवान के बाद परदेश में दिगम्बर मन्दिर पहला-पहला बनता है। अफ्रीका नैरोबी में लोग बहुत पैसेवाले हैं। पैसे खर्च करने के लिये तो पूछे नहीं कुछ। एक व्यक्ति ने भगवान की प्रतिमा पधराई तो साढ़े पाँच लाख। हजार-हजार की बातें वहाँ नहीं। हम छब्बीस दिन रहे। आहाहा! साढ़े पाँच लाख! और एक इन्द्र हुआ।

मुमुक्षु : यह सब आपके पुण्य प्रताप से हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जड़ की अवस्था उस काल में होनेवाली थी। बात ऐसी है प्रभु! एक इन्द्र बना, (उसके) साढ़े तीन लाख। सोलह इन्द्र बने न! सोलह या अधिक होंगे, खबर नहीं। पहला इन्द्र साढ़े तीन लाख। कहा, भाई! साढ़े तीन लाख क्या, दस

लाख दो परन्तु तुझे धर्म होगा, यह बात नहीं है। यहाँ तो स्पष्ट ढिंढोरा है। गुप्त-गुप्त मक्खन-बक्खन है नहीं। वहाँ करोड़पति तो बहुत और पैसा खर्च करते हैं, तो लाभ होगा, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! पच्चीस लाख का मन्दिर बनना हो तो बनता है। शुभभाव होता है। और वह भी मन्दिर आत्मा बना ही कहाँ सकता है? आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप मकान (मन्दिर) बना सकता है? आहाहा! मकान तो मकान के कारण से बनता है। बनानेवाले का भाव होवे तो शुभभाव—पुण्य होता है। धर्म नहीं। संवर-निर्जरा नहीं। मिथ्यात्वसहित है, वह परम्परा मुक्ति का कारण नहीं। आहाहा! सम्यक् आत्मा का अनुभव हो, उसके व्यवहार को परम्परा कारण कहने में आता है। क्योंकि व्यवहार को तो छोड़कर निश्चय में आयेगा।

यहाँ तो देखो न! यहाँ तो सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख। ओहोहो! एक ओर आत्मा और एक ओर सर्व परद्रव्य। सर्व परद्रव्य। कोई बाकी नहीं। सम्मेदशिखर, गिरनार और यात्रा वह सब परद्रव्य है। सम्मेदशिखर की यात्रा भी शुभभाव है। धर्म-बर्म नहीं। लाख करे और लाख ऊपर चढ़े और नीचे उतरे। शुभभाव है। आहाहा! क्यों? कि सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ... आहाहा! क्या कहते हैं?

भगवान आत्मा सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ... है। तुझमें समर्थ बल है। तू पर की अपेक्षा रखे तो जान सके, ऐसी बात नहीं है। आहाहा! तुझमें बल इतना है कि तेरे से पूर्ण प्रगट करेगा। आहाहा! पहले सम्यग्दर्शन भी तुझसे होगा और चारित्र जो स्वरूप की रमणता है, सम्यग्दर्शनसहित, हों! चारित्र। सम्यग्दर्शन बिना चारित्र नहीं होता। वह चारित्र भी स्व के आश्रय से होता है। पर के आश्रय से नहीं। केवलज्ञान स्व के आश्रय से होता है। मनुष्य भव और वज्रनाराचसंहनन के आश्रय से नहीं। आहाहा! ऐसी तुझमें शक्ति, ऐसा कहते हैं। इसका नाम आत्मा है। देखो! है?

परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ... आहाहा! क्या कहा? आत्मा परद्रव्य से पराङ्मुख, विपरीत। परन्तु अपने स्वरूप को करने के लिये बलवान है। उसे कोई रोक सके, ऐसी चीज़ नहीं है। कर्म-बर्म आत्मा को देख सके, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। कर्म जड़ है। आत्मा भगवान चैतन्य है। कर्म को आत्मा स्पर्श नहीं करता, कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आहाहा! अपनी पर्याय में विकार करता है, वह

अपना दोष है, उस कर्म से विकार नहीं होता। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि परद्रव्य से तू पराङ्मुख है, विपरीत है, परन्तु तेरा स्वरूप प्रगट करने में बलवन्त है। आहाहा! है ?

निज स्वरूप को जानने में समर्थ... अपने स्वरूप को जानने में समर्थ है। आहाहा! परद्रव्य को जानने में तो पराङ्मुख कहा। सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख कहा और तेरा स्वरूप जानने में तू बलवान है, समर्थ है। तेरे बल की तुझे प्रतीति नहीं है। आहाहा! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' दिगम्बर मुनि, पंच महाव्रतधारी अनन्त बार हुआ। वह तो राग है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो। पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥' परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना आनन्द नहीं। पंच महाव्रत के परिणाम दुःखरूप हैं। आहाहा! गजब बात है। यह पंच महाव्रत और अट्टाईस मूलगुण, वह आस्रव दुःखरूप है। आहाहा! ऐसे नौवे प्रैवेयक गया, मुनिव्रत धारण किया, पंच महाव्रत पालन किये, परन्तु आत्मा का आनन्द नहीं आया। आनन्द आये बिना तेरा मिथ्यात्व नहीं मिटा। आहाहा! समझ में आया? भगवान का साक्षात्कार नहीं हुआ, प्रभु! तूने राग की क्रिया की भेंट की। पंच महाव्रत पालन किये, यह अहिंसा, यह सत्य और यह ब्रह्मचर्य। बालब्रह्मचारीपने पालन किया परन्तु यह धर्म नहीं है, यह तो काया की क्रिया हुई। बालब्रह्मचारीपना पाले तो भी धर्म नहीं। यह शुभभाव है। आहाहा! अपने आत्मा में आनन्द में रमना, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा, चर अर्थात् रमना। अपने निज आनन्द में रमना, यह ब्रह्मचर्य है। काया से विषय सेवन नहीं किया, इसलिए यह ब्रह्मचारी है - ऐसा नहीं है। आहाहा! बात कठिन लगती है, भाई! लगे या न लगे, वस्तु यह है। जँचे या न जँचे। तीन काल में भगवान की वाणी है, यह देखो न! बनाया है स्वयं ने? यह आया न १७१ ?

'अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।' यह १७१ चलता है न? मूल पाठ। आत्मा के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना आत्मा नहीं। **'ण संदेहो। तम्हा स-पर-पयासं णाणं'** इसलिए ज्ञान स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, जैसे दर्शन स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। आहाहा! इसे किसी की मदद की अपेक्षा नहीं है। ओहोहो! यह संक्षिप्त भाषा में... **सर्व परद्रव्य से पराङ्मुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप जान,...** आहाहा! यह कोई शास्त्र पढ़ने से ज्ञान नहीं होता। शास्त्र तो पुद्गल है, जड़ है। यह तो पहले ३४ गाथा में आ गया। जड़ से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान से

ज्ञान होता है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के ऊपर नजर करने से, उसमें एकाग्र होने से ज्ञान होता है। शास्त्र के ग्यारह अंग तो अनन्त बार पढ़ डाले। पढ़ डाले, पढ़कर छोड़ दिया। ग्यारह अंग, ग्यारह अंग किसे कहते हैं? एक अंग में अठारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक। आहाहा! यह धारणा का विषय है।

यह कहते हैं कि आत्मा परद्रव्य से परान्मुख है परन्तु तेरे स्वद्रव्य को प्रगट करने में बलवान है। आहाहा! है? आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप जान,... वह तो सहज ज्ञानस्वरूप भगवान ही अन्दर है। ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। आहाहा! ध्रुव ज्ञानस्वभाव में तो पर्याय का प्रवेश नहीं। वहाँ राग का प्रवेश तोकहाँ से होगा? क्या कहा? ध्रुवस्वरूप भगवान में ये केवलज्ञानादि पर्याय है, उसका भी ध्रुव में प्रवेश नहीं है। आहाहा! पर्याय ध्रुव के ऊपर तैरती है। आहाहा! गजब बात है। पर्याय द्रव्य के ऊपर तैरती है। अन्दर प्रवेश नहीं कर सकती। पर्याय की अवधि एक समय की है। ध्रुव अन्दर त्रिकाल एकरूप पड़ा है, प्रभु! आहाहा! परन्तु तेरी पर्याय में इतनी सामर्थ्य है कि पर से, सर्व से पराङ्मुख होकर अपने को जानने में समर्थ है। आहाहा! समझ में आया?

सहजज्ञानस्वरूप जान,... वह तो स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उसे जानने में आत्मा समर्थ है। तथा ज्ञान आत्मा है... यह ज्ञान जो प्रगट हुआ, वह आत्मा है। ऐसा जान। जो ज्ञान अन्दर में एकाग्र होकर प्रगट हुआ, वह आत्मा है। आत्मा, वह ज्ञान है और ज्ञान वह आत्मा है। आहाहा! अकेली आत्मा की बात की है। आहाहा! क्या हो?

अनन्त काल से रुलता है, भाई! चौरासी के अवतार कर-करके... आहाहा! अनन्त अवतार किये, प्रभु! यह भूल गया। एक अवतार लेके यहाँ... आहाहा! ऐसे चींटी और मकोड़ा बीच में उस दबाव में आ जाए... आहाहा! उसकी जगह तो तूने ऐसे अनन्त चींटी-मकोड़ा, सिंह और बाघ सब तुझे खा गये। ऐसा अनन्त बार हुआ, प्रभु! तू भूल गया है। आहाहा! अनन्त-अनन्त काल से अनन्त भव छेदने का उपाय तो यह एक ही है। अनन्त भव नहीं करने का, छेदने का, भवरहित होने का, आत्मा का अन्तर समर्थ बल आत्मा आत्मा को जानना। आहाहा!

सहजज्ञानस्वरूप जान, तथा ज्ञान आत्मा है... आहाहा! किसलिए कहा न? कि आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ... जानने में, हों! यह सहज ज्ञानस्वरूप

ज्ञान और ज्ञान यह आत्मा। आहाहा! ज्ञान यह आत्मा, ऐसा जान। इसलिए तत्त्व (-स्वरूप) ऐसा है कि ज्ञान तथा दर्शन... अब दर्शन को मिलाया। ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्व-परप्रकाशक हैं। इसमें सन्देह नहीं है। आहाहा! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य मुनि थे, भगवान के पास गये थे। वर्तमान में प्रभु विराजते हैं। आहाहा! आठ दिन वहाँ रहे थे। दो हजार वर्ष हुए। संवत् ४९। वहाँ से आकर यह बनाया। आहाहा! शब्द बहुत संक्षिप्त है।

तू परद्रव्य से पराङ्मुख, परन्तु तेरे स्वरूप को जानने में पूर्ण समर्थ है। ऐसा ज्ञान। यह ज्ञान तुझे पूर्ण जानने में समर्थ है। यह ज्ञान और आत्मा अभिन्न है। आहाहा! जानने का ज्ञान और आत्मा भिन्न है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। भाई गये? फतेपुर। है न? आये थे। आज आये थे। आहाहा!

अन्दर चैतन्य भगवान जाननस्वभाव से पूर्ण भरपूर, अनन्त-अनन्त गुण का भण्डार। कहते हैं कि यह द्रव्य पर से तो पर से पराङ्मुख है। किसका भार है? दिगम्बर सन्त कहते हैं। पर से पराङ्मुख, केवली से पराङ्मुख, पंच परमेष्ठी से पराङ्मुख। आहाहा! प्रभु! तुझे और परद्रव्य को क्या सम्बन्ध है? तुझमें तेरी अस्ति है और तुझमें परद्रव्य की नास्ति है। चाहे तो परमेश्वर हो, तो भी तुझमें उसकी नास्ति है। आहाहा! तुझमें ज्ञान के बल बिना दूसरा कोई बल करा सके और ज्ञान पूर्ण करावे, ऐसी ताकत नहीं है। आहाहा!

इसलिए तत्त्व (-स्वरूप) ऐसा है कि ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्व-परप्रकाशक हैं। इसमें सन्देह नहीं है। एक प्रश्न है न? षट्खण्डागम में दर्शन व्यवहारनय से लिया है। दर्शन स्व को देखता है, ज्ञान पर को जानता है, ऐसा षट्खण्डागम (में) है न? धवल, जयधवल, महाधवल में ऐसा है। दर्शन स्व को देखता है, ज्ञान पर को देखता (/ जानता है)। यहाँ उसका नकार करते हैं। यह सब व्यवहार के कथन हैं। परमार्थ से तो ज्ञान अपने सामर्थ्य से अपने को पूर्ण जानता है, साथ में दर्शन भी पूर्ण देखता है। आहाहा! बात तो सादी परन्तु कठिन पड़ती है। क्या करना इसमें सूझ नहीं पड़ती। यह करना। अन्दर ज्ञानस्वरूप में ऊपर जाना। आहाहा! करने-फरने का कुछ नहीं है।

ज्ञान जानन अस्तिस्वभाव, उसे तेरा आत्मा जाननेवाला है, तो उस आत्मा में पूर्ण ज्ञान की पूर्ण अवस्था प्रगट हो, तब तो पूर्ण जाने बिना रहता नहीं। सबको पूर्ण जाने। और इस कारण से स्व-परप्रकाशक ज्ञान है, ऐसे दर्शन भी स्वप्रकाशक है। आहाहा! इसमें सन्देह नहीं है।




श्लोक-२८७

[अब, इस १७१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(अनुष्टुप्)

आत्मानं ज्ञानदृगरूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं ।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

(वीरछन्द)

निज को दर्शन ज्ञानरूप, दृग ज्ञान भाव आत्मा जानो ।
स्पष्ट प्रकाशित करे आत्मा निज-पर ऐसे तत्त्वों को ॥२८७॥

[श्लोकार्थः—] आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान और ज्ञानदर्शन को आत्मा जान; स्व और पर ऐसे तत्त्वों को (समस्त पदार्थों को) आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है ॥२८७॥

श्लोक -२८७ पर प्रवचन

[अब, इस १७१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

आत्मानं ज्ञानदृगरूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं ।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

आहाहा! एक आत्मा के लिये इतनी बात की है। बारह अंग और चौदह पूर्व में यह आत्मा कहा है। कलश-टीका में है कि बारह अंग हैं, वह भी विकल्प है। बारह अंग में भी अनुभूति करने का कहा है। आत्मा का अनुभव करने का कहा है। कलश-टीका में है। समझ में आया? बारह अंग का ज्ञान भी विकल्प है। आहाहा! बारह अंग में कहने में आया है कि आत्मा का अनुभव करना। पर्याय से आत्मा का अनुभव करना। आहाहा! राग

से नहीं, पुण्य से नहीं, निमित्त से नहीं। ध्रुव तो ध्रुव ही है। ध्रुव में तो कोई हलन-चलन है नहीं। पर्याय में परिणमन हलन-चलन है तो पर्याय में आत्मा जान ले। जाननेयोग्य है, वह पर्याय में तुझमें बल है। तू परद्रव्य से पराङ्मुख है परन्तु तेरी पर्याय से तेरा द्रव्य सन्मुख है। आहाहा! समझ में आया? क्या कहा?

प्रभु! तू परद्रव्य से पराङ्मुख है परन्तु तेरे स्वभाव से तू सन्मुख है। आहाहा! अरे! सत्य बात कान में पड़े नहीं। सत्य बात सुनने को मिले नहीं और यह करो... यह करो... पूरे दिन कर्ता हो, वह तो मिथ्यात्व है। पर का कर्ता, मन्दिर का कर्ता भी मैं हूँ - ऐसा माने तो मिथ्यात्व है। डाह्याभाई! आहाहा! राग का कर्ता माने तो मिथ्यात्व है। कठिन बात, प्रभु! राग विकार है, प्रभु चैतन्य त्रिकाली निर्विकार है। उस निर्विकार से राग कराना, आहाहा! यह बड़ा दोष है। कर्ताबुद्धि हुई, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! इसलिए यहाँ कहा।

श्लोकार्थः—आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान... श्लोक है न यह।

आत्मानं ज्ञानदृगरूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं।

स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान... रागादि नहीं। और ज्ञानदर्शन को आत्मा जान;... आहाहा! आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप जान और ज्ञान-दर्शनरूप आत्मा जान। बाकी आत्मा किसी का कर दे और किसी का सुधार दे, किसी को मदद करे, सेवा करे, यह सब बात झूठी है। अज्ञानी ने भ्रम चलाया है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी करे, यह अज्ञान चलाया है। भगवान के मार्ग से अत्यन्त विरुद्ध चलाया है।

यह यहाँ कहा। आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान और ज्ञानदर्शन को आत्मा जान;... जान-कहा न? आत्मा को ज्ञानदर्शनरूप जान और ज्ञानदर्शन को आत्मा जान; स्व और पर ऐसे तत्त्वों को (समस्त पदार्थों को) आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है। स्व और पर को आत्मा ज्ञानस्वभाव से प्रत्यक्ष करे, ऐसी ताकत है। ऐसा पहले स्व ज्ञान वह आत्मा ऐसा अनुभव करके, फिर वहाँ एकाग्र होना, तो केवलज्ञान की पर्याय प्रगट होगी, ऐसी उसमें ताकत है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१७२

जाणंतो पस्संतो ईहा-पुव्वं ण होइ केवलिणो ।

केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबन्धगो भणिदो ॥१७२॥

जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः ।

केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणति ॥१७२॥

सर्वज्ञवीतरागस्य वाञ्छाभावत्वमत्रोक्तम् । भगवानर्हत्परमेष्ठी साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रिय-
स्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्वमश्रान्तं जानन्नपि
पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभट्टारकस्य, तस्मात्
स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स भगवान् अबन्धक इति ।

तथा चोक्तं श्रीप्रवचनसारे -

ण वि परिणमदि ण गेणहदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्टेसु ।

जाणण्णवि ते आदा अबन्धगो तेण पण्णत्तो ॥

तथाहि -

जानें तथा देखें तदपि इच्छा विना भगवान् है ।

अतएव केवलज्ञानी वे अतएव ही निर्बन्ध है ॥१७२॥

अन्वयार्थ : [जानन् पश्यन्] जानते और देखते हुए भी, [केवलिनः] केवली
को [ईहापूर्व] इच्छापूर्वक (वर्तन) [न भवति] नहीं होता; [तस्मात्] इसलिए उन्हें
[केवलज्ञानी] 'केवलज्ञानी' कहा है; [तेन तु] और इसलिए [सः अबन्धकः भणितः]
अबन्धक कहा है ।

टीका : यहाँ, सर्वज्ञ वीतराग को वांछा का अभाव होता है, ऐसा कहा है ।

भगवान् अरहन्त परमेष्ठी सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूत

-व्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी, उन परम भट्टारक केवली को मनप्रवृत्ति का (मन की प्रवृत्ति का, भावमनपरिणति का) अभाव होने से इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिए वे भगवान 'केवलज्ञानी' रूप से प्रसिद्ध हैं; और उस कारण से वे भगवान अबन्धक हैं।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (५२वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

उन पदार्थों को जाने, पर आत्मा तन्मय नहीं हुआ।

ग्रहण न करता नहीं उपजता अतः अबन्धक कहा गया ॥

“[गाथार्थः—] (केवलज्ञानी) आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उन-रूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थोरूप में उत्पन्न नहीं होता इसलिए उसे अबन्धक कहा है।”

प्रवचन-२०४, गाथा-१७२, श्लोक २८८, बुधवार, आषाढ कृष्ण ११, दिनांक ०६-०८-१९८०

नियमसार, गाथा १७२।

जाणंतो पस्संतो ईहा-पुव्वं ण होइ केवलिणो ।

केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबन्धगो भणिदो ॥१७२॥

नीचे हरिगीत

जानें तथा देखें तदपि इच्छा विना भगवान है।

अतएव केवलज्ञानी वे अतएव ही निर्बन्ध है ॥१७२ ॥

इस ओर टीका। इस ओर टीका है। ३४६ पृष्ठ पर टीका है।

टीका : यहाँ, सर्वज्ञ वीतराग को वांछा का अभाव होता है, ऐसा कहा है। कितने ही केवलज्ञानी को ऐसा मानते हैं कि पहले समय में ज्ञान होता है और दूसरे समय में दर्शन होता है। यह बात सत्य नहीं है। इसलिए यह बात करते हैं। देव अरिहन्त, उनका वास्तविक स्वरूप जाने बिना उसकी मान्यता सत्य होती नहीं। अरिहन्त सर्वज्ञ किसे कहते

हैं ? और उन सर्वज्ञ को इच्छा नहीं होती। वाणी निकलती है। वाणी के कारण वाणी निकलती है। वाणी स्वयं नहीं करते। आहाहा ! क्योंकि वाणी जड़ है और स्वयं चेतन है। तो चेतन वाणी को नहीं करता। वाणी वाणी के कारण वाणी निकलती है परन्तु उनकी इच्छा नहीं है। वाणी निकलने पर भी इच्छा नहीं है। यह बात यहाँ करते हैं।

यहाँ, सर्वज्ञ वीतराग को वांछा का अभाव होता है, ऐसा कहा है। उन्हें वांछा नहीं है। किसी जगह ऐसा बोले या ऐसा बोलूँ, ऐसी वृत्ति और इच्छा केवली को नहीं होती। आहाहा ! केवलज्ञान अर्थात् ? एक समय में तीन काल, तीन लोक प्रत्यक्ष जाने और जिसमें वह जानते हैं, उस प्रकार से वहाँ सामने पर्याय होती है। जैसा भगवान देखते हैं, तदनुसार सामने जड़-चैतन्य की पर्याय होती है। आहाहा ! उस पर्याय का फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है। यह भगवान वांछारहित है। उन्हें वांछा नहीं है। जानते हैं तीन काल-तीन लोक, परन्तु इच्छा नहीं है।

भगवान अरहन्त परमेष्ठी... एक तो भगवान कहा, दूसरे अरहन्त कहा, तीसरे परमेष्ठी। सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले... क्या कहते हैं ? जरा नय कहते हैं। सादि-अनन्त केवलज्ञान स्वभाव की सादि हुई। केवलज्ञान कहीं अनादि का नहीं है। शक्तिरूप है। प्रगटरूप है तो प्रगटे तब होता है। सादि—केवलज्ञान उत्पन्न होने की आदि और फिर उसका नाश नहीं होता, अनन्त काल रहता है। सादि-अनन्त। आहाहा ! इसका विश्वास अन्तर में बैठना... वैसे तो लोगों ने भाषा अनन्त बार की है। ग्यारह अंग भी अनन्त बार धारण किये, परन्तु अन्तर में आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। वह ज्ञानस्वरूप पूर्ण होवे तो सर्वज्ञ होता है। वह स्वयं से होता है, पर से नहीं और वह सर्वज्ञ होने पर भाषा आती है। भाषा आती है परन्तु परिणामपूर्वक नहीं। आहाहा ! छद्मस्थ को नीचे परिणामपूर्वक भाषा आती है। वह परिणाम बन्ध का कारण है। भगवान को परिणामपूर्वक भाषा नहीं तो उन्हें बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? यह यहाँ कहते हैं।

सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूत-व्यवहार से... आहाहा ! जरा सूक्ष्म बात है, प्रभु ! यह केवलज्ञान, वह व्यवहारनय है। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आत्मा सनातन अनादि, अनादि-अनन्त, वह निश्चय है और केवलज्ञान तो नया उत्पन्न हुआ, नयी दशा उत्पन्न हुई तो वह व्यवहारनय का विषय हो गया। आहाहा ! यह तो णमो अरिहन्ताणं... णमो सिद्धाणं किया करे, परन्तु क्या वस्तु है और क्या स्वरूप है, (यह) जाने बिना जिन्दगी

ऐसी की ऐसी चली जाती है। अनन्त काल गया। आहाहा! अनन्त-अनन्त अवतार प्रत्येक के किये—तिर्यच के, नरक के, यह मनुष्य हुआ, दिगम्बर साधु अनन्त बार हुआ परन्तु आत्मज्ञान में ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त क्रियाकाण्ड में रुक गया और उसमें धर्म माना। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, परमात्मा को सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूत-व्यवहार से... आहाहा! यह क्या कहते हैं? केवलज्ञान शुद्ध है और सद्भूत अपनी पर्याय में है और पर्याय है तो व्यवहार है। तो शुद्ध सद्भूतव्यवहार। शुद्ध सद्भूतव्यवहार का बड़ा अर्थ है। आहाहा! इन तीन शब्दों का बड़ा अर्थ है। शुद्ध-सद्भूत-व्यवहार। केवलज्ञानी परमात्मा को ज्ञान जो है, वह शुद्ध है परन्तु अपनी पर्याय में है तो सद्भूत, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से है व्यवहार। समझ में आया? आहाहा! अभी तो केवलज्ञान व्यवहार, उसके बदले निचला व्यवहार किया करो और उससे नीचे तुम्हें (धर्म) होगा। यह सब बात एकदम विपरीत है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि अतीन्द्रियस्वभाववाले... भगवान जो अरिहन्त हैं, वह शुद्ध सद्भूतव्यवहार... आहाहा! निश्चय से नहीं, तथा अशुद्ध से नहीं। शुद्ध पर्याय प्रगट हुई, पर्याय। वह पर्याय प्रगटी है, वह केवलज्ञान की पर्याय है। केवलज्ञान गुण नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान भी एक समय में नाश होता है। आहाहा! एक समय पर्याय उत्पन्न होती है, वह पर्याय दूसरे समय में नाश होती है। दूसरे समय में वैसी-वैसी होती है, परन्तु वह नहीं। पहले समय में जो केवलज्ञान है, वह केवलज्ञान दूसरे समय में नहीं। तीसरे समय में वैसी होती है, परन्तु वह नहीं। ऐसा विचार करने को निवृत्ति कब है? धन्धे के कारण अकेला पाप पूरे दिन। आहाहा!

यहाँ से कहाँ जाना है? यह देह तो छूट जाएगी। जाना तो अवश्य है। यह तो अनादि-अनन्त जीव है। देह छूट जाएगी। कहीं अवतार तो लेना है। कहाँ जाएगा? कहाँ जाएगा? इसकी कुछ चिन्ता नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो केवलज्ञान की श्रद्धा कराने को अरिहन्त परमात्मा त्रिलोकनाथ का ज्ञान, वह भी व्यवहार है। है न? शुद्धसद्भूत-व्यवहार से केवलज्ञानादि... केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य—ऐसे अनन्त चतुष्टय जो भगवान को प्रगट होते हैं, ऐसे आदि अनन्त गुण की प्रगट दशा। शुद्ध गुणों के आधारभूत... आहाहा! केवलज्ञानादि शुद्ध

गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी... आहाहा! एक तो कहते हैं, अपने गुणों के आधार से है। वह कोई विश्व के आधार से नहीं। आहाहा! भगवान का ज्ञान, अरिहन्त का केवलज्ञान विश्व की किसी चीज़ के आधार से नहीं है। अपने गुण के आधार से प्रगट होता है। आहाहा!

विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी, उन परम भट्टारक केवली को मनप्रवृत्ति का (मन की प्रवृत्ति का, भावमनपरिणति का) अभाव होने से... आहाहा! भगवान केवली को मन है। जड़मन, परमाणु हृदय में है, परन्तु उस मन की प्रवृत्ति नहीं है। आहाहा! अभी तो केवली की, देव की पहिचान कराते हैं। देव ऐसे होते हैं। उन देव की पहिचान करे तो कहीं समकित होता है, ऐसा नहीं है। वह कहीं धर्म हो, ऐसा नहीं है। केवली की पहिचान करे तो अभी पुण्य होता है, धर्म नहीं। आहाहा! जन्म-मरणरहित होने के उपाय का प्रकार अलग है। यह तो मात्र देव कैसे होते हैं और उनकी श्रद्धा दूसरों की अपेक्षा सत्य किस प्रकार है, वह बतलाने के लिये यह कहते हैं और जिसे आत्मा का निश्चय हुआ है, उसे केवलज्ञानी ऐसे होते हैं, ऐसी व्यवहार श्रद्धा होती है। आहाहा! कहो, हसमुखभाई! यह तो धूल के कारण विचार किया ही न हो। पूरे दिन पैसा, धूल और मिट्टी।

मुमुक्षु : धन्धे के बिना दाने नहीं आते।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक दाना दूसरे दाने को स्पर्श नहीं करता, प्रभु! सुनना कठिन बात है। एक दाना दूसरे दाने को स्पर्श नहीं करता। यह हाथ दाने को स्पर्श नहीं करता। भाई! अभी तत्त्व की खबर नहीं होती। यह हाथ है, वह दाने को छूता नहीं—स्पर्श नहीं करता क्योंकि वह अलग चीज़ है, यह अलग चीज़ है। एक दाने में दूसरे दाने का अत्यन्त अभाव है, तो एक दाना दूसरे दाने को भी स्पर्श नहीं करता। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! गजब! कहाँ जाना? एक दाना दूसरे दाने को—छूता नहीं—स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा में है। समयसार की तीसरी (गाथा)। आहाहा!

एक द्रव्य जो वस्तु है, वह अपना गुण और पर्याय धर्म जो शक्ति है, उसे चुम्बन करता है परन्तु परद्रव्य को कभी तीन काल में चुम्बन नहीं करता। आहाहा! यह शरीर दूसरे शरीर को छूता नहीं—स्पर्श नहीं करता। यह वाणी होंठ को स्पर्श नहीं करती और कान को स्पर्श नहीं करती। गजब बात है, बापू! वीतराग का मार्ग कहीं रह गया और कहीं चला दिया है। भगवान ने तो अनन्त द्रव्य देखे हैं। केवलज्ञानी ने अनन्त द्रव्य (देखे हैं)।

तो अनन्त कब रहे ? कि अनन्त अपनी-अपनी पर्यायसहित रहे । किसी की पर्याय की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पर भी पर्याय बिना नहीं रहता । पर्याय अर्थात् अवस्था । प्रत्येक द्रव्य अवस्था बिना नहीं रहता । किसी भी समय में अवस्था बिना नहीं रहता । आहाहा !

यह लकड़ी है, वह अँगुली के-हाथ के आधार से नहीं है । गजब है, प्रभु ! मार्ग कठिन, बापू ! हाथ के आधार से यह नहीं है । उसमें-पर्याय में छह गुण हैं । लकड़ी की एक पर्याय में, एक अवस्था में छह गुण हैं । कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण । यह बड़ी लम्बी बात है । आहाहा ! वीतराग का एक अक्षर अलौकिक है । दुनिया पागल कहे ऐसा है । दुनिया पागल । पागल भगवान की वाणी को पागल जैसा कहता है । इसे स्पर्श नहीं करता - यह अँगुली इस लकड़ी को स्पर्श नहीं करती । आहाहा ! कैसे जँचे ?

दाल, भात, रोटी दाढ़ को स्पर्श नहीं करते । दाढ़ को आत्मा स्पर्श नहीं करता । दाढ़ रोटी के टुकड़े को स्पर्श नहीं करती । गजब बात है, प्रभु ! आहा ! वीतरागमार्ग कोई अलग प्रकार का है । उसकी खबर ही नहीं है । एक-एक द्रव्य स्वतन्त्र है । यह केवलज्ञान की बात चलती है । केवलज्ञानी को वांछा नहीं है । भाषा आती है परन्तु अपने आनन्द में हैं । उनका पर के ऊपर लक्ष्य नहीं है । आहाहा !

प्रत्येक पदार्थ अपने में रहता है । परपदार्थ को स्पर्श नहीं करता । यह हाथ इस पुस्तक को छूता है—स्पर्श करता है ? नहीं । आहाहा ! दुनिया से तो अलग है । दुनिया की बात... शरीर को आत्मा ने कभी स्पर्श नहीं किया । अनन्त काल हुआ, अनन्त शरीर हुए, अनन्त जन्म-मरण हुए, परन्तु आत्मा ने शरीर को स्पर्श नहीं किया । कैसे बैठे बात ? आहाहा ! तथा यह शरीर भी आत्मा को नहीं छूता, स्पर्श नहीं करता । दोनों स्वतन्त्र अपने-अपने कारण से पर्याय में परिणमते हैं । आहाहा !

इसी प्रकार यह भगवान भी केवलज्ञान की पर्याय में स्वयं के कारण से परिणमता है । यह परिणमने में वांछा-वांछा है नहीं । आहाहा ! साक्षात् भगवान विराजते हैं । सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं । बीस तीर्थकर, लाखों केवली विराजते हैं । आहाहा ! समवसरण में वाणी निकलती है । वाणी सुनने को इन्द्र आते हैं और जंगल में से बाघ, सिंह और सर्प आते हैं । बाघ, सिंह और सर्प । वाणी निकलती है, उसमें इच्छा नहीं है । वाणी के कारण से वाणी निकलती है । मैं दूसरों को वाणी से समझाऊँ, यह बात केवली

को नहीं है। आहाहा! और निचलीदशा में मैं दूसरे को समझाऊँ, ऐसे परिणाम (होते हैं, वे) राग के परिणाम हैं। आहाहा! कठिन बात है जगत को। यह राग है - दूसरे को समझाने का भाव विकल्प है, विकल्प है न? वह राग है। छद्मस्थ को परिणामपूर्वक वाणी निकलती है, इसलिए उसे बन्धन कहते हैं। आहाहा! कहाँ का कहाँ!

अल्पज्ञ प्राणी को परिणाम—भावपूर्वक वाणी निकलती है, इसलिए उसे राग है और बन्धन है। केवली को इच्छापूर्वक वाणी नहीं निकलती, इसलिए उन्हें राग नहीं है और बन्धन नहीं है। आहाहा! यह केवली अभी णमो अरिहन्ताणं—पहला पद अभी कितना है, इसकी खबर नहीं होती। णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं... पहाड़ा बोलता जाता है। इसका अर्थ क्या? आहाहा! यह बात कहते हैं, प्रभु!

केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी,... आहाहा! उन परम भट्टारक केवली को मनप्रवृत्ति का (मन की प्रवृत्ति का, भावमनपरिणति का) अभाव... आहाहा! हृदय में मन है। उस मन की प्रवृत्ति नहीं है। केवली को मन की प्रवृत्ति नहीं है। वाणी की नहीं है, देह की (प्रवृत्ति) नहीं है। देह, वाणी और मन, वह जड़ है। जड़ की अवस्था जड़ से होती है। जड़ की अवस्था आत्मा से तीन काल में नहीं होती। आहाहा! यह अँगुली इस पुस्तक को छूती है? नहीं। आहाहा! सत्य बात सुनना कठिन पड़ गयी। दुनिया आड़े रास्ते पर चढ़ गयी है।

सर्वज्ञ भगवान ने जितने पदार्थ देखे हैं, उन सब पदार्थों की पर्याय अपने काल में, अपने से पर की अपेक्षा बिना होती है। आहाहा! यह तो समयसार की तीसरी गाथा में आया न? प्रत्येक पदार्थ, अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु, एक धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश (असंख्य कालाणु), छह द्रव्य भगवान ने देखे हैं। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। उनमें एक भी द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। आहाहा! यह कैसे जँचे? यह केवली ने कहा है। वांछा बिना भी केवली की वाणी इस प्रकार से आयी है। उसे सच्चा देव माना कहलाता है। परन्तु जिसे देव की ही खबर नहीं कि देव क्या और क्या केवलज्ञान और उन्होंने क्या कहा? क्या कहा, खबर नहीं होती। आहाहा!

रोटी के दो टुकड़े करने की शक्ति आत्मा में नहीं है। वे टुकड़े जड़ से होते हैं। आत्मा माने कि मुझसे हुए हैं, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। पण्डितजी! दुनिया से अलग बात

है। आहाहा! एक रोटी के दो टुकड़े! अन्दर आहार लेना, वह तो है ही नहीं। आत्मा आहार नहीं ले सकता। यह तो पहले अपने आ गया है। आहार जड़ है। वह जड़ तत्त्व है। भगवान आत्मतत्त्व है। दो तत्त्व के बीच बहुत अन्तर है, अनन्त अभाव है। एक तत्त्व, दूसरे तत्त्व को स्पर्श नहीं करता तो दूसरे तत्त्व का कुछ कर सके, (यह तो कहाँ से हो?) आहाहा! यह तो पूरे दिन दुकान पर बैठा हो तो... ऐई मनसुख! मैंने किया... मैंने किया... यह किया... हमारी भी दुकान थी न पालेज में। वहाँ दुकान है। हमारी बुआ का लड़का है। भागीदार है। अभी बड़ी दुकान है। दुकान की पैड़ी पर बैठे थे, ऐसा चलाया, ऐसा चलाया। यह ग्राहक, यह... यह... मानों सब क्रिया मुझसे होती है। आहाहा! आत्मा तो अपने निर्मल परिणाम करे या मलिन परिणाम करे, इसके अतिरिक्त तीसरी चीज़ नहीं कर सकता। आहाहा! दुनिया से अलग चीज़ है, भाई! आहाहा! वह यहाँ कहते हैं।

मनपूर्वक प्रवृत्ति भगवान की नहीं है। वाणी निकलती है तो भी मनपूर्वक नहीं। आहाहा! उन्हें सर्वज्ञदेव कहते हैं। सर्वज्ञदेव... सर्वज्ञदेव... ऐसे भाषा में माने (परन्तु) उनका स्वरूप तो जाने नहीं।

केवली को मनप्रवृत्ति का (मन की प्रवृत्ति का, भावमनपरिणति का)... उसका अर्थ किया। एक द्रव्यमन है, एक भावमन है। यहाँ हृदय में द्रव्यमन रजकण है। जैसे होंठ है, शरीर है, मिट्टी, वह धूल है, ऐसी यह हृदय में धूल है। मन की धूल है। जैसे यह मिट्टी धूल है न... पूरा शरीर सब धूल है। तुम्हारे पैसे-बैसे सब धूल-मिट्टी है। यह मिट्टी मेरी है, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! ऐसी बात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्वामी हो - मालिक हो। यह मेरे पैसे हैं, मैंने यह पैसे का ऐसा धन्धा किया, भगवान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि मूढ़ है, मूर्ख है। हम कहते हैं, उस ज्ञायकतत्त्व की उसे खबर नहीं है। तत्त्व का स्वरूप क्या है, इसकी उसे खबर नहीं है। वह यहाँ कहते हैं।

भावमन नहीं है। भगवान को द्रव्यमन तो है। हृदय में अनन्त परमाणु का (बना हुआ द्रव्यमन है), परन्तु उससे प्रवृत्ति नहीं है और भावमन से प्रवृत्ति नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। भावमन में संकल्प-विकल्प होता है। आहाहा! यह तो अभी अरिहन्तदेव प्रथम णमो अरिहंताणं की पहिचान कराते हैं। **अभाव होने से इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता;**... भगवान को इच्छापूर्वक हलन-हलन इच्छापूर्वक नहीं है। बोलना इच्छापूर्वक नहीं है। आहाहा!

उनके पैर स्वयं से चलते हैं, आत्मा की प्रेरणा से पैर नहीं चलते। यहाँ भी जो पैर इस जमीन पर चलते हैं... दुनिया में कठिन बात है, प्रभु! वे पैर जमीन को स्पर्श नहीं करते। यह पैर चलते हैं। तो वे पैर जमीन को स्पर्श नहीं करते। जमीन उन्हें स्पर्श नहीं करती। कठिन है। दुनिया में पागल... आहाहा! यह हम प्रत्यक्ष चलते हैं और देखते हैं न, प्रभु! सुन-सुन। एक चीज़ और दूसरी चीज़ के बीच अन्योन्यअभाव है। पैर के परमाणु मिट्टी-धूल और यह नीचे परमाणु की धूल, प्रत्येक परमाणु-परमाणु के बीच अन्योन्यअभाव है। अभाव में एक-दूसरे को स्पर्श करते हैं, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। आहाहा! गजब बात है। लोग तो पागल ही कहे। हसमुखभाई! उसमें पैसेवाले, करोड़पति और अरबपति हों... आहाहा! सिर फिर जाए। करोड़ और ऐसा धूल भी नहीं है। यहाँ मन जड़ है, वह तेरा नहीं, वाणी तेरी नहीं, देह तेरी नहीं। वह तो हड्डियों की चीज़ है। वह अजीब और मिट्टी की चीज़ है। वह तो श्मशान में राख होगी। आहाहा! और तू उड़कर चला जाएगा कहीं। भानरहित कुछ करेगा नहीं, आत्मा की कुछ पहिचान नहीं करे (तो) मरकर कहीं चौरासी के अवतार में चला जाएगा। वहाँ कहीं कुदरत मदद नहीं करेगी। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, भगवान को इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिए वे भगवान 'केवलज्ञानी' रूप से प्रसिद्ध हैं;... आहाहा! इच्छापूर्वक बोलने, चलने की प्रवृत्ति भगवान को नहीं होती। वाणी, वाणी के कारण से निकलती है। यह वाणी भी अभी वाणी से निकलती है, वह आत्मा से नहीं। इस होंठ से भी नहीं। वाणी के परमाणु हैं, उनसे वाणी निकलती है। आहाहा! ऐसा समझना। संसार में गले तक घुस गया हो। पूरे दिन यह होली सुलगती है। भले पाँच-दस हजार दिन के पैदा होते हों। उसमें तो ऐसा हो जाए कि... आहाहा! मानो हम तो कहीं चढ़ गये। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक परमाणु को दूसरा परमाणु स्पर्श नहीं करता। आत्मा केवलज्ञानी भगवान उस मन की प्रवृत्ति से काम नहीं लेते। आहाहा! उन्हें इच्छा की वांछा और भावमन है ही नहीं। उन्हें अरिहन्तदेव कहते हैं। आहाहा! परमात्मा विराजते हैं। सीमन्धर भगवान त्रिलोकनाथ साक्षात् अभी महाविदेह में विराजते हैं। समवसरण होता है। इन्द्र, बाघ, सिंह व्याख्यान में जाते हैं। भगवान की वाणी मन की प्रवृत्ति से नहीं है तथा मैं बोलता हूँ, इसलिए यह वाणी है, ऐसा भी नहीं है। यह सभा भराई है, इसलिए मैं बोलूँ,

ऐसा भी नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम, प्रभु! वाणी जड़ है। प्रभु चेतन भिन्न है। वाणी के एक-एक परमाणु स्वतन्त्र जड़ है। एक-एक परमाणु जड़ है। दूसरे परमाणु का कुछ कर नहीं सकता। आत्मा उनका कर सके, यह मूर्ख की मान्यता अनादि की है। उसके कारण यह चौरासी के अवतार में भटकता है। चौरासी के अवतार चींटी, कौवा, कुत्ता, सूकर के अनन्त अवतार किये, बापू! आत्मा अनादि-अनन्त है। देह नाश को प्राप्त होगी। देह नाश होकर आत्मा कहीं मर नहीं जाएगा। जाएगा कहीं भटकने। आहाहा! और वापस मनुष्यपना अनन्त काल में मिलना मुश्किल है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। अभी केवलज्ञानी का निर्णय कर। केवलज्ञानी को **इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिए वे भगवान 'केवलज्ञानी' रूप से प्रसिद्ध हैं;**... इसलिए वे भगवान हैं। इस कारण से। इच्छापूर्वक नहीं, मन की प्रवृत्ति से नहीं, भाषा (नहीं), इसलिए भगवान केवलज्ञान में प्रसिद्ध हैं। **और उस कारण से वे भगवान अबन्धक हैं।** इच्छा बिना वाणी निकलती है। अनन्त तीर्थकर हुए। वर्तमान महाविदेह में मौजूद विराजमान हैं। लाखों केवली विराजते हैं। सबकी इच्छा बिना वाणी निकलती है और उन्हें इच्छा नहीं है, इसलिए बन्धन भी नहीं है। मैं उन्हें समझाऊँ, ऐसी इच्छा भगवान को नहीं है। आहाहा! सभा भरी है, इसलिए मैं भाषण करूँ, प्रभु! यह इच्छा है। यह राग भगवान को नहीं होता। आहाहा!

प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं परन्तु अब तुझे खबर नहीं। तू अन्दर कौन है? यह केवलज्ञानी का पुत्र तो केवलज्ञान अन्दर है। इसलिए यहाँ कहते हैं, केवलज्ञानी ऐसे होते हैं। और तू भी केवलज्ञानी ऐसा होगा। यदि इस प्रकार से अनुभव किया कि आत्मा राग से, पर से अत्यन्त भिन्न है, अपने आनन्द का स्वाद लेनेवाला है। आत्मा अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद (लेनेवाला है)। यह विषय का स्वाद है, वह तो जहरीला स्वाद है। जहर का प्याला पीता है। आहाहा! और यह धर्म करे, तब अन्दर से अमृत का प्याला आता है। उस अमृत के प्याले की अमृत पूर्ण दशा है, वह केवलज्ञान है। आहाहा! वे केवलज्ञानी बतलाकर देव की श्रद्धा कराते हैं कि देव ऐसे होते हैं। जिन्हें इच्छा नहीं है। समवसरण भरावे या वाणी करूँ या बोलूँ या प्ररूपण करूँ। आहाहा! वाणी भी वे नहीं करते न! वाणी जड़ है। आत्मा चैतन्य जड़ को नहीं कर सकता, स्पर्श नहीं करता। चैतन्य, भाषा को स्पर्श नहीं करता। यह ऐसी बात! अर..र..! जगत कहाँ? वस्तुस्थिति कहाँ? परमात्मा सर्वज्ञदेव ने कहा हुआ तत्त्व कहाँ और दुनिया कहाँ मानकर भटकती है। चौरासी के अवतार में अनन्त काल से भटकती है।

नरक और निगोद, सूकर और कौवे के अवतार कर-करके अनन्त-अनन्त किये हैं। अनादि काल का है। यह भव कहीं पहला नहीं है। इस भव से पहले भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... कहीं अन्त नहीं, इतने भव (किये हैं)। आहाहा! इस सत्य-सच्चे ज्ञान बिना, सत्य ज्ञान बिना इस चौरासी लाख में भटकना पड़ा। यह कहा।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (५२वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

ण वि परिणमदि ण गेणहदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्टेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥

ऊपर श्लोक है। उसका अर्थ नीचे है। (केवलज्ञानी)... भगवान, सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव पदार्थों को जानता हुआ भी... पदार्थों को जानते होने पर भी उन-रूप परिणमित नहीं होता,... आहाहा! शरीररूप, वाणीरूप, मनरूप भगवान परिणमित नहीं होते। आहाहा! क्योंकि अरूपी चैतन्य प्रभु भगवान अन्दर है। अरूपी। यहाँ भी इस देह को आत्मा स्पर्श नहीं करता। आत्मा ने देह को स्पर्श नहीं किया और देह ने आत्मा को स्पर्श नहीं किया। यहाँ भी (ऐसा है)। परन्तु यह कहाँ सुना है? हम मानो यह काम करते हैं, यह सब। आहाहा! अज्ञान और मूढ़ता अनादि काल की। अनन्त बार विपरीत किया है।

यहाँ कहते हैं (केवलज्ञानी) आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उन-रूप परिणमित नहीं होता,... ज्ञेय जो जाननेयोग्य अनन्त हैं, उन्हें जानता होने पर भी जाननेयोग्य चीज़ रूप नहीं होता। क्या कहा? भगवान केवलज्ञानी परमात्मा; ज्ञेय अनन्त हैं, उन्हें जानता होने पर भी, ज्ञेय जानने पर भी उनरूप नहीं होते। ज्ञेय ज्ञेयरूप रहते हैं, ज्ञान ज्ञानरूप रहता है। आहाहा! अनन्त बल के धनी हैं न! भगवान तो अनन्त बल के धनी हैं। वह अनन्त बल का धनी कुछ नहीं कर सकता? कर सकता है अपने में। अनन्त पुरुषार्थ करके केवलज्ञान प्रगट किया। पर का एक रजकण भी बदलने की ताकत, एक तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत आत्मा में तीन काल-तीन लोक में नहीं है। मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! समझ में आया? यह यहाँ कहते हैं।

आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उन-रूप परिणमित नहीं होता,... जानता है,

इसलिए उसरूप हो जाए, ऐसा नहीं होता। उन्हें ग्रहण नहीं करता... भगवान सर्व लोक को जाने, परन्तु ग्रहण नहीं करते। आहाहा! उन-रूप परिणामित नहीं होता,... उस जड़ को और चैतन्य को ग्रहण नहीं करते। भाषा को वे ग्रहण नहीं करते। आहाहा! यह प्रश्न वहाँ पालीताणा में उठा। केवली भाषा को ग्रहण करते हैं। पहले समय में ग्रहण करते हैं, दूसरे समय में छोड़ते हैं। तब। कितने वर्ष हो गये? कौन सा वर्ष? (संवत्) १९९५? १९९५ - ९५। १९९५ के वर्ष में गये थे न? यहाँ तो ४५ वर्ष हुए। सवा पैंतालीस। तब वहाँ गये थे। वैसे तो शरीर को ९१ वर्ष हुए। शरीर को ९१, सवा ९१ हुए। इस धूल को ९१ वर्ष (हुए)। आहाहा! तब वहाँ गये थे, तब वहाँ प्ररूपणा तो की थी। बड़ी सभा भरी है। गाँव में रामविजय और उनके आचार्य थे। (वे ऐसा कहते), ऐसा नहीं है। भगवान वाणी को पहले समय में ग्रहण करें, दूसरे समय में छोड़ें। कहा ग्रहे-ग्रहे बिल्कुल नहीं। जड़ को आत्मा ग्रहण नहीं करता और जड़ को आत्मा छोड़ता नहीं। यह १९९५ के वर्ष की बात है। ४२ वर्ष हुए। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ आया न? उन-रूप परिणामित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता... वाणी को आत्मा ग्रहण नहीं करता। अरे रे! ऐसी बातें! वाणी जड़ है। मन यहाँ है, वह जड़, मिट्टी, धूल है। भगवान चैतन्यस्वरूप उस धूल को स्पर्श नहीं ही करता। आहाहा! उन्हें परिणाम है ही नहीं। ग्रहण नहीं करता। मन आदि को भी भगवान ग्रहण नहीं करते। आहाहा! एक यथार्थ अन्दर ऐसा ज्ञानस्वरूप जँचे, उसे जन्म-मरण मिटे बिना नहीं रहते परन्तु यथार्थ—जैसा है वैसा। अपनी कल्पना कहीं भी रखकर माने, वह चौरासी के अवतार में भटक मरनेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वे पररूप तो परिणामित नहीं होते। उसे ग्रहण नहीं करते और उन पदार्थरूप में उत्पन्न नहीं होता... आहाहा! केवलज्ञानी अरिहन्त भगवान लोक को जानते हैं, परन्तु उस लोकरूप परिणामित नहीं होते। आहाहा! अपनी पर्याय में अपने से परिणामित होते हैं। पर को जानते-देखते हैं, वह भी व्यवहार है। अपने को जाने, उसमें लोकालोक ज्ञात हो जाता है। आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ केवली परमात्मा ने जो आत्मा कहा, उस आत्मा को अन्दर में जाना, उसमें स्व और पर लोकालोक का ज्ञान अपने से अपने में होता है। उस परपदार्थ से नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! जानने में परपदार्थ भी नहीं। जानने में यहाँ

ज्ञान उसके आत्मा का गुण है। यह ज्ञेय—जिसे जाने उसका वह (गुण) नहीं है। आहाहा!

आत्मा के अतिरिक्त जितने ज्ञेय हैं, भगवान से लेकर दूसरे कोई भी ज्ञेय, उस किसी ज्ञेय में इष्ट-अनिष्टता है नहीं। यह इष्ट है और यह अनिष्ट है, ऐसा ज्ञेय में नहीं है। आहाहा! ऐसा ज्ञेय का सब स्वभाव भगवान केवलज्ञान में एक समय में जानते हैं। परन्तु वह हेय है और यह उपादेय है, ऐसा भगवान को नहीं है। आहाहा! उनके भगवान तो जगत के कर्ता हैं। ईश्वरकर्ता। इनके भगवान वाणी के कर्ता, चलने के कर्ता। सब एक ही... आहाहा! यहाँ तो वाणी और शरीर का कर्ता भी आत्मा नहीं। आहाहा! जगत से उल्टा है। जगत उल्टा है, उससे यह उल्टा है। आहाहा!

एक समय में परमात्मा इच्छा बिना पर को जानने पर भी, पररूप परिणमित नहीं होते, पर को ग्रहण नहीं करते और पर में उत्पन्न नहीं होते। तीन बोल समझ में आते हैं? भगवान केवलज्ञानी परमात्मा तीन काल-तीन लोक को एक समय में जानते हैं। तथापि उस रूप परिणमित नहीं होते। पररूप नहीं होते। पररूप नहीं होते और उन्हें ग्रहण नहीं करते। आहाहा!

कहाँ आकाश अनन्त... अनन्त... आकाश। यह रहते हैं, वह तो असंख्य योजन में ही यह है। जड़-चैतन्य की स्थिति असंख्य योजन में है। पश्चात् अनन्त योजन दशों दिशा खाली.. खाली.. खाली.. खाली.. खाली.. आकाश। अनन्त आकाश चलते जाओ.. चलते जाओ.. कहीं अन्त नहीं। यह चौदह ब्रह्माण्ड है, वह तो चौदह राजू लोक में असंख्य योजन में ही है। पश्चात् अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. आकाश है। उस सर्व को जानते हैं। आकाश अनन्त है, अमाप है। दसों दिशाओं में आकाश का अन्त कहाँ? चारों दिशा में आकाश अन्तरहित है। बीच में चौदह ब्रह्माण्ड राई जितना है। चौदह राजू लोक। इस आकाश को भी एक समय में जानते हैं। आहाहा! केवलज्ञानी एक समय में (जानते हैं)। उस आकाश का अन्त नहीं है। अन्त नहीं है, ऐसा अन्त नहीं है—ऐसे जानते हैं। अन्त नहीं है। अन्त है, ऐसा जानते हैं, ऐसा है नहीं। क्या कहा? आकाश का अन्त नहीं है। तो अन्त नहीं है, ऐसा जानते हैं। कहीं उसका अन्त है? अन्त कहाँ? आकाश के पश्चात् क्या? पश्चात् क्या? पश्चात् क्या? पश्चात् क्या? आहाहा! इन सबको जानते हैं, परन्तु उसरूप परिणमित नहीं होते, उसे ग्रहण नहीं करते, उसरूप उत्पन्न नहीं होते। आहाहा!

उसे अबन्धक कहा है। इसलिए भगवान को अबन्धक कहा है। भगवान हैं। देह है, भले वाणी निकलती हो। वाणी और शरीर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। अकेला शरीर अकेला है। भगवान को आहार नहीं, पानी भी नहीं, रोग नहीं, दवा नहीं, कुछ नहीं। आहाहा! एक शरीरमात्र है, वह स्थिति प्रमाण रहेगा। छूटेगा तब मोक्ष होगा। शरीरसहित होवे, उसे अरिहन्त कहने में आता है। महावीर आदि भगवान अभी सिद्धपद में हैं। अभी अरिहन्त पद में नहीं हैं। अभी अरिहन्त पद में भगवान (सीमन्धरस्वामी आदि) हैं। आहाहा!

भगवान जब शरीरसहित विचरते थे, तब भी अरिहन्त शरीरसहित केवलज्ञानी थे और उस महाविदेह में... आहाहा! भगवान विराजते हैं। वे भी शरीरसहित होने से शरीरसहित हैं। आहाहा! उनकी वाणी-बाणी कोई करते नहीं। वाणी, वाणी के कारण से निकलती है। आहाहा! आत्मा के बिना वाणी निकलती है? इस दीवार में से निकलनी चाहिए। ऐसा प्रश्न आया है। यहाँ तो ४५ वर्ष हुए। यहाँ इस जंगल में सवा पैंतालीस वर्ष जंगल में हुए। तैंतालीस वर्ष में आये थे। तैंतालीस वर्ष में आये और सवा पैंतालीस हुए। ९१ चलता है। ९१-९१ माता के गर्भ में आये उसे कल ९२ वर्ष हो गये। जहाँ से-भगवान के पास से आये वहाँ से।

सीमन्धर भगवान विराजते हैं, वहाँ थे। वहाँ से यहाँ आये हैं। वह दिन कल था। कल ९२वाँ (वर्ष का) दिन था। परमात्मा का विरह है। परिणाम ऐसे रहे नहीं। सभा में जाते थे, भगवान की साक्षात् वाणी अनेक बार सुनी। अन्त में मरते हुए... राजकुमार थे। घर में हाथी-घोड़ा, बड़ा राज्य, अरबों की आमदनी का, परन्तु मरते हुए परिणाम में जरा फेरफार हो गया, इसलिए यहाँ आये हैं। गरीब कठियावाड़ देश में। आहाहा! वह बात ही अलग है। प्रभु! तीन लोक के नाथ की कही हुई है। आहाहा! दुनिया को जरा कठिन लगता है। यह और नया कहाँ से निकाला? अभी तक तो कोई कहते नहीं थे। आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। यह अंगुली इसे स्पर्श नहीं करती। कौन माने? यह वीतराग ने कहा है और यह वीतराग... आहाहा! अबन्धक हैं। ऐसा कहा है, तथापि अबन्धक हैं। उनके परिणाम में राग नहीं है। यह सब वाणी इच्छा बिना निकली है। परमात्मा को इच्छा बिना वाणी निकलती है, इसलिए बन्धक नहीं है।

श्लोक-२८८

और (इस १७२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(मंदाक्रांता)

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं,
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं,
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥२८८॥

(वीरछन्द)

भुवन-भवन में स्थित सर्व पदार्थ जानते अरु देखें।
मोहक्षीण है अतः किसी को भी कदापि नहीं ग्रहण करें ॥
ज्ञान-ज्योति के द्वारा जिनने नष्ट किया मलरूपी क्लेश।
केवल ज्ञाता-दृष्टा रहते महिमामय वे देव जिनेश ॥२८८॥

[श्लोकार्थः—] सहजमहिमावन्त देवाधिदेव जिनेश लोकरूपी भवन के भीतर स्थित सर्व पदार्थों को जानते हुए भी, तथा देखते हुए भी, मोह के अभाव के कारण समस्त पर को (-किसी भी परपदार्थ को) नित्य (-कदापि) ग्रहण नहीं ही करते; (परन्तु) जिन्होंने ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेश का नाश किया है, ऐसे वे जिनेश सर्व लोक के एक साक्षी (-केवल ज्ञातादृष्टा) हैं ॥२८८॥

श्लोक -२८८ पर प्रवचन

और (इस १७२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं,
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।

मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं,
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥२८८॥

क्या कहते हैं ? सहजमहिमावन्त देवाधिदेव जिनेश लोकरूपी भवन के भीतर... पूरे लोक-ब्रह्माण्ड के अन्दर भगवान हैं। भगवान कहीं लोक के बाहर नहीं हैं। लोक के अन्दर रहते हैं। चौदह ब्रह्माण्ड है, उसमें भगवान हैं। आहाहा! है ? इस ओर श्लोक। सहजमहिमावन्त... जिनके आनन्द और ज्ञान की महिमा स्वाभाविक है। उसे कोई उपमा दे सके, ऐसी वह चीज़ नहीं है। ऐसा ही प्रभु इस आत्मा का स्वभाव है। जैसे वे भगवान हैं, वैसा ही यह भगवान है। ऐसे सब भगवान हैं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि भगवान लोकरूपी भवन के भीतर... नहीं रहते। वे लोक में नहीं रहते। अलोक में रहते हैं ? लोकरूपी भवन के भीतर स्थित सर्व पदार्थों को जानते हुए भी,... लोकरूपी भवन के अन्दर भले रहें सर्व पदार्थों को जानते हुए भी, तथा देखते हुए भी, मोह के अभाव के कारण... आहाहा! वे तो अपने में हैं। भाषा आकाश में है। वह भाषा निकलती है, वह जड़ से निकलती है। मोह के अभाव के कारण समस्त पर को (-किसी भी परपदार्थ को) नित्य (-कदापि) ग्रहण नहीं ही करते;... आहाहा!

भगवान अपने हाथ को भी ऊँचा नहीं करते। आहाहा! भगवान हिल सकते नहीं, हिल सकते नहीं। आकाश में अधर चलते हैं। वह जड़ की पर्याय जड़ से चलती है। आत्मा तो उसका जानने-देखनेवाला है। आहाहा! यह कहने का कारण यह कि सबका आत्मा ऐसा है। आहाहा! भगवान की बात चलती है परन्तु आत्मा सब अन्दर भगवान है। चैतन्यस्वरूपी पूर्ण भगवान विराजता है, परन्तु रंक को खबर नहीं होती। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण वीर्य का पिण्ड प्रभु अन्दर आत्मा है। वह है, वह प्रगट होता है। न हो, उसमें से प्रगट नहीं होता। प्राप्त की प्राप्ति है। अन्दर सब भगवान हैं। आहाहा! पूरी दुनिया द्रव्यदृष्टि से देखो; द्रव्य अर्थात् उसके स्वभावदृष्टि से देखो तो वे सब भगवान है। पर्याय में विकार है, उसके कारण भटकते हैं। आहाहा!

अभी पर्याय क्या कहलाती है ? और द्रव्य क्या कहलाता है ? (इसकी खबर नहीं होती)। आहाहा! द्रव्य—वस्तु। कायम रहनेवाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं और उस द्रव्य

की वर्तमान अवस्था, हालत, दशा होती है। हालत, अंश, परिणमन को पर्याय कहते हैं। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं।

मोह के अभाव के कारण समस्त पर को (-किसी भी परपदार्थ को) नित्य (-कदापि) ग्रहण नहीं ही करते;... आहाहा! पूर्ण दशा प्रगट हुई तो किसी को ग्रहण नहीं करते कि यह मेरा शिष्य है। भगवान तो ऐसे हैं। वे तो वीतराग अपने अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप के अनुभव में हैं। पर को जानते हैं, वह भी व्यवहार है। पर का कर्ता तो नहीं। अपने अतिरिक्त कोई परचीज, भगवान को आहार और पानी और रोग, यह तो होता ही नहीं। आहाहा! परन्तु भगवान इसे स्पर्श भी नहीं करते। आहाहा! ऐसा जो भगवान परपदार्थ को नित्य ग्रहण नहीं करते। लो!

वहाँ (संवत्) १९९५ में। रामविजय वहाँ थे। (वे कहे), भगवान पहले समय में वाणी ग्रहण करते हैं और दूसरे समय में छोड़ते हैं। १९९५ की बात है। ४२ वर्ष हुए। कहा, यह बात मिथ्या है। भगवान ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं, यह है ही नहीं। भगवान वाणी ग्रहण करे और छोड़े, (यह मिथ्या बात है।) सुननेवाले को खबर नहीं होती और जयनारायण करे। सुननेवाले को खबर नहीं होती कि भगवान को वाणी निकले? वाणी न बोले? वाणी ग्रहे तब बोले न? वाणी को ग्रहे नहीं, वाणी को छोड़े नहीं, वाणीरूप परिणमे नहीं, वाणी को पकड़े नहीं। आहाहा! यह तो अभी णमो अरिहन्ताणं की यह व्याख्या है। ऐसी व्याख्या इस आत्मा की है। कहाँ दरकार है? यह दुनिया की धूल जरा मिले, पाँच-पच्चीस लाख जहाँ मिले और लड़का कुछ ठीक हो और स्त्री (रूपवान हो)... हो गया। गिरा कुँए में। आहाहा! अन्दर भिन्न भगवान है।

केवलज्ञानी सर्व को जानते हैं तो भी किसी को ग्रहण नहीं करते तो तू भी आत्मा है। तू आत्मा भी किसी को ग्रहण और त्याग नहीं कर सकता। समझ में आया? देखो! है न? मलरूप क्लेश का नाश किया है... मोह के अभाव के कारण समस्त पर को (-किसी भी परपदार्थ को) नित्य (-कदापि) ग्रहण नहीं ही करते; (परन्तु) जिन्होंने ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेश का नाश किया है, ऐसे वे जिनेश सर्व लोक के एक साक्षी (-केवल ज्ञातादृष्टा) हैं। जानने-देखनेवाला है। अपने अतिरिक्त किसी शिष्य आदि को देते-लेते नहीं। वाणी है। अकेले वीतराग हैं। उन्हें अरिहन्त पद कहा जाता है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१७३-१७४

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
 परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥
 ईहा-पुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
 ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

परिणामपूर्ववचनं जीवस्य च बन्धकारणं भवति ।
 परिणामरहितवचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बन्धः ॥१७३॥
 ईहा-पूर्वं वचनं जीवस्य च बन्ध-कारणं भवति ।
 ईहा-रहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बन्धः ॥१७४॥

इह हि ज्ञानिनो बन्धाभावस्वरूपमुक्तम् । सम्यग्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धि-
 पूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमनःपरिणामपूर्वकमिति यावत् । कुतः ? अमनस्काः केवलिनः इति
 वचनात् । अतः कारणाज्जीवस्य मनःपरिणतिपूर्वकं वचनं बन्धकारणमित्यर्थः, मनःपरिणाम-
 पूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति, ईहापूर्वं वचनमेव साभिलाषात्मकजीवस्य बन्धकारणं भवति,
 केवलिमुखारविन्दविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मकः समस्तजनहृदयाह्लादकारणं; ततः सम्य-
 ग्ज्ञानिनो बन्धाभाव इति ।

रे बन्ध कारण जीव को परिणामपूर्वक वचन हैं ।
 है बन्ध ज्ञानी को नहीं परिणाम विरहित वचन है ॥१७३॥
 है बन्ध कारण जीव को इच्छा सहित वाणी अरे ।
 इच्छा रहित वाणी अतः ही बन्ध नहीं ज्ञानी करे ॥१७४॥

अन्वयार्थ : [परिणामपूर्ववचनं] परिणामपूर्वक (मनपरिणाम पूर्वक) वचन

[जीवस्य च] जीव को [बंधकारणं] बन्ध का कारण [भवति] है; [परिणामरहित-वचनं] (ज्ञानी को) परिणामरहित वचन होता है [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानिनः] ज्ञानी को (केवलज्ञानी को) [हि] वास्तव में [बंधः न] बंध नहीं है।

[ईहापूर्व] इच्छापूर्वक [वचनं] वचन [जीवस्य च] जीव को [बंधकारणं] बन्ध का कारण [भवति] है; [ईहारहितं वचनं] (ज्ञानी को) इच्छारहित वचन होता है [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानिनः] ज्ञानी को (केवलज्ञानी को) [हि] वास्तव में [बंधः न] बन्ध नहीं है।

टीका : यहाँ वास्तव में ज्ञानी को (केवलज्ञानी को) बन्ध के अभाव का स्वरूप कहा है।

सम्यग्ज्ञानी (केवलज्ञानी) जीव कहीं भी स्वबुद्धिपूर्वक अर्थात् स्वमनपरिणाम-पूर्वक वचन नहीं बोलता। क्यों ? “अमनस्काः केवलिनः (केवली मनरहित हैं)” ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से। इस कारण से (ऐसा समझना कि)—जीव को मन-परिणतिपूर्वक वचन बन्ध का कारण है, ऐसा अर्थ है और मनपरिणतिपूर्वक वचन तो केवली को होता नहीं है; (तथा) इच्छापूर्वक वचन ही *साभिलाषस्वरूप जीव को बन्ध का कारण है और केवली के मुखारविन्द से निकली हुई, समस्त जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत दिव्यध्वनि तो अनिच्छात्मक (इच्छारहित) होती है; इसलिए सम्यग्ज्ञानी को (केवलज्ञानी को) बन्ध का अभाव है।

प्रवचन-२०५, गाथा-१७३-१७४, श्लोक २८९-२९०, गुरुवार, आषाढ कृष्ण १२, दिनांक ०७-०८-१९८०

(गाथा) १७३-१७४ नियमसार।

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।

परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥

ईहा-पुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ।

ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

* साभिलाषस्वरूप=जिसका स्वरूप साभिलाष (इच्छायुक्त) हो ऐसे।

रे बन्ध कारण जीव को परिणामपूर्वक वचन हैं।

है बन्ध ज्ञानी को नहीं परिणाम विरहित वचन है ॥१७३॥

है बन्ध कारण जीव को इच्छा सहित वाणी अरे।

इच्छा रहित वाणी अतः ही बन्ध नहीं ज्ञानी करे ॥१७४॥

टीका : यहाँ वास्तव में ज्ञानी को (केवलज्ञानी को) बन्ध के अभाव का स्वरूप कहा है। कोई ऐसा कहता है कि केवलज्ञानी को भाषा जो है, वह भाषावर्गणा का वचन पहले समय में ग्रहण करते हैं, दूसरे समय में छोड़ते हैं। ऐसा कहते हैं। यह बात मिथ्या है। श्वेताम्बर में ऐसा लेते हैं। हम पालीताणा गये थे न ? वहाँ रामविजय थे। हमारी सभा में बहुत लोग थे। उन्हें खबर पड़ी तो कहे, नहीं। केवली वचन ग्रहण करते हैं। पहले समय में ग्रहण करते हैं और दूसरे समय में छोड़ते हैं। यहाँ कहते हैं कि वे वचन को स्पर्श ही नहीं करते। आहाहा! भगवान अरूपी चैतन्य; वाणी रूपी जड़, दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है।

आत्मा सम्यग्ज्ञानी (केवलज्ञानी) जीव कहीं भी स्वबुद्धिपूर्वक अर्थात् स्वमनपरिणामपूर्वक... मन के परिणामपूर्वक वचन नहीं बोलता। आहाहा! क्या कहते हैं ? भाषावर्गणा की वचन की पर्याय उस समय में होनेवाली है, वह होती है। आत्मा से नहीं। आहाहा! कौन माने ? जिस समय में भाषावर्गणा... क्यों ?... कि चेतन में स्व-परप्रकाशक शक्ति है और वाणी में स्व-पर कहने की शक्ति है। आहाहा! वाणी में, भगवान के कारण नहीं। भगवान का केवलज्ञान है, इसलिए वाणी में कुछ शक्ति आयी, ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! भगवान को केवलज्ञान है तो छद्मस्थ की अपेक्षा उस वाणी में कुछ विशेष फेरफार पड़ा, ऐसा नहीं है। वह तो उसी समय वाणी के जो परमाणु भाषावर्गणारूप थे, वह भाषावर्गणा, वचनवर्गणारूप से हुई, उसमें आत्मा का कुछ अधिकार नहीं है। केवली का अधिकार बिल्कुल नहीं है। आहाहा! वहाँ भी नहीं और यहाँ भी नहीं। यहाँ भी यह वचन है, वह वचन स्वतन्त्र निकलता है, आत्मा से नहीं। आहाहा! यह वचन जो निकलता है, वह भाषावर्गणा में से भाषा आती है। आत्मा तो अरूपी है, आत्मा तो उसे स्पर्श नहीं करता। वाणी तो आत्मा को स्पर्श नहीं करती... आहाहा! और वाणी निकलती है।

यहाँ कहते हैं, वाणी निकलने के दो प्रकार। भगवान तो 'अमनस्काः केवलिनः' (केवली मनरहित हैं) ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से। इस कारण से (ऐसा समझना कि)—जीव को मन-परिणतिपूर्वक वचन बन्ध का कारण है... आहाहा! मन में जुड़ान हो... सूक्ष्म बात है, प्रभु! अन्तर्मन परमाणु है। यहाँ अनन्त परमाणु है, उनमें जो जुड़ान हो-जुड़ान अर्थात् सम्बन्ध। उस सम्बन्धपूर्वक यदि वाणी निकले तो रागपूर्वक वाणी बन्ध का कारण है। आहाहा! है? जीव को मन-परिणतिपूर्वक... आहाहा! आत्मा की परिणतिपूर्वक नहीं। आहाहा! भाषा निकलती है, वह आत्मा से नहीं। दिव्यध्वनि... आहाहा! दुनिया के पुण्य के कारण निकलती है, ऐसा निमित्त है। वह तो उस समय भाषा की पर्याय निकलनी थी, वह निकली है। आहाहा! इसी प्रकार प्रत्येक समय में प्रत्येक पदार्थ की जो कुछ पर्याय होती है, वह स्वयं से पर्याय के काल में पर्याय होती है। दूसरे से नहीं तथा आगे-पीछे नहीं, आगे-पीछे नहीं। आहाहा!

यह वचन मन-परिणतिपूर्वक वचन बन्ध का कारण है, ऐसा अर्थ है और मनपरिणतिपूर्वक वचन तो केवली को होता नहीं है;... आहाहा! केवली को ऐसा नहीं होता कि मैं समझाऊँ, वाणी निकालूँ। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार बनाकर—टीका बनाकर अन्तिम श्लोक में कहा, अरे! जीवों! मैं यह वाणी-टीका करता हूँ, ऐसा न मानो। आहाहा! टीका की पर्याय जड़ और मेरी पर्याय चेतन। इस टीका की पर्याय मैंने की नहीं है। आहाहा! एक बात। दूसरी बात कि हमारी टीका तुम्हारे कान में पड़ती है तो उससे कुछ ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। अरे! आहाहा! वाणी हमसे तो नहीं परन्तु वाणी तुझे कान में पड़े तो कान को भी वाणी स्पर्श नहीं करती और आत्मा को तो छूती ही नहीं। तथा ज्ञान जो अन्दर होता है, वह वाणी से नहीं होता। उस समय की उस जीव की ज्ञान की पर्याय होनेवाली है, वह होती है। आहाहा! गजब बात है।

जिस समय में जिस द्रव्य की पर्याय स्वयं से होती है, उस पर्याय में षट्कारक हैं। क्या कहते हैं? भाषा जो बोली जाती है, वह भाषावर्गणा की पर्याय है। उस पर्याय में षट्कारक हैं। पर्याय में। पर्याय कर्ता, पर्याय का कर्ता पर्याय, पर्याय का कार्य पर्याय, पर्याय का साधन पर्याय, पर्याय करके अपने में रखना, पर्याय से पर्याय हुई और पर्याय का आधार पर्याय। एक समय में षट्कारक से भाषा उत्पन्न होती है। भगवान से नहीं।

आहाहा! साधारण लोगों को तो... भगवान से तो नहीं परन्तु दूसरे किसी प्राणी को मनपूर्वक राग होता है, उससे भी वाणी नहीं निकलती। आहाहा! वाणी के काल में ही भाषावर्गणा में जो वाणी होने की पर्याय का काल है, तब वह होती है। उसके बदले हम कहते हैं, हमने ऐसा समझाया, उसको ऐसा कहा, यह सब मिथ्यात्व का अहंकार है। मिथ्यात्व का अहंकार है। आहाहा! क्योंकि पर का कर नहीं सकता और हम कर सकते हैं, ऐसा मानना, (वह मिथ्यात्व है)। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा!

यहाँ यह कहते हैं, मनपरिणति का भगवान को अभाव है। इसलिए वचन बन्ध का कारण है, ऐसा अर्थ है और मनपरिणतिपूर्वक वचन तो केवली को होता नहीं है;... मनपरिणतिपूर्वक वचन तो होता ही नहीं। आहाहा! वीतराग... वीतराग। एक परमाणु की पर्याय भी आत्मा नहीं कर सकता।

एक परमाणु में दो गुण चिकनाई हो और दूसरे परमाणु में चार गुण चिकनाई (स्निग्धता) होवे तो दोनों मिलकर चार होते हैं, तो एक परमाणु में दो के चार हुए। वे चार जो (हुए वे) दूसरा परमाणु है, उसके कारण से नहीं। आहाहा! क्या कहा? शास्त्र में ऐसा आता है कि एक परमाणु में दो गुण स्निग्धता (हो और) दूसरा चार गुण स्निग्धता हो तो स्कन्ध होता है परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता और यह दो स्निग्धता थी और यहाँ चार हुई, इसलिए चार के कारण वहाँ दो हुई, ऐसा नहीं है। चार के कारण चार हुई। दो पर्याय थी, वहाँ चार (हुई) तो उसके कारण चार हुई नहीं है। अपनी पर्याय में ही चार होने की उस समय की योग्यता थी। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं केवली को होता नहीं है; (तथा) इच्छापूर्वक वचन ही साभिलाषस्वरूप जीव को... सअभिलाषा-इच्छापूर्वक। आहाहा! जीव को बन्ध का कारण है....

मुमुक्षु : अभिलाषासहित होवे तो बन्ध का कारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा-इच्छा। इच्छापूर्वक वाणी निकलती है, वह बन्ध का कारण है। प्रभु! कठिन बात। छद्मस्थ को भी इच्छा करके मैं बोलूँ, यह मिथ्या बात है। भाषा परमाणु की पर्याय उस समय स्वतन्त्र (होती है)। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! भाषा बोल सकता नहीं। आहाहा! तो फिर शरीर को हिला सके? आहाहा! यह कहते हैं।

केवली के मुखारविन्द से निकली हुई,.... आहाहा! इसमें दो अर्थ हैं। मुखारविन्द लौकिक की अपेक्षा से कहा है। बाकी तो पूरे शरीर में से ॐ निकलता है। भगवान को पूरे शरीर में से ॐ ध्वनि निकलती है। मुखारविन्द से तो लोगों की भाषा की अपेक्षा से कहा है। समझ में आया? भगवान की वाणी मुख से नहीं निकलती। मुख तो बन्द है, होंठ बन्द है, अन्दर से पूरे शरीर में से ॐ ध्वनि (होती है)। 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे। ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारै...' आहाहा! 'रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारै।' ये दोनों स्वतन्त्र हैं। आहाहा! बहुत कठिन काम।

वाणी के कर्ता नहीं। केवली कर्ता तो नहीं परन्तु छद्मस्थ कर्ता नहीं। आहाहा! क्योंकि वाणी परमाणु है। एक-एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ जुड़ता नहीं। यह स्कन्ध है। इसमें एक परमाणु दूसरे परमाणु से स्पर्श नहीं करता। गजब बात है, प्रभु! यह अनन्त परमाणु का स्कन्ध-पिण्ड है। इसमें एक-एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! प्रत्येक परमाणु अपने स्वचतुष्टय में रहता है। स्वचतुष्टय का अर्थ (यह कि) अपना द्रव्य, अपना क्षेत्र, अपना काल और अपना भाव। पर को तो एक परमाणु स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तब यह शोर मचाते हैं कि कर्म के कारण विकार होता है और कर्म के कारण विकार होता है। सब झूठा है। आहाहा! कठिन काम है। वस्तु की मर्यादा...

कोई भी द्रव्य अनन्त गुण से भरपूर है। आत्मा में गुण इतने हैं कि तीन काल के समय के... एक सेकेण्ड में असंख्य समय, ऐसे तीन काल के समय, उससे अनन्तगुणे गुण हैं। आत्मा में उससे अनन्तगुणे गुण हैं। परन्तु वे गुण होने से कोई गुण ऐसा नहीं है कि... यह प्रश्न चला था कि इसमें अनन्त गुण हैं तो एक गुण इच्छा करे, राग करे, पर का कर दे, ऐसा कोई गुण होवे तो क्या दिक्कत है? ऐसा प्रश्न चला था। नहीं। कुछ पर का कर सके, यह बात तीन काल में नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कर सके, मदद करे, सेवा करे, सहायक हो, सहारा दे, यह बात होती नहीं। आहाहा! कठिन बात है। यह यहाँ कहते हैं।

साभिलाषस्वरूप जीव को बन्ध का कारण है और केवली के मुखारविन्द से निकली हुई,.... यह चर्चा अभी चलती है कि किसी समय मुखारविन्द से निकलती है और किसी समय आत्मा के शरीर में से (निकलती है - ऐसा लिखा है)। पंचास्तिकाय

की टीका में पहले पूरे शरीर में से ॐ निकला, ऐसा पाठ है। उनके मुखारविन्द से। यह व्यवहार है। मुखारविन्द से कहा, यह व्यवहार से। बाकी निश्चय से ॐ ध्वनि पूरे शरीर में से निकलती है। होंठ बन्द। आहाहा! शरीर कँपता नहीं, अन्दर भाषा बोले नहीं और पूरे शरीर में से ॐ आवाज आती है। यह ॐ गणधर सुनते हैं और गणधर देव, शास्त्र की रचना करते हैं। आहाहा! यह शास्त्र की रचना करते हैं, उसे भी यहाँ ... कहा है।

प्रभु! हमने यह टीका बनायी है, ऐसा मत मानो। इस मोह से मत नाचो और इस टीका से तुझे ज्ञान होता है, ऐसे मोह में न नाचो। आहाहा! क्योंकि टीका की वाणी भिन्न है, तेरा तत्त्व भिन्न है और मैं भिन्न हूँ। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! वीतरागमार्ग से... ओहो! एक-एक रजकण और एक-एक आत्मा अपनी पर्याय के अतिरिक्त, वह भी षट्कारक से पर्याय उत्पन्न होती है, इसके अतिरिक्त पर का कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, केवली को वचन, मनपूर्वक नहीं है, इच्छापूर्वक नहीं है, इसलिए वाणी बन्ध का कारण नहीं है। वाणी, वाणी के कारण से निकली। आहाहा! भाई! प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टय में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विराजमान है। किसी को किसी का अवलम्बन-आश्रय नहीं है। आता है न? ... आता है। लोक को बनाकर (लिखते हैं) अन्योन्य परस्पर उपग्रह करो। अखबार में बहुत आता है। परस्परोग्रह - परस्पर उपकार करते हैं। ऐसा है नहीं। उसका (उस सूत्र का) ऐसा अर्थ वचनिका में है। सर्वार्थसिद्धि वचनिका में ऐसा लिया है कि उपग्रह कहा न? वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। निमित्त पर को-वाणी को करे, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार है, भाई! एक-एक आत्मा और एक-एक परमाणु (स्वतन्त्र परिणमित होता है)।

यहाँ कहते हैं, इच्छापूर्वक भगवान की वाणी नहीं है। समस्त जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत... यह भी व्यवहार। समस्त जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत दिव्यध्वनि... आहाहा! श्रोता को आह्लाद होता है, वह तो स्वयं के कारण से है। वाणी तो निमित्तमात्र है। निमित्त पर में कुछ नहीं करता। निमित्त की अस्ति है। किसी भी कार्य में निमित्त की अस्ति सहायक होती है परन्तु निमित्त से उसमें कुछ होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह इसके ऊपर रहा है। नहीं, नहीं। एक-एक परमाणु स्वयं में रहा हुआ है। कठिन बात है, भगवान! एक-एक परमाणु स्वयं में षट्कारक

से रहा है। कोई उसके नीचे के कारण से रहा है और अँगुली उसको स्पर्श करती है, उसका भगवान निषेध करते हैं। अँगुली उसे स्पर्श नहीं करती। क्योंकि उसमें और अँगुली, दोनों में अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव है। तो अत्यन्त अभाव है, उसमें स्पर्श करना कहाँ से आया? हमारी गुजराती भाषा में अड़े (कहते हैं)। स्पर्श करे, पर मैं प्रवेश करे, ऐसी बात है नहीं। आहाहा! कठिन काम है। यह सब व्यापार-धन्धा, दुकान में बैठकर (करे)। यह धन्धा-बन्धा आत्मा से नहीं होता। ऐई! मनसुख! यह धन्धा अपने से नहीं होता। धन्धा के परमाणु की पर्याय उस समय में ऐसी होनेवाली हो, वह होती है। आत्मा इस धन्धे की पर्याय का कर्ता बने, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! वीतरागमार्ग दुनिया में कहीं नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ में, उसमें भी दिगम्बर में जो बात है, ऐसी बात कहीं है नहीं। ऐसी बात किसी स्थान में नहीं है। आहाहा!

कहते हैं कि वाणी मनपूर्वक नहीं होती है। **समस्त जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत...** देखो! निमित्त कहा। यह निमित्त से लिया। सुननेवाले के हृदय में आह्लाद होता है, उसका-आह्लाद का कर्ता तो वह आत्मा है। वाणी तो निमित्त है। वाणी से वहाँ आह्लाद होता है, ऐसा है नहीं। कठिन बात है। मार्ग बहुत कठिन प्रभु! आहाहा! **समस्त जनों के...** भाषा है न? कि **समस्त जनों के...** थोड़े लोगों के लिये नहीं। सर्व जनों के **हृदय को आह्लाद के कारणभूत...** उनके हृदय को आह्लाद के निमित्तरूप। कारणरूप अर्थात् निमित्तरूप। आहाहा! **दिव्यध्वनि तो अनिच्छात्मक (इच्छारहित) होती है;**... भगवान को दिव्यध्वनि अनिच्छात्मक होती है। आहाहा! जड़ को क्या खबर पड़े कि यह सर्वज्ञ है और मैं सर्वज्ञ की बात करता हूँ। आहाहा! सर्वज्ञ हुए और दिव्यध्वनि आयी, यह जड़ को कहाँ खबर है?

मुमुक्षु : ६६ दिन तक वाणी....

पूज्य गुरुदेवश्री : ६६ दिन तक वाणी नहीं निकली। वाणी होने के योग्य नहीं थी। वाणी होने के लायक परमाणु नहीं थे। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तो मुद्दे की बात है। मुद्दे की बात समझना बहुत कठिन, बहुत कठिन। आहाहा! पूरी दुनिया में करूँ... मैं करूँ... 'मैं करूँ... मैं करूँ... यही अज्ञान है, गाड़ी का भार जो श्वान खींचे।' जैसे गाड़ी बैल से चलती है, उसके नीचे कुत्ता खड़ा हो तो उसे स्पर्श करे तो ऐसा मानो कि मुझसे

गाड़ी चलती है। इसी प्रकार जगत के पदार्थ अपनी परिणति से परिणम रहे हैं, वहाँ मनुष्य खड़ा हुआ हो, ऐसा मानता है कि मुझसे होता है, वह कुत्ते जैसा है। यहाँ तो सत्य है न, बापू! आहाहा!

वीतरागदेव त्रिलोक नाथ... मुनि तो नागा बादशाह से आघा। ये तो नग्न मुनि हैं, इन्हें बादशाह की परवाह नहीं है। जिन्हें समाज की परवाह नहीं है कि इस वचन से समाज सुगठित रहेगा या नहीं? आहाहा! ऐसे उपदेश से समाज में समतोल (रहेगा नहीं) और भाग पड़ जाएँगे या नहीं? दरकार नहीं है। एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ। आहाहा! मार्ग यह है।

समस्त जनों के हृदय को आह्लाद के कारणभूत... कारणभूत है, हों! निमित्त। दिव्यध्वनि तो अनिच्छात्मक (इच्छारहित) होती है; इसलिए सम्यग्ज्ञानी को (केवलज्ञानी को) बन्ध का अभाव है। केवली को मनपरिणतिपूर्वक भाषा नहीं है। भाषा, भाषा के कारण से है। इसलिए उन्हें बन्ध नहीं है। आहाहा! कठिन बातें! भाषा निकले, उसके काल में निकले। स्वकाल है। भाषा निकलने का क्रमबद्ध... जिस समय में एक भाषा की पर्याय होनेवाली हो, उस समय में क्रमबद्ध होती है। पर के कारण से नहीं। आहाहा! पर्याय में क्रमबद्ध जिस समय में जो पर्याय होनेवाली हो, वह उस समय में होगी। ऐसा अनादि-अनन्त सब पदार्थ में क्रमबद्धपर्याय है। केवली भी क्रमबद्धपर्याय को बदल नहीं सकते। आहाहा! तो फिर भाषा कहाँ से कर सकते हैं? बहुत विचार नहीं, गहरा विचार किया नहीं। ऐसे का ऐसा संसार के जगजाल में धन्धा-धन्धा, मजदूरी, मजदूरी में प्रभु की वाणी (एक ओर रह गयी)। आहाहा!

केवली कहते हैं कि मुझसे वाणी नहीं होती। आहाहा! मेरी इच्छा और मन नहीं है, इसलिए वाणी नहीं है। अज्ञानी को इच्छापूर्वक वाणी निकलती है। वह वाणी इच्छा है, इसलिए निकलती है, ऐसा नहीं है परन्तु इच्छापूर्वक वाणी है, इसलिए उस इच्छा के कारण बन्धन है। अल्पज्ञ प्राणी को सर्वज्ञ के अतिरिक्त इच्छा है, वाणी वाणी के कारण से निकलती है। इच्छापूर्वक वाणी नहीं निकलती। इच्छापूर्वक कहने का अर्थ यह है कि भगवान को इच्छा नहीं है और इसको इच्छा है इतना। परन्तु इच्छा से वाणी होती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! ऐसी बात लोगों को जँचे किस प्रकार? आहाहा!

इस जमीन पर पैर चलते हैं न, तो पैर के रजकण जमीन को स्पर्श नहीं करते। जमीन को स्पर्श नहीं किया और यह उन्हें नहीं छूता। आहाहा! अपनी-अपनी पर्याय में परिणमते हैं, काम लेते हैं। दूसरे की पर्याय नहीं करते और पर्याय के साथ जुड़ते नहीं। आहाहा! यह बात यहाँ की है। इच्छारहित भगवान को बन्धन नहीं है। इसलिए सक्कगज्ञानी को (केवलज्ञानी को) बन्ध का अभाव है।

श्लोक-२८९

[अब इन १७३-१७४ वीं गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं:—]

(मंदाक्रांता)

ईहा-पूर्व वचन-रचना-रूप-मत्रास्ति नैव,
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता ।
अस्मिन् बन्धःकथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं,
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम् ॥२८९॥

(वीरछन्द)

इच्छा सहित वचन रचना का केवलि प्रभु को नहीं विधान।
अतः लोक के एक नाथ वे जिनवर अतिशय महिमावान् ॥
द्रव्यबन्ध अरु भावबन्ध उनको हो सकता है कैसे?।
मोहक्षीण है अतः उन्हें नहीं रागद्वेष का पुञ्ज अरे! ॥२८९॥

[श्लोकार्थः—] इनमें (केवली भगवान में) इच्छापूर्वक वचनरचना का स्वरूप नहीं ही है; इसलिए वे प्रगट-महिमावान्त हैं और समस्त लोक में एक (अनन्य) नाथ हैं। उन्हें द्रव्यभावस्वरूप ऐसा यह बन्ध किस प्रकार होगा? (क्योंकि) मोह के अभाव के कारण उन्हें वास्तव में समस्त राग-द्वेषादि समूह तो है नहीं ॥२८९॥

श्लोक - २८९ पर प्रवचन

[अब इन १७३-१७४ वीं गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं:—]

ईहा-पूर्व वचन-रचना-रूप-मत्रास्ति नैव,
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता ।
अस्मिन् बन्धःकथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं,
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम् ॥२८९॥

श्लोकार्थ : आहाहा! इनमें (केवली भगवान में) इच्छापूर्वक वचनरचना का स्वरूप नहीं ही है;... गजब बात! ॐकार ध्वनि निकलती है, उसकी रचना करनेवाला (भगवान) आत्मा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वाणी के कारण से उस समय में निकलने की योग्यता से वाणी निकलती है। इच्छापूर्वक वचनरचना का स्वरूप नहीं ही है;... भगवान को। इसलिए वे प्रगट-महिमावन्त हैं और समस्त लोक में एक (अनन्य) नाथ हैं। इच्छा नहीं होती, मन के साथ जुड़ान नहीं होता तो वाणी तो कहाँ से आवे? ऐसे प्रभु अनन्य महामहिमावन्त परमात्मा देव की पहिचान कराते हैं। अरिहन्तदेव ऐसे होते हैं। आहाहा! जो वाणी के कर्ता नहीं, जिन्हें इच्छा नहीं, उन भगवान को रोग हो और उन्हें दवा हो और दवा लें, यह सब बात....

मुमुक्षु : भोजन ही न हो तो बीमार कैसे पड़े ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार के परमाणु को आत्मा स्पर्श ही नहीं करता। कठिन बात है, प्रभु! यह दाल, भात यहाँ जीभ को स्पर्श नहीं करते। जीभ उन्हें स्पर्श नहीं करती क्योंकि जीभ के परमाणु भिन्न हैं और आहार के परमाणु भिन्न हैं। एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। आहाहा! आहार करनेवाला आहार... यह तो आया है। तुम्हारे हिन्दी में भी होगा 'दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम।' ऐसा आता है न कुछ? वह नाम कहाँ था? उसका अर्थ (यह कि) जो परमाणु जो इसके पास आनेवाले हैं, वे आयेंगे। यह कहे कि मैं यह लाऊँ, सब्जी लाऊँ, रोटी लाऊँ, यह लाऊँ - यह सब मिथ्याभ्रम है। आहाहा! समझ में आया? ला सकता नहीं, बना सकता नहीं। आहाहा!

केवली का दृष्टान्त दिया। तीन लोक का नाथ पूर्ण केवलज्ञान, समय एक... आहाहा!

समन्तभद्राचार्य स्तुति में (कहते हैं), प्रभु! आपका समय एक ओर इस द्रव्य में द्रव्य, गुण और पर्याय तीन। आप एक समय में द्रव्य-गुण-पर्याय तीन को जानते हो। वह भी एक के नहीं परन्तु अनन्त के। एक समय के दो भाग नहीं पड़ते। आहाहा! एक समय में... 'क' बोले, उसमें असंख्य समय जाते हैं। ऐसे एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान होता है और प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य-गुण-पर्याय तीन हैं। आप एक पर्याय और इन तीन को जानो? ऐसे अनन्त तीन को जानो। यह आपका सर्वज्ञ का चिह्न है। यह आपका सर्वज्ञ का लक्षण है। यह हमको बैठा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

प्रभु! समय एक। 'क' बोले उसमें असंख्य समय (जाते हैं)। आहाहा! एक समय में व्यवहार से अनन्त द्रव्य जो एक-एक द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों हैं, समय का भाग नहीं पड़ता और यह द्रव्य-गुण-पर्याय तीन हैं। एक में तीन जाने, ऐसे अनन्त के तीन जानते हैं। एक समय में अनन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानते हैं। प्रभु! यह कहा, हमको हुआ कि आप सर्वज्ञ हो। आहाहा! सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसी वाणी कभी नहीं निकलती। आहाहा! समझ में आता है?

समय किसे कहते हैं? इसके दो भाग नहीं पड़ते। ऐसे एक समय में भगवान केवली त्रिलोकनाथ तीन काल-तीन लोक (जानते हैं)। आकाश का जहाँ अन्त नहीं, बाहर चौदह ब्रह्माण्ड हैं, वे असंख्य योजन में हैं। चौदह ब्रह्माण्ड। इसके अतिरिक्त अनन्त आकाश खाली... खाली... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... दशों दिशाओं में कहीं अन्त नहीं। उसमें यह चौदह ब्रह्माण्ड एक राई समान हैं। राई समान। अलोक अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त आकाश। चला ही जाता है। आकाश का कहाँ अन्त है? अन्त होवे तो बाद में क्या? आहाहा! उसका भी ज्ञान आप एक समय में करते हो। आहाहा!

यह देव की पहिचान कराते हैं। णमो अरिहन्ताणं करे, ऐसा कोई देव... देव—दिव्यशक्ति, जिसकी एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक के द्रव्य-गुण-पर्याय एक-एक के तीन, एक-एक के तीन, ऐसे अनन्त के, समय के भेद पड़े बिना एक समय में प्रभु आप जानते हो, यह आपका सर्वज्ञ का लक्षण है। आहाहा! यह आया। आहाहा! समन्तभद्राचार्य ने टीका की है न? भक्ति-स्तुति करके? इस स्तुति में कहा है। आचार्य तो गजब काम कर गए हैं। आहाहा! कोई भी आचार्य दिगम्बर हो, गजब काम करते हैं।

वीतराग की वाणी में वीतराग को भुला दिया है। वीतराग की वाणी में ही मानो वीतराग हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं प्रगट-महिमावन्त हैं और समस्त लोक में एक (अनन्य) नाथ हैं। नाथ अर्थात् जाननेवाले। नाथ अर्थात् रक्षा करनेवाले नहीं। नाथ है न? नाथ अर्थात् रक्षण करनेवाले नहीं। नाथ के दो अर्थ होते हैं। जोगक्षेम के करनेवाले को नाथ कहते हैं। जोगक्षेम करनेवाले को नाथ कहते हैं। इसका अर्थ? जो चीज़ है, उसे बराबर जाने न दे और दूसरी चाहिए हो नयी तो प्राप्त करावे, उसे जोगक्षेम कहा जाता है। जोग और क्षेम के भाव को यहाँ जोग कहते हैं। आहाहा! भगवान के पास तो वह भी नहीं है। आहाहा!

बापू! अरिहन्त किसे कहें? आहाहा! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय अपने द्रव्य-गुण को जाने; अपनी दूसरी अनन्त पर्याय व्यक्त है, उसे जाने; एक समय की पर्याय लोकालोक को जाने; एक समय की पर्याय वह एक ही वस्तु है। आहाहा! यह क्या कहा? एक ही पर्याय। ज्ञान की एक ही पर्याय। बस, एक पर्याय तीन काल-तीन लोक को जाने। एक समय की पर्याय द्रव्य-गुण को जाने, एक समय की पर्याय अपनी अनन्त पर्यायें हैं, उन्हें जाने। आहाहा! ऐसी तत्त्व की बात है, भगवान! आहाहा! सूक्ष्म लगती है परन्तु वस्तु तो ऐसी है।

परमात्मा तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान विराजते हैं। वहाँ सब भाषण होते हैं। सिंह आता है, बाघ आता है, एकावतारी इन्द्र आता है। पहले देवलोक का इन्द्र एकावतारी है। सौधर्म देवलोक का इन्द्र और एक मुख्य इन्द्राणी, दोनों एक भव करनेवाले हैं। मनुष्य होकर मोक्ष में जानेवाले हैं। वे भगवान के पास सुनने जाते हैं। आहाहा! वह कैसी वाणी होगी! एकावतारी—एक भव में मोक्ष जाना निश्चित है। इन्द्र और इन्द्राणी भगवान के निकट सुनने जाते हैं। आहाहा! वहाँ समवसरण चलता है। महाविदेह में प्रभु का समवसरण चलता है। अरे! वहाँ का विरह पड़ गया। भरतक्षेत्र में प्रभु का विरह पड़ा।

कहते हैं कि तू प्रभु है न! तेरा विरह तुझे नहीं है। तेरा विरह तुझे नहीं है। तू आत्मा है न, नाथ! पूर्णानन्द और यह हम पंचम काल के प्राणी के लिए हम कहते हैं। ऐसा न समझो कि पंचम काल के प्राणी, इसलिए काल बाधक होता होगा। एक काल दूसरे काल को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! उस प्राणी को ऐसा कहते हैं। पंचम काल के प्राणी, अरे! अप्रतिबुद्ध को ऐसा कहते हैं। अड़तीस गाथा में कहा। आहाहा! समझता तो है। समझाया

इतना अपने में समझता है। परन्तु समयसार की ३८वीं गाथा में यहाँ तक किया, प्रभु! मैं जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त हुआ, वह अप्रतिहत है। मैं गिरनेवाला नहीं हूँ। पाँचवें काल का जीव ऐसा बोलता है। ३८ गाथा में है। समयसार ३८ (गाथा)। आहाहा! भगवान ने-मुनियों ने जब उसे समझाया, समझकर समकित प्राप्त हुआ, ज्ञान प्राप्त हुआ, चारित्र प्राप्त हुआ। ३८ (गाथा) में पाठ है। और कहते हैं कि प्रभु! यह अप्रतिहत है। मैं यहाँ सम्यग्दर्शन से छूँडूँ, वह कभी नहीं है। पंचम काल का प्राणी है तो भी कहता है कि सम्यग्दर्शन हुआ, वह गिरेगा नहीं। मैं गिरूँगा नहीं, ऐसा ३८वीं गाथा में पाठ है। समयसार की ३८ गाथा। आहाहा!

यह यहाँ कहा मोह के अभाव के कारण उन्हें वास्तव में समस्त राग-द्वेषादि समूह तो है नहीं। भगवान को। आहाहा! द्रव्यभावस्वरूप ऐसा यह बन्ध किस प्रकार होगा? ओहोहो! वाणी भी निकलती है तो कहते हैं कि मनपूर्वक नहीं। ज्ञानपूर्वक तो नहीं ही। क्या कहा? वाणी जो भगवान की... भगवान को पहिचानना, बापू! यह बात कहीं साधारण है? भगवान त्रिलोकनाथ अरिहन्तदेव कहते हैं कि हमें वाणी तो नहीं। हम वाणी तो बोलते ही नहीं। इच्छा ही नहीं है। हम तो आनन्द-ज्ञान में हैं। आहाहा! भाषा की पर्याय भी होती है। वह आता है-भविजन के पुण्य के कारण से। यह स्तवन में आता है। 'भवि भागन वश' यह भी निमित्त से कथन है। भवि भागन के वश, यह निमित्त से कथन है। आहाहा!

उस समय में वाणी की पर्याय दिव्यध्वनि में बराबर होनेवाली थी, वह वाणी हुई है। उसकी इच्छा तो करता नहीं, परन्तु उसका ज्ञान करता नहीं। केवलज्ञान, ज्ञान है, तो ज्ञान की पर्याय भी वाणी की कर्ता नहीं है। आहाहा! ऐसे सब प्राणी। भगवान! तू आत्मा ज्ञानस्वरूप है न, नाथ! ज्ञान किसे करे? वह ज्ञान तो दूसरे द्रव्य में अभावरूप है। वह ज्ञान उसमें अभावरूप है। और परद्रव्य के अभावरूप यह ज्ञान है। तेरा ज्ञान भी वाणी करे और शरीर को हिलावे, प्रभु! यह बात नहीं बनती। आहाहा! गजब बात है। वीतरागमार्ग... आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर, अरे! त्रिलोकनाथ का विरह पड़ा, भरत में भगवान नहीं। भगवान रह गये महाविदेह में। आहाहा! एक वाणी रही। वाणी में से भगवान निकालना है। यह कहीं वाणी में से नहीं निकलेगा। अपना भगवान अपने भगवान में से निकलेगा। आहाहा! गजब बात है।

श्लोक-२९०

(मंदाक्रांता)

एको देवस्त्रिभुवन-गुरुर्नष्ट-कर्माष्टकार्धः,
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने नैव बन्धो न मोक्षः,
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ॥२९०॥

(वीरछन्द)

जो त्रिभुवन के गुरु हैं जिनने चार घाति का किया विनाश ।
जिनका ज्ञान त्रिलोक-भवन के सकल पदार्थों का आवास ॥
एक वही साक्षात् देव हैं उन्हें बन्ध या मोक्ष नहीं ।
उन्हें नहीं है कोई मूर्छा और कोई चेतना नहीं ॥२९०॥

[श्लोकार्थः—] तीन लोक के जो गुरु हैं, चार कर्मों का जिन्होंने नाश किया है और समस्त लोक तथा उसमें स्थित पदार्थसमूह जिनके सद्ज्ञान में स्थित हैं, वे (जिन भगवान) एक ही देव हैं । उन निकट (साक्षात्) जिन भगवान में न तो बन्ध है, न मोक्ष, तथा उनमें न तो कोई ^१मूर्छा है, न कोई ^२चेतना (क्योंकि द्रव्यसामान्य का पूर्ण आश्रय है) ॥२९०॥

श्लोक - २९० पर प्रवचन

दूसरा श्लोक

एको देवस्त्रिभुवन-गुरुर्नष्ट-कर्माष्टकार्धः,
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने नैव बन्धो न मोक्षः,
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ॥२९०॥

१- मूर्छा=अभानपना; बेहोशी; अज्ञानदशा । २- चेतना=सभानपना; होश; ज्ञानदशा ।

श्लोकार्थ : आहाहा! तीन लोक के जो गुरु हैं, चार कर्मों का जिन्होंने नाश किया है... भाषा, कथनी आवे (कि) चार कर्म का नाश किया। कर्म तो जड़ है। जड़ का आत्मा नाश कर सकता है? परन्तु यह निमित्त से कथन है। यह व्यवहार कथन है या निश्चय कथन है, यह समझे बिना गड़बड़ करते हैं। है? भगवान चार घातिकर्मों का नाश करते हैं, यह निमित्त है। वह कर्म है, कर्मरूपी पर्याय परिणामी है। उससे छूटकर अकर्मरूप परिणामे, ऐसी उसकी ताकत है। भगवान को केवलज्ञान हुआ, इसलिए चार घातिकर्म का नाश हुआ... आहाहा! ऐसा भी नहीं है। बहुत अन्तर। आहाहा!

मुमुक्षु : उलट-पुलट।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया से उलट-पुलट बात है, भाई!

परम सत्य, परम सत्य का पुकार है। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ का परम सत्य का पुकार जगत के समक्ष है। जगत सुने, समझे या नहीं समझे परन्तु उनका पुकार यह है। मेरे सामने देखने से भी तुझे राग होगा। मैं परद्रव्य हूँ। तेरा द्रव्य और मेरा द्रव्य कभी एकमेक है नहीं और मुझसे तुझे लाभ हो, यह बिल्कुल किंचित् झूठी बात है। आहाहा! यह तो केवली कहते हैं, वीतराग कहते हैं। दूसरे तो घर-बर चला देंगे।

यह ज्ञानस्वरूप भगवान... यह कहते हैं कि इतना ज्ञान मुझमें उत्पन्न हुआ तो भी मैं वाणी का कर्ता नहीं हूँ। मेरा भाव तो मुझमें काम करता है। मुझमें अन्दर आनन्द और शान्ति का काम करता है। वाणी बोलने में मेरा ज्ञान काम नहीं करता। आहाहा! है?

चार कर्मों का जिन्होंने नाश किया है... यह भी व्यवहार। कर्म पर है, आत्मा पर है, तो पर, पर का कुछ कर सके, ऐसा तीन काल में नहीं होता। यह तो संक्षिप्त में कथन करना होवे तो कैसे करे? संक्षिप्त में यह कथन किया। भगवान ने चार कर्म का नाश किया। भगवान तो केवली, पृथक्, ये चार कर्म जड़। वे जड़ को छूते भी नहीं। छूआ नहीं तो नाश किस प्रकार करे? आहाहा! परन्तु वह कर्म जो होनेवाली पर्याय है, वह उसका अकर्म होने का पर्याय का काल था। कर्मरूपी पर्याय जो है, यहाँ भगवान को यहाँ ज्ञान हुआ तो कर्मरूप पर्याय जो है, वह अकर्मरूप हुई। वह इसके कारण से नहीं - केवलज्ञान के कारण से नहीं। आहाहा! गजब बात है। जगत को वीतरागमार्ग सर्वज्ञ का मार्ग अन्दर

में बैठना, बापू! अलौकिक बात है। भव का अभाव करे, ऐसी यह बात है। यह है न, भाई! बात ऐसी है। अरे रे! आहाहा!

तीन लोक के जो गुरु हैं, चार कर्मों का जिन्होंने नाश किया है और समस्त लोक तथा उसमें स्थित पदार्थसमूह जिनके सदज्ञान में स्थित हैं,... भाषा देखो! जिसके ज्ञान में लोकालोक स्थित है। है नहीं। लोकालोक सम्बन्धी अपना ज्ञान है, उस ज्ञान में लोकालोक ज्ञात होते हैं, इस कारण लोकालोक अपने ज्ञान में हैं, ऐसा कहने में आया है।

दूसरी बात। लोकालोक है तो यहाँ केवलज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। केवलज्ञान होने में पर की अपेक्षा है ही नहीं। एक स्वाश्रय भगवान त्रिलोकनाथ आत्मा अनन्त आनन्द का स्वामी, उस स्वाश्रय में जहाँ जाता है, वहाँ केवल(ज्ञान) पाता है। आहाहा! समझ में आया? जरा सूक्ष्म पड़ेगा, प्रभु! परन्तु अब यह समझने जैसी बात है। पूरे दिन मैंने कार्य किया। यह किया और वह किया और यह किया। आहाहा! प्रभु! तू तो ज्ञाता है न, प्रभु! तू तो ज्ञानस्वरूप है न? ज्ञानस्वरूप क्या करे? ज्ञानस्वरूप जाने-देखे। ज्ञानस्वरूप करे? आहाहा! कठिन बात है। परमसत्य तो ऐसा है, बापू! आहाहा!

उसमें स्थित पदार्थसमूह जिनके सदज्ञान में स्थित हैं,... भाषा देखो! लोकालोक ज्ञान में स्थित है। इसका अर्थ कि लोकालोक तो लोकालोक में है, परन्तु उस सम्बन्धी जो ज्ञान (उसमें लोकालोक झलकता है)। वास्तव में तो भगवान लोकालोक को जानते हैं, यह असद्भूतव्यवहार है। कठिन पड़ेगा। भगवान केवली लोकालोक को जानते हैं, यह असद्भूतव्यवहार है, परवस्तु है परन्तु अपनी पर्याय में उस स्व और पर को जानने की ताकत है तो अपने से जानते हैं। अपने में अपने से जानते हैं। आहाहा! गजब है, बापू! मार्ग अलग, प्रभु! साधारण लोग दया पालो, व्रत करो, प्रतिमा ले लो और यह ले लो। बापू! अनन्त बार किया, प्रभु! परन्तु तूने सत्य को हाथ दिया नहीं – तूने सत्य को स्पर्श किया नहीं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

सदज्ञान में स्थित हैं,... है? उसमें स्थित पदार्थसमूह जिनके सदज्ञान में स्थित हैं, वे (जिन भगवान) एक ही देव हैं। जगत में एक ही देव भगवान अरिहन्त हैं। आहाहा! भले ही सब बहुत देव कहते हैं परन्तु एक ही देव है। इनके अतिरिक्त कोई देव है नहीं। आहाहा! वैष्णव में कर्ता कहे, श्वेताम्बर में भगवान को रोग कहे, श्वेताम्बर में भगवान

को रोग कहते हैं। केवली को रोग! वे दवा खायें, सब विरुद्ध है। वीतरागमार्ग से विरुद्ध है। वीतरागमार्ग तो यह है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी का एक ही मत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही मत है। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ।' एक ही मत—अभिप्राय त्रिकाल में है। आहाहा!

जिनके सदज्ञान में स्थित हैं, वे (जिन भगवान) एक ही देव हैं। आहाहा! दिव्य शक्ति प्रगट की, देव—आत्मदेव शक्तिरूप भगवान है। भगवान में से पर्याय में भगवान आये। प्राप्त में से प्राप्ति हुई। कुँए में से अवेड़ा को क्या कहते हैं? हौज में पानी आता है। कुँए में न हो तो हौज में कहाँ से आयेगा? इसी प्रकार भगवान आत्मा अन्दर केवलज्ञान अनन्त-अनन्त गुण का सागर है। अनन्त गुण का सागर-समुद्र भरा है। आहाहा! उसमें से केवलज्ञान आया है। समझ में आया?

उन निकट (साक्षात्) जिन भगवान में न तो बन्ध है... आहाहा! न मोक्ष,... दोनों पर्याय हुई न? बन्ध और मोक्ष दो पर्याय है। पर्याय, वह व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! है? मोक्ष का अर्थ यह। पर्याय में तो मोक्ष है। बन्ध पर्याय है। परन्तु वह बन्ध और मोक्ष वह पर्याय है। संसार भी आत्मा की पर्याय है। स्त्री, पुत्र, परिवार, वह संसार नहीं है। वह तीन काल में संसार नहीं है। संसार—'संसरण इति संसारः।' अपने स्वरूप से हटकर राग-द्वेष में आवे, वह संसार। आहाहा! वह पर्याय है। मोक्ष भी एक पर्याय है, बन्ध भी एक पर्याय है। उस पर्याय को व्यवहार कहकर वह भगवान को नहीं है, ऐसा कहा। आहाहा! एक-एक शब्द में...

तथा उनमें न तो कोई मूर्छा है, न कोई चेतना (क्योंकि द्रव्यसामान्य का पूर्ण आश्रय है)। चेतना अर्थात् नया कुछ करना है, चेतना विशेष करनी है, यह केवली को नहीं है। वे पूर्ण हो गये हैं। विशेष कहेंगे.... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२९० कलश है।

एको देवस्त्रिभुवन-गुरुर्नष्ट-कर्माष्टकार्थः,
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम्।
आरातीये भगवति जिने नैव बन्धो न मोक्षः,
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च॥२९०॥

अरिहन्त भगवान को इच्छा नहीं होती, इसे सिद्ध करने के लिये अधिक बात स्पष्ट करते हैं। भगवान बोलते हैं, ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह वास्तव में उन्हें इच्छा नहीं होती। इच्छा बिना परमात्मा अरिहन्त को वाणी निकलती है, इसलिए उन्हें बन्ध का कारण नहीं है।

श्लोकार्थ : तीन लोक के जो गुरु हैं,... सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा तीन लोक के गुरु हैं। तीन लोक को जानते हैं, इसलिए उसके गुरुरूप से कहने में आते हैं। अथवा उत्तम में उत्तम पुरुष जो इन्द्र आदि और गणधरादि हैं, उनके वे गुरु हैं। इसलिए उन्हें तीन लोक के गुरु कहा जाता है। **चार कर्मों का जिन्होंने नाश किया है...** चार कर्म अर्थात् वाणीवाले लेना है न? अकेले सिद्ध नहीं लेना। **चार कर्मों का जिन्होंने नाश किया है...** चार कर्म जिन्हें बाकी हैं। आठ कर्मों में। **और समस्त लोक तथा उसमें स्थित पदार्थसमूह जिनके सदज्ञान में स्थित हैं,...** लो! तीन काल और तीन लोक जिनके सदज्ञान में स्थित हैं, लो! अर्थात् कि उनका ज्ञान पूर्ण वर्तता है। वापस ऐसा कहते हैं कि **पदार्थसमूह जिनके सदज्ञान में स्थित हैं,...** इनके ज्ञान में स्थित हैं। इसका अर्थ कि जितने तीन काल -तीन लोक हैं, वह सब भगवान के ज्ञान में मानो वर्तता है। एक क्षण में ज्ञान में जाने, ऐसा जो अरिहन्त पद है।

वे (जिन भगवान) एक ही देव हैं। ऐसे हों, उन्हें देव कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्यो ने कल्पित किये हुए देव, वे देव नहीं हो सकते। जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक जिनके ज्ञान में मानो वर्तते हैं और इच्छा बिना जिन्हें वाणी होती है, वे एक ही देव हैं। इसके अतिरिक्त जगत में कोई सच्चा देव नहीं है। **उन निकट**

(साक्षात्) जिन भगवान में... साक्षात् जिनभगवान के विषय में न तो बन्ध है, न मोक्ष,... बन्ध भी नहीं है और मोक्ष भी नहीं है। भावमोक्ष तो हो गया है। बाह्य मोक्ष अभी चार कर्म का बाकी है। इसलिए मोक्ष भी अभी नहीं और बन्ध भी नहीं। भगवान को बन्ध भी नहीं और अभी पूर्ण मोक्ष भी नहीं। चार कर्म का जो अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होना चाहिए, वह नहीं है। भावमोक्ष है।

तथा उनमें न तो कोई मूर्छा है... अज्ञानदशा। जानने का कुछ बाकी हो, ऐसा उसमें है नहीं। न कोई चेतन... अर्थात् जानना कुछ बाकी है, ऐसा है नहीं। पूर्ण आश्रय द्रव्य का प्रगट हो गया है। ऐसे वे भगवान एक ही देव हैं। उनकी वाणी इच्छा बिना निकलती है। उन्हें अभिलाषापूर्वक वाणी होती नहीं। उन्हें बन्ध होता नहीं। छद्मस्थ प्राणी को वाणी तो वाणी के कारण से निकलती है परन्तु उसे नीचे इच्छापूर्वक होती है, इसलिए वह बन्ध का कारण है। नीचे बन्ध का कारण है। उन्हें बन्ध का कारण नहीं। दशा पूर्ण हो गयी है। २९० कहा।

मुमुक्षु : चेतना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतना कहा न। जानने का बाकी नहीं अथवा आश्रय करना बाकी नहीं। पूर्ण आश्रय हो गया। चेतना अर्थात् अन्दर एकाग्र होना अब बाकी नहीं है। प्रश्न तो करे न! कहो, समझ में आया ? नीचे स्पष्टीकरण किया है। (**क्योंकि द्रव्यसामान्य का पूर्ण आश्रय है**)। है न ? अब आश्रय करना बाकी नहीं है। यहाँ तो नहीं चेतना, ऐसा कहना है। नहीं चेतना में पूर्ण चेतना है, ऐसा होगा ? नहीं चेतना अर्थात् अब कुछ चेतना, आश्रय करना बाकी नहीं है। वह तो जैसा हो, वैसा होवे न। २९०।

देखो! ऐसे अरिहन्त भगवान को ऐसी दशा होती है। उन्हें पूर्व के कर्म के कारण से वाणी निकलती है परन्तु उन्हें इच्छा, राग और अभिलाषापूर्वक वाणी नहीं होती। दिव्यध्वनि निकलती है। सवेरे, दोपहर, सायंकाल, रात्रि (में) इच्छा बिना वाणी निकलती है। इच्छा नहीं है। वे तो वीतराग हैं, पूर्ण हैं।

श्लोक-२९१

(मंदाक्रांता)

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्म-कर्म-प्रपञ्चो,
 रागाभावा-दतुल-महिमा राजते वीतरागः ।
 एषः श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो,
 ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात् ॥२९१॥

(वीरछन्द)

सचमुच इन जिन भगवन्तों में धर्म-कर्म का नहीं प्रपञ्च ।
 वीतरागमय सदा विराजित अतः अतुल हैं महिमावन्त ॥
 निज सुख में हैं लीन सदा वे, शोभावन्त श्री भगवान ।
 ज्ञान-ज्योति से पूर्ण लोक में छाए मुक्ति-वधू के नाथ ॥२९१॥

[श्लोकार्थः —] इन जिन भगवान में वास्तव में धर्म और कर्म का प्रपञ्च नहीं है (अर्थात् साधकदशा में जो शुद्धि और अशुद्धि के भेद-प्रभेद वर्तते हैं, वे जिन भगवान में नहीं हैं); राग के अभाव के कारण अतुल-महिमावन्त ऐसे वे (भगवान) वीतरागरूप से विराजते हैं । वे श्रीमान् (शोभावन्त भगवान) निजसुख में लीन हैं, मुक्तिरूपी रमणी के नाथ हैं और ज्ञानज्योति द्वारा उन्होंने लोक के विस्तार को सर्वतः छा दिया है ॥२९१॥

श्लोक - २९१ पर प्रवचन

श्लोक २९१

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्म-कर्म-प्रपञ्चो,
 रागाभावा-दतुल-महिमा राजते वीतरागः ।
 एषः श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो,
 ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात् ॥२९१॥

श्लोकार्थ : इन जिन भगवान में... परमेश्वर जहाँ वीतरागदशा पूर्ण हो गयी, जिन्हें

कुछ राग का अंश और इच्छा है नहीं, उन भगवान को वास्तव में धर्म और कर्म का प्रपंच नहीं है... अभी धर्म करना अर्थात् शुद्धि और अशुद्धि का भाग नहीं है। (साधकदशा में जो शुद्धि और अशुद्धि के भेद-प्रभेद वर्तते हैं, वे जिन भगवान में नहीं हैं);... पूर्ण दशा वीतराग हुई, पश्चात् उन्हें शुद्धि और अशुद्धि दो भेद है नहीं। शरीर एक बाकी है। चार कर्म बाकी हैं। समझ में आया ? परन्तु राग है नहीं तथा शुद्धि और अशुद्धि के प्रकार भी (नहीं है)। पूर्ण शुद्धि हो गयी, इसलिए इसमें दो भेद नहीं हैं।

राग के अभाव के कारण अतुल-महिमावन्त... आहाहा ! उनकी आनन्ददशा और केवलज्ञान दशा, वह तो अतुल महिमावाली है। ऐसी ही आत्मा की शक्ति है कि इस रूप परिणमे और हो सकते हैं। प्रत्येक आत्मा ऐसी शक्तिवाला है। समझ में आया ? कहते हैं, राग के अभाव के कारण अतुल-महिमावन्त... जिनकी महिमा को कोई उपमा (नहीं है)। किसी की उपमा / तुलना नहीं की जा सकती। ऐसे वे (भगवान) वीतरागरूप से विराजते हैं। वे श्रीमान् (शोभावन्त भगवान)... देखो, वे श्रीमान् हैं। शोभावन्त भगवान। श्री अर्थात् शोभा। निजसुख में लीन हैं,... परमात्मा तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हैं। यही आत्मा परमात्मा होता है अर्थात् आत्मा आनन्द में ही लीन रहता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

अपना आनन्दस्वभाव अभी भी अनन्त आनन्द से विराजमान आत्मा है। उसमें एकाग्र होने से व्यक्तरूप प्रगट अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, ऐसे परमात्मा अरिहन्त इस आनन्द में वे लीन हैं। किसी का भला करना या बुरा करना, ऐसा उनमें है नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? कहते हैं न कि भाई ! भगवान अवतार लेते हैं, राक्षसों को मारते हैं और भक्तों का कष्ट मिटाते हैं। ऐसे भगवान नहीं हो सकते। वे भगवान ही नहीं हैं। समझ में आया ? स्वयं को अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, वीतरागता प्रगट हुई है, उसमें वे लीन हैं।

मुक्तिरूपी रमणी के नाथ हैं... मोक्ष हुआ है न, वे केवलज्ञानी ? अपनी मुक्तदशा के नाथ-स्वामी हैं। पूर्ण पवित्रता प्रगट हुई, उसके वे मालिक और स्वामी हैं। वे कोई जगत के स्वामी नहीं हैं। अपने को पूर्ण आनन्ददशा, पूर्ण-ज्ञान-शान्तिदशा प्रगट हुई है, उसके वे नाथ हैं। और ज्ञानज्योति द्वारा उन्होंने लोक के विस्तार को सर्वतः छा दिया है। ज्ञानज्योति द्वारा जिन्होंने लोकालोक के विस्तार को जान लिया है। पूरी दुनिया मानो ज्ञान से छा गयी है। अर्थात् कि पूरी दुनिया—लोकालोक जिनके ज्ञान में वर्तता है। आहाहा ! ऐसा परमात्मा का, अरिहन्त का परिणामपूर्वक बोलने बिना का स्वरूप है। समझ में आया ?

गाथा-१७५

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
 तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्टं मोहणीयस्स ॥१७५॥
 स्थाननिषण्णविहारा ईहापूर्व न भवन्ति केवलिनः ।
 तस्मान्न भवति बन्धः साक्षार्थं मोहनीयस्य ॥१७५॥

केवलिभट्टारकस्यामनस्कत्वप्रद्योतनमेतत् । भगवतः परमार्हन्त्यलक्ष्मीविराजमानस्य केवलिनः परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्तनं; अतः स भगवान् न चेहते मनःप्रवृत्तेरभावात्; अमनस्काः केवलिनः इति वचनाद्वा न तिष्ठति नोपविशति न चेहापूर्वं श्रीविहारादिकं करोति । ततस्तस्य तीर्थकरपरमदेवस्य द्रव्यभावात्मकचतुर्विधबन्धो न भवति । स च बन्धः पुनः किमर्थं जातः कस्य सम्बन्धश्च? मोहनीयकर्मविलासविजृम्भितः, अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां सन्सारिणामेव बन्ध इति ।

तथा चोक्तं श्री प्रवचनसारे -

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसो य णियदयो तेसिं ।
 अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥

अभिलाषयुक्त विहार, आसन, स्थान जिनवर को नहीं ।

निर्बन्ध इससे, बन्ध करता मोह-वश साक्षार्थ ही ॥१७५॥

अन्वयार्थ : [केवलिनः] केवली को [स्थाननिषण्णविहाराः] खड़े रहना, बैठना और विहार [ईहापूर्व] इच्छापूर्वक [न भवन्ति] नहीं होते, [तस्मात्] इसलिए [बंध न भवति] उन्हें बन्ध नहीं है; [मोहनीयस्य] मोहनीयवश जीव को [साक्षार्थम्] इन्द्रियविषयसहितरूप से बन्ध होता है ।

टीका : यह, केवली भट्टारक को मनरहितपने का प्रकाशन है (अर्थात् यहाँ केवली भगवान का मनरहितपना दर्शाया है)।

अरहन्तयोग्य परम लक्ष्मी से विराजमान, परमवीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान को इच्छापूर्वक कोई भी वर्तन नहीं होता; इसलिए वे भगवान (कुछ) चाहते नहीं हैं, क्योंकि मनप्रवृत्ति का अभाव है; अथवा, वे इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते, बैठते नहीं हैं अथवा श्री विहारादिक नहीं करते, क्योंकि “ अमनस्काः केवलिनः (केवली मनरहित हैं) ” ऐसा शास्त्र का वचन है। इसलिए उन तीर्थकर-परमदेव को द्रव्यभावस्वरूप चतुर्विध बन्ध (प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध) नहीं होता।

और, वह बन्ध (१) किस कारण से होता है तथा (२) किसे होता है ? (१) बन्ध मोहनीयकर्म के विलास से उत्पन्न होता है। (२) ‘अक्षार्थ’ अर्थात् इन्द्रियार्थ (-इन्द्रिय-विषय); अक्षार्थ सहित हो, वह ‘साक्षार्थ;’ मोहनीय के वश हुए, साक्षार्थ-प्रयोजन (इन्द्रियविषयरूप प्रयोजनवाले) संसारियों को ही बन्ध होता है।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (४४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

उन अर्हन्तों को स्वकाल में आसन, उठना और विहार।

दिव्यध्वनि भी स्वाभाविक, ज्यों महिलाओं में मायाचार ॥

“ [गाथार्थ:—] उन अरहन्तभगवन्तों को उस काल खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश स्त्रियों के मायाचार की भाँति, स्वाभाविक ही-प्रयत्न बिना ही-होता है। ”

गाथा - १७५ पर प्रवचन

१७५ गाथा।

ठाणणसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।

तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स ॥१७५॥

अभिलाषयुक्त विहार, आसन, स्थान जिनवर को नहीं।

निर्बन्ध इससे, बन्ध करता मोह-वश साक्षार्थ ही ॥१७५ ॥

अर्थ किया है। निहार शब्द पड़ा है। टीका में भी निहार है।

केवली भट्टारक सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहन्तदेव, जिन्हें पूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगट हुए, ऐसे तीर्थकर अथवा केवली मनरहितपने का प्रकाशन है... लो! उन्हें मन नहीं होता। भाव मन है नहीं। द्रव्य मन तो जड़ है। यह, केवली भट्टारक को मनरहितपने का प्रकाशन है (अर्थात् यहाँ केवली भगवान का मनरहितपना दर्शाया है)।

अरहन्तयोग्य परम लक्ष्मी से विराजमान,... अरहन्तयोग्य, अरहन्तयोग्य। उनके योग्य परमलक्षणी अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता, वीतरागता ऐसी उसमें उनके पास वह है। यह धूल की लक्ष्मी नहीं। समझ में आया? यह धूल की लक्ष्मी तो आत्मा के पास कहाँ है? यह तो भिन्न है। यह तो मूढ़ मानता है कि मैं लक्ष्मीवाला हूँ। पैसा-बैसा धूल तो बाहर है। इसके पास कहाँ आये? इसमें घुस गये हैं? परन्तु पैसा मेरा, लक्ष्मी मेरी, यह जड़ का स्वामी मूढ़ होता है। आहाहा! इस लक्ष्मी का स्वामी, वह भगवान है। समझ में आया?

अरहन्तयोग्य परम लक्ष्मी... ऐसा कहा है न? परमवीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान को... परम वीतराग सर्वज्ञ। इच्छारहित हो गये, वीतराग और सर्वज्ञ हैं। ऐसे केवली भगवान को इच्छापूर्वक कोई भी वर्तन नहीं होता;... इच्छापूर्वक उन्हें कुछ भी वर्तन नहीं होता। आहाहा! इसलिए वे भगवान (कुछ) चाहते नहीं हैं,... उन्हें हिलना, चलना, बोलना, विहार करना, यह कोई इच्छा नहीं होती, ऐसा कहते हैं। पहले वचन का डाला था। अब सब डाला।

क्योंकि मनप्रवृत्ति का अभाव है;... भगवान को मन की प्रवृत्ति ही नहीं है। आहाहा! भगवान तो केवलज्ञानमय मात्र स्वरूप है। आहाहा! देव का स्वरूप भी इसने बराबर जाना नहीं है। देव का वास्तविक स्वरूप जाने तो इस आत्मा के साथ मिलान करे कि कैसा और इस प्रकार का ही मैं हूँ, तो उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहे। परन्तु दो की व्याख्या की भी खबर नहीं होती। समझ में आया? सभी देव समान। सर्वत्र चावल रखना, सबको मानना। मिथ्यात्वभ्रम अज्ञान है, कहते हैं। समझ में आया? जयनारायण

करो सबको। हनुमान और शिकोतरी और अम्बाजी को। मूढ़ है, कहते हैं। उसे भान नहीं कि आत्मा क्या है और उसकी कीमत कितनी है। आता है न, देखो न! यह देह के नाम से कितने ही? कितने ही देव के नाम का शनिवार करे, कोई सोमवार करे, कोई रविवार करे। जैन में जन्मे परन्तु मूढ़ बड़े बैल जैसे हैं। समझ में आया? कुछ भान नहीं होता, भान। देव, ऐसे देव को छोड़कर ऐसे देव को मानना, वह मूढ़ है, कहते हैं।

वे इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते,... देखो! खड़े रहे, ऐसे भगवान, शरीर। इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते। वह तो देह की क्रिया की उदय की ऐसी स्थिति है तो खड़े रह जाते हैं। भगवान इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते। बैठते नहीं हैं... इच्छापूर्वक। आसन ऐसा हो जाए। वह इच्छापूर्वक नहीं होता। सभा में समवसरण में भगवान विराजते हैं। विहार करके ऐसे पालथी लगाकर बैठें, वह इच्छापूर्वक नहीं है। जड़ के उदय का काल है। तो तदनुसार क्रिया हो जाती है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : आहार की क्रिया भी ऐसे हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार की क्रिया ऐसे नहीं होती। यह ठीक कहते हैं। आहार की क्रिया भी भगवान को ऐसे हो जाए, ऐसा कहते हैं। देखो! प्रश्न तो होवे न। आहार में तो इच्छा बिना आहार लेने की वृत्ति होती ही नहीं। और यह आहार लेना, उसमें पवन की प्रेरणा बिना आहार अन्दर आता ही नहीं। कहो, समझ में आया? भगवान की... यहाँ अभी देखो न, यह पानी और आहार ले न? हवा खींचे तब वह पानी और आहार अन्दर आता है। ऐसा का ऐसा ग्रास अन्दर नहीं आ जाता। ऐसी पवन की प्रवृत्ति भगवान को नहीं होती। इसलिए भगवान को आहार और पानी नहीं होता। इनके भाई का है न। वह भी पहले था न? कहो, समझ में आया?

भगवान अरिहन्त परमेश्वर, उनके शरीर में रोग नहीं होता, उन्हें आहार-पानी नहीं होता, उन्हें निद्रा नहीं होती, उन्हें इच्छापूर्वक वाणी नहीं होती। फिर प्रश्न कहाँ रहा? वाणी है तो भी इच्छा नहीं है तथा आहार हो और इच्छा न हो, ऐसा होता ही नहीं। इच्छा बिना आहार लेने की वृत्ति नहीं होती। आहार लेने जाऊँ, आहार करना और पेट में डालना।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उदय की दशा है इसलिए। परन्तु उदय की जरा अवस्था

है.... आया परन्तु है नहीं आहार। उनका प्रश्न ठीक है। ग्यारह परीषह कहे हैं न? असाता के उदय से। उदय का भाग है न... ऐसी क्षुधा नहीं होती कि उसके आहार लेने की वृत्ति हो या आहार आवे। वे देव के स्वरूप को नहीं जानते। कहो, समझ में आया? भगवान को आहार सिद्ध किया, भगवान के शरीर को रोग सिद्ध किया, वे भगवान को नहीं जानते। उस उल्टे स्वरूप से जीवों को चढ़ा दिया।

मुमुक्षु : भगवान को औषध होती है या नहीं, औषध ?

पूज्य गुरुदेवश्री : औषध-फौषध कैसा ? रोग होवे तो औषध होवे न ? आहाहा ! समझ में आया ? 'गौशाले मारी लेश्या' आता है न ? छह महीने तक खूनी दस्त रही। बिल्कुल झूठ बात है। सब कल्पित है। यह सब कल्पित बात है। शास्त्र की, भगवान की वाणी नहीं है। आहाहा ! भारी कठिन काम, भाई ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : कल्पित करके श्रद्धा का विरोध करना था।

पूज्य गुरुदेवश्री : कल्पित करके लोगों को अपना सम्प्रदाय चलाना था। कल्पित शास्त्र बनाये हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : कल्पित और सम्प्रदाय....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्त्री को मुक्ति सिद्ध की, सबको मुक्ति सिद्ध की। सब सम्प्रदायवाले अपने साथ चले।

मुमुक्षु : भगवान भी औषधि लेते हैं तो अपने को क्या बाधा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान भी स्त्री के तो अपने भी स्त्री भगवान हो सकती है, ऐसा कहकर सबको अच्छा लगाया।

एक थे, नाम भूल गये। अहमदाबाद के नहीं ? दलाल। हरिभाई, मन्दिरमार्गी। हरिभाई दलाल था। बहुत जबरदस्त। अहमदाबाद का था। फिर यह सब नहीं पैसेवाले ? रघुभाई जी। उन सबको लगावे ऐसा। यहाँ थे न... कैसे ? भोगीभाई। भोगीभाई और नानुभाई। भोगीभाई। अहमदाबाद के बड़े गृहस्थ। पचास लाख। वे यहाँ रहे थे तो प्रति दिन सुनने आते। नजदीक थे न। यहाँ गाँव में कहाँ से ऐसा ? पश्चात् हरिभाई उनके साथ देखने आवे न ! पन्द्रह दिन रहे और सुना - यह बात तो दूसरी कहते हैं। स्त्री को मोक्ष सिद्ध किया,

इसका अर्थ ? सबको इकट्ठा करना । बात सत्य लगती है । परन्तु होशियार व्यक्ति था, हों ! गुजर गया । १९९२ में आया था । हरिभाई अहमदाबाद का मन्दिरमार्गी । मार्ग अलग है, बापू ! समझ में आया ? जिन्हें इच्छा भी मर गयी । अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, उन्हें इच्छापूर्वक वाणी कैसी, उन्हें आहार कैसा, पानी कैसा और रोग कैसा और औषध कैसी ? ऐसे देव के स्वरूप को नहीं जानते ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब वार्ता । यह तो ठीक । इसका कुछ नहीं । अपने तो उन्हें चेला-बेला होते नहीं । यह बात लो न ! यह अभी चलता है वह । समझ में आया ?

भगवान को आहार नहीं, पानी नहीं, रोग नहीं । अनन्त आनन्द का जहाँ अनुभव है, उन्हें फिर आहार कैसा ? आहाहा ! उन्हें पानी कैसा ? सब वस्तु का स्वरूप तत्त्व से विरुद्ध कर डाला है । समझ में आया ? ऐई ! जाधवजीभाई ! तेरा दादा उसमें था । वह नहीं थी, बात ही नहीं थी । धर्म की नहीं थी । दया, दान, व्रत पाले, उसे धर्म होता है, यह बात भी झूठ और यह बात भी झूठ । सब झूठ बात है । धर्म, वह क्या है, इसकी उसे खबर नहीं है । देव किसे कहना, उसकी खबर नहीं है ; गुरु किसे कहना, उसकी खबर नहीं है । और शास्त्र किसे कहना, उसकी भी खबर नहीं है । ऐसा है । भारी कठिन काम । भगवान के नाम से पुस्तक चढ़ा दी न । बेचारे लोग ठगा गये । विपरीत सिर ऊँचा कर सके नहीं । मर गये ऐसे के ऐसे उसमें ।

कहते हैं कि भगवान इच्छापूर्वक बैठते नहीं । बैठते नहीं इच्छापूर्वक । शरीर बैठ जाए । आहाहा ! श्रीमद् में आता है न ? क्या वह ? 'विचरे उदय प्रयोग ।' आता है न ? 'विचर उदय प्रयोग ।' वह तो छद्मस्थ को भी ऐसा कहा । समझ में आया ? समकिती-ज्ञानी, मुनि, धर्मात्मा वह भी जैसा उदय हो, तदनुसार हुआ करता है, उसके जाननेवाले-देखनेवाले हैं, करनेवाले नहीं । आहाहा ! सम्यग्दृष्टि भी विहार की क्रिया और खाने की क्रिया के कर्ता हैं ही नहीं ।

मुमुक्षु : सही या माने इतना ही ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मानता है । खाते कहाँ हैं ? धूल माने । वह मानता है कि मैं खाता हूँ । वह जड़ की क्रिया है । मुँह में ग्रास आना-जाना, वह तो जड़ पुद्गल की क्रिया

है। मूढ़ होकर मानता है कि मैं खाता हूँ, पीता हूँ, लड्डू खाता हूँ, मौसम्बी। ... धूल में भी नहीं व्यर्थ का। आनन्द का नाथ प्रभु! उसे यह पर का खाने-पीने की क्रिया का कर्ता कहना, वह तो महामिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भाई! यह कहीं पक्ष की बात नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

मुमुक्षु : यह सब वायुकाय की यत्न नहीं करने की और अहिंसा कैसी कहलाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वायु काय का यत्न कौन कर सकता था? वायु काय का यत्न कौन करे? मुनि तो नग्न होते हैं। वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता। मुनि जंगल में बसते हैं। समझ में आया? जैनदर्शन कठिन मार्ग है, बापू! वाड़ा बाँधकर बैठे, वह कहीं जैनदर्शन नहीं है। समझ में आया?

इच्छापूर्वक श्री विहारादिक नहीं करते,... देखो! भाषा ऐसी प्रयोग की है! श्रीविहार। भगवान का श्रीविहार.. आहाहा! ऐसा विहार आदि। डग भरना या ऐसे पैर रखना, वह करते नहीं। आहाहा! जैसा अरिहन्त का स्वरूप, वैसा ही आत्मा का स्वरूप है। मात्र पर्याय में हीनता है परन्तु द्रव्य में दृष्टि करने पर उन अरिहन्त जैसा ही आत्मा है। कहो, समझ में आया?

श्री विहारादिक (इच्छापूर्वक भगवान) नहीं करते, क्योंकि “अमनस्काः केवलिनः (केवली मनरहित हैं)” ऐसा शास्त्र का वचन है। तत्त्वार्थसूत्र का यह वचन है। इसलिए उन तीर्थकर-परमदेव को द्रव्यभावस्वरूप चतुर्विध बन्ध... नहीं। भगवान को बन्ध नहीं, ऐसा कहना है न? तीर्थकर परमदेव को द्रव्य अर्थात् कर्म प्रकृति का बन्ध नहीं है और भावबन्ध भी नहीं है। राग का बन्ध भी नहीं है और पर का बन्ध भी नहीं है। आहाहा! (प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध,...) परमाणु में उसका स्वभाव पड़े, उसकी संख्या हो, उसकी अवधि हो और उसमें रस हो, ऐसा बन्ध भगवान को नहीं होता।

और, वह बन्ध (१) किस कारण से होता है तथा (२) किसे होता है ? यह दो प्रश्न। बन्ध भगवान को नहीं होता तो फिर वह बन्ध किस कारण से होता है और किसे होता है? यह दो प्रश्न। (१) बन्ध मोहनीयकर्म के विलास से उत्पन्न होता है। राग से उत्पन्न होता है। समझ में आया? (२) ‘अक्षार्थ’ अर्थात् इन्द्रियार्थ (-इन्द्रिय-विषय); (पाँच) अक्षार्थ सहित हो वह... इन्द्रिय के विषयसहित हो वह। भगवान तो अनीन्द्रिय

है। 'साक्षार्थः' मोहनीय के वश हुए, ... इन्द्रियसहित हो, उस मोहनीय के वश हुए। साक्षार्थ-प्रयोजन (इन्द्रियविषयरूप प्रयोजनवाले) संसारियों को ही बन्ध होता है। लो! समझ में आया ? भगवान को बन्ध नहीं होता।

इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (४४वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:— लो! प्रवचनसार का आधार देते हैं।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥

श्लोकार्थ : उन अरहन्तभगवन्तों को उस काल खड़े रहना, ... भाषा देखो ! उस समय खड़े रहना, वही उनकी पर्याय की क्रिया है। बैठना, विहार और धर्मोपदेश... हिलना और धर्म का उपदेश स्त्रियों के मायाचार की भाँति, ... स्त्री को सहज माया वर्तती है, वैसे ही स्वाभाविक ही- है। भगवान को आहार, बैठना, खड़े रहना, विहार, धर्मोपदेश सहज है। कहो, समझ में आया ? स्त्री को माया और कपट तो सहज हो जाता है। उसे ख्याल भी नहीं होता। उसी प्रकार उसका स्वभाव ही ऐसा है। माया-कपट से स्त्री होकर आये हैं। पूर्व में माया कपट की हो, वह स्त्री होता है। सभी स्त्रियों की बात नहीं है। सामान्य की बात है। भगवान की माता, वे सब ऐसे नहीं होते परन्तु यह तो सामान्य की बात है।

स्त्रियों के मायाचार की भाँति, ... उसे माया, इच्छा आदि कपट सहज साधारण हो जाती है, कहते हैं। इसी प्रकार भगवान को इच्छा बिना आहार-विहार, हिलना-चलना होता है। आहार के भी जो कर्म के रजकण आते हैं, वह भी इच्छा बिना आते हैं। आठ गिने हैं न ? वह यह। नोकर्म। भगवान खड़े रहें, बैठें, विहार, वह स्वाभाविक ही है। प्रयत्न बिना ही-होता है। आहाहा ! भगवान को प्रयत्न नहीं होता कि मैं खड़ा रहूँ। प्रयत्न नहीं कि मैं चलूँ, प्रयत्न नहीं कि मैं बोलूँ, खड़ा रहूँ, यह प्रयत्न बिना होता है।

मुमुक्षु : उदयभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, उदयभाव है। क्षायिकभाव है, खिर जाता है। प्रवचनसार में कहा है न ? यह सब उदयभाव है। पुण्य फला अरहन्ता की व्याख्या यह है। पुण्य के फलरूप से केवली होते हैं, यह व्याख्या नहीं है। परन्तु पूर्व में जो पुण्य बाँधा हो, उसके

कारण हलन-चलन, वाणी, विहार, बैठना-उठना होता है। वह सब पुण्य की क्रिया है, वह हो जाती है। भगवान को हो जाती है। उन्हें कुछ है नहीं। उन्हें तो ज्ञान में वर्तता है कि इस समय में देह चलेगी, इस समय भाषा निकलेगी, इस समय देह खड़ी रहेगी, इस समय चलेगी, यह सब ज्ञान में पहले से है। समझ में आया? केवलज्ञानी का स्वरूप जानना कठिन बात है। इसीलिए तो यहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन को कितने प्रकार से स्थापित किया है, देखो न! आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय वहाँ आया और खिर गया। दूसरे समय में दूसरा आया और खिर गया। ऐसा होता है। उदय आकर खिर जाता है। वह क्षायिक का काम करता है। पण्डितजी! आहाहा!

अरे! आत्मा की ऋद्धि अन्तर आनन्द और ज्ञानस्वभाववान प्रभु, उस अन्तर के ध्यान द्वारा जो चीज अन्दर आत्मा में है, उसे एकाग्र द्वारा बाहर परिणतिरूप से पूर्ण दशा हो गयी। ऐसे अनन्त ज्ञान आदि ऋद्धि के धनी परमात्मा को किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती। उसे प्रयत्न बिना ही वह सब काम चलता है, ऐसा कहते हैं। उसका प्रयत्न होवे तो यह खड़ा रहना, बैठना, चलना होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो कोई बात! साधारण प्राणी को तो बैठती नहीं। समझ में आया? वे चार कर्म बाकी रहे, वे भी जली हुई रस्सी जैसे हैं। आता है खामणा में आता है, परन्तु उसका अर्थ नहीं समझते। चार कर्म नाश किये, चार कर्म जली हुई रस्सी समान पड़े हैं। जली हुई रस्सी बाँधने में काम नहीं आती। अरे! ऐसे आत्मा की जाति ही जहाँ पूर्ण प्रगट हुई, वहाँ यह प्रकार होता है। ऐसा ही यह भगवान आत्मा, अनन्त आत्माएँ ऐसे ही हैं। समझ में आया? यह परिणति अन्तर में से बाहर निकाले तब साक्षात् परमात्मा होता है। वस्तु से स्वयं आत्मा परमात्मा ही है। परमात्मा न होवे तो पर्याय में परमात्मापना कहाँ से आयेगा? बाहर से आवे, ऐसा है? समझ में आया?

श्लोक-२९२

[अब, इस १७५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(शार्दूलविक्रीडित)

देवेन्द्रासन-कम्पकारण-महत्कैवल्यबोधोदये,
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः ।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्,
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ॥२९२॥

(वीरछन्द)

इन्द्रासन कम्पन-कारण जब केवलज्ञान उदित होता ।
उन पुराण पुरुषों को सब वर्तन हो किन्तु न मन होता ॥
धर्म हेतु रक्षामणि सम जो मुक्तिमुखाम्बुज को रवि सम ।
पाप-वनों को अग्नि तुल्य जो सचमुच महिमावन्त अगम्य ॥२९२॥

[श्लोकार्थः —] देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान होने के कारणभूत महा केवलज्ञान का उदय होने पर, जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के मुखकमल के सूर्य हैं और सद्धर्म के रक्षामणि हैं, ऐसे पुराण पुरुष को सर्व वर्तन भले हो, तथापि मन सर्वथा नहीं होता; इसलिए वे (केवलज्ञानी पुराण पुरुष) वास्तव में अगम्य महिमावन्त हैं और पापरूपी वन को जलानेवाली अग्नि समान हैं ॥२९२॥

श्लोक - २९२ पर प्रवचन

[अब, इस १७५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

१- रक्षामणि=आपत्तियों से अथवा पिशाच आदि से अपने को बचाने के लिए पहिना जानेवाला मणि ।
(केवली भगवान सद्धर्म की रक्षा के लिए—असद्धर्म से बचने के लिए—रक्षामणि हैं ।)

देवेन्द्रासन-कम्पकारण-महत्कैवल्यबोधोदये,
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्गुर्मरक्षामणेः ।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्,
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ॥२९२॥

श्लोकार्थ : देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान होने के कारणभूत महा केवलज्ञान का उदय होने पर,... आहाहा! आत्मा में अन्तर के आनन्द में लीनता होने पर केवलज्ञान होता है। भगवान आत्मा, अपना जो अनन्त ज्ञान-आनन्दादि स्वभाव अन्तर अभी परिपूर्ण पड़ा है, उसमें लीनता करने से, उसकी एकाग्रता साधने से केवलज्ञान होता है। वह केवलज्ञान देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान होने का निमित्त है, कारण है। कहो, समझ में आया? लो! यहाँ केवलज्ञान होवे तो देवों के आसन चलित होते हैं। देवेन्द्र जो इन्द्र आदि हैं, उनके आसन कम्पायमान होने के कारणभूत महा केवलज्ञान का उदय होने पर... लो! केवलज्ञान प्रगट होने पर कम्पायमान होता है। देखो! इसमें निमित्त से आया। है? ऐ... दिलीप! केवलज्ञान हो, तब कम्पायमान होता है वहाँ? क्या हुआ? परन्तु निमित्त है न? हुआ उससे?

मुमुक्षु : निमित्त से कुछ होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होता?

मुमुक्षु : आपने तो हमें सिखलाया है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो समझ में आया? उससे नहीं होता। परन्तु उस काल में वहाँ होने की पर्याय थी, उसमें यह निमित्त कहने में आता है। ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका?

मुमुक्षु : केवलज्ञानी।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो केवलज्ञान हुआ, इसलिए वहाँ कम्पन होता है। वह उसके कारण से होता है। इतना निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। केवलज्ञानी.. है न? केवलज्ञान। यहाँ तो जन्मते हैं, वहाँ (आसन) कम्पायमान होता है। तीर्थंकर

का जीव जहाँ जन्मे, वहाँ देह के आसन कम्पित होते हैं। वह भी उस समय में कम्पित होने की योग्यता में निमित्त कहलाते हैं। निमित्त की सामग्री पूरी मिलती है, जिसे चाहिए हो।

देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान होने के कारणभूत महा केवलज्ञान का उदय... केवलज्ञान का उदय हुआ, तब कम्पन हुआ। यह पहले क्यों नहीं हुआ। यह तो उस समय उसकी होने की क्रिया थी, उसे केवलज्ञान का निमित्त कहने में आता है। ऐसी बात है भाई! वीतरागमार्ग की स्वतन्त्रता। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र है। कोई किसी के कारण से किसी की पर्याय नहीं होती, ऐसा वस्तु का स्वरूप है। क्या हो? भाई! सुनने मिलता नहीं और यह फिर पड़े हैं, उसमें मानकर जिन्दगी पूरी करते हैं। भव का अभाव का करने का भय (मिला), उसमें भय बढ़ाकर जाते हैं। आहाहा!

जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के मुखकमल के सूर्य हैं... मुक्तिरूपी लक्ष्मी, उसकी परिणति में मुखकमल अर्थात् खिलने का सूर्य है वह तो शुद्धपरिणति के खिलने का कारण है। समझ में आया? **सद्धर्म के रक्षामणि हैं...** लो! पहले भी एक बार आ गया है। २३३ पृष्ठ पर आ गया है। आपत्तियों से अथवा पिशाच इत्यादि से अपनी जाति को बचाने के लिये पहना जानेवाला मणि। ठीक? (केवली भगवान सद्धर्म की रक्षा के लिए— असद्धर्म से बचने के लिए—रक्षामणि हैं।) आहाहा! समझ में आया? २८७ में आ गया है। २८७, रक्षामणि। है नीचे (फुटनोट में)? **सद्धर्म की रक्षा के लिए, रक्षामणि =आपत्तियों से अथवा पिशाच आदि से अपने को बचाने के लिए पहिना जानेवाला मणि।** उपमा दी है। हों!

यहाँ भी भगवान सद्धर्म के रक्षक हैं। आहाहा! असद्धर्म से बचने के लिये रक्षामणि भगवान को कहा गया है। जो इसे समझे और आश्रय ले, उसे भी सद्धर्म की रक्षा में भगवानमणि—रक्षामणि हैं। आहाहा! स्तवन में एक जगह आता है न! 'मारे माथे सीमन्धरस्वामी अखण्ड हमारी रक्षा करे'। आता है? भगवान रक्षा करने आते होंगे? भगवान अरिहन्त का जो स्वरूप है, ऐसा जिसके ज्ञान में बराबर जँचे, उसे अन्तर का लाभ होता है, उसमें भगवान निमित्त कहने में आते हैं। ऐसा कहते हैं। अपने सद्धर्म का रक्षक है और असद्धर्म से बचने के लिये रक्षामणि। इसी प्रकार स्वयं भी ऐसे हैं और दूसरों के लिये भी वे ऐसे हैं। जिसने अरिहन्त परमात्मा का वास्तविक ऐसा स्वरूप होता है, ऐसा जाना, वह पश्चात् अपने आत्मा को उनके साथ मिलान करे तो उसे सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान होता है तो उसके आत्मा के भी वे रक्षामणि व्यवहार से कहे जाते हैं। निश्चय से स्वयं के रक्षामणि हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

ऐसे पुराण पुरुष को... ऐसे भगवान अरिहन्त परमेश्वर पुराण पुरुष। पुराना आत्मा जैसा है, वैसा प्रगट हुआ। ऐसा पुराण पुरुष। **को सर्व वर्तन भले हो...** हिलना, चलना, बोलना, खड़े रहना, उपदेश हो, **तथापि मन सर्वथा नहीं होता;**... उसमें मन सर्वथा नहीं होता। आहाहा! गजब बात आयी। इच्छा नहीं, मन नहीं और चले। अपने आप चले? जड़ उसके अपने आप चलता है।

मुमुक्षु : क्रियावतीशक्ति से...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह क्रियावतीशक्ति है। समझ में आया? यह देह जो चलती है, वह उसकी क्रियावतीशक्ति से चलती है। आत्मा की शक्ति नहीं। आत्मा की प्रेरणा हो, प्रयत्न हो, इसलिए ऐसे चलती है—ऐसा भी नहीं। आहाहा! वह तो जड़ तत्त्व है, अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व की क्रिया अजीव में अजीव के कारण से स्वतन्त्र होती है, आत्मा से नहीं होती। नीचे नहीं होती तो फिर भगवान को क्या कहना? कहते हैं। आहाहा!

मन सर्वथा नहीं होता; इसलिए वे (केवलज्ञानी पुराण पुरुष)... है। वास्तव में **अगम्य महिमावन्त हैं...** उनकी महिमा अगम्य है। मन से और विकल्प से जान नहीं सकते। ध्यान से जान सकते हैं। आहाहा! वैसे तो सब सवेरे उठकर णमो अरिहन्ताणं... णमो अरिहन्ताणं करते हैं। परन्तु अरिहन्त कैसे होते हैं, उनकी पर्याय कैसी होती है? उन्हें इच्छापूर्वक हिलना, चलना नहीं होता, यह अभी वास्तविक स्वरूप है, उसे नहीं जानते तो वह णमो अरिहन्ताणं इसका सच्चा नहीं है। वह तो राग से नमस्कार करता है। समझ में आया?

वास्तव में अगम्य महिमावन्त हैं और पापरूपी वन को जलानेवाली अग्नि समान हैं। केवलज्ञानी परमात्मा को तो पापादि हैं नहीं परन्तु दूसरे जीवों को जो पाप होते हैं, ऐसे केवलज्ञानी परमात्मा का जो यथार्थ ज्ञान करे, उसे पापरूपी अग्नि, जलानेवाला वन। पापरूपी वन को जलाने में भगवान अग्नि समान हैं। आहाहा! समझ में आया? पाप शब्द से पुण्य और पाप दोनों। पुण्य और पाप दोनों वन की लकड़ियाँ हैं। भगवान अरिहन्तदेव का वास्तविक स्वरूप अन्तर जाने, वह आत्मा को जाने और आत्मा को जाने, इससे उसके पुण्य और पाप नाश हो जाते हैं। समझ में आया?

गाथा-१७६

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समय-मेत्तेण ॥१७६॥

आयुषः क्षयेण पुनः निर्नाशो भवति शेषप्रकृतीनाम् ।
पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकाग्रं समय-मात्रेण ॥१७६॥

शुद्धजीवस्य स्वभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयम् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य षट्कापक्रमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्राभिमुखस्य ध्यानध्येयध्यातृतत्फलप्राप्तिप्रयोजन-विकल्पशून्येन स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयुःकर्मक्षये जाते वेदनीय-नामगोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्नाशो भवति । शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्वरूपे सहजमहिम्नि लीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाग्रं प्राप्नोतीति ।

हो आयु क्षय से शेष सब ही कर्म-प्रकृति विनाश रे ।
सत्वर समय में पहुँचते अर्हन्त-प्रभु लोकाग्र रे ॥१७६॥

अन्वयार्थ : [पुनः] फिर (केवली को) [आयुषः क्षयेण] आयु के क्षय से [शेषप्रकृतीनाम्] शेष प्रकृतियों का [निर्नाशः] सम्पूर्ण नाश [भवति] होता है; [पश्चात्] फिर वे [शीघ्रं] शीघ्र [समयमात्रेण] समयमात्र में [लोकाग्रं] लोकाग्र में [प्राप्नोति] पहुँचते हैं ।

टीका : यह, शुद्ध जीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने के उपाय का कथन है ।

स्वभावगतिक्रियारूप से परिणत, छह 'अपक्रम' से रहित, सिद्धक्षेत्रसम्मुख भगवान् को परम शुक्लध्यान द्वारा—कि जो (शुक्लध्यान) ध्यान-ध्येय-ध्याता सम्बन्धी,

२- संसारी जीव अन्य भव में जाते समय छह-दिशाओं में गमन करता है; उसे 'छह अपक्रम' कहा जाता है ।

उसकी फलप्राप्ति सम्बन्धी तथा उसके प्रयोजन सम्बन्धी विकल्पों से रहित है और निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप है उसके द्वारा—आयुर्कर्म का क्षय होने पर, वेदनीय, नाम और गोत्र नाम की शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है (अर्थात् भगवान को शुक्लध्यान द्वारा आयुर्कर्म का क्षय होने पर शेष तीन कर्मों का नाश भी क्षय होता है और सिद्धक्षेत्र की ओर स्वभावगतिक्रिया होती है)। शुद्धनिश्चयनय से सहजमहिमावाले निज स्वरूप में लीन होने पर भी व्यवहार से वे भगवान अर्ध क्षण में (समयमात्र में) लोकाग्र में पहुँचते हैं।

गाथा - १७६ पर प्रवचन

१७६ (गाथा)

आउस्स ख्रयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।

पच्छा पावइ सिग्घं लोयगं समय-मेत्तेण ॥१७६॥

अरिहन्त तक का स्वरूप बताया। अब सिद्ध लिये, सिद्ध।

हो आयु क्षय से शेष सब ही कर्म-प्रकृति विनाश रे।

सत्वर समय में पहुँचते अर्हन्त-प्रभु लोकाग्र रे ॥१७६॥

टीका : यह, शुद्ध जीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने के उपाय का कथन है। आत्मा यहाँ मोक्ष हुआ। चार कर्म गये। पहले अरिहन्त तक बाकी थे, पश्चात् चार कर्म गये। और शुद्ध सिद्ध की दशा यहाँ प्रगट हुई। सिद्धदशा तो यहाँ ही प्रगट हुई। और यहाँ से ऊपर जाए, उनका अग्र स्थान, वह स्वभाविक गति है। वे स्वभाविक गति से जाते हैं। ६३ पृष्ठ पर वह गति का है। जो छह क्रम से विमुक्त हैं, विमुक्त है। तीसवीं गाथा में है।

भगवान आत्मा अरिहन्त होने के पश्चात्... अरिहन्त की व्याख्या तो की है कि ऐसे होते हैं। अब उन्हें चार कर्म बाकी थे, वे गये। समझ में आया? भगवान महावीर आदि यहाँ विराजते थे, तब तक अरिहन्त थे। अन्त में जब चार कर्म का नाश जिस समय हुआ, तब सिद्ध हुए। तब यहाँ ऊर्ध्वगति हुई। स्वभाव गति है, उसका स्वभाव ऊर्ध्व जाकर लोकाग्र में स्वयं के कारण से रहने का स्वभाव है। समझ में आया?

उस स्वभावगतिक्रियारूप से परिणत, छह अपक्रम से रहित,... ऐसा लेना। छह काय के क्रम से यह निकाल डालना। यह बाद में सुधारा है। छह अपक्रम से रहित... अर्थात् आड़ी-टेढ़ी गति से रहित। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व, नीचे। ऊर्ध्व, नीचे और चार ये। छह दिशा हैं न? ऊपर, नीचे और चार पूर्व, पश्चिम आदि। उनसे रहित सिद्धक्षेत्रसम्मुख भगवान को परम शुक्लध्यान द्वारा— सिद्धक्षेत्र सन्मुख। लोकाग्र में-लोक के अग्र में सिद्ध विराजमान हैं। अनन्त सिद्ध। अनादि से अनन्त... अनन्त... अनन्त सिद्ध परमात्मा हैं। वे शुक्लध्यान द्वारा सिद्धक्षेत्रसम्मुख भगवान को परम शुक्लध्यान द्वारा— परम शुक्लध्यान। देखो!

कि जो (शुक्लध्यान) ध्यान-ध्येय-ध्याता सम्बन्धी, उसकी फलप्राप्ति सम्बन्धी तथा उसके प्रयोजन सम्बन्धी विकल्पों से रहित है... ऐसा परम शुक्लध्यान अन्त (में होता है।) और निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप है... चार कर्म गये। शुक्लध्यान से अन्दर स्थिर हो गये। उसके द्वारा— आयुर्कर्म का क्षय होने पर,... लो! ठीक! अन्दर का ध्यान केवली को भी चौदहवें गुणस्थान में स्थिरता का ध्यान हुआ, उससे; भगवान को आयुष्यकर्म बाकी था न? उसका क्षय हुआ। महाविदेह में सीमन्धर भगवान अभी विराजते हैं। चार कर्म का नाश हुआ और चार कर्म अभी भगवान को बाकी है। जब मोक्ष होगा, आगामी चौबीसी के जब तेरहवें तीर्थकर होंगे, तब (सीमन्धर भगवान का) मोक्ष होगा, तब सिद्धगति में (जाएँगे)।

निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप है उसके द्वारा— आयुर्कर्म का क्षय होने पर, वेदनीय, नाम और गोत्र नाम की शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है... लो! भगवान को चार कर्म का नाश होता है। आहाहा! वे (अर्थात् भगवान को शुक्लध्यान द्वारा आयुर्कर्म का क्षय होने पर शेष तीन कर्मों का नाश भी क्षय होता है और सिद्धक्षेत्र की ओर स्वभावगतिक्रिया होती है)। शुद्धनिश्चयनय से सहजमहिमावाले निज स्वरूप में लीन होने पर भी... आत्मा की पूर्ण दशा में भगवान तो लीन हैं। सिद्ध हो गये। उन्हें कुछ बाकी नहीं है। यहाँ शरीर में रहे, सिद्ध हुए, हों! यहाँ से छूट गया यह सब।

शुद्धनिश्चयनय से सहजमहिमावाले निज स्वरूप में लीन होने पर भी व्यवहार से वे भगवान अर्ध क्षण में... एक समयमात्र। अर्द्धक्षण शब्द प्रयोग किया है। (समयमात्र में) लोकाग्र में पहुँचते हैं। एक आँख बन्द करके खोले, उसमें असंख्य समय (जाते

हैं)। एक समय में लोकाग्र में पहुँचे। सात राजू एक समय में अपनी स्वाभाविक गति से जाते हैं। कोई उसमें कर्म का कारण या अमुक कारण है नहीं। वर्तमान अपना स्वभाव ही ऐसा है। समझ में आया? व्यवहार से वे भगवान अर्ध क्षण में... व्यवहार का अर्थ क्या? कि लोकाग्र में पहुँचते हैं, व्यवहार है। बाकी स्वयं में ही है, यह निश्चय है। लोकाग्र में अर्थात् यहाँ बाहर क्षेत्र हुआ न? वह व्यवहार कहलाता है। बाकी अन्दर में लीन हैं, वह निश्चय है। वह भगवान की गति स्वाभाविक है, ऐसा कहते हैं। यहाँ से गति है, वह स्वाभाविक गति हुई है। समझ में आया? यहाँ गति करते हैं, तब तक उसे विभाव है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? गति तो करते हैं न ऐसे? गति करे, तब तक विभाव है और फिर फिरे तब स्वभाव है। समय तो एक ही है। सूक्ष्म बात है। यहाँ चार कर्म का नाश होकर शुक्लध्यान द्वारा जहाँ सिद्ध हुए, यहाँ पर्याय सिद्ध की प्रगट हुई, वही समय था और उसी समय में वहाँ हैं। समयभेद कहाँ है? आहाहा!

मुमुक्षु : सिद्ध को एक समय में कितने सब काम होते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कितने सब कहाँ थे? ऐसे जहाँ छूटा, पूर्ण दशा हुई बस, उसी समय यहाँ हुई और उसी समय रास्ते में है, उसी समय वहाँ है। इसीलिए उस एक समय में ऐसा होता है। गति करे तब तक विभाविक कहलाता है, ऐसा नहीं है। इसलिए ऊपर पहले लिया न स्वभावगति। स्वभावगति क्रियारूप परिणत। ऐसा कहा है न? वह तो स्वभावगति अपना स्वभाव है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने कहा? अरिहन्त गमन करते हैं, वह अपनी पर्याय मानो वहाँ वह तो उदय का विभाव है। स्वयं को कहाँ विभाव है? गमन करना, इच्छापना नहीं, अपना प्रयत्न नहीं, वह तो जड़ की क्रिया है।

मुमुक्षु : आपने कहाँ चेतन अनुसार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतन अनुसार होता है, वह तो अपना स्वभाव है। चेतन होना वह। वह तो अपने स्वभाव के कारण से है, वह कहीं पर के कारण से नहीं है।

जहाँ आत्मा सिद्ध हुआ और उसका क्षेत्रान्तर हो। यहाँ से देखो न क्षेत्रान्तर हुआ। परन्तु वह तो स्वभाव है। वह तो एक समय है। विभाव नहीं। इसमें भी अभी बहुत गड़बड़ है।

मुमुक्षु : सिद्ध होते हैं और विभाव खड़ा रहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अभी गति करते हैं, वहाँ तक विभाव, फिर वहाँ स्वभाव ।

मुमुक्षु : फिर कहाँ है एक ही समय है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले-पश्चात् है भी कहाँ ? ऐसे पूर्णानन्द प्रभु जहाँ दशा प्राप्त हुई है, वही समय है । वहाँ, यहाँ और बीच का सर्वत्र एक ही समय है ।

ऐसे भगवान लोकाग्र में पहुँचते हैं, यह व्यवहार हुआ । लोक का अग्र है न ? वहाँ क्षेत्र कहलाये न ? वह क्षेत्र । बाकी है तो स्वयं अपने में । वहाँ भी अपने में है, कहीं बाहर में नहीं । लोकाग्र में है, यह व्यवहार कहने में आता है । अपने स्वरूप के आनन्द में लीन हैं, वह निश्चय है । ऐसा सिद्ध का स्वरूप भी अरहन्त होने के बाद का ऐसा होता है, ऐसा भी यहाँ वर्णन साथ में किया है । (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

श्लोक-२९३

[अब इस १७६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं: —]

(अनुष्टुप्)

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक् ।

सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः ॥२९३॥

(वीरछन्द)

छह अपक्रमयुत संसारी से सिद्धों का लक्षण है भिन्न ।

इसीलिए वे सिद्ध ऊर्ध्वगामी हैं और सदाशिवलीन ॥२९३॥

[श्लोकार्थः —] जो छह अपक्रम सहित हैं, ऐसे भववाले जीवों के (-संसारियों के) लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न है, इसलिए वे सिद्ध ऊर्ध्वगामी हैं और सदा शिव (निरन्तर सुखी) हैं ।२९३ ।

प्रवचन-२०७, गाथा-१७७, श्लोक २९३-२९६, बुधवार, मगसर कृष्ण ६, दिनांक ०८-१२-१९७१

१७६ गाथा का कलश २९३ । टीका करते हुए मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं-

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक् ।

सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः ॥२९३॥

संसारी जीव कैसे हैं ? कि जो छह अपक्रम सहित हैं... मरकर छह दिशाओं में गमन करनेवाले हैं । समझ में आया ? संसारी जीव का देह छूटे तो वह छह दिशा—ऊर्ध्व, अधो, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण - छह दिशाओं में उसका गमन होता है । ऐसे भववाले जीवों के... ' भविनां ' भवि शब्द है न अन्दर ? भवि का अर्थ भव । आया है न ? पहले समयसार में आ गया है । ऐसे भववाले जीवों के (-संसारियों के) लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न है,... संसारी जीव देह छूटे, तब छह दिशाओं में जाते हैं । छह में से किसी एक में (जाते हैं) । उससे सिद्ध का लक्षण भिन्न है । इसलिए वे सिद्ध ऊर्ध्वगामी हैं... वे तो ऊर्ध्वगामी हैं । देह छूटे तो सिद्ध भगवान ऊर्ध्वगामी होते हैं । एक समय में ऊपर जाते हैं । सदा शिव (निरन्तर सुखी) हैं । निरन्तर आनन्द के सुख के अनुभव में स्थित हैं । सदाशिव है न ? सदा, निरन्तर वे सुखी हैं । शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप । आनन्द का अनुभव निरन्तर (वर्तता है) । उन्हें सिद्ध कहा जाता है ।

श्लोक-२९४

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदा-दतुल-महिमा देव-विद्याधराणां,
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः सन्स्थितो देव-देवः,
स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया निश्चयेनैव-मास्ते ॥२९४॥

(वीरछन्द)

नाश किया है भव बन्धन का अतः अतुल वे महिमावान ।
 सुरगण के प्रत्यक्ष स्तवन का विषय नहीं वे सिद्ध महान ॥
 'लोक अग्र में सुस्थित वे देवाधिदेव' व्यवहार कथन ।
 'निज में अविचल स्थिर रहते' यह जानो परमार्थ वचन ॥२९४ ॥

[श्लोकार्थः—] बन्ध का छेदन होने से जिनकी अतुल महिमा है, ऐसे (अशरीरी और लोकाग्रस्थित) सिद्ध भगवान अब देवों और विद्याधरों के प्रत्यक्ष स्तवन का विषय नहीं ही हैं, ऐसा प्रसिद्ध है । वे देवाधिदेव व्यवहार से लोक के अग्र में सुस्थित हैं और निश्चय से निज आत्मा में ज्यों के त्यों अत्यन्त अविचलरूप से रहते हैं ॥२९४ ॥

श्लोक - २९४ पर प्रवचन

बन्धच्छेदा-दतुल-महिमा देव-विद्याधराणां,
 प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।
 लोकस्याग्रे व्यवहरणतः सन्स्थितो देव-देवः,
 स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया निश्चयेनैव-मास्ते ॥२९४॥

सिद्ध भगवान लोकाग्र में रहे हैं । उन्हें बन्ध का छेदन होने से जिनकी अतुल महिमा है... अशरीरी परमात्मा सिद्ध हुए, उन्हें बन्ध का छेद है, आठों कर्म का अभाव है, इसलिए जिनकी अतुल महिमा है । उनकी क्या महिमा कहना ? उनकी अतुल—किसी के साथ तुलना नहीं हो सकती । अकेला स्वभाव चैतन्यरस और आनन्द था, वह पर्याय में प्रगट हुआ । पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण वीर्य, पूर्ण स्वरूप सब । अतुल महिमा है । जो संसारी को साध्यरूप से सिद्ध है, वे ऐसे हैं, ऐसा कहते हैं । अपने को भी सिद्ध साध्य है न ?

जिनकी अतुल महिमा है... कुछ तुलना नहीं । ऐसा तो जिनका ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्त शक्तियों की व्यक्तता अनन्त महिमासहित प्रगट हुई है । ऐसे (अशरीरी और लोकाग्रस्थित)... हैं । सिद्ध भगवान अब ऊपर हैं, इसलिए सिद्ध भगवान अब, अरिहन्त

थे, तब तक तो प्रत्यक्ष वन्दन के योग्य थे, अब प्रत्यक्ष स्तवन के योग्य नहीं रहे। समवसरण में थे, तब तक तो ऐसे भगवान विराजते थे; इसलिए प्रत्यक्ष स्तवन आदि था।

सिद्ध भगवान अब देवों और विद्याधरों के प्रत्यक्ष स्तवन का विषय नहीं ही हैं, ऐसा प्रसिद्ध है। परन्तु वे तो ऊपर लोकाग्र में हुए। मानो कि देवों को, विद्याधर को वन्दन को प्रत्यक्षयोग्य रहे नहीं, परोक्ष हैं। वे देवाधिदेव... देखो! उन सिद्ध को देवाधिदेव कहा। व्यवहार से लोक के अग्र में सुस्थित हैं... लोक के अग्र में हैं, वह परक्षेत्र है, इसलिए उन्हें व्यवहार से वहाँ है, ऐसा कहने में आता है। और निश्चय से निज आत्मा में... अपना आनन्द और ज्ञानादि स्वभाव है, उसमें स्थित हैं। स्वयं अपने क्षेत्र में, अपने भाव में स्थित हैं। परक्षेत्र में हैं, ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहाहा!

निश्चय से... तो वे सिद्ध भगवान निज आत्मा में... अपने आत्मा में ज्यों के त्यों अत्यन्त अविचलरूप से रहते हैं। चलित हुए बिना, अस्थिर हुए बिना ऐसा उनका स्वरूप, उस अनुसार रहता है। अपने स्वरूप में अविचलरूप से रहते हैं। ऐसे उन्हें सिद्ध भगवान कहते हैं। कहो, समझ में आया? ऐसे सिद्ध होते हैं।

श्लोक-२९५

(अनुष्टुप्)

पञ्च-सन्सार-निर्मुक्तान् पञ्च-सन्सार-मुक्तये ।

पञ्चसिद्धानहं वन्दे पञ्चमोक्षफलप्रदान् ॥२९५॥

(वीरछन्द)

पञ्च परावर्तन से विरहित हैं, पञ्च मोक्षफल दायक है।

पञ्च संसरण मुक्ति हेतु हम पञ्च सिद्ध को नमन करें ॥२९५॥

[श्लोकार्थः—](द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—ऐसे पाँच परावर्तनरूप)
पाँच प्रकार के संसार से मुक्त, पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को देनेवाले (अर्थात् द्रव्यपरावर्तन, क्षेत्रपरावर्तन, कालपरावर्तन, भवपरावर्तन और भावपरावर्तन से मुक्त

करनेवाले), पाँच प्रकार सिद्धों को (अर्थात् पाँच प्रकार की मुक्ति को—सिद्धि को—प्राप्त सिद्धभगवन्तों को) मैं पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए वन्दन करता हूँ।२९५।

श्लोक -२९५ पर प्रवचन

(कलश) २९५

पञ्च-संसार-निर्मुक्तान् पञ्च-संसार-मुक्तये ।

पञ्चसिद्धानहं वन्दे पञ्चमोक्षफलप्रदान् ॥२९५॥

श्लोकार्थ : (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—ऐसे पाँच परावर्तनरूप)... जगत के पदार्थों के एक परमाणु से लेकर अनन्त, उनके सम्बन्ध में अनन्त बार आना, ऐसा परावर्तन। इसी प्रकार क्षेत्र में, काल में, भव और भाव ऐसे पाँच परावर्तनरूप पाँच प्रकार के संसार से मुक्त,... हैं। भगवान सिद्ध तो ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव—ऐसे पाँच परावर्तनरूप संसार से मुक्त हैं। पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को देनेवाले... हैं। पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को (अर्थात् द्रव्यपरावर्तन, क्षेत्रपरावर्तन, कालपरावर्तन, भवपरावर्तन और भावपरावर्तन से मुक्त करनेवाले),... हैं। वे मुक्त करनेवाले हैं। मुक्त करनेवाले। मुक्त हैं या मुक्त करनेवाले पर को? 'पंचसंसारमुक्तये' ऐसा है। अन्त में पंच मोक्षफल प्रदान हैं। पंच मोक्षफल प्रदान। स्वयं प्राप्त हुए हैं और निमित्तरूप से पंच प्रकार के संसार से रहित होने में मुक्त करनेवाले हैं। लो! सिद्ध भगवान मुक्त करनेवाले हैं। यह सब निमित्त की वाणी है। जो कोई सिद्धस्वरूप को अपने समान जानता है, उनके जैसा अपने को जानता है, उसे पंच परावर्तन का नाश होकर मुक्ति होती है, इसलिए सिद्ध देनेवाले हैं, ऐसा कहने में आता है। व्यवहार की कथनी ऐसी होती है। दूसरा क्या हो?

पाँच प्रकार सिद्धों को... लो! यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरहित हुए, ऐसे पाँच प्रकार के सिद्ध (अर्थात् पाँच प्रकार की मुक्ति को—सिद्धि को—प्राप्त सिद्धभगवन्तों को) मैं... मुनि कहते हैं कि सब पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए वन्दन करता हूँ। पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिये वन्दन करता हूँ। सिद्ध को वन्दन करता

हूँ, यह तो विकल्प है। परन्तु मेरा आशय अन्दर दूसरा है। मैं तो मुक्त होने के लिये मेरा विकल्प रहा, परन्तु वन्दन का आदर तो मेरे स्वभाव की ओर का है। समझ में आया ?

ऐसे पाँच प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव से मुक्त होने के लिये वन्दन करता हूँ। उसमें कोई स्वर्ग चाहिए है, ऐसा नहीं है। व्यवहार के कथन तो ऐसे ही होते हैं। लो ! भगवान को वन्दन करता हूँ, वह भगवान होने के लिये वन्दन करता हूँ, ऐसा कहते हैं। उसमें और पुण्य होगा तथा स्वर्ग मिले, इसलिए नहीं। समझ में आया ? 'तद् (गुण) लब्धे' आता है न ? 'तद्गुणलब्धे' उसमें से वे लोग निकालते हैं। यह सवाल आया है वहाँ।

मुमुक्षु : यह दलील है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दलील है। वह दलील यह रही। इस पाठ में रही। 'तद्गुणलब्धे' हे प्रभु परमात्मा ! आपके गुण की प्राप्ति के लिये आपको वन्दन करता हूँ। वहाँ परद्रव्य को वन्दन करने का विकल्प हो तो उससे गुण की प्राप्ति कैसे होगी ? 'तद्गुणलब्धे'। तुम्हारे गुण की लब्धि के लिये मैं वन्दन करता हूँ।

मुमुक्षु : परन्तु तद्गुण की लब्धि के लिये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, प्राप्ति के लिये।

मुमुक्षु : कहाँ से होती होगी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को वन्दन करे, उसमें से। यह प्रश्न पण्डितों को हुआ था। उस ओर से प्रश्न आया था। देखो ! इसमें ऐसा है। दलील करे, क्या काम आवे वहाँ। वह तो व्यवहार से बात है। यह तो ऐसा ही कहे न प्रभु ! आपसे मुझे प्राप्त हुआ, ऐसा ही कहे। ऐसा कहे कि मुझे मुझसे हुआ है ? उसकी भाषा कैसी होगी ? समझ में आया ? आप न होते तब तो मैं भटक मरता। आपके कारण तो मेरे संसार का अन्त आने का अवसर आया। ऐसी ही भाषा बोले न ? विनय की शैली (ऐसी होती है) परन्तु उनके कारण से है या आत्मा के कारण ? समझ में आया ?

पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए वन्दन करता हूँ। मेरा आदर गुण का है। उस गुण के आदर में मुझे गुण की पूर्ण प्राप्ति दशा हो, पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होऊँ। भाषा तो ऐसी ही होगी !

गाथा-१७७

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्टवज्जियं सुद्धं ।
 णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥
 जातिजरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धम् ।
 ज्ञानादि-चतुःस्वभावं अक्षय-मविनाश-मच्छेद्यम् ॥१७७॥

कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । निसर्गतः सन्सृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितं, परम-
 पारिणामिकभावेन परमस्वभावत्वात्परं, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्माष्टकवर्जितं,
 द्रव्यभावकर्मरहितत्वाच्छुद्धं, सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजचिच्छक्तिमयत्वाज्ज्ञानादि-
 चतुःस्वभावं, सादिसनिधनमूर्तेन्द्रियात्मकविजातीयविभावव्यञ्जनपर्यायवीतत्वादक्षयम्,
 प्रशस्ताप्रशस्तगतिहेतुभूतपुण्यपापकर्मद्वन्द्वभावादविनाशं, वधबन्धच्छेदयोग्यमूर्तिमुक्त-
 त्वादच्छेद्यमिति ।

विन कर्म, परम, विशुद्ध जन्म, जरा, मरण से हीन है ।

ज्ञानादि चार स्वभावमय अक्षय अछेद, अछीन है ॥१७७॥

अन्वयार्थ : [जातिजरामरणरहितम्] (परमात्मतत्त्व) जन्म-जरा-मरण रहित,
 [परमम्] परम, [कर्माष्टवर्जितम्] आठ कर्म रहित, [शुद्धम्] शुद्ध, [ज्ञानादिचतुः
 स्वभावम्] ज्ञानादिक चार स्वभाववाला, [अक्षयम्] अक्षय, [अविनाशम्] अविनाशी
 और [अच्छेद्यम्] अच्छेद्य है ।

टीका : (जिसका सम्पूर्ण आश्रय करने से सिद्ध हुआ जाता है, ऐसे) कारण
 -परमतत्त्व के स्वरूप का यह कथन है ।

(कारणपरमतत्त्व ऐसा है: —) निसर्ग से (स्वभाव से) संसार का अभाव होने

के कारण जन्म-जरा-मरण रहित है; परम-पारिणामिकभाव द्वारा परमस्वभाववाला होने के कारण परम है; तीनों काल निरुपाधि-स्वरूपवाला होने के कारण आठ कर्म रहित है; द्रव्यकर्म और भावकर्म रहित होने के कारण शुद्ध है; सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजचित्शक्तिमय होने के कारण ज्ञानादिक चार स्वभाववाला है; सादि-सान्त, मूर्त इन्द्रियात्मक विजातीय-विभावव्यंजनपर्याय रहित होने के कारण अक्षय है; प्रशस्त-अप्रशस्त गति के हेतुभूत पुण्य-पापकर्मरूप द्वन्द्व का अभाव होने के कारण अविनाशी है; वध, बन्ध और छेदन के योग्य मूर्ति से (मूर्तिकता से) रहित होने के कारण अच्छेद्य है।

गाथा - १७७ पर प्रवचन

गाथा, १७७

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मटुवज्जियं सुद्धं ।

णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥

विन कर्म, परम, विशुद्ध जन्म, जरा, मरण से हीन है।

ज्ञानादि चार स्वभावमय अक्षय अछेद, अछीन है ॥१७७॥

यह कारणपरमात्मा की व्याख्या है। पहले गयी वह सिद्ध की—कार्यपरमात्मा की व्याख्या (थी)। समझ में आया ? (जिसका सम्पूर्ण आश्रय करने से सिद्ध हुआ जाता है ऐसे) (कारणपरमात्मा) कारणपरमतत्त्व... त्रिकाली ज्ञायकभाव, द्रव्यस्वभाव कारणपरमात्मा, ध्रुव कारणजीव के स्वरूप का यह कथन है। सम्पूर्ण आश्रय करने से। अपना भगवान, उसका सम्पूर्ण आश्रय करने से। अल्प आश्रय करने से सम्यक् होता है, विशेष आश्रय करे तो वह चारित्र होता है, सम्पूर्ण आश्रय करने से सिद्ध होता है। समझ में आया, लो ! इसमें तो वापस कुछ नहीं आया। फिर डाला, पर का आश्रय करने से होता है, ऐसा कुछ नहीं आया।

मुमुक्षु : अगली गाथा में आयेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अगली गाथा में आया किस प्रकार ? इससे विरुद्ध आया ? निमित्त

के कथन हैं। व्यवहार में विवेक से ऐसा ही बोला जाता है न? वह कहता था, नहीं? जूनागढ़। हमारे तो यह भगवान की भक्ति वीतरागता के लिये करते हैं। हमें कुछ राग-बाग नहीं चाहिए। परन्तु यह भगवान की भक्ति स्वयं ही राग है। भगवान त्रिलोकनाथ की भक्ति करना, वह तो शुभराग पुण्य है; वह कहीं धर्म नहीं है। निश्चयस्वभाव का भान और अनुभव हो तो उस पुण्य को व्यवहारधर्म कहने में आता है। धर्म का वह स्वरूप नहीं है। वे कहते थे। (संवत्) १९९५ में बहुत चर्चा चली, १९९५। श्वेताम्बर में वहाँ के प्रमुख। गिरनार, जूनागढ़, नेमिचन्दभाई है। दीपचन्दभाई के भाई। बहुत चर्चा (चली)। हमें तो यह भगवान की भक्ति मुक्ति के लिये चाहिए। मुझे कुछ राग-बाग नहीं चाहिए। परन्तु भगवान की भक्ति स्वयं ही राग है। राग में से मुक्ति कहाँ से मिलती थी? कठिन काम है। समझ में आया?

परद्रव्य की भक्ति में वीतरागता हो ही नहीं सकती। स्वद्रव्य का आश्रय-भक्ति करे तो उसे वीतरागता होती है। लोगों को तत्त्व की खबर नहीं होती, इसलिए बेचारे यहाँ से भगवान की मुक्ति इसमें भगवान में से हो जाएगी। भगवान हमें मुक्ति देंगे। हम तो उनके दर्शन करते हैं। (यह बात) एकदम मिथ्याश्रद्धा है। समझ में आया? यहाँ आत्मा जो अन्दर है अखण्डानन्द प्रभु, पूर्ण ज्ञायकभाव, कारणतत्त्व, उसका आश्रय करने से मुक्ति होती है। उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है, सम्पूर्ण आश्रय करने से मुक्ति होती है। कहो, समझ में आया?

(जिसका सम्पूर्ण आश्रय करने से...) उसमें स्पष्ट टीका है। कारणपरमात्मा की टीका भी है। (सिद्ध हुआ जाता है...) टीका में ही स्पष्ट बात है। कारणप्रभु की बात है। कारणपरमतत्त्व के स्वरूप का यह कथन है। कारणपरमतत्त्व... यह आत्मा कारणरूप जो मोक्ष के कार्य का कारण। सम्यग्दर्शन चारित्ररूपी कार्य का कारण, ऐसा जो त्रिकाली ज्ञायकभाव, उसे यहाँ कारणपरमात्मा कहा जाता है। आहाहा! इसमें ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण भरे हैं, ऐसा जो भगवान कारणपरमात्मा अपना स्वरूप, उसका आश्रय करने से जघन्य दशा से लेकर सिद्धदशा उत्पन्न होती है। तीन लोक के नाथ तीर्थकर का आश्रय करने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य का आश्रय करने जाए तो राग होता है। समझ में आया? होवे अवश्य राग, परन्तु वह मुक्ति का कारण है, ऐसा नहीं है। गजब बात!

कारणपरमात्मा आनन्द से भरपूर है, स्वभाव से भरपूर पदार्थ अपना निज आत्मा।

निसर्ग से (स्वभाव से) संसार का अभाव होने के कारण... ऐसे कारणपरमात्मा में स्वभाव से ही संसार का अभाव है। उसमें संसार है नहीं। कारणपरमात्मा अपना द्रव्यस्वभाव अनादि-अनन्त अविनाशी तत्त्व आत्मा, कारण। वह स्वभाव निसर्ग से (स्वभाव से) संसार का अभाव... है। इसका सहजस्वभाव ही ऐसा है कि उसमें संसार नहीं है। जन्म-जरा-मरण रहित है;... भगवान आत्मा कारणप्रभु, अविनाशी कारणआत्मा, वह जन्म-जरा-मरणरहित है। उसे जन्मना नहीं, मरना नहीं और जरा भी नहीं।

परम-पारिणामिकभाव द्वारा... लो! आया। वह तो परमपारिणामिकभाववाला भगवान कारणपरमात्मा है। इसमें तो उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव भी नहीं है। आहाहा! भारी सूक्ष्म, भाई! समझ में आया? परम-पारिणामिकभाव द्वारा... अन्तर के सहज अविनाशी स्वभाव के भाव द्वारा परमस्वभाववाला होने के कारण परम है;... ऐसे स्वभाव द्वारा परमस्वभाव, वह तो परमस्वभाव है। केवलज्ञान और केवलदर्शन की पर्याय से भी यह तो परमस्वभाव भिन्न है। समझ में आया?

परमस्वभाववाला होने के कारण... क्या कहा? परम-पारिणामिकभाव द्वारा परमस्वभाववाला होने के कारण... ऐसा। परमपारिणामिक सहजस्वभावभाव अविनाशी, ऐसे भाव द्वारा परमस्वभाववाला वह कारणपरमात्मा होने से वह परम है। आहाहा! कहो, समझ में आया? इस सिद्ध की दशा से भी वह परम भिन्न है। सिद्ध की दशा तो एक समय का अंश है, वह तो क्षायिकभाव से है। यह तो परमस्वभावभाववाला परम तत्त्व है। त्रिकाल है। जिसमें ऐसी अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... सिद्ध की पर्याय के समूहरूप गुण से भरपूर है। सहज पारिणामिकस्वभाव। कहो, समझ में आया? ऐसा परम तत्त्व है, उसका आश्रय करे तो धर्म होता है। बाकी तीन काल में दूसरे प्रकार से धर्म नहीं होगा। अरे!

अपने परमात्मा का स्वभाव परिपूर्ण है और वही परम तत्त्व है। परमपारिणामिक स्वभावभाव के कारण परमस्वभाववाला होने से परम है। परमस्वभाववाला होने से परम है। सिद्ध की पर्याय भी परमस्वभाववाला नहीं है। आहाहा! ऐसा अन्दर कारणपरमात्मा परमपारिणामिकस्वभाववाला होने से परम है, उसे अन्तर्दृष्टि में लेने से सम्यग्दर्शन होता है। उसका पूर्ण आश्रय करने से सिद्ध होता है। कहो, समझ में आया? स्वयं महान है, उसके बदले वह कहाँ है और कैसे है, उसकी इसे खबर नहीं है। समझ में आया? स्वयं महान परमस्वभाव, सहजभाव, सहजस्वभाव, वस्तु का स्वभाव, सहज परमभाव (रहा

है)। स्वभाव से परमतत्त्व है, उसकी उसे महिमा की तो खबर नहीं और यह बाहर की सब बातें! दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा, यह सब विकल्प जो कि उसमें नहीं है और उसके आश्रय बिना ये चलते नहीं। टालने के लिए भी उसका आश्रय हो तो टलें। समझ में आया? ऐसा परमतत्त्व परम सत् का सत्त्व परमपारिणामिकभाव को यहाँ परम—दूसरे तत्त्वों की अपेक्षा परम कहने में आता है। आहाहा!

तीनों काल निरुपाधि-स्वरूपवाला होने के कारण आठ कर्म रहित है;... भगवान आत्मा कारण वस्तु, ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, तीनों काल कर्मरहित है वह तो। पर्याय में कर्म के निमित्त का सम्बन्ध है। वस्तु में तो है नहीं। आहाहा! तीनों काल निरुपाधि-स्वरूपवाला... उपाधिरहित स्वरूप है। वह तो भगवान सत्त्व अकेला, ज्ञान का भाव, आनन्द का भाव, शान्ति, वीतरागस्वभाव का भाव, ऐसा त्रिकाली परमस्वभाव निरुपाधि है। उसके कारण आठ कर्म रहित है;... वह कारणपरमात्मा आठ कर्मरहित है। लो! यह कारणपरमात्मा की व्याख्या चलती है। क्या आया था? प्रश्न आया था न रात्रि में? कारणपरमात्मा, कारणपर्याय, कार्यपरमात्मा।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। कहा न?

मुमुक्षु : कारणपर्याय...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न? कारणपर्याय कही न? यही कहा। यही शब्द है। कारणपरमात्मा, कारणपर्याय और कार्यपरमात्मा, ऐसे तीन बोल इसमें आये। यह कारणपरमात्मा की व्याख्या चलती है। उसकी पर्याय में उत्पाद-व्यय बिना की जो शुद्ध कारणपर्याय है, वह तो ध्रुव है। समझ में आया? कारण प्रभु त्रिकाल निरुपाधि—उपाधिरहित और उसकी कारणपर्याय भी त्रिकाल उपाधिरहित। समझ में आया? और वह कारण स्वयं द्रव्यस्वभाव और कारणपर्याय दोनों उत्पाद-व्ययरहित। अरे रे! ऐसा वह भगवान! ऐसा आत्मा कुछ सुना नहीं। यह तो आत्मा एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया। चिमनलालभाई! अभिहया, वतिया, लेसिया, मिच्छामि दुक्कडम, जाओ। जीवियाओ, ववरोविया आहाहा! परन्तु यह जीवियाओ ववरोविया ऐसा आत्मा त्रिकाल है, उसे तू मानता नहीं और जीवियाओ ववरोविया तूने कर डाला है तेरा। क्यों धनजीभाई!

ऐसा कारणप्रभु त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु मुक्तस्वरूप ध्रुव सत्त्व आत्मा का तो स्वीकार नहीं। स्वीकार नहीं अर्थात् एक पर्याय का और राग का स्वीकार है। इसका रीतसर निषेध किया है। कि तू ऐसा है? नहीं। नहीं, नहीं। मैं तो ऐसा हूँ - रागवाला हूँ, पुण्यवाला हूँ, और एक समय की पर्यायवाला हूँ तो ऐसा जो उसका जीवत्व-जीवन, जीवितेश। लो, आया था न जीवितेश? आहाहा! इसके टिकने का ईश्वर स्वयं त्रिकाल टिकता तत्त्व है। अरूपी परन्तु वस्तु है न? और वह वस्तु है, वह अनन्त-अनन्त बेहद सहज परमस्वभावभाववाला तत्त्व है। आहाहा! समझ में आया? पहले सिद्ध की व्याख्या आ गयी। अब सिद्ध की आयेगी। २७८ से। यह एक बीच में कारणपरमात्मा की बात पहले बीच में डाली है। आहाहा!

द्रव्यकर्म और भावकर्म रहित होने के कारण... भगवान कारणप्रभु, ध्रुव सत्त्व ज्ञायकभाव। परमपारिणामिक अर्थात् सहजभावस्वरूप, उसे द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं है। उसमें अकेले आठ जड़कर्म डाले थे। इसमें दो डाले हैं। **द्रव्यकर्म और भावकर्म रहित होने के कारण शुद्ध है;**... है न? 'कम्मट्टवज्जियं सुद्धं।' भगवान आत्मा त्रिकाली उसका स्वरूप, वह तो आठ कर्म और भावकर्मरहित शुद्ध है। अत्यन्त शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... अनादि का शुद्ध। समझ में आया?

सहजज्ञान,... अब स्पष्टीकरण किया। वह पारिणामिकभाव समुच्चय कहा था न? पारिणामिकभाव द्वारा परमस्वभाववाला। तो अब कैसा उसका स्वभाव है? **सहजज्ञान,**... वस्तु का स्वभाव स्वाभाविक ज्ञान त्रिकाल, ऐसे ज्ञानस्वभाववाला, वह परमतत्त्व है। स्वाभाविक ज्ञान। केवलज्ञान की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया? केवलज्ञान तो एक समय की पर्याय है। यह तो त्रिकाली सहज ज्ञान। गुण-गुण।

अरे! ऐसा भगवान, उसका इसे माहात्म्य नहीं आया और इस सब दुनिया का माहात्म्य। लड़का अच्छा निकले तो प्रसन्न, विवाह अच्छा होवे तो प्रसन्न, पैसा कुछ पाँच-पच्चीस लाख मिले तो प्रसन्न। धूल... धूल... धूल...। यह परमात्मा ऐसा है। उसकी तो इसे खबर नहीं। आहाहा! ऐई! बाबूभाई! पैसा कुछ पाँच-पच्चीस लाख मिले और लड़का अच्छा अर्थात्... धूल भी नहीं, मर गया, सुन न! जीवन्तज्योति का तो तू अनादर करता है। आहाहा! ऐसा परमात्मा तू स्वयं, अविनाशी शक्ति के सत्त्वरूप, रसरूप, भावरूप, स्वभावभावरूप, उसकी तो तुझे श्रद्धा नहीं, उसका तुझे आश्रय नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह भी विकल्प राग है। वह कहीं समकित नहीं है। सम्यक्त्व तो त्रिकाली परमस्वभावभाव की अन्तर रुचि करना, अनुभव निर्विकल्प (होना), उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया? सम्प्रदाय में तो कहीं हाथ आवे, ऐसा नहीं है। चिमनलालभाई! अब थोड़ा करते जाते हैं। आहाहा! बड़ा वर— भगवान वर को छोड़कर बारात जोड़ दी है। कौन है वह त्रिकाली? एक समय की पर्याय भी नहीं। सिद्ध की पर्याय से रहित वह है। आहाहा! समझ में आया?

वस्तु है न? वस्तु है तो उसका - वस्तु का जितना त्रिकाल भाव, ऐसा ही उसका स्वभावभाव है। वह स्वभावभाववाला तत्त्व है, उसे यहाँ कारणपरमात्मा अथवा कारणतत्त्व कहा है। उसमें कुछ... आहाहा! कैसी चीज़ का विश्वास! ऐसा है, उसका विश्वास (आया वहाँ) अन्यत्र सबसे विश्वास उड़ गया। पर्याय और राग का विश्वास उड़ गया। ऐसा मैं हूँ, ऐसा जो विश्वास (आवे), उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

स्वाभाविक ज्ञान। स्वभाव से ही निसर्ग संसार का अभाव है। परन्तु अब भाव क्या? समझ में आया? कि सहजज्ञान। त्रिकाली परमस्वभावभावरूप सहजज्ञान। सहजदर्शन, सहजचारित्र... स्वाभाविक दर्शन, त्रिकाली दर्शन। त्रिकाली सहजदर्शनरूप स्वभावभाव, वह कारणपरमात्मा। ऐसे चार स्वभाववाला है, ऐसा कहना है। सहजचारित्र... यह चारित्र वीतरागीदशा प्रगट हो, वह यह नहीं है। त्रिकाली सहजचारित्र (सहज) वीतरागभाव। आत्मा में कारणपरमात्मा में स्वभाव, स्वाभाविक चारित्र अर्थात् स्वाभाविक वीतरागता। स्वाभाविक वीतरागता यह उसका रूप-स्वरूप है। आहाहा!

और सहजचित्शक्तिमय... ज्ञान की शक्ति का वीर्य। स्वाभाविक चित्शक्तिमय होने के कारण... उसकी तो स्वाभाविक ज्ञान के सामर्थ्यरूप शक्ति है। आहाहा! उसकी शक्ति-स्वभाव चित्शक्तिरूप शक्ति है। त्रिकाल-त्रिकाल उसकी शक्ति है। ऐसा होने के कारण... इस कारण से ज्ञानादिक चार स्वभाववाला (तत्त्व) है;... कारणपरमात्मा ध्रुव भाववाला तत्त्व ऐसे स्वभाववाला है। आहाहा! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय भी जहाँ अतुल और अमाप है, तो यह तो त्रिकाली स्वाभाविक गुण है। उसकी शक्ति, उसका सामर्थ्य, उसका बल और उसका सत्त्व अपार... अपार... अपार... ऐसे अपार सत्त्ववाला, वह तत्त्व है। लो! आत्मा यह। वे कहते हैं न कि जीव किसे कहना? हिले-चले, उसे जीव कहना। है? जीव विचार आता है न, जीव विचार? जीव विचार आता है। वह किसे

कहना ? हिले-चले उसे जीव कहना । एक जगह से दूसरी जगह जाए (वह जीव) । परमाणु हिलते-चलते हैं, एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं ।

मुमुक्षु : ऐयरोप्लेन जाता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐयरोप्लेन अपने आप जाता है ।

यह तो भगवान आत्मा जीव उसे कहना कि स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन और आनन्द और वीर्य से भरपूर पदार्थ, उसे यहाँ आत्मा कहना है । किसी का कर दे और किसी को मदद करे और किसी की मदद ले, वह आत्मा नहीं है । आहाहा ! गजब बात, भाई !

यह चार स्वभाववाला (कहा उनमें) अनन्त चतुष्टय लिये हैं । त्रिकाल । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य । ऐसे अनन्त चतुष्टय के स्वभाववाला, त्रिकाल कारणपरमात्मा जिसकी खान में ऐसा अनन्त भरा है । आहाहा ! उसका आश्रय लेने से धर्म होता है । समझ में आया ? काल-दुष्काल सेठिया तो कहे न ? कि भाई ! यह जो काल ऐसा है, आपके सहारे हमको यह निभाना है । निभाना । काल में दुष्काल है इसलिए ।

उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि इस संसार के भाव से निभाना । कौन ? यह आत्मा । आहाहा ! संसार की आपदा चार गति की, उससे अभाव करने का स्वभाव है, उस आपदा को मिटाने का स्वभाव तो आत्मा है । तू महालक्ष्मीवन्त है, प्रभु ! इस सुकाल-दुष्काल में मेरा सहज करना । ऐसा कहते हैं न ? सेठिया तो कहते हैं । पोपटभाई ! मदद करूँगा अनाज की । यह तो तीन काल-तीन लोक में जो पराधीनता है, वह सब मिटाने में समर्थ वह भगवान आत्मा अकेला है । समझ में आया ? अब यह क्या परन्तु ऐसा ?

कारणपरमात्मा का तो सम्प्रदाय में नाम भी नहीं सुना होगा । आहाहा ! नियमसार में तो दिगम्बर सन्तों ने तो गजब काम किया है ! केवलज्ञान का पेट (रहस्य) खोला है । आहाहा ! वीतराग का धर्म, जैनदर्शन कहो या विश्वदर्शन कहो या विश्व का स्वरूप (कहो), इसे सन्तों ने-दिगम्बर सन्तों ने धार रखा है । इसके अतिरिक्त अन्यत्र ऐसी बात कहीं है ही नहीं । समझ में आया ? आहाहा ! तू कौन है ? ऐसा है । यह बात अन्यत्र कहाँ है ? समझ में आया ? ऐसा है... रहित अक्षय कहते हैं ।

यह सादि-सान्त,... यह शरीर है न ? मिलता है, शुरुआत (होती है) पश्चात् अन्त

आ जाता है। मूर्त इन्द्रियात्मक विजातीय-विभावव्यंजनपर्याय रहित... विभाव-व्यंजनपर्यायरहित होने के कारण अक्षय है;... इस शरीररहित होना है, ऐसा है नहीं। वह अक्षय ही है। आहाहा! इसमें विभावव्यंजनपर्याय शरीर की या उसकी आकृति वह भी उसमें नहीं है। प्रशस्त-अप्रशस्त गति के हेतुभूत पुण्य-पापकर्मरूप द्वन्द्व का अभाव होने के कारण... लो! ये सब शब्द इनके हैं न? 'अक्खयमविणासमच्छेयं' कैसा है भगवान आत्मा—त्रिकाली इसका ध्रुवतत्त्व परम भाववाला? कि जो प्रशस्त-अप्रशस्त गति। देव और मनुष्य प्रशस्त कहलाते हैं, नारकी और (तिर्यच) वह अप्रशस्त। ऐसी गति के हेतुभूत पुण्य-पापकर्मरूप... यह पुण्य और पाप, उसके द्वन्द्व का अभाव है। इस पुण्य-पाप के द्वन्द्वरहित तत्त्व अन्दर है। समझ में आया? उसके कारण अविनाशी है;...

वध, बन्ध और छेदन के योग्य मूर्ति से (मूर्तिकता से) रहित होने के कारण... आहाहा! अच्छेद है न? वध, बन्ध और छेदन के योग्य... उसमें वध भी नहीं, बन्ध भी नहीं और छेदने योग्य मूर्ति से रहित (मूर्तिकता से) रहित होने के कारण अच्छेद है। अच्छेद और अभेद, ऐसे शब्द तो गीता में भी आते हैं। परन्तु ऐसा तत्त्व हो, उसे अच्छेद और अभेद कहते हैं। समझ में आया? अच्छेद आता है न उसमें? छिदता नहीं, विंधता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान कारणपरमात्मा त्रिकाली ध्रुव परमस्वभाव को वध नहीं है, वध नहीं और बन्ध नहीं और छेद नहीं। ऐसी की ऐसी अच्छेद वस्तु है। कहो, समझ में आया? हीरा के स्तम्भ भी छिद जाते हैं। देखो न! तलवार रखे स्वयं सरीखी। कैसे? चक्रवर्ती। एक-एक तलवार हजार देव। ऐसे ककड़ी काटे वैसे हीरा के स्तम्भ काट डालते हैं एकदम। हीरा के स्तम्भ, हों! उस स्तम्भ की है न जाति वहाँ? मूड़बिद्री? मुड़बिद्री... है न पहले का। मकान सब पुराने जीर्ण हैं। उनके स्तम्भ ऐसे बड़े मजबूत हैं। पहले के राजकुटुम्ब कहलाते हैं। है, उनके घर गये थे। स्तम्भ। यह तो हीरे के स्तम्भ। तलवार हाथ में होवे तो ऐसा करे। ककड़ी करे, वैसे चीर डाले। परन्तु यह आत्मा कटता नहीं है। आहाहा! छिदता नहीं है, ऐसा यह आत्मा है।

आत्मा त्रिकाली ध्रुव आत्मा की बात है। एक समय की पर्याय का पलटना, वह भिन्न चीज है। उसके अतिरिक्त यह त्रिकाली चीज ऐसा आत्मा है, उसका यह वर्णन है। समझ में आया?

[अब, इस १७७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

ऐसा सर्वज्ञ ने देखा। ऐसा देखा भगवान ने। इस आत्मा को परमात्मा ने ऐसा देखा। ऐसा जो देखे और माने, वह परमात्मा को माननेवाला कहने में आता है। कहो, समझ में आया? उसे वह परमात्मा, अल्प काल में यह पर्याय चली जाएगी। जिसने परमात्मा का आश्रय लिया, वह परमात्मा हुए बिना नहीं रहेगा। इसमें भी करना क्या? कुछ करना? यह दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना, यह तो कुछ इसमें आया नहीं। यह तो सब विकल्प है। उसकी यहाँ बात भी कहाँ है? वह विकल्प तो उसकी निर्मल पर्याय में ही नहीं है तो द्रव्य में तो (कहाँ से होगा)? आहाहा! समझ में आया? ऐसा आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ के अतिरिक्त किसी ने इस प्रकार से जाना नहीं। किसी ने इस प्रकार से कहा भी नहीं। जाने तब कहे न? कहाँ जाना है उसने? समझ में आया? कहो समझ में आया इसमें? श्वेताम्बर में भी यह बात आयी नहीं है। आहाहा! अनादि सनातन जैनदर्शन, दिगम्बर दर्शन के अन्दर यह बात है। कहो।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं न यह, सब कल्पित सब। उत्तराध्ययन भी कल्पित बनाया हुआ है। भगवान की वाणी तो यह दिगम्बर सन्तों ने रखी, वह वाणी है। मार्ग तो यह है, बापू! किसी को बुरा लगाने के लिये कुछ नहीं है। वस्तु का स्वभाव ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? उत्तराध्ययन में अन्त में आता है न? ऐसा कहते हैं कि भगवान की देशना... एकदम खोटी बात है। उसमें तो वस्त्र रखना, ऐसा करना, वैसा करना—ऐसा उत्तराध्ययन में है। खोटी बात है। सब कल्पना है।

जिनेश्वरदेव ने तो ऐसा आत्मा कहा और उसका आश्रय करके जिसे सम्यग्दर्शन होता है, वह दूसरे को नहीं मानता और उसका आश्रय करके जिसे चारित्र होता है, उसकी दशा बाह्य में नग्न हो जाती है और अट्टाईस मूलगुण का विकल्प व्यवहार से होता है, उसे हेयरूप जानता है। आहाहा! गजब बातें! समझ में आया? उत्तराध्ययन में तो बहुत सब फेरफार। कैसी स्वामी की चर्चा आती है न! तेईसवें अध्ययन में।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : झूठी-झूठी। अन्तिम देशना कहाँ थी? ध्यान में है। वाणी बन्द

हो गयी। बहुत सब फेरफार है। अभी तो किसी के साथ में विवाद निकालने जैसा नहीं है। वस्तुस्वरूप यह है। ऐसी बात है।

एक व्याख्या तो देखो यह! परमस्वभाववाला यह तत्त्व उन चार स्वभाववाला परमभाव है। आहाहा! त्रिकाल अनन्त चतुष्टय जिसमें पड़ा है। तू ध्रुव अविनाशीरूप से। जिसे अनन्त चतुष्टय प्रगट करना हो, उसे इस अनन्त चतुष्टय का आश्रय लेना चाहिए। दूसरी कोई क्रिया उसकी है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऊपर कहा न? उसका आश्रय करने से। कहते हैं, रागादि बीच में आते हैं, उनका आश्रय नहीं, वह कोई वस्तु का कारण नहीं है। व्यवहार होता अवश्य है बीच में, परन्तु वह कोई कारण नहीं है। वह तो बन्ध का कारण है। समझ में आया? देव-शास्त्र-गुरु, भक्ति-पूजा का विकल्प होता है, परन्तु वह बन्ध का कारण है। व्यवहार पराश्रित, वह बन्ध का कारण है। स्वाश्रित, वह मुक्ति का कारण है। ऐसा मार्ग त्रिकाल है। मानना, न मानना, वह जगत के स्वाधीन है।



श्लोक-२९६

[अब, इस १७७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:—]

(मालिनी)

अविचलित-मखण्ड-ज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं,
निखिल-दुरित-दुर्गत्रातदावाग्निरूपम् ।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं,
सकल-विमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ॥२९६॥

(वीरछन्द)

अविचल और अखण्डज्ञानमय जो अद्वन्द्व में निश्चल लीन।
दुस्तर सकल पाप-वन दहने को दावानल तुल्य प्रवीण ॥
निज से ही उत्पन्न सुखामृत दिव्य जिसे तू भजे सुजान।
भजो उसी को जिससे सकल विमल हो तुझको केवलज्ञान ॥२९६॥

[श्लोकार्थः—] अविचल, अखण्डज्ञानरूप, अद्वन्द्वनिष्ठ (राग-द्वेषादि द्वन्द्व में जो स्थित नहीं है) और समस्त पाप के दुस्तर समूह को जलाने में दावानल समान—स्वोत्पन्न (अपने से उत्पन्न होनेवाले) दिव्यसुखामृत को (-दिव्यसुखामृतस्वभावी आत्मतत्त्व को)—कि जिसे तू भज रहा है उसे—भज; उससे तुझे सकल-विमल ज्ञान (केवलज्ञान) होगा ही । २९६ ।

श्लोक - २९६ पर प्रवचन

(कलश) २९६

अविचलित-अखण्ड-ज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं,
निखिल-दुरित-दुर्गत्रातदावाग्निरूपम् ।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मांशुं त्वं,
सकल-विमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ॥२९६॥

श्लोकार्थः अविचल, अखण्डज्ञानरूप, ... कैसा है भगवान आत्मा ? चलित नहीं, ऐसा अखण्ड ज्ञानरूप है । अखण्ड ज्ञानरूप एकरूप है । त्रिकाल... त्रिकाल अद्वन्द्व अर्थात् द्वन्द्वरहित अद्वन्द्वनिष्ठ (राग-द्वेषादि द्वन्द्व में जो स्थित नहीं है) और समस्त पाप के दुस्तर समूह को जलाने में... समस्त पुण्य-पाप के दुस्तर समूह को । जिस पर दावानल समान—स्वोत्पन्न (अपने से उत्पन्न होनेवाले) दिव्यसुखामृत को... दिव्य आनन्द के अमृत को ऐसे दिव्यसुखामृत को (-दिव्यसुखामृतस्वभावी आत्मतत्त्व को)... आहाहा! देखो! स्वयं । कि जिसे तू भज रहा है उसे—भज;... भगवान पूर्णानन्दस्वभाव, उसे तू एकाग्र होकर भज रहा है, उसे भज । भगवान का भजन-बजन वह सब विकल्प है । कहो, समझ में आया ? आहाहा! लो! यह भज कहते हैं । भज रहा है, उसे भज ।

पूर्णानन्द का नाथ सहजानन्दमूर्ति प्रभु, उसे तू भज रहा है । उसका तेरा झुकाव वहाँ ही है । उसे भज । आहाहा! व्यवहार और निमित्त को न भज । कहो, समझ में आया ? ऐसा मार्ग पहले से गजब कहा है यह तो । मार्ग ही ऐसा है, भगवान ! तू बड़ा है और तेरा मार्ग भी इतना ही बड़ा है । आहाहा! स्वयं मुनिराज दिगम्बर सन्त हैं । वनवासी पद्मप्रभमलधारिदेव

आहाहा! अब उन्हें वे मिथ्या सिद्ध करते हैं, हों! ऐसे दृष्टान्त निश्चय से दिये और कहते हैं भज रहा है उसे। यह तो बीच में वह विकल्प आता है, वह हो जाता है। मेरा भजन तो आत्मा आनन्दस्वरूप का भजन है। आहाहा!

दिव्यसुखामृत... से भरपूर। दिव्य अर्थात् आनन्द के अमृत से भरपूर भगवान पूर्ण स्वरूप, ऐसे आनन्द को भजता है, अनुभव करता है। उसे ही अनुभव कर, बस! बाकी कोई अनुभव करने योग्य नहीं है। आहाहा! स्वयं को विश्वास हो गया है कि मैं ऐसे आत्मा को ही भजता हूँ। पूर्णानन्द स्वभाव से भरपूर भगवान में ही मेरी एकाग्रता और स्वसन्मुखता है। बस, ऐसी की ऐसी रख। उसका भजन कर। भजता है, उसका भजन कर। भजता है, उसका भजन कर। आहाहा! दूसरी सब बातें छोड़ दे। व्यवहार के विकल्प हों तो इसका भजन करने पर वह सब छूट जाता है। समझ में आया?

यहाँ तो पर्याय का भजन कर – ऐसा नहीं कहा। ऐसे त्रिकाली को भज। वह भजन पर्याय है परन्तु त्रिकाली को भज। ऐई! जिसे भज रहा है अर्थात् पर्याय हुई। त्रिकाली भगवान आनन्द का धाम, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द, जिसके आनन्द के एक समय में स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन सड़ा हुआ तिनका, कचरा जैसा लगता है। सड़ी हुई बिल्ली और कुत्ते का कलेवर हो, ऐसा उसे (लगता है)। आहाहा!

दिव्य सुखामृत। भगवान! आनन्द का, अमृत का समुद्र प्रभु स्वभाव का सागर है। स्वभाव है, उसे किसी क्षेत्र की महानता की आवश्यकता नहीं है। उसका स्वभाव बेहद अपरिणमित है। उसे तू भजता है। आहाहा! जिसका अनुभव तू करता है, उसका तू अनुभव कर। आहाहा! लो! यह आत्मा त्रिकाली ऐसा है, उसे भजना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! समझ में आया? इसमें वाद-विवाद को स्थान ही कहाँ है? वस्तु की स्थिति ही ऐसी है वहाँ। आहाहा! ऐसे महान भगवान का विश्वास, उस विश्वास की कीमत कितनी! आहाहा! विश्वास अर्थात् सम्यग्दर्शन। ऐसा परमात्मा परमस्वभावभाव का अकेला पिण्ड प्रभु, पूर्ण सागर, उसकी श्रद्धा। उसकी श्रद्धा में कीमत कितनी उस श्रद्धा की – समकित की! आहाहा! जिसने ऐसे आत्मा को अन्दर में स्वीकार किया और अनुभव में (लिया उसकी कीमत कितनी)। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१७८

अव्याबाहमणिंदियमणोवमं पुण्यपावणिमुक्कं ।
पुनरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ॥१७८॥

अव्याबाधमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।
पुनरागमन-विरहितं नित्य-मचल-मनालम्बम् ॥१७८॥

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तम् । अखिलदुरघवीरवैरीवरूथिनीसम्भ्र-
मागोचरसहजज्ञानदुर्गनिलयत्वादव्याबाधं, सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वादतीन्द्रियं, त्रिषु तत्त्वेषु
विशिष्टत्वादनौपम्यं, सन्सृतिपुरन्धिकासम्भोगसम्भवसुखदुःखाभावात्पुण्यपाप-निर्मुक्तं,
पुनरागमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनविरहितं, नित्यमरणतद्भवमरण-
कारणकलेवरसम्बन्धाभावान्नित्यं, निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावादचलं, परद्रव्यावलम्बना-
भावादनालम्बमिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः -

(मंदाक्रांता)

आसन्सारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पद-मिद-मिदं यत्र चैतन्य-धातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥

तथाहि -

निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्यपापविहीन है ।

निश्चल, निरालम्बन, अमर पुनरागमन से हीन है ॥१७८॥

अन्वयार्थ : [अव्याबाधम्] (परमात्मतत्त्व) अव्याबाध, [अतीन्द्रियम्]

अतीन्द्रिय, [अनुपमम्] अनुपम, [पुण्यपापनिर्मुक्तम्] पुण्य-पाप रहित, [पुनरागमन-विरहितम्] पुनरागमन रहित, [नित्यम्] नित्य, [अचलम्] अचल और [अनालम्बम्] निरालम्ब है।

टीका : यहाँ भी, निरुपाधि स्वरूप जिसका लक्षण है, ऐसा परमात्मतत्त्व कहा है।

(परमात्मतत्त्व ऐसा है: —) समस्त दुष्ट ^१अधरूपी वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रव को अगोचर ऐसे सहजज्ञानरूपी गढ़ में आवास होने के कारण अव्याबाध (निर्विघ्न) है; सर्व आत्मप्रदेश में भरे हुए चिदानन्दमयपने के कारण अतीन्द्रिय है; तीन तत्त्वों में विशिष्ट होने के कारण (बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व इन तीनों में विशिष्ट—मुख्य प्रकार का—उत्तम होने के कारण) अनुपम है; संसाररूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप रहित है; ^२पुनरागमन के हेतुभूत प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन रहित है; ^३नित्यमरण के तथा उस भव सम्बन्धी मरण के कारणभूत कलेवर के (शरीर के) सम्बन्ध का अभाव होने के कारण नित्य है; निज गुणों और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है; परद्रव्य के अवलम्बन का अभाव होने के कारण निरालम्ब है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १३८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

रे! अनादि से प्रतिपद में जो सदा मत्त हैं रागी जीव ।
अपद अपद वह पद तुम जिमसें सुप्त हुए - यह लखो सदैव ॥
आओ! आओ! देखो! यह पद है तेरा सुन यह पद है ।
शुद्ध शुद्ध चैतन्य धातु जो अतिशय निजरस से थिर है ॥

“[श्लोकार्थः —] (श्रीगुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधते हैं कि:—) हे

१- अध्यात्मशास्त्रों में अनेक स्थानों पर पाप तथा पुण्य दोनों को 'अघ' अथवा 'पाप' कहा जाता है।

२- पुनरागमन=(चार गतियों में से किसी गति में) फिर से आना; पुनः जन्म धारण करना सो।

३- नित्यमरण=प्रतिसमय होनेवाला आयुर्कर्म के निषेकों का क्षय।

अन्ध प्राणियों! अनादि संसार से लेकर पर्याय-पर्याय में यह रागी जीव सदैव मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं—नींद ले रहे हैं, वह पद अर्थात् स्थान अपद है—अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है,) ऐसा तुम समझो। (दो बार कहने से अत्यन्त करुणाभाव सूचित होता है।) इस ओर आओ—इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) तुम्हारा पद यह है—यह है, जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु निज रस की अतिशयता के कारण स्थायी भावपने को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है—अविनाशी है। (यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है, वह द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता सूचित करता है। सर्व अन्य द्रव्यों से पृथक् होने के कारण आत्मा द्रव्य से शुद्ध है और पर के निमित्त से होनेवाले अपने भावों से रहित होने के कारण भाव से शुद्ध है।)''

प्रवचन-२०८, गाथा-१७८, श्लोक २९७, गुरुवार, मगसर कृष्ण ७, दिनांक ०९-१२-१९७१

१७८ गाथा ।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।

पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ॥१७८॥

निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्यपापविहीन है ।

निश्चल, निरालम्बन, अमर पुनरागमन से हीन है ॥१७८ ॥

टीका : यहाँ भी,... ऐसा शब्द कहकर मानो पूर्व में कहा, वही कहते होंगे, ऐसा । स्वयं तो उसमें पारिणामिकभाव उतारा है । २७७ में तो यह कल आ गया न ? और यह तो सिद्ध भगवान परमात्मतत्त्व की गाथा है । ...कारणपरमात्मा की । यह गाथाएँ अब सब कार्यपरमात्मा-सिद्धपरमात्मा (हुए उनकी आयेगी) । इस टीका में यहाँ भी,... ऐसा शब्द है, इतनी सन्धि की है । पाठ में है न ? 'अत्रापि' पहले है न ? उसका अर्थ यहाँ कहा, ऐसा ही यहाँ भी कहा है । परन्तु वह तो अपेक्षा से बराबर है ।

कारणपरमात्मा जो त्रिकालस्वरूप है, उसकी व्याख्या करो या कार्य की करो । जैसे कार्य में रागादि कुछ नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में भी नहीं है, ऐसा लिया जाता है । वस्तु जैसी अन्दर चीज़ है, वैसी ही पर्याय प्रगट हो तो वह ऐसी ही है और उसके जैसी ही है । समझ में आया ? उसकी शैली है न इसमें ? कि सिद्ध का जो कार्य प्रगट हुआ,

उसमें जो कुछ नहीं है, वैसा आत्मा द्रव्य में भी नहीं है। बात इतनी है कि आत्मद्रव्य, वह त्रिकाली परमस्वभावभाव है और सिद्ध में पर्याय क्षायिकभाव की है।

कहते हैं कि यहाँ भी, निरुपाधि स्वरूप जिसका लक्षण है, ऐसा परमात्मतत्त्व कहा है। सिद्ध भगवान का स्वरूप। (परमात्मतत्त्व ऐसा है:—) समस्त दुष्ट अधरूपी वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रव को... वैरी-वरुखी। ठीक! धांधल तो अपना काठियावाड़ी शब्द है। धांधल-फांदल नहीं कहते? धमाल मत करो। तूफान मत करो। तुम्हारे क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : हमारे में धांधलबाजी कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह फांदलबाजी।

समस्त दुष्ट अधरूपी वीर... कठोर जो दुष्ट पुण्य-पापरूपी अघ। पुण्य-पाप सब अघ में गिने जाते हैं इसमें। पुण्य-पापरूपी जो अघ, ऐसा जो वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रव... आहाहा! पुण्य-पाप के भाव वीर सेना है, अनादि से उसमें धांधल है, ऐसा कहते हैं। ऐसे को अगोचर... ऐसी सेना के धांधल को अगम्य ऐसे सहजज्ञानरूपी गढ़ में आवास होने के कारण... सहज ज्ञानरूपी किले में आत्मा का आवास है। इसलिए अव्याबाध (निर्विघ्न) है;... सिद्ध भगवान को कोई विघ्न नहीं है। उसी प्रकार द्रव्य को भी कोई विघ्न नहीं है। द्रव्य भी ऐसा ही है। यहाँ तो ऐसा कहा, सहज ज्ञानरूपी किला। उसमें तत्त्व रहा हुआ है। ज्ञानरूपी किले में सिद्ध भगवान रहते हैं। उन्हें कोई बाहर का विघ्न या बाधा-पीड़ा नहीं है। और कैसे हैं वे? ऐसा ही आत्मा है, ऐसा समझना। समझ में आया?

सर्व आत्मप्रदेश में भरे हुए चिदानन्दमयपने के कारण अतीन्द्रिय है;... असंख्य प्रदेश में, ऐसा लिया। सर्व आत्मप्रदेश में भरे हुए चिदानन्दमय... ज्ञान और आनन्दमय है। सिद्ध तो असंख्य प्रदेशों में अकेले ज्ञान और आनन्दमय हैं। यह आत्मा भी अन्दर वस्तु से असंख्य प्रदेश में अकेला ज्ञान और आनन्दमय भरपूर तत्त्व है। कहो, समझ में आया? अतीन्द्रिय है; तीन तत्त्वों में विशिष्ट होने के कारण (बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व इन तीनों में विशिष्ट—मुख्य प्रकार का—उत्तम होने के कारण) अनुपम है;... उसे कोई उपमा नहीं। तीन में वह उत्तम हैं, ऐसा कहते हैं।

(बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व इन तीनों में विशिष्ट—मुख्य प्रकार का—उत्तम होने के कारण)... सिद्धपद, वह उत्तम तत्त्व है। इसलिए उसे अनुपम—उसे कोई उपमा नहीं है। वस्तु भगवान आत्मा भी ऐसा है। यह तो बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की पर्याय से भी भिन्न है। सिद्ध को ही यह सब है, उतारा है। टीका में सिद्ध से ही चलता है। संसाररूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप रहित है;... सिद्ध को आत्मा के आनन्द की उत्पत्ति है। इसलिए संसार की स्त्री से उत्पन्न सुख-दुःख की कल्पना, ऐसा जो उसमें भाव, उसका अभाव है। वह पुण्य-पापरहित है। यह आत्मा भी संसार के राग से उत्पन्न सुख-दुःख की कल्पनारहित आत्मा है।

पुनरागमन के हेतुभूत... (चार गतियों में से किसी गति में) फिर से आना; पुनः जन्म धारण करना सो। ऐसा जो पुनरागमन के हेतुभूत प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण... प्रशस्त और अप्रशस्त। ठीक! मोह प्रशस्त-अप्रशस्त, राग प्रशस्त-अप्रशस्त, द्वेष प्रशस्त-अप्रशस्त। तीनों। अपेक्षा है न? कहते हैं कि प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन रहित है;... सिद्ध को वहाँ से वापस आना नहीं है।

नित्यमरण के तथा उस भव सम्बन्धी मरण के कारणभूत कलेवर के (शरीर के) सम्बन्ध का अभाव होने के कारण नित्य है;... लो! नित्य मरण है न? समय-समय आयु। 'समय-समय आयु उदय आविचीमरण है न?' क्षण-क्षण आयुष्य के परमाणु जाते हैं। क्षण-क्षण में मृत्यु है। जितना आयुष्य लेकर आया है, उसमें से क्षण-क्षण में मृत्यु होती जाती है। वह नित्य मरण है। उसका भी इसमें अभाव है। नित्य मरण का मूल कारण तो शरीर है, उसका भी इसमें (अभाव है)। उस भव सम्बन्धी मरण के कारणभूत कलेवर के (शरीर के) सम्बन्ध का... आत्मा को शरीर का सम्बन्ध है ही नहीं। सिद्ध को। इसलिए वे नित्य हैं।

निज गुणों और पर्यायों से च्युत न होने के कारण... भगवान सिद्ध परमात्मा अपने निजगुणों—ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि भावों और अनन्त केवलज्ञानादि की पर्याय, उनसे च्युत नहीं होते। उनमें से तो कभी भ्रष्ट नहीं होते। उसके कारण...

मुमुक्षु : त्रिकाली में यह बोल किस प्रकार उतारना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाली में यह नहीं है। यहाँ तो सिद्ध की बात है। वे तो ऐसे... उनमें नहीं वह इसमें नहीं, यह अलग बात है। त्रिकाली में तो पर्याय नहीं। उसका यहाँ नहीं उतरता। जितना उतरे, उतना उतरे न! यहाँ तो क्षायिक पर्याय है उन्हें, ऐसा सिद्ध करना है न ?

परद्रव्य के अवलम्बन का अभाव होने के कारण... सिद्ध भगवान को परद्रव्य का अवलम्बन नहीं है, इसलिए वे निरालम्ब है। उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के आलम्बन के अभाव बिना का निरालम्बी तत्त्व है। भगवान आत्मा पर के अवलम्बन रहित है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १३८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

आसन्सारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पद-मिद-मिदं यत्र चैतन्य-धातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥

श्लोकार्थ : (श्रीगुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधते हैं कि:—) हे अन्ध प्राणियों! अर्थात् कि त्रिकाली द्रव्य को नहीं देखनेवाले। जिसे देखना (चाहिए), उसे नहीं देखनेवाले हे अन्ध प्राणियों! ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ? अनादि संसार से लेकर... एकेन्द्रिय, नित्य निगोद से लेकर पर्याय-पर्याय... समय-समय में यह रागी जीव सदैव मत्त वर्तते हुए... विकार में गहल बनते हुए। अपना निजपद आनन्द और ज्ञान (स्वरूप है)। ऐसे निजपद से अन्ध और पर में मत्त। समझ में आया ? राग और द्वेष, शुभ और अशुभभाव में मत्त हुए—मस्त हुए। यही मैं हूँ, ऐसा मानकर पागल हो गये हैं। समझ में आया ?

रागी जीव सदैव मत्त वर्तते हुए... निरन्तर विकार में ही वर्तते, पुण्य-पाप के विकल्प में ही वर्तते। जो इसका स्वरूप नहीं है, जो इसके स्वभाव में नहीं है, उसमें-विभाव में तादात्म्यरूप से (वर्तते हुए), ऐसा कहना है। विभाव में तादात्म्यरूप से वर्तते हुए। जिस पद में सो रहे हैं—नींद ले रहे हैं, वह पद अर्थात् स्थान अपद है—अपद है,...

वह राग का पद, वह तेरा नहीं है। उसमें निश्चिन्तता से सो रहा है, कहते हैं। आहाहा! राग पुण्य -पाप का विकल्प, वह तेरा पद नहीं है। इसमें तू चदर तान कर सो रहा है, कहते हैं। जहाँ तू (नहीं है), उसमें सो रहा है, कहते हैं। आहाहा!

यह अपद है—अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है,)... व्यवहार के विकल्प जो दया, दान, व्रतादि, राग, उसमें कहते हैं कि अनादि से सो रहा है, वह पद तेरा नहीं है, वह तेरा स्थान नहीं है, वह तेरा धाम नहीं है, वह तेरा गाँव नहीं है। समझ में आया? पहलू बदल, ऐसा कहते हैं। ऐसा तुम समझो। ऐसा कहा न? (दो बार कहने से अत्यन्त करुणाभाव सूचित होता है।) दो बार कहा न? अपद है—अपद है,... आहाहा! भगवान अपना आनन्दधाम निज ज्ञानधाम स्वभाव ध्रुव को भूलकर अकेले पुण्य-पाप के विकल्प का-विकार का-विभाव का भाव, उसमें सो रहा है, वह तेरा स्थान, तेरा पद, तेरा भाव वह नहीं। कहो, समझ में आया? शरीर और देश, कुटुम्ब, इज्जत तो कहीं रह गये, वह तो तेरा स्थान नहीं, वह तेरा घर नहीं परन्तु पुण्य-पाप के भाव, वह भी तेरा स्थान और तेरा घर नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो भाई! घर कहते हैं न? हमारी घरवाली है, यह हमारा घरवाला है, ऐसा कहते हैं न? क्या करना इसमें? घरवाला-घरवाली कहाँ से आया? पुण्य-पाप के भाव वह घरवाला है, ऐसा जहाँ नहीं... आहाहा! समझ में आया? वह तो पर-घर है। आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार तो कहीं रह गये। वे तो पर-घर के पर के पदार्थ हैं। परन्तु इसने उनमें नहीं, ऐसे भाव खड़ा करके सो रहा है, वह तेरा घर नहीं है, आहाहा! अब वह करवट बदल, कहते हैं। पहलू बदल। करवट समझते हो? पहलू बदल। समझ। समझ, यह नहीं काम करे। आहाहा! पुण्य के भाव, वह तेरा घर नहीं है। भाव, हों! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प राग, वह तेरा पद नहीं है, वह तो विभाव का पद है, पर का है।

ऐसा तुम समझो। ऐसा आया न? (दो बार कहने से अत्यन्त करुणाभाव सूचित होता है।) भाई! वह तेरा घर नहीं, भाई! आहाहा! पिता कहता है न? लड़का कुछ व्यभिचार में चढ़ गया हो बाबल-बाघरी (निम्न जाति की स्त्री), अरे! भाई! यह अपना काम, घर नहीं है। भाई! यह तू कहाँ चढ़ गया? इसी प्रकार यह पुण्य-पाप के भाव में कहाँ चढ़ गया है तू? कहते हैं। आहाहा! यह तेरा घर नहीं, यह तेरा पद नहीं, यह तेरा भाव नहीं। तेरा स्थान नहीं। वहाँ रहने योग्य नहीं। आहाहा!

इस ओर आओ—इस ओर आओ,... लो! ठीक! वह दिशा बदल दो। जयन्तीभाई! परन्तु वह लड़का अमेरिका पढ़े। वह बड़ा कहने में ऊँचा लगे। उसे छोड़ना किस प्रकार? वह तो छूटा हुआ ही पड़ा है। तुझमें कहाँ घुस गया है? परन्तु तूने खड़े किये हुए पुण्य और पाप में... है।चलता है। ...गये न भाई? नवरंगभाई गये? **इस ओर आओ —इस ओर आओ,...** यहाँ कहते हैं। पुण्य के परभाव में बस गया है तो अब विमुख हो। ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? स्त्री, पुत्र, घर, मकान, दुकान तेरा नहीं है, वह तो यहाँ कहा नहीं। वह तो था ही कब? परन्तु वहाँ वह खड़ा करके माना है, वह तेरा नहीं है। वह तो माने तो भी तेरे नहीं हैं। यह तो माने कि राग मेरा है, ऐसा यहाँ अस्तित्व है। त्रिकाली अस्तित्व की मौजूदगी की खबर नहीं। इसलिए कहीं अपना अस्तित्व तो मानेगा न! आहाहा!

मुमुक्षु : महासद्भाग्य से यह मिला, उसका निषेध कैसे किया जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक, प्रश्न उठे। महाभाग्य से विष्टा मुँह में आयी, उसे कैसे निकाल डाला जाए? मैसूर की विष्टा अच्छी आयी। एक व्यक्ति को उल्टी हुई। उल्टी होकर उसमें उसके मुँह में विष्टा आयी। उठ न जाकर उल्टी हुई। इसकी अन्तड़ियों का भाग... उसमें विष्टा आयी। अब उसे कैसे निकालना? यहाँ तो पुण्य की बात है। पुण्य का भाव है, उसको कठिन लगता है। आहाहा! विष्टा कहते हैं। अरे! जहर है। सुन न अब।

भगवान अमृतस्वरूप आत्मा से विरुद्ध भाव राग, वह तो जहर है। जहर में बसना, वह तेरा स्थान नहीं है, प्रभु! तू तो अमृत में रहनेवाला है। आहाहा! उस हंस को एक दाने का चुगगा नहीं होता परन्तु कंकड़ का तो किसका होगा? हंस वह कहीं दाना खाता होगा? हंस तो मोती चुगता है। बापू! तू कौन है, भाई! आहाहा!

देखो न! करुणा से कहा है। आहाहा! अपद है, अपद है। यह, हों! पुण्य के संयोग-बंधयोग की बात नहीं। जो विकारी भाव दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति का भाव, वह रागभाव है, वह अपदभाव है। प्रभु! वह तेरा स्थान नहीं है। आहाहा! **इस ओर आओ—इस ओर आओ,...** ऐ! ऐसे गया है, भाई! आहाहा! बहुत संक्षिप्त। राग के विकल्प के वेग में गया है, प्रभु! तू वहाँ से हट और अन्दर चैतन्य आनन्द धातु है, चैतन्य से विराजमान भगवान है, वहाँ आ न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, भीखाभाई! क्या है? आहाहा! हीराभाई जैसे लड़के, बंगड़ी का व्यापार, तीस रुपये के वेतन में दस-दस हजार की

आमदनी। और वापस होशियार, चतुर। यह पद तेरा नहीं, ऐसा कहते हैं। यह तो नहीं, उस ओर के राग का भाव भी तू नहीं। वह तो नहीं परन्तु तीन लोक के नाथ की ओर का रागभाव, वह भी तेरा पद नहीं। आहाहा! प्रभु! तू तो तीन लोक का नाथ स्वयं तू है न? आहाहा! उस ओर आ जा न वहाँ! इसके पक्ष में चढ़ न! आहाहा! बड़े के संग में जा। इस पामर के संग को छोड़ दे।

इस ओर आओ—इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) तुम्हारा पद यह है— यह है... आहाहा! छह बोल लिये हैं। अपद है, अपद है। दो यह हुए। यह पद है, यह पद है। आनन्द और ज्ञान से विराजमान प्रभु तू है, वह तेरा पद है। आहाहा! तुम्हारा पद यह है— पूर्ण आनन्द का धाम, वह तेरा पद है। वहाँ नजर कर न! राग की नजर छोड़ न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह है जहाँ शुद्ध... लो! है न? दो बार वापस यह आया। शुद्ध-शुद्ध... गजब श्लोक है, हों! यह तो समयसार का कलश है। आहाहा! यह तो बहुत बार पढ़ा जाता है। यह है—यह है... क्या है यह? जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु... है। आहाहा! शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु... द्रव्य से शुद्ध और भाव से शुद्ध। ऐसी चैतन्यधातु, ज्ञानधातु, ज्ञान का, आनन्द का स्वभावभाव ऐसा जो भाव निज रस की अतिशयता के कारण... वह स्वयं अपने स्वभाव की महिमा के कारण स्थायी भावपने को प्राप्त है... स्थिर-स्थिर स्थायी नित्य है। कहो, समझ में आया? एक श्लोक में बस है। आहाहा! राग की, पुण्य की दृष्टि के कारण और उसके अस्तित्व के भास में पूरा भगवान चैतन्यधातु अस्तिरूप से विराजमान है, वह तुझे नजर में नहीं आया। समझ में आया?

शुद्ध चैतन्यधातु... ज्ञानानन्द धातु अर्थात् जिसने ज्ञान और आनन्द को धार रखा है, ऐसी चीज़ निज रस की अतिशयता के कारण... अपने स्वभाव की सामर्थ्यता के कारण, अपने स्वभाव की विशेषता के कारण चैतन्य धातु निज शक्ति के स्वभाव की खास विशेषता के कारण स्थायी भावपने को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है— रागभाव तो क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न कर्म के आधीन हुआ भाव भिन्न-भिन्न हुआ करता है। वह कहीं स्थायी नहीं है। यह स्थायी है।

इसका स्वीकार इसे कैसे हो? पहले अनुमान से ऐसा निर्णय करे कि विकल्पादि

जो भाव है, वह तो क्षणिक अस्थायी अपद है। इनके पीछे अन्तर में पूरी चीज़ है, वस्तु है। चैतन्य धातु से भरपूर, ऐसा जो भगवान आत्मा उसके सन्मुख जाना, उसमें झुकना, ऐसा पहले विकल्प द्वारा निर्णय करे तो उसमें लक्ष्य बदलने का प्रसंग बने। समझ में आया? राम की क्रीड़ा में आ जा, भाई! ऐसा कहते हैं। अब यह विभाव के खेल छोड़। आहाहा!

स्थिर है—अविनाशी है। भगवान चैतन्य धातु अर्थात् जैसे सोने के धातु सोनेरूप धार रखी है। चाँदी की धातु, हीरा की धातु। उसी प्रकार यह चैतन्य धातु है, उसने चैतन्यपना अनादि-अनन्त धार रखा है। ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके पक्ष में आ, यहाँ आ... यहाँ आ। वह शुद्ध है, शुद्ध है। आहाहा! गजब वाणी।

(यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है, वह द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता सूचित करता है।) द्रव्य से भी शुद्ध है और भाव से-गुण से भी शुद्ध है। सर्व अन्य द्रव्यों से पृथक् होने के कारण... भगवान आत्मा अन्य कर्म, शरीरादि रजकणों के द्रव्यों से भिन्न होने से शुद्ध है और पर के निमित्त से होनेवाले अपने भावों से रहित होने के कारण... वापस अपने भावों से—शब्द (ऐसे लिये हैं)। पर के निमित्त से होनेवाले अपने भाव... ऐसा। अपनी पर्याय में होनेवाले। पुण्य और पाप, राग और द्वेष, विभाव संकल्प-विकल्प पर के निमित्त से होनेवाले अपने भाव... उसकी पर्याय में होनेवाले, उनसे रहित। इस कारण भाव से शुद्ध है।

श्लोक-२९७

और (इस १७८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(शार्दूलविक्रीडित)

भावाः पञ्च भवन्ति येषु सततं भावः परः पञ्चमः,
स्थायी सन्सृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्,
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः॥२९७॥

(वीरछन्द)

पाँच भाव हैं जिनमें पञ्चम परम भाव ही शाश्वत् है ।
 भव विनाश का कारण सम्यग्दृष्टि को ही गोचर है ॥
 राग-द्वेष का पुञ्ज नाशकर बुधजन परमभाव जानें ।
 एक वही कलियुग में अघवन दाहक मुनिवर शोभित हैं ॥२९७॥

[श्लोकार्थः—] भाव पाँच हैं, जिनमें यह परम पंचम भाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर स्थायी है, संसार के नाश का कारण है और सम्यग्दृष्टियों को गोचर है । बुद्धिमान पुरुष समस्त राग-द्वेष के समूह को छोड़कर तथा उस परम पंचम भाव को जानकर, अकेला, कलियुग में पापवन की अग्निरूप मुनिवर के रूप में शोभा देता है (अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष परमपारिणामिकभाव का उग्ररूप से आश्रय करता है, वही एक पुरुष पापवन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर है) ॥२९७॥

 श्लोक - २९७ पर प्रवचन

और (इस १७८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

भावाः पञ्च भवन्ति येषु सततं भावः परः पञ्चमः,
 स्थायी सन्सृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ।
 तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्,
 एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२९७॥

श्लोकार्थः भाव पाँच हैं, ... उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिकभाव और पारिणामिकभाव । पाँच भाव हैं । उदयभाव, यह राग-द्वेष का भाव, वह उदयभाव है । उपशमभाव समकित की पर्याय । दर्शनमोह को शान्त होने पर और अपने में उस प्रकार का पुरुषार्थ होने पर जो क्षय हुए बिना की दशा (होती है वह) उपशम (भाव) । क्षायिकदशा पर्याय—रागादि का क्षय । क्षयोपशमदशा (उसमें) कुछ उदय और कुछ उघाड़ (होवे) । ऐसा उदय-उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक भाव चार और पाँचवाँ पारिणामिकभाव ।

भाव पाँच हैं, जिनमें यह परम पंचम भाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर

स्थायी है,... लो! स्थायी है, स्थायी है। ऐसा है। आहाहा! यह कारणपरमात्मा कहो, पंचम पारिणामिकभाव कहो। समझ में आया? नियमसार में पारिणामिकभाव के गीत बहुत गाये हैं। खुल्ले।

अहो! जिनमें यह पंचम भाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर स्थायी है,... क्षायिकभाव भी समय-समय में परिणमता है। यह तो ऐसा का ऐसा अपरिणामी त्रिकाल वस्तु। पारिणामिकभाव से अपरिणामी। आहाहा! समझ में आया? पारिणामिकभाव से अर्थात् सहज स्वभाव से। बदले बिना का ऐसा का ऐसा स्थायी नित्य है और वह भाव संसार के नाश का कारण है... लो! समझ में आया? इस प्रकार मोक्ष का कारण, संसार के नाश का कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है। परन्तु इस पर्याय का कारण यह द्रव्य है। आहाहा!

संसार के नाश का कारण है... त्रिकाली स्थायी भाव, नित्य भाव, ध्रुव भाव, अविनाशी स्वभावभाव, जिसके आश्रय से संसार का नाश हो, इसलिए वह संसार के नाश का कारण है। कहो, यहाँ तो द्रव्य को संसार का नाश का कारण है, ऐसा कहा है। समझ में आया? क्योंकि द्रव्य त्रिकाली वस्तु है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं और उस पर्याय से संसार की पर्याय का नाश द्रव्य के आश्रय से होने से द्रव्य ही स्वयं संसार के नाश का कारण है, ऐसा कहा। समझ में आया?

सम्यग्दृष्टियों को गोचर है। वस्तु जो ध्रुव चैतन्य है, वह सम्यग्दर्शन में गम्य है। सम्यग्दृष्टि को त्रिकाल ध्रुव का भान वर्तता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? चैतन्य भगवान आत्मा अनादि-अनन्त स्वभाव का भण्डार भरपूर भगवान, ऐसी चीज़, ऐसी वस्तु धर्मी को गम्य है। एक ओर कहे कि चार भाव को गम्य नहीं है। आया है इसमें पहले। चार भाव को गम्य नहीं है। इसका अर्थ ही (यह) कि चार भाव के आश्रय से गम्य नहीं है, ऐसा। क्षायिकभाव को भी गम्य नहीं है, ऐसा आता है। इसका अर्थ कि क्षायिकभाव का आश्रय करने पर वह गम्य है, ऐसा नहीं है। उसका (पारिणामिकभाव का) आश्रय करने पर गम्य होता है। आहाहा! ऐसा भारी कठिन काम है। जिसने यहाँ जहाँ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा में धर्म माना हो, अब उसे उसमें से हटना (कठिन) पड़ता है।

यहाँ तो उनसे तो ठीक, परन्तु यह क्षायिकपर्याय होती है, उससे भी भिन्न है।

क्षायिकपर्याय के आश्रय से भी कर्म का नाश नहीं होता, ऐसा कहा न इसमें ? त्रिकाल के आश्रय से होता है। समझ में आया ? संसार का नाश तो, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र वह संसार, उसका नाश तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से होता है। परन्तु वह तो दोनों पर्याय की बात की है। यहाँ तो ध्रुव के आश्रय से संसार का नाश होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! बड़ा भगवान कष्ट मिटावे ऐसा परमात्मा है, कहते हैं। समझ में आया ? तेरे संसार का कष्ट मिटा डाले, ऐसा यह भगवान है। जिसकी शरण लेने से संसार का नाश हो जाता है। वह सम्यग्दृष्टि को गम्य है।

बुद्धिमान पुरुष समस्त राग-द्वेष के समूह को छोड़कर... मतिज्ञानवाला, बुद्धिवाला मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐसी बुद्धिवाला जीव **समस्त राग-द्वेष के समूह को...** समस्त जो उदयभाव है, पुण्य-पाप के विकल्प भी वृत्ति का उदयभाव जो है, उसे छोड़कर। लो ! ठीक ! **राग-द्वेष के समूह को छोड़कर...** परन्तु क्या हो ? शैली तो सब कैसी डाले ! क्षण-क्षण में कुछ ऐसे डालते होंगे ? वह तो अपने आप नाश होते हैं... अपने आप नाश होते हैं... होते हैं तो अपने आप। उत्पन्न न हों, इसका अर्थ नाश होता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! शब्दों की रचना से कहीं चर्चा का पार नहीं पड़ता। उसका भाव समझना चाहे तो पार पड़े और वह अकेला शास्त्र के अभ्यास से निवेड़ा नहीं आता। आहाहा ! अनुभव से निवेड़ा आता है। समझ में आया ?

राग-द्वेष के समूह को छोड़कर तथा उस परम पंचम भाव को जानकर,... ऐसा वापस। यहाँ उसका लक्ष्य छोड़कर यहाँ लक्ष्य किया, पंचम पारिणामिकभाव। परम पंचम भाव, अकेला ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, आनन्दभाव, पूर्णानन्दरूप नित्य अविनाशी सदृशभाव, उसे जानकर। लो ! यह जानना। **अकेला...** आहाहा ! **अकेला, कलियुग में पापवन की अग्निरूप मुनिवर के रूप में शोभा देता है...** आहाहा ! अरे ! ऐसे पंचम काल में भी कलियुग में भी पुण्य-पाप के विकल्प का आश्रय छोड़कर अथवा लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली पंचम परमभाव की शरण में गया, वह मुनि अकेला हुआ। जिसने पुण्य के विकल्प के दोपने का भी सम्बन्ध नहीं है। अकेला कलियुग में... आहाहा ! ऐसा कलियुग है, तो भी अकेला पड़कर अन्दर **पापवन की अग्निरूप मुनिवर...** पापरूपी वन को जला डालनेवाले मुनिवर जैसा। **मुनिवर के रूप में शोभा देता है...** आहाहा ! समझ में आया ?

एक बार एक ओर तो ऐसा कहा था, प्रभु! आपने कहे हुए चारित्र को पालने में हम तो इस काल में आपकी भक्ति हमें तारेगी। कहा था न? भक्ति अर्थात् आत्मा का सम्यग्दर्शन। न कर सके सब, तो एक श्रद्धा तो रखना। ऐसा आया था न? यहाँ तो कहते हैं, अभी मुनिपना शोभता है। समझ में आया? आपने कहे हुए मुनिवर... इस पंचम काल में हमारे जैसों को... स्वयं 'पद्मनाथ' मुनि स्वयं कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, अरे! ऐसे कलयुग में भी भले काल कलयुग हो परन्तु इन राग-द्वेष के उदयभाव का लक्ष्य छोड़कर पूर्ण स्वभाव ध्रुवधातु की शरण में गया, वह पुण्य-पाप के वन को जला डालने के लिये अग्नि समान मुनिवर अन्तर की शरण में गया, वह शोभता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह पुण्य-पाप का भाव, पुण्य का व्यवहार अच्छा हो, इसलिए शोभता है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! पुण्य के आचरण अच्छे हों, ऐसे चरणानुयोग के उस बाह्य आचरण को जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि हमारी शोभा, हमारा भगवान ध्रुव, उसकी शरण में जाए, वह हमारी शोभा है। शरण में वर्तते हैं, वह हमारी शोभा है। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम या अट्ठाईस मूलगुण के वर्तन बराबर हो तो शोधते हैं, वह हमारी शोभा नहीं है। कहो, पंचम काल के मुनि भी इतनी बात अन्दर जोरदार करते हैं।

मुमुक्षु : स्वयं की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्वयं की ही बात है। कारणपरमात्मा पूर्णानन्द प्रभु पंचम परमभाव को जानकर उसमें रहते हैं। विकल्प को छोड़कर अकेला रहता है। ऐसे भाव में अन्तर में बसते हैं, वे अग्निरूप मुनिवर के रूप में शोभा देता है... पुण्य-पाप को जलाने को। आहाहा! शुभाशुभभाव उत्पत्ति न होने को अग्नि समान हैं। आहाहा!

(अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष परमपारिणामिकभाव का उग्ररूप से आश्रय करता है,...) निज स्वभाव की अस्ति ऐसा त्रिकाली भाव, उसका उग्ररूप से आश्रय करते हैं। पर्याय को आश्रय द्रव्य का देते हैं। (वही एक पुरुष...) देखो भाषा! (वही एक पुरुष पापवन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर है।) व्यवहार की क्रिया, वह जलाने जैसी है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। रखने जैसी और पालने जैसी नहीं है। आहाहा! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने अट्ठाईस मूलगुण पाले थे। ऐ... पण्डितजी! अरे! भगवान! वह तो व्यवहारनय का

कथन है। उसका ज्ञान कराते हैं। बाकी है मुनि, पुण्य और पाप के वन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर हैं। उन्हें मुनि कहते हैं। यह णमो लोए सव्व साहूणं में ऐसे मुनि होते हैं। कहो, समझ में आया ? वे कहें, णमो लोए सव्व साहूणं, उसमें कहाँ आये जैन के साधु ? परन्तु साधु ही जैन में हों, वे साधु होते हैं। पंचम परमभाव की शरण में उग्ररूप से वर्तते हों, वे ही साधु। समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ तो पंच महाव्रत को पालनेवाला हूँ, इसलिए शोभता है, यह बात नहीं है। उनका तो जलानेवाला हूँ, इसलिए शोभता हूँ, ऐसा कहा है। समझ में आया ? भगवान आत्मा अपना शुद्ध ध्रुवभाव, उसके आश्रय से पुण्य-पाप को जलाने में अग्नि समान ऐसे सन्त शोभते हैं। जैन सम्प्रदाय में ऐसे साधु (हों), उन्हें मुनि कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? अब अभी तो पंचम परमभाव क्या, उसका तो नाम भी सुना न हो। पंचम परमभाव क्या होगा कुछ ? सम्प्रदाय में कुछ नाम नहीं। है ?

मुमुक्षु : पारिणामिकभाव ऐसा नाम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम आवे, उसमें उपदेश में कहाँ है ? वह तो शास्त्र के नाम आते हैं। पाँच भाव और पंचम पारिणामिकभाव, नित्य भाव, उसका-अस्ति का शरण लेना, उसके आश्रय में जाना, उसका स्वीकार होना, उसमें स्थित होकर रहना, इसका नाम मुनि है। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : तत्त्वार्थसूत्र में तथा अन्य शास्त्र में तो पारिणामिकभाव आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है न, शब्द आते हैं परन्तु उनकी व्याख्या कहाँ है कहीं ? तत्त्वार्थसूत्र कहाँ उनके स्थानकवासी में है नहीं। श्वेताम्बर में उनका लेकर रखा है। उसका मूल है तो दिगम्बर का। उसमें फेरफार करके हमारा है। स्थानकवासी तो मानते हैं। यह तो भाई ने एक खड़ा किया था। आत्माराम ने अपने बत्तीस सूत्र के साथ मिलाने को। बिल्कुल खोटी बात। बत्तीस सूत्र में से...

मुमुक्षु : स्थानकवासी साधु ने बाहर प्रसिद्ध किया कि हमारा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें है न वह। क्या नाम ? है न वह आत्माराम। है न, उसमें मिलाना चाहे बत्तीस सूत्र को।

मुमुक्षु : उनके शास्त्र में से निकाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटी बात। थे कब।

मुमुक्षु : ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखे न, लिखने में क्या जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह आधार भी दिये थे न शास्त्र के ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आधार मेल बिना के दिये थे।क्या नाम उस पुस्तक का ? भूल गये। अपने हैं न, 'तत्त्वार्थसूत्र समन्वय' ऐसा कुछ है। आत्मारामभाई ने किया है। उन भाई ने आत्माराम नाम क्या ? आत्मारामजी ने बनाया है। तत्त्वार्थसूत्र में से इस प्रकार निकाला हुआ है। उनके थे ही कब ? वे तो अभी निकले। श्वेताम्बर स्थानकवासी थे ही कब ? दो हजार वर्ष पहले निकले हैं... उसमें बनाया हुआ।

मुमुक्षु : अध्यात्म के शास्त्र भी थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र तो किसके थे ?

मुमुक्षु : श्वेताम्बर के।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भाई है न ? मोहनलाल दोशी संघवी। वहाँ आये थे जामनगर।

मुमुक्षु : ऐसे तो तत्त्वार्थसूत्र ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ॐ तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समूह के लिये। तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय। जैन के आगम के साथ मिलाते हैं। जिनागम मूल पाठ, संस्कृत छाया भाषा टीका सहित, लो ! जैन दिवाकर उपाध्याय मुनि आत्माराम... है न पूरा वाक्य। गोकुलचन्द्र है न, उसमें वे वहाँ जामनगर आये थे। दिल्ली के हैं।

मुमुक्षु : यह नहीं रही रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं रहे। गोकुलचन्द्रजी ने कहा था, यह महाराज यहाँ नहीं रह सकते। उनकी लाईन अलग बात करते हैं। ऐसा कहते थे। वे एकदम उससे कहते थे। विरोध से ऐसा नहीं। गोकुलचन्द्र व्यक्ति खानदानी था। आमन्त्रण देने आया था न ? उसका - बड़े साधु का मिलने का था न ? ब्यावर।

मुमुक्षु : अजमेर में कांफ्रेंस ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अजमेर में कांफ्रेंस होती थी । सब सेठ प्रमुख । दो दिन सुना । यह महाराज यहाँ नहीं रह सकते ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहते हैं कि उसका प्रमुख । बड़े पैसेवाला । बहुत लाखोंपति और खानदानी व्यक्ति, हों ! सुनने में भी उसे लगे । ओहो ! यहाँ के दृष्टान्त की बात ही यह कुछ अलग लगती है । हमने तो कुछ सुनी नहीं । वीरजीभाई को कहा था । वीरजीभाई बेचारे गुजर गये ।

यह तो आत्मा की बात, बापू ! दूसरे प्रकार की है । आहाहा ! जहाँ क्षायिकभाव का भी आश्रय लेना नहीं । अरे ! जहाँ क्षायिकभाव को भी परद्रव्य-परभाव कहकर हेय बताना है । आहाहा ! हेयरूप से जाननेयोग्य है । उपादेयरूप से क्षायिकभाव भी नहीं । आहाहा ! त्रिकाल भगवान परमानन्द का नाथ, कहते हैं कि ऐसा एक पंचमभाव, उसका जिसने शरण लिया, ऐसे मुनि इस जगत में शोभते हैं अथवा उन्हें ही मुनि कहते हैं, ऐसा कहते हैं । समझ में आया ? विशेष कहेंगे.....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-१७९

णवि दुःखं णवि सुखं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥

नापि दुःखं नापि सौख्यं नापि पीडा नैव विद्यते बाधा ।
नापि मरणं नापि जननं तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१७९॥

इह हि सान्सारिकविकारनिकायाभावान्निर्वाणं भवतीत्युक्तम् । निरुपरागरत्नत्रयात्मक-
परमात्मनः सततान्तर्मुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनिरतस्य तस्य वाऽशुभपरिणतेरभावान्न चाशुभकर्म
अशुभकर्माभावान्न दुःखं, शुभपरिणतेरभावान्न शुभकर्म शुभकर्माभावान्न खलु सन्सारसुखं,
पीडायोग्ययातनाशरीराभावान्न पीडा, असातावेदनीयकर्माभावान्नैव विद्यते बाधा, पञ्चविधनोकर्मा-
भावान्न मरणं, पञ्चविधनोर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकाराभावान्न जननम् । एवं लक्षणलक्षिताक्षुण्ण-
विक्षेपविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति ।

दुख सुख नहीं पीड़ा जहाँ नहीं और बाधा है नहीं ।
नहीं जन्म है, नहीं मरण है, निर्वाण जानों रे वहीं ॥१७९॥

अन्वयार्थ : [न अपि दुःखं] जहाँ दुःख नहीं है, [न अपि सौख्यं] सुख नहीं है,
[न अपि पीडा] पीड़ा नहीं है, [न एव बाधा विद्यते] बाधा नहीं है, [न अपि मरणं]
मरण नहीं है, [न अपि जननं] जन्म नहीं है, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण
है (अर्थात् दुःखादिरहित परमतत्त्व में ही निर्वाण है) ।

टीका : यहाँ, (परमतत्त्व को) वास्तव में सांसारिक विकारसमूह के अभाव के
कारण निर्वाण है, ऐसा कहा है ।

१- निर्वाण=मोक्ष; मुक्ति । [परमतत्त्व विकाररहित होने से द्रव्य-अपेक्षा से सदा मुक्त ही है । इसलिए
मुमुक्षुओं को ऐसा समझना चाहिए कि विकाररहित परमतत्त्व के सम्पूर्ण आश्रय से ही अर्थात् उसी के
श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से वह परमतत्त्व अपनी स्वाभाविक मुक्तपर्याय में परिणमित होता है ।]

सतत अन्तर्मुखाकार परम-अध्यात्मस्वरूप में लीन ऐसे उस निरुपराग-रत्नत्रयात्मक परमात्मा को अशुभ परिणति के अभाव के कारण अशुभकर्म नहीं है और अशुभकर्म के अभाव के कारण दुःख नहीं है; शुभ परिणति के अभाव के कारण शुभकर्म नहीं है और शुभकर्म के अभाव के कारण वास्तव में संसारसुख नहीं है; पीड़ायोग्य यातनाशरीर के अभाव के कारण पीड़ा नहीं है; असातावेदनीयकर्म के अभाव के कारण बाधा नहीं है; पाँच प्रकार के नोकर्म के (शरीर के) अभाव के कारण मरण नहीं है; पाँच प्रकार के नोकर्म के हेतुभूत कर्मपुद्गल के स्वीकार के अभाव के कारण जन्म नहीं है।—ऐसे लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण है।

प्रवचन-२०९, गाथा-१७९, श्लोक २९८-२९९, शुक्रवार, मगसर कृष्ण ८, दिनांक १०-१२-१९७१

..... आचार्य आरोहण तिथि है। मगसर कृष्ण अष्टमी अर्थात् ऐसे सिद्धान्त की पौष कृष्ण अष्टमी है। अपने ऐसे अष्टमी... आचार्य पद ३३ वर्ष में प्राप्त हुआ था। ग्यारह वर्ष में दीक्षा ली थी और ३३ वर्ष में आचार्य पद था। ९२ वर्ष में देह छूट गयी। आचार्य पद का आरोहण (दिवस) मगसर कृष्ण अष्टमी। अभी ये तीन हैं। मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो। कुन्दकुन्द आचार्य का नाम तीसरे नम्बर पर आता है। गणधर के पश्चात् पूरे शासन के नायकरूप से उनको स्वीकार किया है। गणधर के पश्चात् ऐसी उनकी शक्ति। है न, देखो न! एक-एक लाईन, एक-एक पंक्ति शास्त्र की देखो तो ओहोहो! अलौकिक... आहाहा! केवलज्ञान के पथानुगामी हैं! उन्हें आचार्य पद तो कुदरती, सहज मिला है। ऐसी उनकी शक्ति थी, वह आचार्य पद (मिला)। मगसर कृष्ण अष्टमी। पन्द्रह वर्ष पहले मुम्बई गये थे। नहीं? कलाश्री में थे। नहीं? हरिभाई बाहर बैठे थे। नहीं? वह चणोथी न? चणोथी। पन्द्रह वर्ष पहले मुम्बई गये थे न? (संवत्) २०१३ के वर्ष में। मगसर कृष्ण अष्टमी वहाँ थी। जंगल में बाहर बैठे थे।

१- सतत अंतर्मुखाकार=निरन्तर अन्तर्मुख जिसका आकार अर्थात् रूप है ऐसे।

२- निरुपराग=निर्विकार; निर्मल।

* यातना=वेदना; पीड़ा। (शरीर वेदना की मूर्ति है।)

वे यह कुन्दकुन्दाचार्य, उनका यह बनाया हुआ नियमसार है। भगवान के पास जाकर, आठ दिन वहाँ रहे थे। वहाँ... किसी जगह ऐसा आता है कि स्वयं को भगवान का विरह पड़ा, इसलिए भगवान के पास गये। किसी जगह ऐसा भी आता है कि कोई विचार श्रेणी में सूक्ष्म विचार में अन्दर बराबर समाधान नहीं हुआ, ध्यान में वहाँ 'पौत्रूर हिल' 'वन्देवास के निकट'। मद्रास से अस्सी मील इस ओर है। सूक्ष्म विचार में जरा... इसलिए एकदम जाने का विचार (आया) भगवान को नमस्कार किया और भगवान की ध्वनि में भी सद्धर्म वृद्धि अस्तु, ऐसा आया। अपने शब्द अन्तिम डाला है।

कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी साक्षात् भगवान के समवसरण में से श्रवण होकर आयी हुई है। उनके अनुभव में से। चारित्रसहित का अनुभव। प्रमत्त-अप्रमत्त में से झूलते थे। उसमें यह एक विकल्प आया और यह शास्त्र रच गया। ऐसा उन आचार्य का आरोहण पदवी का आज दिन है। पूजा की है न बहिनों ने? वहाँ पूजा की न? आदमी थे? अकेले? कितने थे? आदमी कितने थे? ऐसा मैं कहता हूँ।

मुमुक्षु : १५-२० व्यक्ति थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक।

१७९ गाथा। परम तत्त्व आत्मा त्रिकाली परम तत्त्व और परमात्मा सिद्ध, दोनों की अपेक्षा से बात चलती है।

णवि दुःखं णवि सुखं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।

णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥

दुख सुख नहीं पीड़ा जहाँ नहीं और बाधा है नहीं।

नहीं जन्म है, नहीं मरण है, निर्वाण जानों रे वहीं ॥१७९॥

टीका : यहाँ, (परमतत्त्व को) वास्तव में सांसारिक विकारसमूह के अभाव के कारण निर्वाण है, ऐसा कहा है। दोनों अर्थ होते हैं। त्रिकाली आत्मतत्त्व निर्वाणस्वरूप ही है और सिद्ध है, वे वर्तमान पर्याय में निर्वाणस्वरूप हैं। यहाँ शैली ऐसी है न? जो कुछ पर्याय में होता है, वैसा उनका त्रिकाली द्रव्यस्वभाव होता है। ऐसी उसमें शैली है। इसलिए (परमतत्त्व को) वास्तव में... अर्थात् त्रिकाली वस्तु को सांसारिक विकारसमूह के अभाव के कारण निर्वाण है, ऐसा कहा है। नीचे थोड़ा स्पष्टीकरण किया है।

निर्वाण=मोक्ष; मुक्ति। [परमतत्त्व भगवान आत्मा विकाररहित होने से द्रव्य-अपेक्षा से सदा मुक्त ही है।] यह वस्तु जो आत्मा वस्तु है, वह वस्तु पदार्थ की अपेक्षा से तो मुक्त ही है। पदार्थ कहीं कोई बन्ध के, निमित्त के सम्बन्ध में पदार्थ आया नहीं। आहाहा! त्रिकाल निर्वाणस्वरूप ही भगवान है। निर्वाण अर्थात् पूर्ण शुद्ध, पूर्ण पवित्र, पूर्ण शान्ति का सागर, भगवान आत्मा है। उसमें से निर्वाण पद पर्याय की प्राप्ति होती है।

इसलिए मुमुक्षुओं को ऐसा समझना चाहिए कि विकाररहित परमतत्त्व के... अपना आत्मा विकाररहित त्रिकाल द्रव्यस्वभाव, उसके आश्रय से परमतत्त्व के सम्पूर्ण आश्रय से ही... ऐसा परमात्मा अपना त्रिकाली ज्ञायकभावरूप स्वभाव मुक्तस्वरूप, उसका जघन्य आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। विशेष आश्रय करने से चारित्र होता है। पूर्ण आश्रय करने से मुक्ति होती है। कहो, समझ में आया ?

जिसमें मुक्तपना पड़ा है। त्रिकाल वस्तु तो मुक्तस्वरूप ही है। ऐसे मुक्तस्वरूप में अन्दर में पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द ऐसे शीतलभूत, अकेला शान्त सागर का समुद्र पूरा भरपूर है। आहाहा! स्वयं शान्त सागर ही है। शान्ति-सागर। ऐसे स्वभाव का अन्तर आश्रय लेने पर उसे शान्ति का अंश समकितसहित प्रगट होता है। उसे अपनी शान्ति शोधने के लिये बाहर में कहीं जाना पड़े, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। उसमें सुख का सागर है। सुख का भरपूर सागर भरा है। आहाहा! वस्तु है न? अस्ति है न? अरूपी परन्तु पदार्थ है न? पदार्थ है तो उसका भाव है न? भाव है तो वह परिपूर्ण भाव है। आनन्द, ज्ञान, दर्शन, शान्ति इत्यादि परिपूर्ण भाव पड़ा है। उसका अन्तर आश्रय लेने से धर्म की-शान्ति की, स्वच्छता की, पवित्रता की प्रगट दशा होती है, उसे यहाँ शुरुआत का सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहने में आता है।

सम्पूर्ण आश्रय से ही... ऐसा शब्द है न? सम्पूर्ण आश्रय से ही अर्थात् उसी के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से... जिसमें पूर्णता शान्ति और आनन्द ऐसा तत्त्व भरपूर है। उसके आश्रय से, उसकी श्रद्धा से, उसके ज्ञान से और उसमें रमणतारूप आचरण से। वह परमतत्त्व अपनी स्वाभाविक मुक्तपर्याय में परिणमित होता है। अपने स्वरूप की पूर्णता के आश्रय से श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की परिणति होने पर वह परमतत्त्व जो स्वाभाविक मुक्तस्वरूप है, वह मुक्त पर्याय से परिणमता है। समझ में आया ? यह उसकी मुक्ति होने

की क्रिया। सुखी होने का पन्थ यह है। आहाहा! अन्तर में आनन्द से भरपूर भगवान, जिसका सत्त्व आनन्द है, उसका आश्रय करने से सुख के पन्थ में जाया जाता है। पूर्ण आश्रय करने से पूर्ण सुखी हो जाता है। कहो, समझ में आया ?

सतत अन्तर्मुखाकार परम-अध्यात्मस्वरूप में लीन ऐसे उस निरुपराग-रत्नत्रयात्मक परमात्मा को... सिद्ध भगवान भी ऐसे हैं और त्रिकाली तत्त्व भी ऐसा है। सिद्ध भगवान की पर्याय की बात, त्रिकाल में द्रव्य की बात। समझ में आया ? सतत अंतर्मुखाकार =निरन्तर अन्तर्मुख जिसका आकार अर्थात् रूप है... एक समय की पर्याय में अन्तर्मुख तत्त्व नहीं आता। पूरा तत्त्व नहीं आता। एक समय की पर्याय आवे, वह अलग बात है। अन्तर्मुख तत्त्व पूरा, त्रिकाल अन्दर द्रव्यस्वभाव जिसका स्वरूप है। परम-अध्यात्मस्वरूप में लीन... है वह तो। भगवान आत्मा अपने अध्यात्म अर्थात् अपना स्वभाव, उसमें लीन है। ऐसे उस निरुपराग-रत्नत्रयात्मक... निर्विकार; निर्मल। ऐसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परमात्मा को... त्रिकाली को भी और सिद्धपर्याय को भी। समझ में आया ? आहाहा! और जो सिद्ध में नहीं है, वह यहाँ आत्मा में ही नहीं है। सिद्ध में है, वह यहाँ आत्मा में है। कहो, समझ में आया ?

अशुभ परिणति के अभाव के कारण... भगवान आत्मा को अशुभ पर्याय ही नहीं। सिद्ध को नहीं और द्रव्यस्वभाव में भी नहीं। अशुभपरिणति। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, शुभ-अशुभभाव, ऐसी जो अशुभपरिणति। यहाँ अकेली अशुभ ली है। उसमें अशुभकर्म नहीं है। अशुभपर्याय नहीं है अर्थात् अशुभकर्म नहीं है और अशुभकर्म के अभाव के कारण दुःख नहीं है। भगवान आत्मा में वह अशुभपरिणति नहीं है। इसलिए अशुभकर्म नहीं है, इसलिए उसे दुःख नहीं है। सिद्धपर्याय में भी अशुभपरिणति नहीं है, इसलिए अशुभकर्म नहीं है, इसलिए उन्हें दुःख नहीं है। आहाहा!

शुभ परिणति के अभाव के कारण... शुभपरिणति दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा— ऐसे जो शुभभाव, उनकी परिणति के अभाव के कारण शुभकर्म नहीं है... त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में भी शुभकर्म नहीं है और सिद्धपर्याय को भी शुभपरिणति नहीं है। इसे शुभकर्म नहीं है। शुभकर्म के अभाव के कारण वास्तव में संसारसुख नहीं है;... यह संसारी सुख कहते हैं न ? वह सब दुःख है। कोई शुभपरिणति हो तो उसे शुभकर्म बँधते

हैं और उसके कारण यह बाहर के संयोग मिलते हैं और उसमें माने कि हम सुखी हैं। सुख कहाँ था संसार में? धूल भी नहीं। मानता है। यह अमेरिकन सब सुखी हैं। ऐ..! माणिकलाल! तुम्हारा भतीजा कहता है, भाई! इस अमेरिका में लोग बहुत सुखी हैं। कहा, धूल भी कहीं सुख नहीं है। सुख तो आत्मा में है। ऐसा कि यहाँ सब साधारण लोग लगते हैं। पाँच-पचास हजार की पूँजी या किसी को नहीं। वहाँ तो बड़े-बड़े बँगले, बड़े शहर और हिन्दुस्तान से भी बड़ा देश और सब बड़े टोपा पहनते हैं। बड़ी लाख-लाख दो-दो लाख की मोटरें हॉर्न बजाती है और नीचे संगमरमर की सड़कें।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ होगी, लो न! ऐसा सुना हुआ हो कहीं। संगमरमर की सड़क ऐसी, उस पर मोटर चलती है। उसे एक मिनिट में एक मील चलना पड़ता है। कम करे तो दण्ड पड़ता है।

मुमुक्षु : ट्रेफिक रुक जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ सब चलता हो, उसमें सबको रुकना पड़े। एकदम चलो, एकदम चलो। कुत्ते की तरह चलो। मुम्बई भी ऐसा ही है न। मुम्बई में क्या है? घोड़े की तरह दौड़ते हैं, कुत्ते की तरह भोंकते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। बात सच्ची है। लोग भी कहते हैं। आहाहा!

भगवान की आत्मनगरी, अन्तर आत्मनगर निरुपाधिनगर। यह उपाधि मुम्बई। श्रीमद् में मोहमय नगरी कही है न? आहाहा! यह तो निरुपाधिनगरी। भगवान आत्मा अनन्त आनन्दादि शक्तियों का सागर भगवान, जिसमें नजर करने से आनन्द हो, जिसका आश्रय लेने से शान्ति मिले, ऐसी आत्मनगरी, वह नगर है। उसका आश्रय करनेवाला सुखी है। बाकी सब दुःखी हैं। सब जल रहे हैं। यह भी माँस खाये, शराब पीये और ऐसा करे फिर भी बाहर सुखी दिखे।भाई! कहो, माँस खाये, शराब पीये और सुखी दिखे। सुखी है कहाँ? बाहर के संयोग की अनुकूलता से कहीं सुख है? अनुकूलता मानता है। अनुकूलता ज्ञेय है, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। जानता है कि यह मुझे ऐसा बस। परन्तु अन्त में... आता है। लेख में आता है। कल आया था। वे लोग भी अब थककर अध्यात्म शान्ति

लेना चाहते हैं। हरे कृष्ण... हरे कृष्ण... समाचार-पत्र में आया है, कल ही आया है। अमेरिकावाले कितने ही सिर मुँडाकर और भगवा वस्त्र पहनकर हरे कृष्ण... हरे कृष्ण... ऐसा मथते हैं अब। इस पैसे-बैसे में धूल में कुछ नहीं है। उसमें कल ही आया है।

मुमुक्षु : इसमें से एक वर्ग हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो मुम्बई में आये हैं न कितने ही अमेरिका के। लोग इकट्ठे होते हैं। आहाहा! वे लोग ही हरे कृष्ण... हरे कृष्ण... हाथ में तम्बूरा और (गोरी) चामड़ी कुछ दूसरी होती है। विलायती होती है और अंग्रेजी बोलते होते हैं, उसमें कुछ ऐसा बोलते हैं। इसलिए ओहोहो! एक मण्डल निकला है। उसमें लाखों लोग हैं। कल उस वीरवाणी में आया है। अरे! उसमें कहीं धूल भी नहीं है। हरे कृष्ण में भी नहीं है।

कर्म कृषे, सो कृष्ण कहिये। कर्म को टाले, वह कृष्ण। यह तो आत्मा स्वयं कृष्ण है और पाप का अघ हरित इति हरि। पाप के अघ को टाले, वह हरि, वह आत्मा हरि है। दूसरे होवे तो हरि और कृष्ण होवे तो उनके। इसका हरि कृष्ण तो आत्मा है। इसकी जिसे खबर नहीं, वे सब किसी के भजन करें, वे सब दुःखी होनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अपना भजन। अपने नहीं आया था? जिसे भजता है, उसे भज। ७७ में आया था। जिसे तू भज रहा है, उसे भज। आहाहा! १७७ कलश, अन्तिम कलश। २९६ कलश।

आनन्दसागर आत्मा को तू भज रहा है, कहते हैं। उसका भजन, उसकी एकाग्रता तो कर रहा है। अब इसे भज, बस! आहाहा! पूर्णानन्द की प्राप्ति का वह उपाय है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। कहते हैं कि यह संसार सुख कल्पना का अज्ञानी ने माना हुआ। अरबों रुपये, बड़े महल और धूल में भी नहीं। आकुलता से पीड़ित हो बेचारा। कहीं शान्ति नहीं है। नींद के लिये गोलियाँ लेनी पड़ती हैं। इतनी तो संकल्प-विकल्प की खलबलाहट।

मुमुक्षु : नशा करे तो नींद आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो नशे की बात है। उसमें यह निद्रा कहाँ थी? आहाहा! जिसे निद्रा में भी निद्रा का सुख नहीं, उसे आत्मा का सुख तो कहाँ से होगा?

भगवान आत्मा प्रभु पूर्णानन्द का मन्दिर प्रभु आत्मा, उसमें जा न, देवदर्शन कर न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आगे कहेंगे, आनन्द मन्दिर आत्मा। ऐसा आनन्द मन्दिर प्रभु है।

उस मन्दिर में अन्दर देवदर्शन कर। समझ में आया ? उस देवदर्शन से तुझे आनन्द होगा, ऐसा कहते हैं। तेरा देव तू, हों! तू। भगवान के देवदर्शन में भी शुभभाव। वह दुःख। गजब! कहो, समझ में आया ? भगवान को तो वास्तव में सांसारिक सुख है नहीं। इतने तो वे दुःखी हैं न तब ? सांसारिक सुख नहीं, इन्द्रिय का ज्ञान नहीं। नहीं आता परमात्मप्रकाश में ? इन्द्रिय का ज्ञान नहीं, इतने वे दुःखी हैं। अज्ञान है। वह तो कहने के लिये (बात है)।

यहाँ कहते हैं कि पीड़ायोग्य यातनाशरीर के अभाव के कारण... क्या कहते हैं ? यह शरीर कैसा ? कि यातनाशरीर। वह तो पीड़ा-वेदना की मूर्ति है। भाषा क्या है ? देखो! पीड़ायोग्य यातनाशरीर... पीड़ा के योग्य वह शरीर है अर्थात् वह वेदना की मूर्ति है। आहाहा! ऐसी वेदना की मूर्ति ऐसा... नीचे स्पष्टीकरण किया है, देखो! वेदना; पीड़ा। (शरीर वेदना की मूर्ति है।) पाठ है न ? पीड़ायोग्य यातनाशरीर... पीड़ा के योग्य यातना का शरीर। दुःख का शरीर दुःख मूर्ति है। उसमें कुछ ठीक नहीं पड़ता। इसलिए कठिन काम है। पोपटभाई! हसमुख को हुआ था देखो न! अन्तिम। ऐसा सपना आता है। महाराज! ऐसा सपना आता है। बुरा सपना।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे वह स्थिति थी। उसे ऐसा हो गया कि महाराज आये, मेरा रोग दूर हुआ। बड़ा भाई हसमुख। कहीं यन्त्र चढ़ गया है। निहालभाई वहाँ आ गये। हो गया। लाईन पर चढ़ गया है। निहालभाई आये हैं न। मुम्बई आये हैं। चढ़ाकर आये हैं। आनेवाले हैं। वे आनेवाले हैं न तुम्हारे ? इनके रिश्तेदार हैं....

आनन्द के सागर को अनुभव और यह भोजन कर भाई! तेरा भोजन कम नहीं पड़ेगा, ऐसा वह भण्डार है। यह भोजन तो खत्म हो जाएगा। आनन्द मन्दिर प्रभु... आहाहा! थोड़ा भी बहुत लिखा जानना इसमें। तेरा नाथ आनन्द का सागर भगवान... अरे... इसके पास तू जा न! वहाँ तुझे आनन्द मिलेगा। शरीर और कुटुम्ब और यह जहाँ-तहाँ भटका भटक करता है, कहते हैं। वह सब दुःख का रास्ता, आकुलता के फोड़े की वह पीड़ा है। कहो समझ में आया ? ऐसा पीड़ायोग्य यातनाशरीर के अभाव के कारण... वेदना की मूर्ति। भाई ने ऐसा लिखा है। श्रीमद् ने।

मुमुक्षु : नीचे लिखा है इसमें।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें तो लिखा है परन्तु श्रीमद् ने लिखा है। यह शरीर वेदना की मूर्ति है। आहाहा! सांस ठीक से नहीं चले वहाँ चिल्लाहट (मचती है)। पेट में कुछ सांस चले वहाँ चिल्लाहट, याद करे वहाँ चिल्लाहट, अटके वहाँ चिल्लाहट।

एक महिला थी। पोरबन्दर, (संवत्) १९८७ में आये तब। साढ़े तीन वर्ष तक ऐसे उल्टी पड़ी रही। इतनी पीड़ा... इतनी पीड़ा...।...ऐसे सोवे तो पीड़ा का पार नहीं होता। साढ़े तीन वर्ष तक उल्टे सिर। अन्दर पेट में ऐसा कुछ होवे तो वहाँ ऐसा होवे। तो बहुत न हो। आहाहा! बोलती महिला हो, मांगलिक और मन्दिरमार्गी की। साढ़े तीन वर्ष से यह पीड़ा है ऐसी की ऐसी। पीड़ित हूँ...

मुमुक्षु : बड़े डॉक्टर...

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर धूल करे। सब डॉक्टर मर जाते हैं। डॉक्टर चले जाते हैं। उसमें डॉक्टर क्या करता? आहाहा! नवनीतभाई ने कहा नहीं था? वहाँ हम गये (तब) पहले ही कहा था कि दवा और हवा से। नवनीतभाई! पहले दिन इस दवा से और हवा दोनों से... दवा से उकतावे। सब दवा विरुद्ध पड़ी। जितनी ले उतनी विरुद्ध। भाई ने कहा था पहले दिन, दसवीं के दिन, आसोज कृष्ण दसवीं। पहले वहाँ आये थे न? दो महीने हुए। दो दिन कम। आसोज दसवीं को गये थे। दसवीं को गये थे। पहले ही बोले थे। यहाँ की दवा और हवा... आहाहा!

आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान है। जहाँ है, वहाँ तूने कभी नजर नहीं की और जहाँ नहीं है, वहाँ नजर को रोका है। आहाहा! समझ में आया? वे सब सुखी नहीं है। अमेरिकन सुखी नहीं, काठियावाड़ी सुखी नहीं। सवेरे भाई कहते थे।.... वहाँ सब सुखी कैसे होंगे? धूल भी सुखी नहीं हैं। गोरी चमड़ी और कुछ बड़ा बँगला, इसलिए सुखी हो गये? आहाहा! अरे रे! सड़े हुए गधे के चमड़े में मैसूरपाक लपेटा हो, वैसे यह भगवान आनन्दमूर्ति शरीर के चमड़े के संयोग में लिपटा हुआ दिखता है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं पीड़ायोग्य यातनाशरीर के अभाव के कारण पीड़ा नहीं है;... भगवान आत्मा में पीड़ा नहीं है और सिद्ध की पर्याय में भी पीड़ा नहीं है। दोनों बातें यहाँ लागू पड़ती हैं। आहाहा! कहो, सुख होगा या नहीं अब यहाँ? ऐई! गुलाबचन्दभाई! वहाँ तुम छह भाई इकट्ठे थे। कितना बड़ा गाँव... पाँच-पाँच, छह-छह लाख रुपये एक-एक के

पास। बीस-पच्चीस लाख। बड़ी इज्जत, लम्बा नाक। ऐसा सुना हुआ है। लोग तुम्हारी बात... आहाहा! धूल भी नहीं है वहाँ। दुःख का समुद्र है। छोटूभाई को यहाँ ही श्वास था न? दमा था न? सुना था। सब खबर है। श्वास-दमा। अरे! भगवान! यह तो वेदना की मूर्ति है। यह दुःख की मूर्ति है। प्रभु आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसकी खबर नहीं होती। निजनिदान दबा पड़ा है, उसकी इसे खबर नहीं है। आहाहा!

असातावेदनीयकर्म के अभाव के कारण बाधा नहीं है;... असातावेदनीय नहीं है, इसलिए उन्हें प्रतिकूल संयोग नहीं है। किसे? आत्मद्रव्य को और सिद्ध की पर्याय को, दोनों को। आहाहा! पाँच प्रकार के नोकर्म के अभाव के कारण... पाँच प्रकार के नोकर्म। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, भाषा और मन, ऐसे अभाव के कारण मरण नहीं है; नोकर्म हैं न? उपरोक्त पाँच शरीर नहीं हैं। नोकर्मरहित है। समझ में आया? औदारिकशरीर नहीं है, वैक्रियिकशरीर नहीं है, आहारकशरीर नहीं है, भाषा और मन नहीं है। आहाहा! उनके अभाव के कारण मरण नहीं है। नोकर्म आता है, अर्थ में आता है न! अपने यह नहीं? ५० से ५५ गाथा (समयसार)। उसमें आता है न?

मुमुक्षु : समयसार में २९ बोल का कचरा, उसमें।

पूज्य गुरुदेवश्री : समयसार। यह तो प्रवचनसार है। समयसार है। इसमें इन्होंने पाँच लिये हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, भाषा और मन। ऐसा लिया है। कार्माण नोकर्म में नहीं जाता न इसलिए। क्या आया? कितने में आया यह? इसमें लिखा है। यह आया। जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (-पुद्गलस्कन्ध) रूप नोकर्म है, वह सर्व ही जीव का नहीं है... छह पर्याप्तियोग्य नहीं है, नोकर्म। छह पर्याप्तियोग्य डाला न, उसमें नोकर्म डाला है। है वह। चौदहवाँ बोल है। छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (-पुद्गलस्कन्ध) रूप नोकर्म है, वह सर्व ही जीव का नहीं है... वहाँ उन्होंने उन तीन शरीरों को नोकर्म डाला है। इसलिए उन्होंने-शीतलप्रसाद ने नोकर्म यहाँ डाला है। औदारिक, आहारक, वैक्रियिक, भाषा, मन, इसमें आया है न? पाठ है। 'यत्षट्पर्याप्तत्रि-शरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य,' जीव में वह है नहीं। इसमें तो चिह्न किये हों न! यह तो नयी पुस्तक है न?

आत्मा में भाषा नहीं, मन नहीं, और तीन शरीर नहीं। नोकर्म की अपेक्षा से। वह

कार्माणशरीर नोकर्म नहीं है और सिद्ध में भी नहीं है। औदारिक नहीं, वैक्रियिक नहीं, आहारक नहीं और भाषा तथा मन नहीं।

पाँच प्रकार के नोकर्म के हेतुभूत... इन पाँच प्रकार का जो नोकर्म, उसका कारण कर्मपुद्गल के स्वीकार के अभाव के कारण जन्म नहीं है। इस आत्मा को जन्म नहीं, सिद्ध को जन्म नहीं। आत्मा जन्मता है ? ऐसे लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण है। वहाँ यह सदा शब्द प्रयोग किया है न, इसलिए जरा विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण है। त्रिकाल द्रव्य को भी सदा निर्वाण और सिद्ध पर्याय भी जब से हुई, तब से सदा निर्वाण है। शीतलभूत, शीतलीभूत शान्ति। अकेली शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषाय की शान्ति। आहाहा!

अकषाय की शान्ति, कषाय की अशान्ति। जितनी कषाय शुभ-अशुभ विकल्प, वह सब अशान्ति। उससे रहित अकषाय की शान्ति, वह जीव में है और सिद्ध में है। अन्दर में था तो वह शान्ति की पर्याय आयी, ऐसा कहते हैं। कहीं शान्ति की पर्याय बाहर से नहीं आती। सिद्धपर्याय वह अकषायभाव है। वह अकषायभाव स्वभाव में था, वह पर्याय में आया ? द्रव्य और पर्याय के बीच खेल है। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

शरीर में रोग आवे और जरा ऐसे चार-छह महीने (खिंच जाए) तो कायर हो जाए, कायर। छह महीने, आठ महीने, बारह महीने। बारह-बारह वर्ष। अब तो यह शरीर छूट जाए। इसे किसकी पीड़ा है ? देह में एकत्वबुद्धि की। पीड़ा दूसरी कोई चीज़ नहीं है। आनन्द में राग को एकत्व माना, वह पीड़ा और दुःख है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा सदा निर्वाणस्वरूप भगवान और पर्याय में सिद्ध निर्वाणस्वरूप, वह जीव को साध्य है। निर्वाण प्राप्ति करना वह (साध्य है) और उसका साधन त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करना, वह है। आहाहा!

श्लोक-२९८

[अब इस १७९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

(मालिनी)

भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा,
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम् ।
तमहमभिनमामि स्तौमि सम्भावयामि,
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम् ॥२९८ ॥

(वीरछन्द)

भव भव के सुख दुःख नहीं होते हैं इस जग में जिसको ।
जन्म-मरण अरु पीड़ा, बाधा भी न रहें परमात्म को ॥
मुक्ति सौख्य की प्राप्ति हेतु मैं काम सुखों से विमुख हुआ ।
नित्य नमूँ स्तवन करूँ सम्यक् प्रकार से मैं उनको ॥२९८ ॥

[श्लोकार्थः—] इस लोक में जिसे सदा भवभव के सुख-दुःख नहीं हैं, बाधा नहीं है, जन्म, मरण और पीड़ा नहीं है, उसे (-उस परमात्मा को) मैं, मुक्तिसुख की प्राप्ति हेतु, कामदेव के सुख से विमुख वर्तता हुआ नित्य नमन करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ, सम्यक् प्रकार से भाता हूँ ॥२९८ ॥

श्लोक - २९८ पर प्रवचन

२९८ कलश । [अब इस १७९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा,
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम् ।

तमहमभिनमामि स्तौमि सम्भावयामि,

स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम् ॥२९८॥

श्लोकार्थ : इस लोक में जिसे सदा भवभव के सुख-दुःख नहीं हैं,... इस लोक में जिसे सदा त्रिकाली भगवान आत्मा, उसे सुख-दुःख नहीं है। भव-भव के सुख-दुःख नहीं है। नारकी और तिर्यच का दुःख। मनुष्य और देव का दुःख। यह दोनों पीड़ावाले सुख-दुःख आत्मा में नहीं है। इसी तरह सिद्ध की पर्याय में भी नहीं है। यहाँ चारों गति को तो दुःखरूप लिया है। आहाहा! बाधा नहीं है,... भगवान को बाधा नहीं है। पूर्णानन्द प्रभु द्रव्य को क्या बाधा होगी? वह तो ज्ञान और आनन्द किले में स्थित है। इसमें दूसरे का प्रवेश कहाँ से होगा? ऐसा भगवान आत्मा बाधारहित है। इसी प्रकार सिद्ध की पर्याय को भी बाधा नहीं है।

जन्म, मरण और पीड़ा नहीं है,... भगवान आत्मा को जन्म नहीं, आत्मा जन्मता नहीं, मरता नहीं, पीड़ा नहीं। ऊपर सब आया था न? उसे (-उस परमात्मा को) मैं,... ऐसा मेरा परमात्मस्वरूप, उसे मैं मुक्तिसुख की प्राप्ति हेतु,... पूर्ण आनन्द की दशारूप मुक्ति, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की अवस्थारूप मुक्ति, ऐसे मुक्ति शुद्ध की प्राप्ति के लिये कामदेव के सुख से विमुख वर्तता हुआ... अस्ति-नास्ति की है। पाँच इन्द्रिय के विषयभोग के काम की वासना, ऐसा जो कामदेव का सुख। आहाहा! पाँच इन्द्रिय के झुकाव में कल्पना का कामदेव का सुख। आहाहा! उससे विमुख वर्तता हुआ। इन्द्रियों के भोग की वासनारूपी दुःख से विमुख वर्तता हुआ और भगवान आत्मा के सन्मुख वर्तता हुआ, नित्य नमन करता हूँ,... पूर्णानन्द प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर—समुद्र, उसे विषयसुख के भाव से विमुख होता हुआ, उसे मैं नमन करता हूँ। लो, यह धर्म। आहाहा! और उस मुक्ति के सुख के लिये ऐसा करता हूँ, ऐसा कहते हैं। उसका फल मुक्तिसुख है। कहो, समझ में आया?

मुक्तिसुख की प्राप्ति हेतु,... मुक्ति है न? कामदेव के सुख से विमुख वर्तता हुआ... विषय के सुख, कामदेव के सुख, भोग, वह तो जलहल, हलाहल जहर है। आहाहा! उसके सुख से विमुख होकर विमुख वर्तता हुआ... नित्य भगवान आनन्दमूर्ति को नमन करता हूँ। ओहोहो! मेरा नमन और झुकाव त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु आत्मा में है, कहते

हैं। आहाहा! धर्मी का नमन और झुकाव त्रिकाली भगवान के सन्मुख होता है। समझ में आया? यह अन्तर की बातें जिसे बैठना कठिन पड़े न, वह कहता है – यह क्या होगा?

तू अन्दर महा भगवान है। यह बाहर के कामदेव के शिष्य से तू विमुख है। समझ में आया? इस कामदेव के सुख से विमुख होकर अन्दर में जा। आहाहा! उसे मैं नित्य नमन करता हूँ। मेरा झुकाव एक समय भी द्रव्य के नमन के अतिरिक्त समय मेरा एक नहीं है। आहाहा! इन व्यवहार के विकल्प को नमता हूँ, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। नमता ही नहीं, कहते हैं। आहाहा! भगवान ध्रुव नित्य वज्र। सुख का वज्रबिन्दु प्रभु, उसमें मेरा नित्य झुकाव है। उसमें ही मेरा त्रिकाल आश्रय है। मुझे त्रिकाली का आश्रय है, त्रिकाल-कायम। आहाहा! ऐसे आत्मा को नित्य नमन करता हूँ। शब्द थोड़े, भाव बहुत। समझ में आया? इसका स्तवन करता हूँ। इस त्रिकाली आनन्दमूर्ति का मैं तो स्तवन करता हूँ। भगवान का स्तवन और राग का स्तवन, वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अरे! ऐसा आत्मा न जँचे, जिसे सर्वज्ञपने की पर्याय नहीं जँचती, अरे रे! तू ऐसा आत्मा नित्यानन्द सर्वज्ञस्वभावी तो त्रिकाल है। वह सर्वज्ञ की पर्याय प्रगट करने के लिये मैं सर्वज्ञस्वभाव में ही स्तवन करता हूँ। उसका स्तवन करता हूँ। आहाहा! सर्वज्ञस्वभावी का ही मैं आदर करता हूँ। क्योंकि सर्वज्ञपर्याय प्रगट करने के लिये (ऐसा करता हूँ)। समझ में आया? अरे रे! ऐसे आत्मा को ऐसा कहना कि सर्वज्ञपना नहीं होता। लोगों ने रच दिया है। मान-मर्यादा को। पण्डितजी! आन, आया न आन? आन-मर्यादा कहा न? संस्कृत टीका में, हिन्दी शब्दकोश में से शाम को निकाला था। मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा। भाई ने प्रतिष्ठा बहुत की। मनुष्य की प्रतिष्ठा बहुत कर डाली, ऐसा कहते हैं। मान बहुत दे दिया। आहाहा! अरे! भगवान! क्या कहता है। भाई! आहाहा! इस स्वभाव की मूर्ति को बहुत मान दिया। भाई! ऐसा नहीं है। वह उसका स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

यहाँ तो एक समय की पर्याय में जो कुछ सर्वज्ञस्वभाव में नमकर प्रगट हुई, उसके समक्ष तो कहते हैं कि अभी अनन्त गुणा क्षेत्र और काल होता, जिसका स्वभाव ही जानने का है, उसे न जानने की बात उसमें कैसे आवे? ऐसी सर्वज्ञ की पर्याय है, उस पर्याय के लिये, वह पर्याय प्राप्त करने के लिये, जिसमें पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव पूर्ण पड़ा है, उसे मैं नमन और स्तवन करता हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह स्तवना। लो! यह स्तुति, स्तुति।

‘णाणसहावाधियं मुणदि आदं’ यह स्तुति कही न? भगवान ज्ञानस्वभावी... आहाहा! वह ज्ञानस्वभाव अर्थात् परिपूर्ण स्वभाव। पर से अधिक अर्थात् भिन्न भाव। पाँच इन्द्रियाँ, जड़ और खण्ड-खण्ड तथा उनके बाह्य विषय, इन सबको-तीनों को इन्द्रिय गिनकर उनसे अधिक अर्थात् भिन्न भगवान, ज्ञानस्वभाव पृथक्। उसे अपूर्ण कहना और उसकी सर्वज्ञपर्याय नहीं होती... गजब करता है, भाई! तू प्रभु को पामर गिनकर गाली देता है। आहाहा! अरे! ऐसे माननेवालों को ढूँढ़-ढूँढ़कर डाला। अरे! ऐसा माननेवाली पूरी दुनिया अज्ञानी है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रतिष्ठावाले लोगों को...

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिष्ठा किसकी? सभी मूढ़ता। आहाहा! मूर्खाई की प्रतिष्ठा की। बात सच्ची।

भाई! ऐसा ज्ञानस्वभाव से अधिक। राग और खण्ड इन्द्रिय और भगवान की वाणी से भी अधिक। अधिक अर्थात् भिन्न। ऐसा परिपूर्ण परमात्मा, उसकी एकाग्रता, वह उसकी स्तुति है। आहाहा! देवीलालजी! तब और ऐसा सुनकर (कहता है कि) देखो! इसमें तो तुम ऐसा कहते हो। और फिर मन्दिर और भगवान की स्तुति कहाँ डालते हो? ऐसा कोई कहता है। अरे! भगवान! वह तो अन्दर में स्थिर नहीं हो सके, तब बाहर के परमात्मा का बहुमान का विकल्प आता है। यहाँ का बहुमान है, उसमें स्थिर न रह सके, तब प्राप्त हुए के प्रति बहुमान आता है। ऐसा शुभविकल्प होता है। वह उपचार स्तुति है।

मुमुक्षु : विकल्प न आवे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : न आवे, ऐसा रहता नहीं। समझ में आया? अपने से गुण में अधिक दशावन्त का विनय करने का भाव, इस ओर विनय ढला है, उसमें बाकी रही चीज़ में पूर्णता को प्राप्त के प्रति विनय आये बिना रहता नहीं। है वह शुभभाव। समझ में आया? वह व्यवहार है, वह निश्चयस्तुति नहीं है। निश्चयस्तुति आत्मा के... और परन्तु पूर्ण हुआ नहीं, इसलिए आती है। और करता है, ऐसा भी कहा जाता है। करता है, भगवान की स्तुति करता है। समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा... आहाहा! परन्तु क्या टीका! पाठ और टीका में तो अमृत की रेलमझेल की है। अमृत का सागर उछाला है।

मुमुक्षु : भाषा पूरी मिली नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा पूरी मिली नहीं, भाई ने लिखा। भाषा पूरी मिली नहीं। ऐसे मुनि के लिये यह कहना कि बराबर समझे नहीं। टीका में ऐसा कहा। अरे! भगवान! तू क्या करता है? बापू! तेरी परमात्मदशा का अनादर होता है, अस्तुति होती है।

धर्मी को अपने पूर्ण स्वभाव की रुचि के अतिरिक्त कहीं रुचि जमती नहीं। समझ में आया? यह विषय की वासना का विकल्प हो, अरे रे! वह तो जहर है। इसलिए कहा है न, कि उससे विमुक्त वर्तता हुआ। समझ में आया? विमुख वर्तता हुआ तो सब छोड़ दे न? किसी समय ऐसा विकल्प आता है, वह तो मिथ्यादृष्टि हो गया तू। ऐसा नहीं। भगवान! तू सुन! समझ में आया?

इस अमृत के सागर को दृष्टि में रखकर स्थिर नहीं रह सकता, उसमें कोई भाव आता है परन्तु उसमें उसका रस नहीं होता। धर्मी को राग में राग का रस नहीं होता। आहाहा! रस नहीं होता तो फिर आता किसलिए है? अरे! भगवान! भाई! वह तो राग भले हो। हो परन्तु वह तो दोषरूप से बीच में आता है। (तो कहता है) नहीं लाना। परन्तु नहीं लाना, बापू! पूर्ण साधक नहीं है, पूर्ण आश्रय जहाँ नहीं है, वहाँ पूर्ण साधक नहीं है, वहाँ वह बीच में बाधकपना होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का (है)। सत्यस्वरूप ऐसा ही है। उसे निश्चय न समझे, व्यवहार में... आहाहा! बापू! तेरा काल कहाँ अटकेगा? जन्म-जरा-मरण का अन्त लाने का छोर तो यह आत्मा अन्दर है। उसका स्तवन करता हूँ अर्थात् जरा स्तवन में आया। व्यवहार को स्तवन नहीं करता, ऐसा कहते हैं। बीच में आता अवश्य है, परन्तु इसमें रस नहीं है। समझ में आया?

सम्यक् प्रकार से भाता हूँ। मेरे भगवान को ही मैं भाता हूँ। आहाहा! मेरा नाथ, पूर्ण आनन्द का नाथ है। वह कामदेव के सुख की विस्मयता, आश्चर्यता, पाँच इन्द्रिय के भोग की ओर की अतिशयता, आसक्ति, विस्मयता को छोड़ देता हूँ। आहाहा! विस्मयस्वरूप तो मेरा आनन्द है। धर्मी को यह होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? सम्यक् प्रकार से, ऐसा है न? 'समभावयामि... समभावयामि' है न? 'समभावयामि' मेरा नाथ आत्मा पूर्णानन्द का प्रभु अस्तिरूप विराजमान है, वह मैं हूँ। उसकी मैं भावना करता हूँ। सम्यक् प्रकार से उसमें एकाग्र होता हूँ, वही मेरे धर्म का आचरण है। आहाहा! भारी कठिन। दुनिया को ऐसा लगता है कि यह क्या? अकेला निश्चय लगाया है। देखो न! बीच में

व्यवहार से बात तो की है। वह की है इतनी उत्साह की बात नहीं है। 'भावयामि' की नहीं है। पण्डितजी! 'समभावयामि' की नहीं है। होता है। एक है कि बीच में व्यवहार आता है। आता है न? इससे वह सम्यग्दृष्टिपना मिट जाता है, सम्यग्ज्ञान मिट जाता है, ऐसा नहीं है। उसके अन्तर के आदर में कुछ भी विघ्न पड़ता है, ऐसा नहीं है। आदर तो उसका ही है। समझ में आया? सच्ची रीति से मेरी भावना तो आत्मा में है, कहते हैं। यह भाव आओ, परन्तु इसकी मेरी भावना नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

श्लोक-२९९

(अनुष्टुप्)

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः।

अहमात्मान-मानन्द-मन्दिरं नौमि नित्यशः ॥२९९॥

(वीरछन्द)

निज आराधन रहित जीव ही सापराध कहलाते हैं।

इसीलिए हम आनन्द मंदिर आत्म को नित नमते हैं ॥२९९॥

[श्लोकार्थः—] आत्मा की आराधना रहित जीव को सापराध (-अपराधी) माना गया है। (इसलिए) मैं आनन्दमन्दिर आत्मा को (आनन्द के गृहरूप निजात्मा को) नित्य नमन करता हूँ ॥२९९॥

श्लोक - २९९ पर प्रवचन

२९९ (कलश)

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः।

अहमात्मान-मानन्द-मन्दिरं नौमि नित्यशः ॥२९९॥

नित्य मैं नमन करता हूँ। आहाहा! मुनि की शैली। अरे! भगवान! जो अपना ही अनादर करे, वह फिर ऐसे सन्तों का आदर कहाँ से करेगा?

श्लोकार्थ : आत्मा की आराधना रहित जीव को... नित्यानन्द स्वभाववाला प्रभु, ऐसी आत्मा की आराधना, सेवा, उपासनरहित जीव को सापराध (-अपराधी) माना गया है। आहाहा! राग की सेवा करनेवाले को तो अपराधी कहा गया है। आहाहा! आत्मा की आराधना। यह देवी और देव की आराधना करते हैं न? वह तो कहीं गयी। परन्तु तीन लोक के नाथ की आराधना, वह भी व्यवहार में जाती है। भगवान स्वयं पूर्णानन्द का नाथ, जिसमें आनन्द का नशा चढ़ता है, ऐसा प्रभु! उसकी सेवारहित और राग की सेवासहित है, वह अपराधी है, गुनहगार है। उसे चार गति में दण्ड-फल मिलेगा। आहाहा! समझ में आया? माना गया है। अपराधी गिनने में आया है।

(इसलिए) मैं... इस कारण से मैं। इस प्रकार मुनि ने अपनी बात साथ ही डाली और आनन्द के आदर करनेवाले को भी ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मैं आनन्दमन्दिर आत्मा को... लो! मैं तो अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द मन्दिर हूँ। यह आत्मा। आनन्द मन्दिर आत्मा। जिसमें प्रवेश करने से, उस भगवान आनन्द मन्दिर में जाने से आनन्द का देव प्राप्त होता है। जिसमें आनन्द का देव आत्मा, उसकी प्राप्ति हो। आहाहा! समझ में आया? लो, यह मन्दिर में जाते हैं न? छह आवश्यक आते हैं न? देवपूजा, गुरुसेवा इत्यादि। कहते हैं कि मैं तो आनन्द मन्दिर में जाता हूँ।

आनन्दमन्दिर आत्मा को (आनन्द के गृहरूप निजात्मा को)... वापस ऐसा नित्य नमन करता हूँ। कोई भी समय मेरे पूर्णानन्द के आदर बिना का है नहीं। सम्यग्दृष्टि को कोई भी क्षण पूर्णानन्द के नाथ आत्ममन्दिर के आदर बिना जाता नहीं है। आहाहा! और यदि आत्मा का आदर भूलकर पर का आदर हो गया तो मिथ्यादृष्टि हो जाए। गजब बातें, भाई! यहाँ आत्ममन्दिर (कहते हैं) और फिर वापस मन्दिर बनाना और स्वाध्याय मन्दिर बनाना। ऐई! देवीलालजी पण्डित कहलाते हैं। वे फिर स्वाध्याय मन्दिर बनाते हैं। एक मन्दिर हुआ, और स्वाध्याय मन्दिर (बनाते)। बातें बड़ी-बड़ी करते हो और फिर वापस ऐसे धन्धे करते हो। भाई! वह तो उसके कारण से होता है। धर्मी जीव का शुभविकल्प निमित्तरूप कहलाता है। बाकी ऐसी बात है। नित्य आनन्द के घर में जाता हूँ, ऐसा कहते हैं।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-१८०

णवि इंदिय उवसगा णवि मोहो विम्हिओ ण णिहा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥

नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।
न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१८०॥

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । अखण्डैकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात् स्पर्शन-
रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपञ्चेन्द्रियव्यापारः देवमानवतिर्यगचेतनोपसर्गाश्च न भवन्ति,
क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्रमयत्वान्न दर्शनचारित्रभेदविभिन्नमोहनीयद्वितयमपि, बाह्य-
प्रपञ्चविमुखत्वान्न विस्मयः, नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वान्न निद्रा, असातावेदनीयकर्म-
निर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च । तत्र परमब्रह्मणि नित्यं ब्रह्म भवतीति ।

तथा चोक्तममृताशीतौ -

(मालिनी)

ज्वर-जनन-जराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा ।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं,
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ॥

तथाहि -

इन्द्रिय जहाँ नहिँ मोह नहिँ, उपसर्ग, विस्मय भी नहीं ।
निद्रा, क्षुधा, तृष्णा नहीं निर्वाण जानो रे वहीं ॥१८०॥

अन्वयार्थ : [न अपि इन्द्रियाः उपसर्गाः] जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं हैं, [न अपि मोहः विस्मयः] मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, [न निद्रा च] निद्रा नहीं है, [न च तृष्णा] तृष्णा नहीं है, [न एव क्षुधा] क्षुधा नहीं है, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (अर्थात् इन्द्रियादिरहित परमतत्त्व में ही निर्वाण है)।

टीका : यह, परम निर्वाण के योग्य परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है।

(परमतत्त्व) *अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण (उसे) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नाम की पाँच इन्द्रियों के व्यापार नहीं हैं तथा देव, मानव, तिर्यच और अचेतनकृत उपसर्ग नहीं हैं; क्षायिकज्ञानमय और यथाख्यातचारित्रमय होने के कारण (उसे) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ऐसे भेदवाला दो प्रकार का मोहनीय नहीं है; बाह्य प्रपंच से विमुख होने के कारण (उसे) विस्मय नहीं है; नित्य-प्रकटित शुद्धज्ञानस्वरूप होने के कारण (उसे) निद्रा नहीं है; असातावेदनीय कर्म को निर्मूल कर देने के कारण (उसे) क्षुधा और तृष्णा नहीं है। उस परम ब्रह्म में (-परमात्मतत्त्व में) सदा ब्रह्म (निर्वाण) है।

इसी प्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीति में (५८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

जन्म-मरण ज्वर जरा वेदना गति अरु अगति जहाँ नहिं हों।
देह स्थित, पर गुरु प्रसाद से बुधजन अनुभव करते हैं ॥

“[श्लोकार्थः—] जहाँ (जिस तत्त्व में) ज्वर, जन्म और जरा की वेदना नहीं है, मृत्यु नहीं है, गति या अगति नहीं है, उस तत्त्व को अति निर्मल चित्तवाले पुरुष, शरीर में स्थित होने पर भी, गुण में बड़े ऐसे गुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से अनुभव करते हैं।”

* खण्डरहित अभिन्नप्रदेशी ज्ञान परमतत्त्व का स्वरूप है, इसलिए परमतत्त्व की इन्द्रियाँ और उपसर्ग नहीं हैं।

प्रवचन-२१०, गाथा-१८०, रविवार, मगसर कृष्ण १०, दिनांक १२-१२-१९७१

यह नियमसार, १८० गाथा। निर्वाण का स्वरूप है। मोक्ष हो गया, ऐसे जो सिद्ध भगवान वे कैसे हैं, उनका स्वरूप है। द्रव्य से तो आत्मा का स्वरूप ऐसा ही है। यह बात समझाते हैं।

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्वा य।

ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥

इन्द्रिय जहाँ नहीं मोह नहीं, उपसर्ग, विस्मय भी नहीं।

निद्रा, क्षुधा, तृष्णा नहीं निर्वाण जानो रे वहीं ॥१८०॥

टीका : यह, परम निर्वाण के... परम निर्वाण पर्याय प्राप्त परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है। आत्मा स्वयं ही परम निर्वाणस्वरूप ही है। भगवान आत्मा परम शान्त अविकारी निर्वाण शान्त पूर्णस्वरूप ही है। उसकी पर्याय में निर्वाण प्रगट होना, उसका नाम यहाँ निर्वाण और सिद्ध कहते हैं।

कैसा है परम तत्त्व ? अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण... सिद्ध भगवान हैं, वे हैं तो असंख्य प्रदेशी, परन्तु अखण्ड-एक प्रदेश। सबके भेद नहीं करना। यहाँ अखण्ड एक प्रदेशी स्वरूप है। अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण... ज्ञान असंख्य प्रदेश में अखण्ड है न ? समझ में आया ? अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण... वैसे तो ज्ञानस्वरूप अखण्ड प्रदेशी है परन्तु उसे ऐसा न गिनकर, असंख्य हैं निश्चय से, ज्ञानस्वरूप असंख्य प्रदेश हैं निश्चय से, परन्तु उसे असंख्य को है अपेक्षा से निश्चय है परन्तु भेद की अपेक्षा से इसे-असंख्य को व्यवहार कहकर एक को निश्चय कहा जाता है। समझ में आया ?

अखण्ड-एकप्रदेशी-... यह क्या कहना है ? इन्द्रियाँ नहीं है, ऐसा कहना है ? खण्ड-खण्ड इन्द्रिय से जानना, वह प्रदेश का खण्ड-खण्ड होना, ऐसा उन्हें नहीं है। नीचे है। अखण्ड-खण्डरहित अभिन्नप्रदेशी ज्ञान परमतत्त्व का स्वरूप है... ऐसे तो असंख्य प्रदेश तो एक प्रदेशी कहा है। समझ में आया ? आता है न पंचास्तिकाय में ? जहाँ धर्मास्तिकाय का वर्णन किया है, वहाँ असंख्य प्रदेश होने पर भी एक प्रदेश (कहा है)।

असंख्य कहलाते हैं, इसलिए व्यवहार कहते हैं। अभिन्न एक प्रदेशी, वह निश्चय। दूसरी ओर ऐसा कहते हैं कि असंख्य प्रदेशी नियत प्रदेश है, निश्चय है। क्योंकि इतने ही हैं, कम-ज्यादा नहीं।

एक बार (संवत्) १९७९ के वर्ष में प्रश्न हुआ था। हंसराजभाई हैं न, हंसराजभाई? वे कहें, यह सब प्रदेश गिने हैं, वह तो कल्पना से गिने हैं। हंसराजभाई थे न? अमरेली।वे सुनने आये थे। वैसे तो... अमरेली जाना (था)। सामने आये थे। रास्ते में रेल आती है। पाटा। पाटा रास्ते में। वहाँ यह प्रश्न उठा, गाँव में जाते हुए सामने। असंख्य प्रदेशी भगवान ने कहा है, वह सब कल्पना है। कल्पना अर्थात् क्या? कहा। असंख्य प्रदेशी ही है। आकाश अनन्त प्रदेशी ही है। कल्पना से कहा है, ऐसा नहीं है। परन्तु उसे व्यवहार कहा है एक जगह, उसका कारण कि अभेद की एकपने की अपेक्षा से भेद को व्यवहार कहा है। समझ में आया? धर्मास्तिकाय में डाला है न? पंचास्तिकाय में। वहाँ व्यवहार डाला है। असंख्य प्रदेश कहना, वह व्यवहार है। एक प्रदेशी कहना, वह निश्चय है। वस्तु तो वस्तु है परन्तु असंख्य प्रदेश में ज्ञानस्वरूप व्याप्त है, तथापि उसे अखण्ड एक प्रदेशी ज्ञानस्वरूप, वह उसका निश्चय स्वभाव है। उसके कारण पाँच इन्द्रियाँ नहीं हैं। क्योंकि वे तो खण्ड-खण्ड होवे तो इन्द्रियाँ हो। इसलिए यह अखण्ड डालना पड़ा।

खण्ड-खण्ड भावइन्द्रिय है, वह सिद्ध को नहीं है। सिद्ध को तो नहीं है परन्तु आत्मा के स्वभाव में भी वास्तव में नहीं है। समझ में आया? ३१ गाथा में आया न? ३१, समयसार। भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय से भिन्न चीज़ है। भावेन्द्रिय एक-एक इन्द्रिय के जानना, वह खण्ड ज्ञान है। जड़ वह तो है, वह तो अलग बात है। वाणी आदि, शब्द आदि, वह तो इन्द्रिय का निमित्त है, इसलिए इन्हें भी इन्द्रिय कहा है और यह खण्ड-खण्ड ज्ञान की पर्याय वर्तमान खण्ड से एक-एक विषय को जाने, वह तो आत्मा नहीं है। समझ में आया? आत्मा तो इस खण्ड इन्द्रिय से अधिक—भिन्न है। देखो! यह सम्यग्दर्शन का विषय। 'णाणसहावाधियं मुणदि आदम' ज्ञानस्वभाव इस खण्ड इन्द्रिय के भाव से अधिक / पृथक् / भिन्न अतीन्द्रिय है। उसे यहाँ आत्मा कहा गया है। कहो, समझ में आया? वह आत्मा आत्मारूप से पर्यायरूप परिणमित हुआ सिद्ध, उसकी यह व्याख्या चलती है।

अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण (उसे) स्पर्शन, रसन, घ्राण,

चक्षु और श्रोत्र नाम की पाँच इन्द्रियों के व्यापार नहीं हैं... अखण्ड ज्ञान का जहाँ व्यापार है, वहाँ खण्ड ज्ञान का व्यापार नहीं है। समझ में आया? यहाँ भी वास्तव में तो अखण्ड, खण्ड इन्द्रिय से भिन्न ऐसा भगवान आत्मा है—ऐसा जहाँ भान हुआ, वह भी खण्ड इन्द्रिय से जानना उसे होता नहीं है। समझ में आया? क्योंकि उसे इन्द्रिय के विषय का भोग ही नहीं है आत्मा को। समझ में आया? यह कहाँ आया? अलिंगग्रहण का बारहवाँ बोल है न?

भगवान आत्मा को इन्द्रिय के विषय का भोग ही नहीं है। इन्द्रिय से जानना, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा वह नहीं है और इन्द्रिय से जाने, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा तो वह नहीं है परन्तु इन्द्रियों से जाने, ऐसा वह नहीं है। आहाहा! उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया? और इन्द्रिय के विषय को भोगता नहीं, उसे आत्मा कहते हैं। वह है न? अखण्डित है, इसलिए पाँच इन्द्रिय के व्यापार नहीं हैं।

आत्मा में इसका स्वभाव, इन्द्रिय के विषय को जानना या इन्द्रिय से जानना या इन्द्रिय के विषय को भोगना, इसके स्वरूप में नहीं है। समझ में आया? समकित इन्द्रिय के विषय को भोगता नहीं है। ऐसा कहते हैं। भोगता नहीं, इसकी व्याख्या क्या? लो, अभिप्राय से निवृत्त नहीं हुआ, उसे ज्ञान नहीं। वह कहे, आस्रव से निवृत्त नहीं है, इसलिए ज्ञान नहीं है। ऐसा नहीं है। अभिप्राय में से निवृत्त है, इसलिए उसे... समझ में आया? आस्रव की निवृत्ति ही है। सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप के परिणाम मेरे हैं, ऐसा अभिप्राय छूट गया है। इसलिए वह आस्रवरहित ही है। आहाहा! गजब बात! इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि...

यहाँ तो इन्द्रिय के व्यापाररहित आत्मा सिद्ध, ऐसा ही यह आत्मा यहाँ है। जो अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करनेवाला, ऐसा जो आत्मा, वह आत्मा इन्द्रिय के विषय को भोगे, ऐसा उसकी पर्याय में नहीं है। समझ में आया?

भगवान भोगते नहीं परन्तु यहाँ समकित? आत्मा नहीं भोगता, इसका अर्थ कि आत्मा का जाननेवाला (भी नहीं भोगता)। आहाहा!

आत्मा इन्द्रिय के विषय को नहीं भोगता अथवा आत्मा को इन्द्रिय के विषयों का व्यापार नहीं है। ऐसा कहा न यहाँ। सिद्ध को इन्द्रिय के विषय का व्यापार नहीं है। इसका

अर्थ यह हुआ। इस भगवान आत्मा को ही इन्द्रिय के विषय का व्यापार नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि जिसने आत्मा ऐसा जाना, ऐसे समकिति को भी इन्द्रिय के विषय का व्यापार नहीं है। उसे विषय का भोग नहीं है। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया?

नियमसार है। अखण्ड-एकप्रदेशी-ज्ञानस्वरूप होने के कारण... यह टीका तो पद्मप्रभमलधारिदेव की है। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नाम की पाँच इन्द्रियों के व्यापार नहीं हैं... सिद्ध को।

मुमुक्षु : द्रव्य को भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया न। अर्थ ही हुआ। द्रव्य को नहीं अर्थात् द्रव्यदृष्टिवन्त को भी नहीं। चिमनभाई! आहाहा! गजब मार्ग।

भगवान आत्मा निर्वाणस्वरूप विराजमान है। कहते हैं कि वह तो अखण्ड एक प्रदेशी ज्ञानस्वरूप है। उसे पाँच इन्द्रिय से जानना, ऐसा व्यापार सिद्ध को नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि इसका जो स्वभाव था, वह आ गया। तब अब इसका स्वभाव-त्रिकाली भगवान आत्मा का स्वभाव अखण्ड एक ज्ञानस्वभाववाला है, खण्ड ज्ञानवाला नहीं है। खण्ड ज्ञान द्वारा इन्द्रिय का व्यापार द्रव्य को नहीं है, सिद्ध को नहीं है और द्रव्य की दृष्टि के जानकार समकिति को नहीं है। गजब बातें, भाई! ऐसे भोगे न! ऐसे छियानवें हजार स्त्रियाँ लगती हैं। आहाहा! अरे भाई! तुझे खबर नहीं है। राग का और हर्ष का जैसे आत्मा की पर्याय में अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। वह तो सम्यक् चैतन्यमूर्ति अखण्ड प्रदेश ऐसा एक भगवान आत्मा, उसके आश्रय से निर्मल दशा हो, उसे यह कर्ता है और भोक्ता है। समझ में आया? आहाहा!

क्षायिक समकिति छह खण्ड का राज करे। सिद्ध राज करे तो समकिति राज करे। समझ में आया? आहाहा! गजब! 'णवि इन्द्रिय' इसमें से सब निकाला है। इन्द्रिय सिद्ध को नहीं है अर्थात् कि आत्मा को इन्द्रिय नहीं है अर्थात् कि इन्द्रिय का व्यापार सिद्ध को नहीं है, अर्थात् कि आत्मा को इन्द्रिय का व्यापार नहीं है अर्थात् कि समकिति को भी इन्द्रिय का व्यापार नहीं है। आहाहा! समझ में आया? गजब वस्तु, भाई! एक बात की।

'णवि इन्द्रिय' अब 'णवि उवसग्गा'। 'णवि इन्द्रिय' 'णवि उवसग्गा' जहाँ शरीर का व्यापार नहीं है, उसे उपसर्ग ही नहीं। देव, मानव, तिर्यच और अचेतनकृत... चार।

नारकी तो कहीं उपसर्ग करने आते नहीं। देव उपसर्ग करें-प्रतिकूलता। मनुष्य, पशु या अचेतन। उपसर्ग दीवार आ पड़े, चारों ओर ऐसे प्रतिकूल उपसर्ग सिद्ध को नहीं है। शरीर ही जहाँ इन्द्रिय का व्यापार नहीं, वहाँ फिर उपसर्ग कैसा? इसी प्रकार भगवान आत्मा में भी उपसर्ग नहीं है, उसी प्रकार धर्मी को भी उपसर्ग नहीं। लो! ऐई! मुनि को उपसर्ग होता है न यह? सिंहनी खाती है, यह खाता है। खाता किसे है? और खाता कौन है? उसके मुँह में आत्मा के प्रदेश आते हैं। समझ में आया?

धर्मी तो अपने आनन्द के वेदन को अनुभव करता है। उसमें उपसर्ग कैसा? आहाहा! समझ में आया? उपसर्ग लगे उसे... योग तो भले उपसर्ग का हो, उसे उपसर्ग लगे तो दुःख हो और दुःख तो विभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं और विभाव में समकित्ता आता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अपना स्वरूप ही चैतन्य आनन्दमय, ऐसा जहाँ है, ऐसा अस्तिभाव अनुभव में स्वीकार किया, उसे कहते हैं कि उपसर्ग नहीं है। ओहोहो! समझ में आया? ऐसी कर्म की चीज़ है। मामूली साधारण बात करे और धर्म हो गया, यह धर्म हो गया, यह अमुक हो गया। समझ में आया? आहाहा!

और वे सिद्धभगवान कैसे हैं? क्षायिकज्ञानमय और यथाख्यातचारित्रमय होने के कारण... दो भेदवाला मोह नहीं है, ऐसा कहना है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ऐसे भेदवाला दो प्रकार का मोहनीय नहीं है;... सिद्ध को मोह कैसा? इसी प्रकार द्रव्य को मोह कैसा? आहाहा! गजब शैली! जैसे सिद्ध भगवान को इन्द्रियाँ नहीं हैं, इसलिए उपसर्ग नहीं है, मोह नहीं है। मोह नहीं है, ऐसा हुआ कैसे? कि उनके द्रव्यस्वभाव में मोह नहीं था, इसलिए मोहरहित हो गये। और आत्मा भी अभी मोहरहित है तो मोहरहित होकर सिद्ध होगा और आत्मा की दृष्टि हुई, वह जीव भी मोहरहित ही है। कहो, समझ में आया?

साधक को चौथे गुणस्थान से... आहाहा! क्योंकि मोह तो एक दोष है। कर्म तो एक ओर रखो। दोष भी नहीं। आहाहा! सिद्ध को नहीं। उसी तरह द्रव्य में नहीं, इसी तरह द्रव्यदृष्टिवन्त को नहीं। समझ में आया? देखो! ऐसा धर्म है। आहाहा! वीतरागीस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा, उसे वीतरागता सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि प्रगट होने पर, धर्म प्रगट होने

पर उसे अधर्म ऐसा मोह कहाँ से होगा ? ऐसा कहते हैं । समझ में आया ? दो भेदवाला दो प्रकार का मोहनीय नहीं है;... विस्मय । आहाहा !

बाह्य प्रपंच से विमुख होने के कारण (उसे) विस्मय नहीं है;... सिद्ध को विस्मय क्या ? पूर्ण केवलज्ञान से पूर्ण जानना-देखना एक समय में परिणमन हो गया । यह... यह... ऐसा विस्मय नहीं । इसी प्रकार भगवान आत्मा के स्वभाव में भी विस्मय नहीं है । नहीं था तब तो हुआ । आहाहा ! समझ में आया ? और इस आत्मा का स्वीकार करनेवाला, उसका ऐसा अस्तित्व है । शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव, ऐसा अनुभव करनेवाला, माननेवाला, जाननेवाला साधक, उसे विस्मय नहीं है । समझ में आया ? उसमें तो विकल्प है । उसमें नहीं, उसे नहीं । वह तो पर है । आहाहा ! समझ में आया ? विस्मय नहीं है । ऐसा लगे, कुछ नया लगे । नया ! आहाहा ! क्या है ? विस्मयता ऐसे तुझे पर की कुछ अद्भुतता लगे तो वह तो राग है, वह विकल्प है । ऐसी विस्मयता सिद्ध को नहीं है परन्तु सिद्ध को ऐसी विस्मयता नहीं है, (ऐसा) हुआ कैसे ? वस्तु में भी विस्मयता नहीं है । आहाहा ! विस्मय आश्चर्यकारी राग होना... आहाहा ! ऐसा ! समझ में आया ? इतने पैसे पैदा हो गये ! छोटी उम्र का और पाँच-दस करोड़, पच्चीस करोड़, अरब, दो अरब । परन्तु अब क्या है ? समझ में आया ? विस्मय नहीं है ।

तथा एक ओर भगवान का शरीर देखकर देखने के लिये इन्द्र हजार नेत्र बनाता है, ऐसा शास्त्र में आता है । लो, ऐसा शरीर सुन्दर-रूपवान है, सब कोमल अवयव और ऐसे एक-दो आँखों से देखने में तृप्त (नहीं) होते । हजार नेत्र (बनाता है) और है क्षायिक समकिति । तो भी उसे पर्याय में विस्मय नहीं है । आहाहा ! गजब बात है । समझ में आया ? द्रव्य में तो नहीं, परन्तु द्रव्य में नहीं है, ऐसा जिसने द्रव्य का भान किया है, उसे भी उसकी पर्याय में भी नहीं है । आहाहा ! गजब बात है । कहो, समझ में आया इसमें ? लाख आमदनी हो महीने की, दो लाख आमदनी हो, पाँच लाख आमदनी हो, आहाहा ! लड़का गजब ! गजब जगा हो, कहे । ऐ... पोपटभाई !

मुमुक्षु :लड़का...

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का लड़के का भी ऐसा कि...

भाई ! यह उसका विस्मयपना होना, वह तो वस्तु के स्वरूप में नहीं है न,

भगवान! होवे तो सिद्ध क्यों विस्मयरहित हैं? आहाहा!भाई! नागनेश के घर में करोड़पति के पुत्र (होवे तो) विस्मय नहीं होगा? होता है या नहीं कुछ? ऐई! मूलचन्दभाई!

मुमुक्षु : तत्त्व नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह क्या? अद्भुतात् अद्भुतम् तो इसका अपना स्वरूप है। समझ में आया? उसे किसी चीज़ की अद्भुतता नहीं दिखती। आहाहा! देखो! यह वीतरागीमार्ग। आहाहा! समझ में आया? **विस्मय नहीं है; नित्य-प्रकटित शुद्धज्ञानस्वरूप होने के कारण (उसे) निद्रा नहीं है;**... भगवान को निद्रा नहीं है। आहाहा! नित्य प्रगटित। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप से नित्य प्रगट हुआ है। ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप होने के कारण उसे निद्रा नहीं है। आहाहा! निद्रा नहीं है, ऊंच नहीं है।

मुमुक्षु : वहाँ ऊपर कर्म लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कर्म है तो भी बाधा नहीं है। कर्म और कर्म का भाव दोनों। कहो, समझ में आया? निद्रा नहीं है।

वस्तु आत्मद्रव्य में भी निद्रा नहीं है और आत्मद्रव्य की दृष्टिवन्त को निद्रा नहीं है। आहाहा! ऐई! निद्रा के प्रमादभाव से समकिति मुक्त है। ऐई! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द के सत् रूप से विराजमान, ऐसी चीज़ में निद्रा नहीं है। उसकी पर्याय में प्राप्त हुए ऐसे सिद्ध को निद्रा नहीं है और ऐसी द्रव्यदृष्टि जिसे प्राप्त हुई, उसे निद्रा का अभाव है। साधु का आता है न? पिछले पहर में जरा। ऐई!.... देवानुप्रिया!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो व्यवहार बतलाया है। गजब बात, भाई! वीतराग के मार्ग की शैली गजब है। वस्तु के स्वभाव की शैली है न! स्वभाववादियों का यह कथन है।

मुमुक्षु : पहले आ गया था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले आ गया न, वहाँ कहा, विभाववादियों तुम्हारा मान्य नहीं है। यह ज्ञान जाने और दर्शन देखे। आत्मा साथ ही जाने-देखे, ऐसी सब विभाववादियों की बात है। हम तो एक ही अखण्डानन्द भगवान, पूर्णानन्द प्रभु चैतन्य का पिण्ड प्रभु,

अनाकुल आनन्द का अकेला समुद्र, ऐसी वस्तु में निद्रा कैसी ? और ऐसी जहाँ पर्याय पूर्ण प्रगट हो गयी, उसे कैसी ? और पूर्ण हुई नहीं परन्तु भान में आया... आहाहा! कहो, नेमिदासभाई! ऐसा है यह।

निद्रा नहीं है;... यहाँ तो समकिति सोता है न ? दो घण्टे, चार-चार घण्टे सोता है। आठ-आठ घण्टे। मुनि भी (रात्रि के) अन्तिम (पहर) में जरा सा... यह तो व्यवहार होता है, वह जाननेयोग्य है। उसके अस्तित्व में है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? ऐई.. ! ...भाई! ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! समझ में आया ? **असातावेदनीय कर्म को निर्मूल कर देने के कारण...** भगवान को, असाता वेदनीयकर्म के निमित्त से क्षुधा-तृषा हो, उस असाता वेदनीयकर्म का मूल में से नाश किया होने से (उसे) **क्षुधा और तृषा नहीं है।** आहाहा! लो! सिद्ध भगवान को क्षुधा-तृषा नहीं है। अब यहाँ केवली को तो क्षुधा-तृषा सिद्ध करते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि समकिति को क्षुधा-तृषा नहीं है। सुन न! वह तो ज्ञान में ज्ञेय—जाननेयोग्य है। आहाहा! जठर में क्षुधादि हों, वह तो पर है, ऐसा जानता है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा मार्ग वीतराग का, कहा श्री भगवान। आहाहा!

कहते हैं, क्षुधा-तृषा नहीं तो फिर समकिति रोटी नहीं खाता ? ऐ... ! अज्ञानी भी नहीं खाता, परन्तु उसे राग होता है न ? परन्तु यह राग है, उसका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले को राग है। राग का अस्तित्व मुझमें नहीं है; मैं तो वीतरागमूर्ति चिदानन्द हूँ। आहाहा! ऐसी स्वीकार करनेवाले को क्षुधा-तृषा की इच्छा ही नहीं है। यह तो कहा नहीं ? निर्जरा अधिकार में। आहार की इच्छा नहीं, पानी की इच्छा नहीं। मुनि को नहीं, यह तो उसका अर्थ। आहाहा! गजब शैली है। चारों ओर से देखो तो।

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का सागर अस्ति वस्तु है न ? पदार्थ है न ? पदार्थ है तो उसका स्वभाव परिपूर्ण होगा न। पदार्थ एक और परिपूर्ण (तथा) उसका स्वभाव अनन्त ज्ञानादि परिपूर्ण और एक अभेद। ऐसे आत्मा में क्षुधा-तृषा नहीं है। सिद्ध को नहीं, परमात्मा हुए उन्हें नहीं। तो केवली को भी नहीं। तब कहते हैं, भाई! सिद्ध को और केवली को लिखा है तुम्हारे में। ग्यारह परीषह तो फिर तुम्हारे करना पड़ा होगा। वह तो उपचार से। ऐई. !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री :यह लोगों ने विरोध करने को लिखा है। उन्होंने ग्यारह लिखा न, और कहते हैं कि वह तो उपचारमात्र है। ऐसा वापस अर्थ किया। हमारे पण्डितजी ने अर्थ किया न, सब पंचास्तिकाय के ? करके फिर मिटा डाला बाद में, ऐसा लिखा है। ऐसा वे लोग कहते हैं, हों! वे लोग कहते हैं। अरे! सुन न! यह तो उसका स्पष्टीकरण किया है। उसमें क्या कहना चाहते हैं, उसे स्पष्ट किया है। जो सामान्यरूप से हो, उसे विशेषरूप से स्पष्ट होता है। उसमें क्या है ? समझ में आया ?

धर्मधारा। जिसे धर्म पूरा हो गया, ऐसे सिद्ध। उन्हें क्षुधा-तृषा नहीं है। केवली को भी नहीं है, वस्तु में नहीं है, ऐसा ज्ञानधारा में यह कहा। क्षुधा-तृषा ज्ञानधारा में साथ में नहीं आती। आहाहा! कहो, समझ में आया ? कहो, हीराभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : साधक जीव को...

पूज्य गुरुदेवश्री : साधक, सिद्ध और द्रव्य, तीनों हो गये। द्रव्य में होवे तो पर्याय में सिद्ध को रहे। इसी प्रकार द्रव्य में होवे तो समकित्ती को पर्याय में रहे। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा भगवान अद्भुतात अद्भुत आनन्द और ज्ञान का विलासी आत्मा, उसे क्षुधा-तृषा कैसी ? आहाहा! समझ में आया ?

उस परम ब्रह्म में (-परमात्मतत्त्व में) सदा ब्रह्म (निर्वाण) है। ऐसे आत्मा में तो सदा ही निर्वाण ही है, कहते हैं। सिद्धपद की पर्याय में सदा ही निर्वाण है। उस द्रव्य में भी सदा निर्वाण है। आहाहा! और समकित्ती को भी मुक्तपना द्रव्य का भासित हुआ है, इसलिए उसे दृष्टि में सदा निर्वाण—मुक्तपना ही है। आहाहा! व्यवहार से मुक्त है, निर्वाण पूर्ण है यह। मुक्तस्वरूप भगवान है, उसके मुक्तस्वरूप की दृष्टिवन्त को भी मुक्तस्वरूप ही है। समझ में आया ? यह सब आठ कर्म और उसके राग के सब भरे हैं न ? वह सब व्यवहार जाननेयोग्य है। मुझमें है, ऐसे खतौनी योग्य नहीं है। आहाहा!

उस परम ब्रह्म में (-परमात्मतत्त्व में) सदा ब्रह्म (निर्वाण) है। ऐसे आत्मा में ही निर्वाण है। अन्यत्र निर्वाण बाह्य अलग है, (ऐसा नहीं है)। निर्वाण और आत्मा, सिद्ध और आत्मा... आगे कहेंगे, सिद्ध और निर्वाण दोनों एक ही है। समझ में आया ? आगे गाथा कहेंगे न अन्तिम। बाद की। एक ही बात है। निर्वाण कुछ नाम दूसरा सिद्ध पड़ा, इसलिए नाम के लिये ऐसा कुछ नहीं है। पूर्ण शान्ति... पूर्ण शान्ति... पूर्ण शान्ति...

आहाहा! यह सब अरबोंपति अमेरिकावाले बेचारे थक गये कि इसमें कहीं सुख नहीं लगता।

मुमुक्षु : अरबोंपति नहीं है और अरबोंपति माने तो फिर किसका दुःख ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ऐसा कि ऐसे बड़े बँगले और ऐसा है। ओहोहो! कहीं सुख नहीं है। शान्ति या विश्राम दिखाई दे, ऐसा नहीं है। यह तो श्वान की तरह यह... बड़ा बँगला बनाया पाँच करोड़ का। नीचे और ऊपर चढ़े। क्या कहलाती है वह ? लिफ्ट। ऐसे ऊपर चढ़े। कौआ उड़ता है, वैसे उड़े। यह बैठकर उड़े। परन्तु क्या है ? आहाहा! वहाँ जाए, नीचे उतरे। लो, ऐसा क्या कहलाता है दीवानपना ? दीवानखाना। वहाँ दीवानखाना होता है। आठ-दस बड़े बँगले। ऐ... ! पोपटभाई! ऐसे मकान हैं या नहीं ? हैं या नहीं तुम्हारे ? नये हुए, उन्हें देखना। चालीस लाख का नया बनाया है न ? उसे देखा ? ऐसे ठीक। ऐसा लगे... कपड़े-बपड़े पहनाकर। मानो कोई ऊपर से-स्वर्ग में से उतरा। धूल में भी कहीं नहीं है। आहाहा! अरे! सुख के सागर के सन्मुख न देखकर, यह पर के सामने देखकर विस्मय और प्रसन्नता होती है, वह आत्मा का अनादर करता है। आहाहा! समझ में आया ?

उस परम ब्रह्म में (-परमात्मतत्त्व में) सदा ब्रह्म (निर्वाण) है। द्रव्यरूप से वस्तु आत्मा भी सदा ब्रह्म (निर्वाण) है। द्रव्य आत्मा का द्रव्य जो वस्तु है, वह मुक्तस्वरूप ही है। मुक्तस्वरूप है तो पर्याय में मुक्त होता है। समझ में आया ? तू है मोक्षस्वरूप, आता है। अपने कलश में आता है। मुक्तएव-कलश में आता है। सम्यग्दृष्टि मुक्तएव। मुक्त है, व्यवहार से मुक्त है, इसलिए फिर व्यवहार उसमें नहीं रहा। अर्थात् क्या रहा ? राग से मुक्त है। आहाहा! गजब बात है, भाई!

जिसने धर्मी को धारण किया, धर्मी ऐसा भगवान आत्मा दृष्टि में, ज्ञान में, अनुभव में धारण किया, उसमें कहते हैं कि राग और संसार का करना, टिकना है नहीं। आहाहा! निर्वाण। वह आता है। समकित हुआ, उसकी मुक्ति हुई, ऐसा भी आता है। मुक्त हुआ। एक पर्याय में थोड़ी बाकी है। उस पूर्ण मुक्तस्वरूप को अनुभव में लिया, उसने पूर्ण आत्मा को श्रद्धा से-ज्ञान से अधिकार में किया। वह पर्याय थोड़ी बाहर... समझ में आया ? आहाहा! ऐसे आत्मा की जिसे खबर नहीं, ऐसे आत्मा की जिसे श्रद्धा और पहिचान नहीं, वह चाहे जैसा बड़ा कहलाता हो, वह सब खोटा... आहाहा!

इसी प्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीति में (५८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

ज्वर-जनन-जराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा ।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं,
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ॥

सब 'ज-ज' डाले हैं। इस शरीर में भी ऐसा ही भगवान है, ऐसा कहते हैं। जिस तत्त्व में ज्वर नहीं, उसे टालना नहीं उसमें। आत्मभगवान, ज्ञानानन्द भगवान में बुखार कैसा? और जहाँ जन्म नहीं। सिद्ध को बुखार और जन्म नहीं, इसी तरह आत्मा को भी बुखार और जन्म नहीं। आहाहा! जरा की वेदना नहीं है, ... वृद्धावस्था होती है, उम्र होती है, चमड़ी ढीली पड़ती है, उठा नहीं जाता, मुँह में से पानी झरता है, आँख में झिपड़ा बहता है, कान में बहरापन होता है। आहाहा! ऐसी जरा की वेदना नहीं है। वृद्धावस्था की वेदना सिद्ध परमात्मा अशरीरी को नहीं है। इसी प्रकार इस भगवान आत्मा में भी जरा नहीं है। वह तो जड़ की अवस्था है। आहाहा! समझ में आया? वृद्धावस्था तो देह की है, आत्मा को है नहीं। सिद्ध को नहीं है, वैसे ही आत्मा को भी नहीं है। सत्य होगा? सबको हाँ कराते हैं। परन्तु तू न्याय तो देख तेरी अस्ति में। तू कोई अस्तिवाला, सत्तावाला पदार्थ है या नहीं? उस पदार्थ में क्या उसका स्वभाव है? उसका स्वभाव ज्ञान है, आनन्द है, शान्ति है, स्वच्छता है, प्रभुता है, अनीन्द्रियता—ऐसा उसका स्वभाव परिपूर्ण है। ऐसे परिपूर्ण स्वभाव में यह कहाँ? ऐसे भगवान में यह कैसा? आहाहा!

जिस प्रकार पानी में तेल पड़ा होने पर भी तेल तो ऊपर ही रहता है। अन्दर प्रवेश करता है? पानी तो स्वच्छ ही रहता है। ऊपर तेल की बूँद डालो तो भी ऊपर रहता है। पानी में प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार अनन्त बल का धनी भगवान पानीवाला, तेजवाला, उसमें यह संसार और रागादि प्रवेश नहीं करते। आहाहा! समझ में आया? इतना बड़ा आत्मा, इसे जँचता नहीं है। बीड़ी बिना चलता नहीं, तम्बाकू बिना चलता नहीं। जरा कुछ मान-अपमान में एक नाम से बुलावे, वहाँ शिथिल पड़ जाता है। अमुक भाई क्यों नहीं कहा? ऐसा क्यों कहा? पोपटभाई क्यों नहीं कहा? ऐसा क्यों नहीं कहा? पोपट! यह

क्या है ? इसमें मेरी हीनता क्यों दिखायी ? कि भाषा में महत्ता (नहीं रखी) । उसकी माँ पोपट कहे तो बाधा नहीं । नहीं ? परन्तु यदि जरा सा उसे... ऐसा यदि कोई कहे... (तो) यह क्या ? परन्तु कहाँ है तू पोपट और तू कहाँ है ?... कुछ है नहीं । आहाहा ! तुझमें जरा-फरा है नहीं ? शरीर ही नहीं है । फिर उसे शरीर की अवस्था कहाँ से लाना अन्दर ? ऐसा कहते हैं । आहाहा !

मृत्यु नहीं है,... उसमें जन्म डाला था, इसलिए मृत्यु नहीं । मरे कौन ? सिद्ध मरे ? सूर्य मरे ? आता है न ? इस सूर्य का किसी ने स्नान किया ? शाम को अस्त हो जाता है तो मर गया लगता है सूर्य, ऐसा कहा ? शाम को अस्त हो जाता है तो मर गया सूर्य । करो स्नान । यह जहाँ शरीर छूटे तो कहे, मर गया । करो स्नान । ऐसा है । मरे कौन ? समझ में आया ? सिद्ध मरते नहीं, द्रव्य मरता नहीं और द्रव्य की पर्यायवाला मरता नहीं । जीवितज्योति चैतन्यभगवान उसे मरना क्या ? आहाहा ! समझ में आया ?

उसे गति या अगति नहीं है, ... गति अर्थात् जाना और अगति अर्थात् गति में से वापस फिरना । ऐसा उन्हें नहीं है । सिद्ध को हो गयी, वह हो गयी गति, अब है नहीं । अब कहीं जाना-आना नहीं है । आहाहा ! इसी प्रकार इस आत्मा में भी गति-अगति । कहीं कोई गति में गया और उस गति में से आया, ऐसा आत्मा में नहीं है । ऐसे आत्मा को स्वीकार करनेवाले धर्मी को भी गति-अगति नहीं है । मनुष्यगति में समकिति है ? नहीं । देवलोक में जाता है ? नहीं । गजब ! भगवान चैतन्यप्रभु अनाकुल आनन्द का स्वरूप जिसका, उसमें जहाँ दृष्टि स्थापित हुई, वह कहाँ गति करे और कहाँ गति में जाए वापस ? जहाँ है, वहाँ है । आहाहा ! समझ में आया ?

उस तत्त्व को अति निर्मल चित्तवाले पुरुष,... देखो ! ऐसे तत्त्व को अतिनिर्मल चित्तवाले पुरुष शरीर में स्थित होने पर भी, ... है न ? ' ऽङ्गेऽपि ' श्लोक में था । तीसरे पद में । क्या कहना ? और कहते हैं कि शरीर में नहीं । समझाना किस प्रकार ? आहाहा ! शरीर में स्थित होने पर... अर्थात् क्षेत्र में ऐसा लगता है कि मानो इस शरीर में हैं । उसमें रहे होने पर भी गुण में बड़े ऐसे गुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से... आहाहा ! सन्त, महन्त, धर्मात्मा गुरु जिन्हें आत्मा की गुरुता प्रगट हुई है । जिन्हें अन्तर में भगवान ऐसा गुरु ज्ञानानन्द से भरपूर, ऐसी दशा में गुरु की गुरुता प्रगट हुई है । आहाहा ! गुरु की महत्ता

प्रगट हुई है। उस पदवी की महत्ता नहीं कहते? जरा सा दे वहाँ... आहाहा! क्या कहलाता है तुम्हारे? जे.टी.। पदवी आती है न जे.टी. की कि आहाहा! बहुत बड़ा है। उसे यह पदवी दी। उसे यह पदवी दी। पदवी ही कैसी? वहाँ कहाँ घुस गया था उस पदवी में? आहाहा!

कहते हैं गुण में बड़े ऐसे गुरु के... भाषा-व्याख्या ऐसी की है। गुण में बड़े ऐसे गुरु... अपने आत्मा की आनन्द की, ज्ञान की, धर्म की दशा-परिणति जिसे बहुत ऊँची हो गयी है, ऐसे गुण में बड़े। गुण शब्द से (आशय) उसकी पर्याय। वह तो गुण है, उसकी निर्मल पर्याय में स्वयं से ही बड़े अधिक हैं। ऐसे गुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से... क्योंकि ऐसे गुरु आत्मा की बात करते हैं। ऐसा आत्मा तू है, उसे मान, अनुभव कर। उनके उपदेश में यह होता है, कहते हैं।

मुमुक्षु : मीठाभाई की बात आयी, उनके जैसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहाँ आयी है इसमें? क्या कहा?

मुमुक्षु : मीठाभाई की बात तो उड़ा देने की है।

पूज्य गुरुदेवश्री :ऐसा करके उड़ा देने की। आहाहा!

महाप्रभु, ऐसी जिसे आत्मा की दशा में निर्मलता, जिसे गुरु अर्थात् बढ़ गयी है। उस पदवी में जो आये, गुण में गुरु हुए, उस पदवी में आये हुए, उनके चरणकमल की सेवा। लो! चरण अर्थात् पैर दबाना होगा? पाठ तो यह है। उनके समीप में उनने कहा, वैसा माना। समझ में आया? आहाहा! कहा न? कुन्दकुन्दाचार्य ने (कहा), हमारे गुरु अन्तर्निमग्न थे। आहाहा! उन्होंने हमारे ऊपर मेहरबानी की। प्रसादी, अनुग्रह करके प्रसादी दी है। समझ में आया? सत्यनारायण की कथा में आता है न? अन्त में क्या कहलाता है वह? प्रसादी। प्रसादी नहीं, दूसरा कुछ कहते हैं। प्रसाद। वह प्रसाद नहीं लिया तो... ऐसा उसमें आता है। अर्थात् क्या? वे सुननेवाले हों, वे ठेठ तक बैठें, ऐसे हेतु से। सत्यनारायण की कथा आती है न? हमने सुनी है। हमारे पालेज में। ब्राह्मण बोलते हैं। ऐसा कि यह प्रसाद लिये बिना अमुक बाई ने... कुछ नाम आता अवश्य है। लीलावती या ऐसा नाम। मैंने तो बहुत वर्ष पहले सुना था। यह तो बहुत वर्ष पहले की बात है। पालेज में सुना था। पालेज में। उसमें एक लड़का... उसने करायी थी सत्यनारायण

की कथा। उसमें इस प्रकार प्रसाद लिये बिना गयी (तो) उसका पति मर गया, उसका ऐसा हुआ, वैसा हुआ। जहाज डूबा, जहाज डूब गया। ऐसे गप्प-गप्प। वह प्रसादी यह। धर्मात्मा ने आत्मा की आनन्द की प्रसादी की है और उसे सुनकर धारण नहीं की, उसका जहाज डूबा, ऐसा कहते हैं। वह-धूल का यहाँ क्या काम? सत्यनारायण की कथा सुनी है न? वहाँ नागनेश में आती होगी। आहाहा! नारायण तो यह त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं सत्यनारायण, नर का नारायण हो, ऐसी इसमें ताकत है। ऐसे सत्यनारायण की कथा सुने बिना कोरा जाए तो उसका जहाज डूबे, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : बराबर फिट हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उस दिन सुनी हुई। जहाज डूबा, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : पत्ता हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्ता हो गया। जहाज में माल लेकर भरा था, वह पत्ता हो गया।

मुमुक्षु : क्या भरा था, उसका पत्ता हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : माल। माल भरा, उसका पत्ता हो गया। ऐई! देवीलालजी! सुना नहीं? कथा तो सुनने तो गये होंगे। किसी वैष्णव में होती होगी। आहाहा!

ऐसे गुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से... लो! इस शरीर में रहे परन्तु भगवान देव-गुरु की कृपा से और गुरु की सेवा से। आहाहा! लो! ठीक! उसे अनुभव... बापू! प्रभु! तेरा ऐसा आत्मा है। सिद्धसमान ही तेरा स्वरूप है। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो' यह सिद्ध की व्याख्या आती है, परन्तु तू सिद्धसमान ही है, ऐसा करके शरीर में अनुभव करता है। उसे सिद्धसमान का आनन्द आता है। भले थोड़ा हो। उसे यहाँ धर्मी कहा जाता है। टीका कहेंगे... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक - ३००

और (इस १०८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(मंदाक्रांता)

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालङ्कृते निर्विकल्पे—
ऽक्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किञ्चित् ।
नैवान्ये वा भवि-गुण-गणाः सन्सृतेर्मूलभूताः,
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ॥३००॥

(वीरछन्द)

अनुपम गुण समूह से शोभित निर्विकल्प शुद्धात्म में।
इन्द्रिय का अति विविध विषम वर्तन किञ्चित् नहीं आत्म में॥
तथा चतुर्गति के कारण संसारी गुण का पुञ्ज नहीं।
उसमें सदा प्रकाशित निजसुखमय बस एक मुक्ति पद ही॥३००॥

[श्लोकार्थः—] अनुपम गुणों से अलंकृत और निर्विकल्प ऐसे जिस ब्रह्म में (आत्मतत्त्व में) इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन किञ्चित् भी नहीं ही है, तथा संसार के मूलभूत अन्य (मोह-विस्मयादि) *संसारीगुणसमूह नहीं ही हैं, उस ब्रह्म में सदा निजसुखमय एक निर्वाण प्रकाशमान है।३००।

प्रवचन-२११, गाथा-१८१-१८२, श्लोक ३००-३०१, सोमवार, मगसर कृष्ण ११, दिनांक १३-१२-१९७१

नियमसार १८० गाथा का कलश है। ३०० कलश

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालङ्कृते निर्विकल्पे—
ऽक्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किञ्चित् ।

* मोह, विस्मय आदि दोष संसारियों के गुण हैं—कि जो संसार के कारणभूत हैं।

नैवान्ये वा भवि-गुण-गणाः सन्सृतेर्मूलभूताः,
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ॥३००॥

सिद्ध के गुण की व्याख्या है। ऐसे ही आत्मा के हैं। अनुपम गुणों से अलंकृत... भगवान आत्मा और सिद्ध, वह अनुपम गुणों से शोभावाला-अलंकृत है। उसका अलंकार अनन्त-अनन्त अनुपम गुण, वही उसका अलंकार है। आहाहा! समझ में आया? इस देह में जो चैतन्य भगवान आत्मा है, वह अनन्त अनुपम गुणों से शोभित है। जैसे शरीररहित परमात्मा शरीररहित अनन्त अनुपम गुण से शोभित है, उसी प्रकार यह भगवान आत्मा अन्दर अनन्त अनुपम गुण से अलंकृत है। समझ में आया?

एक प्रश्न उठा था न उस क्षायिक का। कि सिद्ध को तो क्षायिक है और यथाख्यात चारित्र है। आत्मा में कहाँ है समकिती को? तीनों में उतारा था न? ऐसा है कि आत्मा में अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों का भान होने पर स्वसंवेदन आत्मा की प्रतीति-अनुभव होने पर, जितने गुण हैं, उनके सब गुणों का अंश प्रगट हुआ। वास्तव में तो अघाति भी निमित्त है जिस गुण में, उस गुण का एक अंश प्रगट हुआ है। आहाहा! सर्व गुण हैं। भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त-अनन्त गुण के स्वभाव से भरपूर प्रभु आत्मा है। ऐसे अनन्त गुण का जहाँ अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर स्वीकार हुआ... समझ में आया? ऐसे अनन्त गुण के अस्ति की सत्ता का स्वीकार अर्थात् वह स्वयं ही उसकी पर्याय में अनन्त गुणों का अंश प्रगट हुआ और द्रव्य से देखें तो उन सिद्ध के आठ गुणों से अलंकृत आत्मा है।

यह आ गया है? ४७-४८ गाथा में यह आ गया है। सिद्ध जैसे ही आत्मा में आठ गुण अलंकृत हैं। वस्तु से अन्दर। समझ में आया? ४७-४८ गाथा। जैसे सिद्ध परमात्मा अशरीरी आत्म भगवान हैं, वैसा ही यह आत्मा सिद्ध के आठ गुणों से अलंकृत हैं। वे तो क्षायिक गुण हैं। समझ में आया? परन्तु उसके स्वभाव में वह सब पड़ा है, इसलिए उन सिद्ध समान ही भगवान आत्मा है। भारी! जँचना कठिन।

दूसरी बात। यह उनकी पर्याय में भी, अवस्था में भी अनन्त गुणों के जितनी संख्या से भाव, उनकी अंश शक्ति प्रगट हो गयी है। वह प्रगट हुई है, उसे एक नय से पूर्ण कहते हैं, तो भी कहा जा सकता है। समझ में आया? आहाहा! यह भगवान भी एक समय में

परिपूर्ण प्रभु 'पूर्णइदम्' ऐसा भगवान आत्मा अपना निजस्वभाव, उसमें जितनी सिद्ध को प्रगट हुई पर्याय, गुण, वे सब इसमें है। है न? पण्डितजी! आहाहा!

अरे! आत्मा की क्या बात? लोगों ने आत्मा क्या है, उसे ख्याल में नहीं लिया। यह आत्मा... यह (शरीर) तो हड्डियाँ, जड़, मिट्टी, धूल है। अन्दर में पुण्य और पाप के विकल्प होते हैं, राग, वह तो पर है। वह कहीं आत्मा में नहीं है। आहाहा! आत्मा तो अनन्त गुण के अनुपम गुण से अलंकृत है। जैसे सिद्ध भगवान भी अनन्त-अनन्त बेहद अपरिमित गुण की संख्या से प्रगट में अलंकृत और अनुपम है। ऐसा ही यह भगवान आत्मा (अलंकृत है)। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो।' आता है? सिद्ध में तो क्षायिक पर्याय है। इसमें यह और कहाँ डाला? आया था न उसमें? क्षायिकज्ञान और यथाख्यातचारित्र। यह और कहाँ इसमें डाला वापस? भाई! वस्तु से पूरा स्वभाव जहाँ स्वसन्मुख होकर पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, वह जहाँ अनुभव में और प्रतीति में आया, कहते हैं कि उसे सिद्धसमान सब गुण प्रगट हुए। भले आंशिक प्रगट हुए, परन्तु पूर्ण प्रगट हुए—ऐसा भी कहा जाता है। आहाहा! और अल्प काल में प्रगट होनेवाले हैं। आहाहा! जिसमें अनन्त-अनन्त बेहद ऐसे गुणों की संख्यावाला एक तत्त्व...

सवेरे भाई पूछते थे, परन्तु अभी आये नहीं। बवाणिया के थे न! वहाँ गुरुकुल में आये थे। सवेरे व्याख्यान में आये थे। सवेरे या दोपहर। नहीं बैठे थे यहाँ? बवाणिया। सम्भवतः ब्राह्मण हैं। वे पूछते थे कि आपकी बात सत्य है परन्तु वह किस प्रकार से हमें आत्मा को जानना? श्रीमद् ने ऐसा कहा कि 'जो स्वरूप समझे बिना...' ऐसा बोले थे। वहाँ बवाणिया के हैं न? यहाँ आये थे। भाई को ठीक नहीं है न, वहाँ गये होंगे, मनीभाई को ठीक नहीं है। अहमदाबाद गये। आहाहा!

अरे! भगवान! तू तुझे अनजाना रहे, यह तो विस्मय हो गया। स्वयं भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सत्शाश्वत् अनन्त गुण के सागर से भरपूर है। आहाहा! ऐसा कहते हैं कि इसकी शोभा ही ऐसे अनन्त गुण के कारण है। इस शरीर को शृंगार करते हैं न? गहने और यह और वह... अन्दर टीका-टपका करके। यह तो धूल-मिट्टी है, मुर्दा है। इसकी शोभा के लिये इसके अवयव इसे पूरते नहीं लगते। दूसरी कोई चीज़ डाले, ऐसे गहने... इसी प्रकार आत्मा अन्दर अलंकृत अपने गुण से शोभित है। उसे दूसरे की किसी की

आवश्यकता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इसने अनन्त काल से नहीं जाना हो तो एक अपना तत्त्व। बाकी सब इसने दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा अनन्त बार किये। कहो, समझ में आया? जैन का दिगम्बर साधु भी अनन्त बार हुआ। क्या हुआ उसमें? वस्तु क्या? अन्दर भगवान आत्मा परिपूर्ण चैतन्यनाथ, उसे जहाँ अनुभव में और उसकी दृष्टि में न आवे, तब तक धर्मी नहीं हो सकता। समझ में आया? आहाहा!

पहले शब्द में देखो न! **अनुपम गुणों से अलंकृत...** है। सिद्ध भी ऐसे हैं और यह आत्मा भी ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **निर्विकल्प...** भगवान तो निर्विकल्प है। राग का सम्बन्ध नहीं है। विकल्प जो रागादि, (उसके साथ) सम्बन्ध नहीं है। अभेद चीज़ है आत्मा। पूर्णानन्द प्रभु अभेद चीज़ आत्मा, **ऐसे जिस ब्रह्म में (आत्मतत्त्व में) इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन किंचित् भी नहीं ही है,...** आहाहा! सिद्ध को भी नहीं है। नहीं हुआ कैसे? नहीं था तो नहीं हुआ। आहाहा! अरे! इसका विश्वास, उसका अनुभव, वह तो अलौकिक चीज़ है, भाई! लोगों को उसकी कीमत नहीं है। यह बाहर की कीमत करे, स्त्री छोड़ी, पुत्र छोड़ा, वस्त्र छोड़े, नग्न हुआ और या बाहर में साधु हुआ, यह संयम। धूल में भी संयम नहीं है, सुन न! बाहर के वेष ऐसे पलटे वह तो जड़ के हैं। चैतन्य का वेष पलटे बिना... आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि **ऐसे जिस ब्रह्म में (आत्मतत्त्व में) इन्द्रियों का अति विविध...** भगवान सिद्ध में और आत्मा में **इन्द्रियों का अति विविध...** प्रकार। पाँच इन्द्रियाँ हैं न? **विविध और विषम वर्तन...** वह वर्तन स्वरूप में है ही नहीं। सिद्ध भगवान ऐसे हैं और यह आत्मा भी अनीन्द्रिय (ऐसा ही है)। समझ में आया? लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो बड़ी-बड़ी बातें हैं। भगवान! तेरी महिमा की क्या बात करना? तुझे इतना व्यवहार से गिनने में आवे, उतना उसमें है नहीं ऐसा वह। समझ में आया? आहाहा! सिद्ध को तो व्यवहार से आठ गुण गिने हैं। निश्चय से तो अनन्त गुण हैं। समझ में आया?

ऐसा ब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा ब्रह्मतत्त्व, आनन्दतत्त्व आत्मा में **इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन किंचित् भी नहीं ही है,...** आहाहा! अशरीरी भगवान सिद्ध को नहीं है, तो अशरीरी विकल्परहित आत्मा में भी वह नहीं है। इन्द्रियों का व्यापार विविध और विषम भगवान आत्मा अनीन्द्रिय में है नहीं। आहाहा! समझ में आया? **नहीं ही है,...** वापस ऐसा। विविध और अनेक प्रकार तथा विपरीत, ऐसा वर्तन जरा भी नहीं है।

संसार के मूलभूत अन्य (मोह-विस्मयादि) संसारीगुणसमूह नहीं ही हैं,... समझ में आया ? यह संसारी गुण । आहाहा ! विस्मय, जरा, राग और द्वेष, पुण्य और पाप, ये सब संसारी गुण हैं । संसार को पुष्ट करनेवाले हैं । भटकने को पुष्ट करनेवाले हैं । आहाहा ! कहो, समझ में आया ? यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा का विकल्प, वह राग है, वह संसारी गुण है । आहाहा ! भारी कठिन काम, भाई ! ऐई ! मोहनभाई ! उसकी जाति को जानी नहीं और जाति में क्या है, उसकी भात उसने डाली नहीं । खोटी भात डाली है । राग, द्वेष और पुण्य-पाप, ये सब संसारी गुण हैं । आहाहा ! गजब बात है या नहीं ? ऐसा भगवान आत्मा... कहते हैं । (मोह-विस्मयादि) शब्द गाथा में आया न ? वह इसमें नहीं है । आहाहा ! होवे तो छूटे नहीं । नहीं है, इसलिए छूट जाता है । और आत्मा जैसा परमात्मा है, वैसा हो जाता है । आहाहा !

उस ब्रह्म में सदा निजसुखमय एक निर्वाण प्रकाशमान है । सिद्ध को निर्वाण है । शान्ति पूर्ण हो गयी, वह निर्वाण । इसी प्रकार आत्मा में भी सदा निज सुखमय, आत्मा आनन्दमय है । निज सुख अतीन्द्रिय सच्चिदानन्द आनन्द उसका स्वभाव है । अतीन्द्रिय आनन्द ऐसा उसका गुण है । ऐसे गुणमय एक निर्वाण, एकरूप स्वभाव निर्वाण, जिसमें शान्ति पड़ी है । ऐसा आत्मा है । आहाहा ! गजब बात, भाई ! यह मूल आत्मा की बात छोड़कर दूसरी सब बातें । वह कहा न कि संयम । कल बोले थे न ? यह वस्त्र छोड़कर बैठे, जरा स्त्री, पुत्र छोड़कर । हमने संयम लिया । धूल भी नहीं है, सुन न ! यह बाहर की चीज़ कहाँ अन्दर घुस गयी थी, उसे छोड़ा ? तूने माना था कि मैं अल्पज्ञ और राग-द्वेषवाला हूँ । यह छोड़ना चाहिए । मैं सर्वज्ञ और वीतरागमूर्ति हूँ, ऐसी मान्यता द्वारा अल्पज्ञ और राग-द्वेष होवे, उसे छोड़ना चाहिए । वह तो छोड़ा नहीं और बाहर का छोड़कर बैठा । हम हो गये साधु । धूल भी नहीं है, कहते हैं । आहाहा ! समझ में आया ? भारी काम भाई ऐसा ।

अरे ! तेरी महिमा की क्या बात करना ! प्रभु ! तू बड़ा कैसा ? कि वाणी में न आवे ऐसा । विकल्प के राग में, प्रशस्त राग में न आवे । अरे ! उसमें तो न आवे परन्तु एक समय की पर्याय में पूरा रूप न आवे । आहाहा ! समझ में आया ?

कहते हैं, भगवान ब्रह्मस्वरूप प्रभु और सिद्ध ब्रह्मस्वरूप सदा निजसुखमय... त्रिकाल आनन्दमय है । आहाहा ! निज सुखमय, ऐसा । सुखवाला, ऐसा नहीं । निज

सुखमय। अभेद है। आहाहा! अरे! इसका स्वीकार, उसकी दृष्टि, उसकी कीमत क्या है! कहते हैं। समझ में आया ?

एक निर्वाण प्रकाशमान है। मोक्षस्वरूप ही प्रकाशमान आत्मा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! बाहर से पाँच-पच्चीस लाख मिले, बँगला मिले, स्त्री मिले, पुत्र मिले, कुछ (तो मानता है कि) हम सुखी हैं। मूढ़ है। जहर का प्याला पीकर अमृत है, ऐसा मानता है। समझ में आया ? अन्दर का निर्विकल्प आनन्द, उसे भूलकर यह सब आनन्द है, हमको मजा है। हमारा उत्साहित वीर्य, प्रफुल्लित वीर्य होता है। अरे! भगवान! वह तो जहर की सोजिस है। समझ में आया ? क्या होगा इसमें त्रम्बकभाई ? यह सब पैसेवाले बड़े कहलाते हैं। ऐई! करोड़पति, दो करोड़पति, पाँच करोड़पति। जड़ के पति! चैतन्य के पति हुए बिना उसकी शान्ति मिले ऐसा नहीं है। आहाहा! एक निर्वाण... निर्वाण... निर्वाण... निर्वाण की शान्ति की है। कषायभाव बुझ गया है। निर्वाण अर्थात् कषायभाव बुझ गया है और अकषायभाव प्रगट हुआ है। समझ में आया ? उसे निर्वाण कहने में आता है। भगवान भी अकषायभावस्वरूप ही है। कषायभाव का उसमें अभाव है, इसलिए आत्मा भी... प्रकाशमान निर्वाण (स्वरूप है)। जिसके स्वीकारमात्र से शान्ति आवे, उसकी पूर्ण प्रगटता की शान्ति की क्या बात करना ! समझ में आया ? यह १८० का कलश हुआ।

गाथा-१८१

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।

णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे ।

नापि धर्मशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१८१॥

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । सदा निरञ्जनत्वान्न द्रव्यकर्माष्टकं, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वान्न नोकर्मपञ्चकं च, अमन-स्कत्वान्न चिन्ता, औदयिकादिविभावभावानामभावादारौद्रध्याने न स्तः, धर्मशुक्लध्यान-योग्यचरमशरीराभावान्तद्वितीयमपि न भवति । तत्रैव च महानन्द इति ।

रे कर्म नहिं नोकर्म, चिंता, आर्त-रौद्र जहाँ नहीं ।

है धर्म-शुक्ल सुध्यान नहिं, निर्वाण जानो रे वही ॥१८१॥

अन्वयार्थ : [न अपि कर्म नोकर्म] जहाँ कर्म और नोकर्म नहीं है, [न अपि चिन्ता] चिन्ता नहीं है, [न एव आर्तरौद्रे] आर्त और रौद्रध्यान नहीं हैं, [न अपि धर्मशुक्लध्याने] धर्म और शुक्लध्यान नहीं हैं, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (अर्थात् कर्मादिरहित परमतत्त्व में ही निर्वाण है) ।

टीका : यह, सर्व कर्मों से विमुक्त (-रहित) तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध ध्यान तथा ध्येय के विकल्पों से विमुक्त परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है ।

(परमतत्त्व) सदा निरञ्जन होने के कारण (उसे) आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं; तीनों काल निरुपाधिस्वरूपवाला होने के कारण (उसे) पाँच नोकर्म (-शरीर) नहीं है; मन रहित होने के कारण चिन्ता नहीं है; औदयिकादि विभावभावों का अभाव होने के कारण आर्त और रौद्रध्यान नहीं हैं; धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर का अभाव होने के कारण वे दो ध्यान नहीं हैं । वहीं महा आनन्द है ।

गाथा - १८१ पर प्रवचन

१८१ (गाथा)

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुदाणि ।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

रे कर्म नहीं नोकर्म, चिंता, आर्त-रौद्र जहाँ नहीं ।
है धर्म-शुक्ल सुध्यान नहीं, निर्वाण जानो रे वही ॥१८१॥

वैसे तो निर्वाण कहा । अन्दर परमतत्त्व डाला । दोनों व्याख्या है ।

टीका : यह, सर्व कर्मों से विमुक्त (-रहित)... सर्व कर्म जड़ और भाव से रहित तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध ध्यान तथा ध्येय के विकल्पों से विमुक्त... शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान । यह ध्यान और ध्येय के भेद से विकल्प से मुक्त परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है । परम तत्त्व सिद्ध भगवान अशरीरी हुए वे और परम तत्त्व यह भगवान आत्मा, दोनों का कथन है । आहाहा ! परन्तु यह होली वापस कहाँ से उपाधि आयी । हैं ! नेमिनाथभाई ! कितनी व्यवस्था में रुकना... आहाहा ! यह करना और यह करना और यह करना... चतुर व्यक्ति होवे तो व्यवस्था से काम ले न ?

मुमुक्षु : पर का (काम) लिया है ही कहाँ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं लिया जाता, सुन न ! चतुर किसे कहना ? बाहर के काम की व्यवस्था में चतुर (माने), वह तो मूढ़ है । आहाहा ! भगवान आत्मा ! नेमिदासभाई ! अकेले को उपाधि कितनी ? क्या करना इस मकान का ? यह सब डालना कहाँ ? कैसे करना ? कितनी चिन्ताएँ आती हैं अन्दर, लो ! सब समरूपता रखनी चाहिए । जरा हाथ में भी रखे । नहीं तो फिर कोई सेवा नहीं करेगा । यह सब उपाधि कितनी ? ऐई ! पोपटभाई ! आहाहा ! भाई ! तेरे हाथ में तो अनन्त गुण का हीरा है । समझ में आया ? वह तेरे हाथ में तेरी चीज़ है । यह तो धूल भी तेरी चीज़ नहीं है । आहाहा ! नहीं, वहाँ उलझा है; है, वहाँ देखता नहीं । पोपटभाई ! आहाहा !

सदा निरंजन होने के कारण... सिद्ध भगवान तो सदा निरंजन हैं। उसी प्रकार यह आत्मा भी त्रिकाल निरंजन है। आहाहा! **सदा निरंजन...** है न? तीनों काल भगवान राग के अंजन और मैल से रहित प्रभु है। निरंजन नाथ। अंजन-अंजन, नि-अंजन। पुण्य और पाप के विकल्प अंजन अर्थात् मैल अर्थात् कालिमा है। उनसे (रहित) भगवान आत्मा निरंजन है। आहाहा! समझ में आया? **सदा निरंजन...** तीनों काल, प्रभु! तेरी जाति में तो निरंजनता है। अंजन अर्थात् मैल। आँख में अंजन लगाते हैं न? तब उस अंजन से फिर शोभा देता है, ऐसा कहते हैं। उस अंजन से अशोभता है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा कहते हैं। अंजन लगाते हैं छोटे लड़के को सवेरे लगाते हैं न! काली लगे, अच्छी लगे। ऐसे चिकनी लगे चिकनी और शोभे। यहाँ कहते हैं कि अंजन से आत्मा अशोभता है। वह तो निरंजन से शोभता है। आहाहा!

सदा निरंजन होने के कारण... तीनों काल सिद्ध भगवान और आत्मा निरंजन है। **आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं;**... वह आठ कर्म नहीं। कर्म, कर्म में है। वह तो जड़ है। जड़ जड़ में, आत्मा आत्मा में। आत्मा में कर्म कैसे? भारी कठिन। सब वर्णन किया। आठ कर्मसहित है। अरे! त्रिलोकनाथ तो ऐसा कहते हैं कि आठ कर्म के कारण जीव भटका है। लो! यह ऐसा कहते हैं। ऐई! (संवत्) २००६ के वर्ष में वहाँ पालीताणा... २२ वर्ष हुए। प्रतापभाई, केसा, प्रताप न? जीवाप्रताप। यह आया लेकर। ...खबर है। हों! ऐसा कहते हैं ऐसा। तुम पुण्य-पाप नहीं मानते। कर्म के कारण भटकता है। भगवान ऐसा कहते हैं कर्म के (कारण भटकता है)। तुम कहते हो, कर्म के कारण नहीं। वह अपनी भूल के कारण भटकता है। ऐसा नहीं है। भगवान ने ऐसा नहीं कहा। अब ऐसा विवाद। अर..र..र..! तू यह क्या करता है? तू भूला और भूल कर्म के ऊपर डाले, ऐसा अन्याय करनेवाले को आत्मा का स्वरूप प्राप्त कैसे होगा? आहाहा!

कहते हैं कि तू तो आठ कर्मरहित है। वस्तु आत्मा आठ कर्मरहित है। कर्म तो जड़ है। भगवान तो चैतन्यमूर्ति आत्मा है। उसमें अन्दर कर्म कैसे। आहाहा! यह विवाद उठा। ऐई! चेतनजी!

मुमुक्षु : अनन्त उपकारी....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त उपकारी ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा था, हों! 'अनन्त उपकारी जिनराज ऐसा कहते हैं कि आठ कर्म के कारण भटका है। तुम उसका विरोध करते हो।' कर्म के कारण भटका नहीं, अपने स्वरूप को नहीं जाना, नहीं माना, नहीं पहचाना; इसलिए भटका है। 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' कर्म-बर्म कोई भटकाता नहीं है। 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' यह तो एक सादी बात है, लो! और इसमें भी विवाद। अरे! भगवान! कहाँ लेकर बैठा? भाई! तू विवादादरहित चीज़ है न, नाथ! यह विवाद के विकल्प तुझे शोभा देते हैं? भाई! आहाहा! यह निरंजन निराकार ब्रह्म प्रभु सदा आठ कर्म से रहित है। तीनों काल निरुपाधिस्वरूपवाला होने के कारण (उसे) पाँच नोकर्म (-शरीर) नहीं है;... आहाहा! शरीर नहीं, मन, भाषा भी उसे नहीं। भगवान आत्मा में भाषा और मन है नहीं। वह तो भिन्न है। चैतन्यमूर्ति अरूपी आनन्दघन है। समझ में आया?

अरे रे! इसके घर की बातें सुनने को मिलती नहीं और पर घर की माँडकर बैठता है। आहाहा! उसके भटकने का अन्त कब आयेगा? बाहर का उत्साह। आहाहा! पुत्र का विवाह होता हो, पाँच-पचास लाख की पूँजी हो और पाँच लाख खर्च करना हो। देखो! फिर मैं चौड़ा और गली सकड़ी। सौ मोटरें तैयार करना। सगे-सम्बन्धी को कहता है। एक साथ बड़ी शोभायात्रा निकालनी है। जितने अपने सगे-सम्बन्धी या आढ़तिया और सबके (लिये) मोटर लाना। रात्रि में भाई की शोभायात्रा निकालनी है। अब चौरासी में भटकने को जाता है न। आहाहा! देखो! यह इसका उत्साह। अरे! तुझे चैतन्यमूर्ति भगवान, इसके ऐसे गुण, कर्मरहित चीज़ में आरूढ़ होने का तुझे उत्साह नहीं आता और इसमें उत्साह आता है। आहाहा! इसने सच्चे तत्त्व को नहीं जाना, नहीं माना, इसलिए इसका अर्थ कि इसने सच्चे तत्त्व को मार डाला है। स्वीकार नहीं किया। आहा! यह जिविया ववरोविया है। मिच्छामि पणिक्कमणु आता है या नहीं? पोपटभाई! किया था? या नहीं किया होगा? गुलाबचन्दभाई ने नहीं किया होगा। सामायिक में नहीं आता? सामायिक में। पहला णमो अरिहन्ताणं, पश्चात् तिक्खुत्तो। पश्चात् ईरिया वहियाए, पश्चात् तस्सउत्तरी, पश्चात् लोगस्स, पश्चात् करेमिभन्ते, पश्चात् णमोत्थुणं। सात पाठ आते हैं। तुमने किये थे या नहीं? नहीं। आहाहा!

तीनों काल निरुपाधिस्वरूपवाला होने के कारण... इसमें भाषा, मन और शरीर

नहीं है। मन रहित होने के कारण चिन्ता नहीं है;... भगवान आत्मा में मन कहाँ है ? इसी प्रकार सिद्ध को मन कहाँ है ? मन होवे तो चिन्ता हो। आहाहा ! किसकी चिन्ता ? समझ में आया ? भगवान आत्मा निश्चिन्त स्वरूप है। ऐसा तेरा तत्त्व अनादि का ऐसा है। परन्तु माना नहीं। माना नहीं। मान्यता अन्यत्र कर दी है। आहाहा !

औदयिकादि विभावभावों का अभाव होने के कारण... कलश में तो स्पष्ट सिद्ध ही लेंगे। कलश में लेंगे। कहते हैं कि सिद्ध भगवान में उदय, उपशमादि है नहीं। इसी प्रकार आत्मा में यह उदय, उपशमादि अन्दर कुछ है नहीं। वह तो क्षायिकभाव भी आत्मा में नहीं है। आहाहा ! क्षायिकभाव को भी एक स्वद्रव्य की पूर्ण अखण्डता की अपेक्षा से एक अंश दशा को भी परद्रव्य कहकर, परभाव कहकर हेय सिद्ध किया है। आहाहा ! इसकी नजरों में ऐसा आत्मा है, ऐसा जब तक न आवे, तब तक इसे आत्मज्ञान और दर्शन नहीं होता। आहाहा ! भाई, सवेरे पृच्छते थे। अब क्या करना, कहते थे।तो है। ...बराबर इसे समझ चाहिए। जिस प्रकार है, उस प्रकार से ज्ञान करना। ज्ञान आ करके अन्दर ढले तब, अनुभव होता है। यह तो सिद्ध को जिस प्रकार से व्यवहार-व्यवहार विकल्प से लक्ष्य में, श्रद्धा में, विश्वास में लेना चाहिए, उस प्रकार से न आवे, तब तो अन्तर में उसका जवाब नहीं आता। अन्तर का जवाब अर्थात् ? वह अन्तर्मुख नहीं हो सकता। समझ में आया ?

राग-द्वेष का विभावभावों का अभाव होने के कारण... यह सिद्ध की व्याख्या है। इसलिए क्षायिकभाव का अभाव नहीं... आर्त और रौद्रध्यान नहीं हैं;... इसी तरह चैतन्यमूर्ति भगवान परमतत्त्व आत्मा, उसे आर्त और रौद्र, विरुद्ध विकारी भाव का ध्यान, वह स्वरूप में है नहीं। यह धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर का अभाव होने के कारण... लो ! धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरमशरीर का अभाव होने से वे दो ध्यान नहीं हैं। समझ में आया ? उसमें मन नहीं, इसलिए चिन्ता नहीं। समझ में आया ? निरंजन होने के कारण कर्म नहीं। सदा निरुपाधि होने के कारण पाँच नोकर्म नहीं। यह न्याय दिये हैं। औदयिकादि का अभाव होने के कारण ध्यान नहीं है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर का अभाव होने के कारण वे दो ध्यान नहीं हैं। वहीं महा आनन्द है। आत्मा की मोक्षदशा, सिद्धदशा, वहाँ आनन्द है और

इस आनन्द का धाम भगवान स्वयं है। वह आनन्द कहीं बाहर से नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, उसका स्वीकार होने पर जो आनन्द पर्याय में प्रगट होता है, उसे धर्म कहते हैं और उसकी पूर्ण आनन्ददशा प्रगट हो, उसे सिद्ध कहते हैं। आहाहा!

मनुष्य ने साग-भाजी की कीमत की है परन्तु आत्मा की कीमत नहीं की। आहाहा! करेला अच्छा आया हो और घी में कड़क किये हों और उसमें आम का रस तथा रोटी खाता हो तो... आहाहा! मानो यह क्या आया? धूल भी नहीं, सुन न! ये विषय सुख का कारण है? यह अकिंचित् है। तूने कल्पना की है कि यह ठीक है, वह तो तेरी कल्पना का विषय हुआ। समझ में आया? प्रवचनसार में आता है न? विषय क्या करे? यह तो प्रवचनसार में। विषय क्या करे? विषय तो अकिंचित्कर है। तेरी कल्पना तूने मानी है कि यह मुझे ठीक है, यह तेरा भाव रुका हुआ, वह तेरा भाव है। दूसरे के कारण कुछ नहीं है। कल्पना से तूने माना है कि यह अच्छा। आहाहा! स्त्री में सुख है, इज्जत में सुख है। शरीर सुन्दर, रूपवान, गोरा मक्खन जैसा, उसे स्पर्श करने में सुख है। इन विषयों ने कहीं तुझे सुख की कल्पना नहीं करायी है तथा उसमें विषय का सुख है भी नहीं। तूने कल्पना से ऐसा माना है कि उसमें ऐसा है। वह तो तेरा विषय, उसमें परविषय क्या करे? आहाहा! पर को विषय बनाकर तूने कल्पना की है। स्व को विषय बनाकर निर्विकल्प (अनुभव) करे, वह सुख का कारण है। समझ में आया? आत्मा, आत्मा माना।

वहीं महा आनन्द है। जहाँ शुक्लध्यान और धर्मध्यान भी नहीं है, ऐसा कहते हैं। वहाँ महा आनन्द है। शुक्लध्यान हो, वहाँ भी अभी पूर्ण आनन्द नहीं है। अव्याबाध आनन्द नहीं है। लो! समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा में महा आनन्द है। आती है न यह बात? कितने ही गुण समकित आदि प्रगट हुए, उतना तो योग का भी अभाव हुआ है। उस प्रकार का (अभाव हुआ है)। भाई! आता है न? अनन्तानुबन्धी जहाँ गयी, मिथ्यात्व गया तो उतना उस सम्बन्धी का योग भी गया है। बात सत्य है। आहाहा! ऐसे तो गया, परन्तु वास्तव में जितने चार अघातिकर्म हैं, उनका अंश भी गया है। पूरा आत्मा पूरे गुण का पिण्ड जहाँ निर्मल की पर्याय में आया, (वहाँ) अव्याबाध आदि पर्याय का अंश तो आया है। समझ में आया? क्या कहा जाता है यह?

कहते हैं कि अघातिकर्म के निमित्तवाले जो गुण हैं न? अवगुण। उनका भी किंचित् अंश में तो सम्यग्दर्शन होने पर योग का गुण भी वहाँ एक अंश निर्मल हुआ है, उस सम्बन्धी का। मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी का... इतना तो अघाति के जो निमित्तवाले गुण, उनका आंशिक तो शुद्ध हुआ है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में केवलज्ञान का अंश प्रगट होता है, वह अभी स्वीकार करना उसे कठिन पड़ता है। केवलज्ञान तो पूर्ण स्वरूप अखण्ड है। वह क्षायिक है, इसलिए उसमें टुकड़ा कैसे... अरे! भगवान! विवाद है न! आहाहा! पूरी चीज़ में और यह अंश कौन सा? अरे! प्रभु! वह तो अंश है, वह इसका है, भाई! वह तो पूर्ण प्रगट नहीं हुआ, इसलिए उसी घातिकर्म का निमित्त कहने में आता है। आहाहा! अनन्त गुणों में यह एक अंश शामिल आया या नहीं?

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है न? अनादि का जो क्षयोपशम का अंश है, वह भी बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा वहाँ लिया है। वह इसकी जाति का है। आहाहा! भले स्वलक्ष्यी न हो, परन्तु उघाड़ तो है न? उघाड़ का अंश कहीं बन्ध का कारण है? परन्तु पूरा आत्मा है, उस दृष्टि का जहाँ भान हुआ, वहाँ उसके परिणाम सब अबन्ध परिणाम ही हुए हैं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? थोड़े परिणाम बन्ध के रहे, वे पृथक् में रहे हैं। इसलिए उसे सिद्धसमान की पर्याय हुई, ऐसा भी कहा जाता है। आहाहा! गजब बात है न इसकी! यह करोड़, दो करोड़ हो, वहाँ अरबपति का वह फुदक्का मारे कि अब अरबपति होना है, अब हमारे ऐसा होना है, हमारे ऐसा होना है। वहाँ उसका उत्साह। नहीं है, उसे भी मानो लाया और आ जाएगा, ऐसा माने। इसी प्रकार भगवान पूर्णानन्द प्रभु, कहते हैं कि जहाँ महा आनन्द है, उसकी जहाँ अन्तर में स्वीकार दशा हुई, उस पर्याय में भी महा आनन्द प्रगट होता है। आहाहा! सिद्ध को महा आनन्द पूर्ण है।

श्लोक - ३०१

[अब, इस १८१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

निर्वाणस्थे प्रहत-दुरित-ध्वान्त-सङ्गे विशुद्धे,
कर्माशेषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम् ।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परम्ब्रह्मणि ज्ञानपुञ्जे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥३०१॥

(वीरछन्द)

जो निर्वाण धाम में स्थित पाप तिमिर का लेश नहीं ।
जो विशुद्ध उन परम ब्रह्म में कर्म प्रकृति नहीं किञ्चित् भी ॥
सिद्धरूप उन ज्ञानपुञ्ज में किञ्चित् रहें न चारों ध्यान ।
उनमें ऐसी कोई मुक्ति है मन-वच का नहीं नाम निशान ॥३०१॥

[श्लोकार्थः—] जो निर्वाण में स्थित है, जिसने पापरूपी अन्धकार के समूह का नाश किया है और जो विशुद्ध है, उसमें (उस परमब्रह्म में) अशेष (समस्त) कर्म नहीं है तथा वे चार ध्यान नहीं हैं । उस सिद्धरूप भगवान् ज्ञानपुंज परमब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है कि जो वचन और मन से दूर है ॥३०१॥

श्लोक - ३०१ पर प्रवचन

[अब, इस १८१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

निर्वाणस्थे प्रहत-दुरित-ध्वान्त-सङ्गे विशुद्धे,
कर्माशेषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम् ।

तस्मिन्सिद्धे भगवति परम्ब्रह्मणि ज्ञानपुञ्जे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥३०१॥

आहाहा! शब्द कम पड़ते हैं न?

श्लोकार्थ : जो निर्वाण में स्थित है,... जो आत्मा की शान्ति-पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई है, उसमें—निर्वाण में स्थित है। जिसने पापरूपी अन्धकार के समूह का नाश किया है... यहाँ तो पुण्य और पाप दोनों पाप है। ऐसे पुण्य और पाप के भाव का जिसने नाश किया है। वे अन्धकार हैं, कहते हैं। देखो भाषा! चैतन्य के प्रकाश के समक्ष वे पुण्य और पाप के दोनों भाव वे अज्ञान और अन्धकार हैं। समझ में आया? 'प्रहतदुरित' उसका जिसने नाश किया है। अरे! ज्ञान भगवान के समक्ष अज्ञान अन्धकार कैसे रहे? सूर्य का प्रकाश हो और अन्धकार रहे, ऐसा नहीं होता।

'लालन' दृष्टान्त नहीं देते थे? कि अन्धकार और प्रकाश दोनों होकर अन्धकार ने फरियाद की कि वह मुझे रहने नहीं देता। कहे, आना दोनों इकट्ठे होकर, न्याय दूँगा। परन्तु सूर्य आवे, वहाँ अन्धकार नहीं होता और अन्धकार हो, वहाँ सूर्य नहीं होता। इकट्ठे कब हों? अन्धकार ने फरियाद की कि यह सूर्य मुझे बाधा ही करता है। हमारा नाश कर डालता है। जरा आप न्याय दो, न्याय। दोनों कोर्ट में इकट्ठे होकर आना। मेरे पास आना तो सही इकट्ठे होकर। इकट्ठे किस प्रकार हों? आहाहा! जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं है। वहाँ इकट्ठे किस प्रकार हों? ऐसा आता है। लोग बातें करते हैं।

यहाँ तो भगवान केवलज्ञान का नाथ... आहाहा! उसके चैतन्य प्रकाश के नूर के समक्ष उस चैतन्य के प्रकाश के पूर के प्रवाह के समक्ष पुण्य का-पाप का अन्धकार का तो नाश हो जाता है। कहो, भीखाभाई! ऐसा आत्मा। अब उसमें पाँच-पचास हजार मिले, लाख-दो लाख मिले तो ऐसा हो जाता है कि आहाहा! मुझे बाहुबल से प्राप्त हुए हैं, नहीं थे और प्राप्त हुए हैं। बापू कुछ नहीं रख गये थे और हमने बाहुबल से कमाये हैं। ऐसा करके पिता को हल्का ठहराया। ऐई! मलूकचन्दभाई! कहा था एक बार। खबर है? अहमदाबाद में कहा था। बापू ने कहाँ पैसे का धञ्जका देखा है। थञ्जका नहीं, शब्द कुछ (दूसरा) था। क्या था? वह कुछ था। इन्होंने रस कहाँ देखा है? ऐसा कहा था। उनके पास कितने हों, पचास हजार, लाख, दो लाख दिये अभी। पैंतीस-चालीस हजार उसके

पिता के पास थे। भाई सब शामिल गिने जाते हैं। आहाहा! लड़के करोड़पति हुए तो कहे, यह तो पिता ने पैसे का रस कहाँ देखा है। हमने उसका रस देखा है। आहाहा! जहर का रस है। आहाहा! गजब (बात)! परन्तु दुनिया से भारी उल्टा, हों! आहाहा!

कहते हैं, निर्वाण परमात्मस्वरूप ऐसे चैतन्य के प्रकाश में जो स्थित है। जिसने पाप और पुण्य के अज्ञानरूपी अन्धकार के समूह का नाश किया है। और जो विशुद्ध है,... लो! यहाँ तो विशुद्ध निर्मलता के (अर्थ में) है। विशुद्ध। शुभभाव को भी विशुद्ध कहा जाता है, शुद्ध को भी विशुद्ध कहा जाता है। पूर्ण शुद्ध, वि-शुद्ध—विशेष पूर्ण शुद्धता जिन्हें प्रगट हुई, ऐसे परमात्मा सिद्ध, उसमें (उस परमब्रह्म में) अशेष (समस्त) कर्म नहीं है... कोई कर्ममात्र नहीं है। आहाहा! और कर्म नहीं है तो कर्म के कारण से होनेवाले भाव भी नहीं है। वे वे चार ध्यान नहीं हैं। वे आये न? तत् को? तत्चतुष्टय न, उसमें। वे चार ध्यान नहीं हैं। आर्त, रौद्रध्यान नहीं है। समझ में आया? पहले चर्चा होती थी, प्रतिक्रमण में आता है न? पडिक्कमामि चऊहिं जाणेहि पडिक्कमामि चऊहिं ज्ञाणेहि—चौथे श्रमणसूत्र में आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान। पहले चार ध्यान से कैसे विमुख हो? अरे! परन्तु चारों ध्यान से विमुख हो, तब पूर्ण होता है। ऐई! पडिक्कमणा चौथे सूत्र में। श्रमणसूत्र में पडिक्कमामि चऊहिं जाणेहि... चिल्लाहट मचाते हैं।

मुमुक्षु : यह तो उनकी पुस्तक में से।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें सूत्र है, परन्तु उसका अर्थ करने में चिल्लाहट करते थे। यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों! पचास वर्ष (हुए)। पडिक्कमामि चऊहिं ज्ञाणेहिं, यह आता है या नहीं? शुक्लध्यान से वापिस फिरना? पडिक्कमणा से वापिस फिरना, ऐसा इसका अर्थ है। उसका अर्थ ही यह है कि चार ध्यान मुझमें नहीं है। मैं तो अखण्डानन्द एकरूप हूँ। समझ में आया? श्रमणसूत्र में आता है, स्थानकवासी में आता है, मन्दिरमार्गी में नहीं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : शुक्लध्यान का दोष लगा होगा? उसका अर्थ ही यह है। बात तो ऐसी ही है। ऐसा कि चार ध्यान का दोष लगा तो शुक्लध्यान... शुक्लध्यान तो तुझे नहीं है। और वह शुक्लध्यान ही स्वयं अधूरा है। वह मेरा पूर्ण स्वरूप नहीं है। समझ में आया?

उस सिद्धरूप भगवान ज्ञानपुंज परमब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है... सिद्धरूप भगवान अशरीरी प्रभु हुए, ऐसे भगवान ज्ञानपुंज परमब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है कि जो वचन और मन से दूर है। वचन और मन के विकल्प से भी दूर है। ऐसी मुक्ति को मोक्ष कहते हैं। समझ में आया ? वचनातीत, विकल्पातीत, मन से रहित—ऐसी पूर्ण आनन्द की दशा, पूर्ण ज्ञानपुंज की प्रगट दशा को मुक्ति कहा जाता है। यहाँ तो कहे, बैकुंठ में जाए, वहाँ तुमको भगवान मिलेंगे, उनकी सेवा करना। अभी यहाँ इसे नौकर रहना है। ऐसे के ऐसे। मुक्ति की खबर भी नहीं होती और वहाँ फिर तुमने हमारे साधु को, पड़गाह, लड्डू दिये होंगे, वहाँ तुम्हें लड्डू मिलेंगे। अभी इसे शरीर, उसे थाली, इसे लड्डू और ऐसी मुक्ति बैकुण्ठ की। गप्प ही गप्प मारी है न। आहाहा! (यहाँ) तो मुक्ति अर्थात् परम आनन्द की तेरी दशा, इसका नाम मुक्ति कहा जाता है। आहाहा! वहाँ फिर भगवान के पास जाए और भगवान की सेवा करे, वहाँ तो अभी नौकर रहा।

मुमुक्षु : भगवान को सेवा की आवश्यकता क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को शरीर नहीं तो सेवा किसकी करे ? भगवान तो शरीर रहित है। आहाहा! परन्तु भारी गप्प मारी है। लोगों को बेचारों को कुछ खबर नहीं होती। अन्धानुकरण... 'अन्धो अन्ध पलाय...' आता है न ? सूयडगडांग में आता है। अन्धा दिखानेवाला, अन्धा चलनेवाला, दोनों गिरे गड्ढे में। ऐसा भगवान आत्मा, उसकी मुक्ति कोई अलौकिक मन और वचन से पार है। वहाँ फिर शरीर और उसे सेवा, और ऐसा होता नहीं। यह अज्ञानियों ने कल्पित करके रचना की है। आहाहा! यह १८१ हुई।

गाथा-१८२

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
 केवल-दिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८२॥
 विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यम् ।
 केवल-दृष्टि-रमूर्तत्व-मस्तित्वं सप्रदेशत्वम् ॥१८२॥

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत् ।

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारस्वात्माश्रयनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणाद्यष्टविध-
 कर्मविलये जाते ततो भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्य-
 मूर्तत्वास्तित्वसप्रदेशत्वादिस्वभावगुणा भवन्ति इति ।

दृग् ज्ञान केवल, सौख्य केवल और केवल वीर्यता ।
 होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्ति-विहीनता ॥१८२॥

अन्वयार्थ : [केवलज्ञानं] (सिद्ध भगवान को) केवलज्ञान, [केवलदृष्टिः]
 केवलदर्शन, [केवलसौख्यं च] केवलसुख, [केवलं वीर्यम्] केवलवीर्य, [अमूर्तत्वम्]
 अमूर्तत्व, [अस्तित्वं] अस्तित्व और [सप्रदेशत्वम्] सप्रदेशत्व [विद्यते] होते हैं ।

टीका : यह, भगवान सिद्ध के स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है ।

निरवशेषरूप से अन्तर्मुखाकार (सर्वथा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे),
 स्वात्माश्रित निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों
 का विलय होने पर, उस कारण से भगवान सिद्धपरमेष्ठी को केवलज्ञान, केवलदर्शन,
 केवलवीर्य, केवलसुख, अमूर्तत्व, अस्तित्व, सप्रदेशत्व आदि स्वभावगुण होते हैं ।

गाथा - १८२ पर प्रवचन

१८२। अब इसमें तो स्पष्ट बात है। परमात्मा, जब आत्मा सिद्ध होता है। परमात्मा (होता है), तब उसमें क्या होता है, उसका वर्णन है। अभी भी वह सब शक्ति में है, परन्तु पर्याय में प्रगट हो, तब क्या (होता है) उसका वर्णन करते हैं।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।

केवल-दिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८२॥

दृग् ज्ञान केवल, सौख्य केवल और केवल वीर्यता।

होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्ति-विहीनता ॥१८२॥

टीका : यह, भगवान सिद्ध के... सिद्ध अर्थात् परमात्मा हों वे। संसार का नाश करके अपनी परमात्मदशा प्रगट करे, उसे यहाँ सिद्ध भगवान—मुक्तिदशा कहते हैं। यह, भगवान सिद्ध के स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है। लो! गुण-गुण। पर्याय की बात है। भाषा तो ऐसी ही बोली जाती है न! क्या कहते हैं? स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है। अब इसे सिद्धपद कैसे प्राप्त होता है, इसकी बात करते हैं।

निरवशेषरूप से अन्तर्मुखाकार... अन्तर्मुख स्वरूप। भगवान आत्मा अन्तर में पूर्णानन्द है। उसे अन्तर्मुख ध्यान करके (सर्वथा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे), स्वात्माश्रित निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से... लो! ऐसा स्वात्मा, उसके आश्रय से निश्चय अर्थात् परमशुक्लध्यान। आहाहा! निश्चय परमशुक्लध्यान। यह तो अन्तिम है न? इसके बल से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों का... नाश ऐसा हुआ। कर्मों का नाश हुआ तो यह बल प्रगट हुआ, ऐसा यहाँ नहीं कहा। ऐसे बल से ज्ञानावरणीय (आदि) कर्मों का नाश किया है।

आठ प्रकार के कर्मों का विलय होने पर,... विलय अर्थात् नाश। परन्तु ऐसे बल से नाश होने पर, ऐसा कहा है। वे ऐसा कहते हैं, कर्म का नाश होवे तो गुण प्रगट होते हैं, ऐसा कहो। यहाँ तो आत्मबल के ध्यान में ऐसे कर्म नाश हो जाएँगे। समझ में आया? बाकी तो अपने स्वभाव का आश्रय करे तो उसका—अशुद्धता का नाश हो जाने पर, उसका निमित्तपना कर्म को है, वह कर्म भी अपने आप परिणम जाता है। कर्म, अकर्मरूप

हो जाता है। कर्म, अकर्मरूप हो, वह कर्म का नाश कहा जाता है।

उस कारण से भगवान सिद्धपरमेष्ठी को केवलज्ञान,... पूर्ण ज्ञान। केवलदर्शन,... पूर्ण दर्शन केवलवीर्य,... एकरूप वीर्य। केवलसुख,... एकरूप सुख। अमूर्तत्व, अस्तित्व,... अस्तित्व पूर्ण सिद्ध प्रगट किया। सप्रदेशत्व... असंख्यप्रदेशी है न ?

मुमुक्षु : भगवान को....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। वे कहाँ चले गये बताते हैं। दूसरे की अपेक्षा अलग मुक्ति की दशा। सप्रदेशत्व इत्यादि स्वभावपर्यायें प्रगट हो गयी हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)



श्लोक - ३०२

[अब, इस १८२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदाद्भवति पुनर्नित्य-शुद्धे प्रसिद्धे,
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत् ।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यन्तिकं च,
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ॥३०२॥

(वीरछन्द)

बन्ध छेद होने से एवं नित्य शुद्ध ऐसे भगवान।
सिद्ध प्रसिद्ध प्रभू में है अत्यन्तपने यह केवलज्ञान॥
सब कुछ जिसका विषय अहो वह साक्षात् दर्शन होता।
सुख अनन्त अरु शुद्ध शुद्ध वीर्यादि पुञ्ज-गुणमणि होता॥३०२॥

[श्लोकार्थः—] बन्ध के छेदन के कारण, भगवान तथा नित्य—शुद्ध ऐसे

उस प्रसिद्ध सिद्ध में (सिद्धपरमेष्ठी में) सदा अत्यन्त रूप से यह केवलज्ञान होता है; समग्र जिसका विषय है, ऐसा साक्षात् दर्शन होता है; *आत्यन्तिक सौख्य होता है तथा शुद्ध-शुद्ध ऐसा वीर्यादिक अन्य गुणरूपी मणियों का समूह होता है।३०२।

प्रवचन-२१२, गाथा-१८२-१८४, श्लोक ३०२-३०३, मंगलवार, मगसर कृष्ण १२, दिनांक १४-१२-१९७१

नियमसार, १८२ गाथा का कलश है। मार्गसाधन का फल बताते हैं। इसमें दो अधिकार है न? एक तो मोक्ष का मार्ग और उसका फल सिद्धपद अथवा मुक्ति। यह मुक्ति अर्थात् सिद्ध भगवान के गुणों का वर्णन है। जिसने-आत्मा ने पूर्ण परमात्मस्वभाव का साधन अन्तर में किया, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा (किया), इसे फलस्वरूप से मुक्ति सिद्धि, सिद्धिरूपी सिद्ध होता है। मुक्ति और मुक्त दोनों एक ही हैं। सिद्ध जीव कहो या उसे मुक्ति कहो। ऐसे जीव को वह प्राप्ति होती है। जिसने आत्मा का आराधन किया है, उस सिद्ध के गुणों के स्वरूप का वर्णन है। ३०२ कलश है।

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्य-शुद्धे प्रसिद्धे,
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यन्तिकं च,
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ॥३०२॥

कहते हैं कि परमात्मा सिद्ध हों, उन्होंने मोक्षमार्ग आराधा, उसके फलरूप से उनमें अनन्त गुण होते हैं। गुण शब्द से (आशय) पर्याय प्रगट ली है। बन्ध के छेदन के कारण,... उन्होंने पहले क्या किया?—कि बन्ध का छेद किया। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, यह बन्ध (भाव है)। उसका छेद करके। (सिद्ध) ऐसा किया कि पहले उन्हें बन्ध था। बन्ध के छेदन के कारण, भगवान तथा नित्य—शुद्ध... भगवान तो सही, परन्तु यह नित्य शुद्ध। परमात्मदशा, सिद्धदशा प्रगट हुई, तब से वह नित्य शुद्ध हैं। सादि-अनन्त। उन्हें यहाँ नित्य शुद्ध कहने में आता है।

ऐसे उस प्रसिद्ध सिद्ध में... आहाहा! कहते हैं, वह तो प्रसिद्ध सिद्ध हैं। मुक्ति को

* आत्यन्तिक=सर्वश्रेष्ठ; अनन्त।

प्राप्त सिद्ध स्वभाव को प्राप्त प्रसिद्ध हैं। जैसे संसार प्रसिद्ध है, वैसे संसार के अभाव-स्वभावरूप सिद्ध भी प्रसिद्ध हैं। समझ में आया ? ऐसे (सिद्धपरमेष्ठी में) सदा अत्यन्त रूप से... निरन्तर अत्यन्तरूप से यह केवलज्ञान होता है,... केवलज्ञान एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानता है। ऐसा सिद्ध भगवान में केवलज्ञान सदा अत्यन्तरूप से होता है।

समग्र जिसका विषय है, ऐसा साक्षात् दर्शन होता है,... 'साक्षादखिलविषया' केवलदर्शन, तीन काल—तीन लोक के जो पदार्थ हैं, उन्हें सामान्य रीति से समग्र पूर्ण (देखे), ऐसा जिनका विषय है। तीन काल-तीन लोक जिसे सामान्यरूप से अभेदपने दिखाई दे, ऐसा उस दर्शन का विषय है। केवलदर्शन। ऐसा साक्षात् दर्शन होता है, आत्यन्तिक सौख्य होता है... सर्वश्रेष्ठ; अनन्त। जिन्हें आनन्द होता है। संसारदशा में अकेला दुःख है। मोक्षमार्ग की दशा में किंचित् आनन्द है और किंचित् दुःख की अवस्था भी है। पूर्ण आनन्द नहीं है। सिद्ध में पूर्ण आनन्द, अनन्त आनन्द है। सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। सर्वश्रेष्ठ अर्थात् कि इस संसार का कोई सुख होगा ? वह नहीं परन्तु मोक्षमार्गी जीव का आनन्द जो है, उसकी अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। सम्यग्दर्शन में आनन्द की शुरुआत हो जाती है। समझ में आया ?

भगवान अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, दर्शन और वीर्य चतुष्टय से भरपूर पदार्थ है। वस्तु है न ? वस्तु है तो उसका स्वभाव होता है न ? स्वभाव होता है, उसे मर्यादा क्या ? अनन्त ज्ञान-दर्शन और अनन्त वीर्य जिसमें-आत्मा में पड़े हैं, ऐसा जिसने साधन किया। एकाग्रता की, उसे अनन्त सुख सर्वोत्कृष्ट प्रगट होता है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन में भी धर्म की शुरुआत धर्म करनेवाले को अतीन्द्रिय आनन्द आता है, ऐसा कहते हैं। परन्तु वह अपूर्ण आनन्द है। समझ में आया ? और इसके साधनरूप से साधकर पूर्ण दशा प्रगट हुई—सिद्ध परमात्मा, वह तो अनन्त सर्वश्रेष्ठ सुख को प्राप्त हैं। ऐसा सुख जगत में उनके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हैं। लो ! यह सुखी तो सिद्ध को सुखी कहते हैं। पैसेवाले, लड़केवाले, इज्जतवाले नहीं ? कहो, कहाँ गये तेरे दादा ? समझ में आया इसमें ? दुनिया सुखी कहती है न ? सब पागल कहते हैं। आहाहा !

.... आता है न कुछ ? कि सुख तो अनन्त मोक्ष में है। इसलिए मोक्ष का साधन

करना, वह जीव को हितकर और श्रेयकर है। बाकी सब धूल-धाणी है। ऐसा सर्वोत्कृष्ट सिद्ध सम्यग्दर्शन से प्रगट होने पर बारहवें (गुणस्थान में) आनन्द होता है। परन्तु सिद्ध जैसे पूर्ण अनन्त आनन्द अव्याबाध (आनन्द) प्रगट होता है। समझ में आया? आठों ही कर्मों का फल दुःख कहा है न? वहाँ तो आठों का ही अभाव हो गया है। परिपूर्ण सर्वोत्कृष्ट आनन्द, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, ऐसे सिद्ध को अनन्त आनन्द होता है।

कहते हैं तथा शुद्ध-शुद्ध ऐसा वीर्यादिक अन्य गुणरूपी मणियों का समूह होता है। जिसकी पर्यायें सब अनन्त गुणों की शुद्ध-शुद्ध हो गयी हैं। वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ। वीर्यादिक अन्य गुणरूपी मणियों का समूह होता है। अन्य गुणोंरूपी मणि का समूह— ढेर होता है वहाँ। आहाहा! कहो, समझ में आया? इसे परमात्मदशा या मुक्तदशा या सिद्धदशा अथवा सिद्धपरमेष्ठी कहा जाता है। वह आत्मा का पूर्ण शुद्ध पवित्र पद, वह सिद्धपद है। समझ में आया?

गाथा-१८३

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्म-विमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग-पज्जंतं ॥१८३॥

निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धाः निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः ।
कर्म-विमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्र-पर्यन्तम् ॥१८३॥

सिद्धिसिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत् ।

निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्टो भवति । कथमिति चेत्, निर्वाणमेव सिद्धा इति वचनात् । सिद्धाः सिद्धक्षेत्रे तिष्ठन्तीति व्यवहारः, निश्चयतो भगवन्तः स्वस्वरूपे तिष्ठन्ति । ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणं इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्वं सफलं जातम् ।

अपि च यः कश्चिदासन्नभव्यजीवः परमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकल-कर्मकलङ्कपङ्कविमुक्तः स परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यन्तं गच्छतीति ।

निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे ।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे ॥१८३॥

अन्वयार्थः [निर्वाणम् एव सिद्धाः] निर्वाण ही सिद्ध हैं और [सिद्धाः निर्वाणम्] सिद्ध वह निर्वाण है [इति समुद्दिष्टाः] ऐसा (शास्त्र में) कहा है । [कर्मविमुक्त आत्मा] कर्म से विमुक्त आत्मा [लोकाग्रपर्यन्तम्] लोकाग्र पर्यन्त [गच्छति] जाता है ।

टीका : यह, सिद्ध और सिद्ध के एकत्व के प्रतिपादन सम्बन्ध में है ।

निर्वाण शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं । किस प्रकार ? 'निर्वाण ही सिद्ध हैं' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से । सिद्ध सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, ऐसा व्यवहार है; निश्चय से तो भगवन्त निज स्वरूप में रहते हैं; उस कारण से 'निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध, वह निर्वाण है' ऐसे इस प्रकार द्वारा निर्वाणशब्द का और सिद्धशब्द का एकत्व सफल हुआ ।

तथा, जो कोई आसन्नभव्य जीव परमगुरु के प्रसाद द्वारा प्राप्त परमभाव की भावना द्वारा सकल कर्मकलंकरूपी कीचड़ से विमुक्त होते हैं, वे परमात्मा होकर लोकाग्रपर्यन्त जाते हैं।

गाथा - १८३ पर प्रवचन

१८३ (गाथा)।

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्धिद्धा ।
कम्म-विमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्ग-पज्जंतं ॥१८३॥
निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे ।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे ॥१८३॥

उपादान से पहले बात ली है।

टीका : यह, सिद्धि... सिद्धि अर्थात् मुक्ति। और सिद्ध (आत्मा) के एकत्व के प्रतिपादन सम्बन्ध में है। मुक्ति की पर्याय और सिद्ध दोनों एकत्व हैं। दोनों भिन्न नहीं हैं। मुक्ति ऊपर है और सिद्ध नीचे हैं या बाहर हैं, ऐसा नहीं है। — ऐसा कहते हैं। सिद्ध की पूर्ण दशा वही मुक्ति है और वह स्वयं मुक्त जीव। दोनों अभेद हैं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : अभेद ही है। अभेद है अर्थात् ? भिन्न चीज़ नहीं है। जैसे आत्मा और दूसरे परमाणु भिन्न हैं, ऐसा नहीं है। बाकी है तो पर्याय पर्याय की। यहाँ तो मुक्ति और मुक्त जीव की दशा, सिद्धि और सिद्ध पर्याय दोनों एक ही हैं, ऐसा कहना है। सिद्ध की पर्याय और मुक्ति दोनों एक ही है। मुक्ति ऊपर होती है, रहते हैं, ऐसा कहना वह व्यवहार है, ऐसा कहते हैं। अपने में ही मुक्ति है। समझ में आया ? सिद्ध की पर्याय की पूर्णता, वह मुक्ति, वह मुक्त जीव की दशा। समझ में आया ?

निर्वाण शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं। किस प्रकार ? 'निर्वाण ही सिद्ध हैं'... लो, ठीक ! यह निर्वाण, वह सिद्ध की पर्याय है। निर्वाण हुआ, वह सिद्ध की पर्याय है। वह सिद्ध है। ऐसा सिद्ध से लेना है न। 'निर्वाण ही सिद्ध हैं'... परिपूर्ण शान्ति प्रगट हुई, वही

सिद्ध है। निर्वाण अलग क्षेत्र है और सिद्ध की पर्याय का अलग क्षेत्र है, ऐसा नहीं है – ऐसा कहना है। ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से। सिद्ध सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, ऐसा व्यवहार है,... सिद्ध भगवान सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, वह व्यवहार है। वे अपनी मुक्तदशा में ही रहते हैं। सिद्ध मुक्ति में रहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सिद्ध पर्याय, पर्याय मुक्ति है, वही उसकी पर्याय है, वही उसका ऐसा कि स्थान है। सिद्ध की पर्याय, वही मुक्ति, ऐसा कहना है। वह निर्वाण। निर्वाण कोई दूसरी चीज़ है और मुक्त पर्याय कोई दूसरी चीज़ है, ऐसा नहीं है। सिद्ध लिये हैं न? सिद्ध की पर्याय।

सिद्ध सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, ऐसा व्यवहार है, निश्चय से तो भगवन्त निज स्वरूप में रहते हैं;.... बस, यह... जैसे यहाँ संसारदशा इसकी पर्याय का ही स्वरूप है, वैसे मुक्त दशा, मुक्ति, उसकी पर्याय का ही स्वरूप है। ये ऊपर रहते हैं, इसलिए मुक्ति है, ऐसा है नहीं। अन्तिम गाथाएँ हैं न, इनमें सबका वर्णन करते हैं। उस कारण से निर्वाण ही सिद्ध हैं... देखो! निर्वाण पद पूर्ण शान्ति और पूर्ण कषाय का शान्त होकर अकषाय पर्याय हुई, वही सिद्ध है। और सिद्ध वह निर्वाण है... सिद्ध की पर्याय, यह निर्वाण है। समझ में आया ?

ऐसे इस प्रकार द्वारा निर्वाणशब्द का और सिद्धशब्द का... सिद्ध तो पर्यायरूप हुए न? सिद्ध का जीव है, वह दूसरी चीज़ है। सिद्ध की जो पर्याय है, वही निर्वाण है। निर्वाण, वह सिद्ध। समझ में आया? ऐसा कहते हैं न, भगवान आत्मा मुक्ति को प्राप्त हुआ। अर्थात् मुक्ति कहीं होगी। ऐसे पाये होंगे? भगवान सिद्धक्षेत्र को प्राप्त हुए। वह क्षेत्र नहीं। अपनी पूर्ण पर्याय को प्राप्त हुए, वह उनका क्षेत्र है। समझ में आया? निर्वाणशब्द का और सिद्धशब्द का एकत्व सफल हुआ। लो! दोनों एकत्व हैं, भिन्न हैं नहीं।

अब यह टीकाकार श्लोक डालते हैं। कम्म-विमुक्को अप्पा गच्छइ लोयगग-पज्जंतं। ऐसा है न? तथा, जो कोई आसन्नभव्य जीव... जिसे अब मोक्ष नजदीक है। संसार का किनारा आ गया है। ऐसे आसन्न अर्थात् नजदीक। जिसकी भव्यता नजदीक है। जिसकी मुक्ति होने की योग्यता एकदम निकट है। समझ में आया? ऐसे आसन्नभव्य जीव परमगुरु के प्रसाद द्वारा प्राप्त... गुरु ने उसे ऐसा कहा था कि तू पूर्णानन्द का नाथ है,

उसकी आराधना कर। अर्थात् उसे परमगुरु के प्रसाद द्वारा, प्रसादी यह कही उनने। तेरा भगवान पूर्ण शान्ति, आनन्द से भरपूर पदार्थ है। स्वभाववान है। उसका स्वभाव पूर्ण है, उसका आराधन कर। अर्थात् उसके प्रसाद द्वारा प्राप्त परमभाव की भावना... देखा! ऐसा उन्होंने कहा था, वैसा उसने किया।

परमभाव की भावना... परमभाव ऐसा पारिणामिक ज्ञायक त्रिकाली स्वभाव, शुद्ध आनन्द ध्रुवतत्त्व, उसकी भावना अर्थात् एकाग्रता। लो, इस भावना में निश्चय मोक्षमार्ग डाल दिया। भगवान पूर्ण स्वरूप, अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द से भरपूर परमभाव की भावना। पुण्य-पाप की और व्यवहार की भावना नहीं, ऐसा कहते हैं। और भावना शब्द से कल्पना और चिन्तवना, ऐसा नहीं। अर्थ तो ऐसा करेंगे इसमें। निज भावना... मेरी निज भावना के लिये मैंने बनाया है। टीका में कहा निज भावना अर्थात् अशुभ वंचनार्थे। बनाना है सही न... ऐसा है, इसलिए जरा ऐसा अर्थ लिया। नहीं तो भावना का अर्थ तो स्वरूप की एकाग्रता है। समझ में आया ?

भाव की भावना। उस परमभाव की भावना वापस। भाव तो पर्याय को भी कहते हैं, शुभभाव को भी भाव कहते हैं, निर्मल पर्याय को भाव कहते हैं, गुण को भाव कहते हैं और द्रव्य को भी भाव कहते हैं। यहाँ परमभाव त्रिकाली स्वभावभाव नित्यानन्द प्रभु, वह परमभाव—वस्तु, उसकी भावना। उसकी सन्मुखता की एकता, वह मोक्ष का मार्ग है। वापस परमगुरु सर्वज्ञ भी कहलावे और दूसरे गुरु को भी परमगुरु कहा जाता है। परन्तु उनके कहने का आशय यह था, ऐसा कहते हैं। यह आशय उन्होंने आराधन किया। समझ में आया ?

परमभाव की भावना द्वारा... पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा... उसका स्वरूप कहीं दुःखरूप होगा ? दुःख तो विकृत है, वह अवस्था में होता है। स्वभाव में नहीं होता। स्वभाव परम अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त... ऊपर कहा है न ? आत्यन्तिक सुख प्रगट हुआ, सर्वश्रेष्ठ। वह अन्दर था। पूर्ण सुख, पूर्ण आनन्द—ऐसा उसका स्वभाव, उसकी भावना—एकाग्रता की। यहाँ तो निश्चय मोक्षमार्ग से मुक्ति होती है, ऐसा कहा है। व्यवहार हेतु है न ? पण्डितजी ! नियत का हेतु।

मुमुक्षु : नियत या उपादान ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्होंने तो एक ही बात की है, यह उन्हें-कितनों को सुहाता नहीं है। सुन्दर मार्ग में डाला था। अब इसमें डालेंगे। पहले डाला है। सुन्दर मार्ग—निश्चय और व्यवहार दो सुन्दर मार्ग हैं। परन्तु वापस प्राप्ति निश्चय से होती है, ऐसा नीचे कहेंगे। समझ में आया ? है न यह ? कितना है यह ? अभेद सर्वज्ञ वीतरागमार्ग की निन्दा करता है।

देखो ! उन स्वरूप विकल (स्वरूप प्राप्तिरहित) जीवों के कुहेतु-कुदृष्टान्तयुक्त कुतर्क वचन सुनकर जिनेश्वर प्रणीत शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति, हे भव्य ! अभक्ति नहीं करना। वापस वहाँ यह लिया। देखा ! १८९ (गाथा की टीका)। कहा जाता है ऐसा कि पापक्रिया की निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसा भेदोपचार रत्नत्रय—व्यवहाररत्नत्रय और अभेद उपचार रत्नत्रयात्मक—निश्चय स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई दशा, वह अभेद उपचार। रत्नत्रय, भेद पड़ा इस अपेक्षा से।

सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग की निन्दा करते हैं। ऐसे की कोई निन्दा करे, अरे ! मेरे स्वार्थीया अकेले, हमारा करते हैं, हमारा करते हैं, हम किसी का करते नहीं। व्यवहार से करने का हमारे तो नहीं आता। आये, उसे जाननेयोग्य है। किसी का करना नहीं। समझ में आया ? यह गौशाला का करे, दान, नाम दे, तब काका कहलाये, नहीं तो काका किस प्रकार कहलाये ? करते होंगे या नहीं ? नहीं किया अभी तक ? आहाहा ! लोग कहते हैं कि यह तो स्वार्थ के पुतले। लो ! हम किसी का कर नहीं सकते, ऐसा करके छूट जाते हैं पर का करने में। हम किसी का कुछ नहीं कर सकते। ऐसे कर सकते ही नहीं। ऐसा करके पर से पृथक् पड़ने का उन्होंने ठीक खोजा है। आहाहा ! ठीक है न ? दान है, वह पुण्य है; धर्म नहीं। एक व्यक्ति ने और ऐसा कहा। ठीक खोज निकाला कि दान करने में पुण्य है, धर्म नहीं। इसलिए ऐसा पुण्य न करे। अनेक प्रकार के लोग हैं। आहाहा !

यहाँ तो दूसरा कहना कि दोनों को सुन्दर कहा, परन्तु वापस उन स्वरूप विकल (स्वरूप प्राप्तिरहित) जीवों के कुहेतु-कुदृष्टान्तयुक्त कुतर्क वचन सुनकर जिनेश्वर प्रणीत शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति, ... शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति हे भव्य ! अभक्ति नहीं करना। वह ज्ञान कराया साथ में। समझ में आया ? भगवान आत्मा अपने स्वार्थ का साधनेवाला है, भाई ! पर का कुछ कर नहीं सकता। लोगों को पर का करे तो बहुत अच्छा लगता है। बहुतों की सेवा करते हैं, इन्होंने बहुतों की सेवा की है। धूल भी नहीं की है,

सुन न! सेवा किसकी करे? देश-सेवा, कुटुम्ब-सेवा, जाति-सेवा, ग्राम-सेवा, गौशाला में पशु की सेवा। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहता हूँ। की जा सकती है और यह इनकार करते हैं, इसलिए अब करेंगे नहीं। कौन करे? भाई! परन्तु लोगों को अच्छा बहुत लगता है, हों! हम तो तुम्हारे सेवक हैं। सही अवसर पर हम तो सेवा करने खड़े हैं। आहाहा! इनको बड़ी पदवी दो—सेवाभावी की। अरे! ऐसा का ऐसा अज्ञानी अनादि से ठगा जाता है। किसकी सेवा करे?

यहाँ तो कहते हैं कि उसने ज्ञान की कभी सेवा नहीं की। यह आता है न १७-१८वीं गाथा में। किसी ने पूछा है, महाराज! यह ज्ञान और आत्मा तो एकरूप है, भिन्न नहीं और आप कहते हो कि आत्मा की सेवा करो, ज्ञान की सेवा करो। वह तो अभेद है, उसमें सेवा किसकी करना? पर की सेवा की बात तो है नहीं। परन्तु यह स्वयं आत्मा और ज्ञान। वस्तु स्वयं, उसका स्वभाव ज्ञान, उसकी सेवा किसकी? वह तो अभेद है। भाई! तूने अनन्त काल में आत्मा के ज्ञान की सेवा नहीं की है। आहाहा! ज्ञान और आत्मा एकरूप है, ऐसी तूने कभी सेवा नहीं की है। आहाहा! यह सेवा कही है, लो! ऐई! पण्डितजी! कैसे हमारे क्या कहे? पण्डितजी को याद है। योगी अर्थात् अगम्यम्। वह कौन सी? यह। वह सेवा नहीं। आहाहा! कितनी संस्था के प्रमुख, कितने संस्था के नायक... आहाहा! ऐसा करके लोगों के गुणगान करते हैं। ऐसा होगा या नहीं तुम्हारे? गुलाबभाई! बड़े... बहुत पढ़ते हैं। बड़े हों तो प्रसिद्ध हैं न कहीं! प्रसिद्ध होना चाहिए न, यह इसमें कुछ सेवा की और यहाँ ऐसा किया, अमुक, अमुक। यह अनेक की बात है न! यहाँ तो दृष्टान्त दिया है। सेवाभावी हैं। भाई! कैसा अच्छा लगता है? परन्तु सेवा किसकी करे? सुन न!

इस शरीर के रजकण की पर्याय कर नहीं सकता, सेवा करे किसकी? इस राग की सेवा करने जाए तो मिथ्यात्व होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? सेवा अर्थात् ये मेरे हैं। मैं इन्हें रखूँ। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव यह राग, इसे रखूँ, इसका नाम सेवा। मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! मूढ़ है। अन्दर से डाँवाडोल हो गया है, ऐसा कहते हैं। अकेला स्वप्रयोजन को सिद्ध कर सके, ऐसा तत्त्व है। समझ में आया? दयामण्डली,

सेवामण्डली, ऐसे मण्डल के नाम दे और प्रमुख होना हो सामने। यह तो कहे, काम देते हैं। ओहो! उन्होंने तो सब मूल तो संस्था का अग्रदूत है। उन्हें ऐसा हो जाता है कि आहाहा! धूल भी नहीं, सुन न! डॉक्टर-बॉक्टर नहीं न? डॉक्टर बहुत सेवाभावी कहलाते हैं। होवें मात्र पैसे के अर्थी। सेवाभावी है। ऑनरेडी हैं। धूल भी नहीं, सुन न, भगवान आत्मा!

यहाँ तो यह कहते हैं, देखो! समझ में आया? **आसन्नभव्य जीव...** परमभाव की भावना द्वारा। यह बात कहाँ वह तो। क्या कहा? पूर्णानन्द का नाथ भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थकर ने कहा, ऐसा जो आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण का मणिरत्न, उसकी अन्तर एकाग्रता, वह उसकी सेवा है और वह उसकी भावना है। यह सच्ची सेवा और सच्ची भावना है। बाकी सब गप्प है। समझ में आया? अपना नाम रखने के लिये संसार के अधिपतिरूप से कहलाना हो तो बहुतों का जरा नाम रखे। भले बारह महीने में दो दिन जाता हो परन्तु थोड़ा-थोड़ा नाम रखे। बहुत संस्था के सेवक थे। सेवक थे अर्थात् दूसरा कुछ, अधिपति थे। मार डाला। उसके प्रमुख थे। आहाहा! अरे! भगवान! यह भ्रमणा कैसी है?

यहाँ तो परम प्रभु आत्मा सर्वज्ञस्वभाव से विराजमान अनन्त आनन्द से शोभित प्रभु, ऐसा जो उसका त्रिकाल परमभाव, उसमें पर्याय अर्थात् एकाग्रता करना, यह भावना (है) और इससे मुक्ति है। समझ में आया? उसमें ऐसा आता है। श्वेताम्बर में आचार्य होवें न, तीसरे भव से मुक्ति होती है। साधु को देरी लगती है। अकेला व्यवहार ही डाला है। भगवती (सूत्र) में ऐसा आता है। तीसरे के लिये आचार्य के लिये प्रयत्न करते हैं न बहुत? आचार्य की पदवी दे तो शास्त्र का अर्थ करे, तीसरे भव में मोक्ष जाए। अकेले साधु तीसरे में न जाए। यहाँ तो कहते हैं कि आचार्यपद छोड़े, तब साधुपद में आवे, तब मुक्ति होती है। आहाहा! जगत को अकेली प्रवृत्ति की महिमा और यह देखे न! आहाहा! भगवान की स्तुति करता हो, भगवान को वन्दन करता हो, सात-आठ-दस बार। जय महाराज... जय महाराज... जय महाराज... तब ऐसा लगता है कि यह कुछ करता है। दिखता है। आहाहा! भाई! वह तो प्रवृत्ति की-जड़ की दशाएँ हैं। उनके परिणाम में कुछ होवे तो राग की मन्दता। वह प्रवृत्ति के-पुण्य के परिणाम हैं। समझ में आया? वह आत्मा की भावना नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि परम गुरु ने ऐसा कहा था कि और ऐसा उन्होंने किया। यह कहने योग्य है, इसके अतिरिक्त दूसरी किसी चीज़ की महिमा करने योग्य नहीं है। आहाहा! आसन्नभव्य जीव... आहाहा! जिसके संसार का किनारा निकट आ गया है। कुन्दकुन्दाचार्य के लिये कहा है न पहला? ओहोहो! प्रवचनसार (में कहा है)। कुन्दकुन्दाचार्य, जिनके संसार का किनारा आ गया है। आहाहा! ऐसे परमभाव की भावना करनेवाले। समझ में आया? यह प्रवचनसार के कर्ता हैं, ऐसा बतलाना है न!

आसन्नभव्य जीव... 'कम्मविमुक्को अप्पा' इसकी व्याख्या करते हैं। तीसरे पद की। कहते हैं कि कर्म से मुक्त कैसे होते हैं? कि परमभाव की भावना द्वारा... एक ही सिद्धान्त और एक ही तत्त्व। आनन्द का नाथ भगवान ज्ञान का सागर, उसमें एकाग्र होने की भावना, वही मोक्ष का मार्ग और वही मुक्ति का उपाय है। सकल कर्मकलंकरूपी कीचड़ से विमुक्त होते हैं,... लो! जो कोई आत्मा परमभाव ऐसा जो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, शुद्धभाव, पवित्रभाव, आनन्दभाव ऐसा जो त्रिकाली आत्मा का परमभाव, उसकी भावना—उसकी एकाग्रता (करता है), उसके द्वारा सकल कर्मकलंकरूपी कीचड़ से विमुक्त होते हैं,... आठों कर्मों का रहितपना इस भावना से होता है। कहो, समझ में आया? मार्ग की खबर नहीं होती और भटकाभटक करता है। यहाँ से मिलेगा और यहाँ से मिलेगा। शास्त्र में ऐसा आता है, त्याग के अर्थ में (आता है कि) पुस्तक देना, मुनि को त्याग करना। धर्म... अर्थात् समझ ले। परन्तु क्या अपेक्षा है? स्वभाव के आश्रय से इतना राग का अभाव होता है, इस अपेक्षा से त्याग की नास्ति से बात की है। पुस्तक देना, त्यागधर्म यह है।आहाहा! दस प्रकार के धर्म में से यह पुस्तक देना, वह धर्म हो गया। लिखा है, तब तो यह बात चलती है। उसमें लिखा हुआ है—पद्मनन्दिपंचविंशति में, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में। आहाहा! ऐई...! लिखा है, वह मिथ्या होगा? उसका अर्थ समझे बिना। लिखा है, क्या लिखा? लिखा है, उसका सुमेल रहा नहीं। अर्थ करने को समझते नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा एकस्वरूप प्रभु त्रिकाल है, उसकी अन्तर की एकाग्रता की सन्मुखता की एकाग्रता, वह एक ही मोक्ष का मार्ग और भावना है। वीतरागमार्ग में दूसरी कोई चीज़ है नहीं। दूसरा तो कुछ है ही नहीं। समझ में आया? यह वहाँ डाला

था। 'कम्मविमुक्को अप्पा' उसमें डाला था, परन्तु मुक्त कैसे हुए? वे उपवास करके, मासखमणा करके, अट्टाई करके कर्म की निर्जरा हुई, धर्म को प्राप्त हुए, ऐसा होगा? तेरे अपवास-बपवास कहाँ थे? बाहर का-आहार का त्याग, वह तो अपने आप भिन्न ही पड़ा हुआ है। वह था कब कि छोड़े? राग को द्रव्यस्वभाव में ग्रहण करता कब था? आहाहा! मात्र द्रव्यस्वभाव में एकाग्र होने पर राग छूट जाता है, इसलिए कर्म छूट जाता है। उसे यहाँ आत्मा छोड़ता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! वीतरागमार्ग निरालम्बी मार्ग है, जिसे व्यवहार का आलम्बन नहीं है।

ऐसा कर्मकलंकरूपी कीचड़ से विमुक्त होते हैं,... कर्म कलंकरूपी कादव। कर्म का कलंक है उसे। आहाहा! ऐसा जो कादव। वि-मुक्त—पूर्ण विशेष मुक्त होता है। वे परमात्मा होकर... वे परमात्मा सिद्ध होकर लोकाग्रपर्यन्त जाते हैं। लोक के अन्त में जाएँ, यह व्यवहार कहलाता है। है तो वहाँ अपने में और अपने में। सिद्ध हैं वे अपने में। लोकाग्र में जाते हैं। लोक के अग्र में सिद्ध भगवान परक्षेत्र के लोक के अग्र में जाते हैं, यह व्यवहारक्षेत्र बतलाया है। निश्चय से तो अपनी पर्याय में ही परिणम रहे हैं। आकाश के क्षेत्र में हैं, यह कहना, वह तो एक व्यवहार है। आहाहा! लोकाग्र—लोक के अग्र छोर तक जाते हैं, ऐसा कहते हैं। लोक का छोर हो, वहाँ जाते हैं। अनन्त सिद्ध अपने आनन्द में वहाँ विराजते हैं। आहाहा!

श्लोक-३०३

[अब, इस १८३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मालिनी)

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं,
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तिश्चागमाच्च ।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं,
स भवति परम-श्री-कामिनी-कामरूपः ॥३०३॥

(वीरछन्द)

जिनमत संमत मुक्ति में अरु मुक्तजीव में भेद नहीं ।
 युक्ति से अथवा आगम से भेद न जानें हम कुछ भी ॥
 और लोक में कोई भव्यजन सकल कर्म निर्मूल करे ।
 तो वह परम श्रीरूपी कामिनी का प्रियतम वल्लभ हो ॥३०३॥

[श्लोकार्थः—] जिनसम्मत मुक्ति में और मुक्त जीव में हम कहीं भी युक्ति से या आगम से भेद नहीं जानते । तथा, इस लोक में यदि कोई भव्य जीव सर्व कर्म को निर्मूल करता है, तो वह परमश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) कामिनी का वल्लभ होता है ॥३०३॥

श्लोक -३०३ पर प्रवचन

[अब, इस १८३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] (श्लोक) ३०३

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं,
 क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च ।
 यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं,
 स भवति परम-श्री-कामिनी-कामरूपः ॥३०३॥

लो, यहाँ जीव लिया है ।

श्लोकार्थ : जिनसम्मत मुक्ति में और मुक्त जीव में... मुक्त जीव । जिन सम्मत वीतराग ने कही हुई मुक्ति । सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने कही हुई सिद्धदशा / मुक्ति में और मुक्त जीव में हम कहीं भी युक्ति से या आगम से भेद नहीं जानते । यह मुक्ति यही और सिद्धपर्याय भी यह । तथा, इस लोक में यदि कोई भव्य जीव... इस लोक में यदि कोई भव्य जीव सर्व कर्म को निर्मूल करता है,... भगवान आत्मा का ध्यान करके सर्व कर्म को निर्मूल करता है । मूल से उखाड़ डालता है, कहते हैं, तो वह परमश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) कामिनी का वल्लभ होता है । तो उसे मुक्तरूपी दशा एक समय भी नहीं छोड़ती, ऐसा कहते हैं । समझ में आया ?

यह स्त्रियाँ तो आयी और गईं। कितनी ? इन्द्र के एक भव में आयुष्य दो सागर और उसकी (इन्द्राणी की) अल्पस्थिति होती है। उसकी स्थिति में कितनी आती है, मरती है और जाती है, मरती है और जाती है। वह तो दो सागर एक ही है। इन्द्राणी की स्थिति अल्प होती है। ऐसे-ऐसे तो कितने दस क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम का तो एक सागरोपम (होता है)। उसकी बहु तो पचपन की बड़ी हो तो। ऐसी स्त्रियाँ उसकी अस्ति में करोड़ों मरकर जाती हैं और आती है। वे कहीं बल्लभा नहीं कहलाती। बल्लभा तो एक समय छोड़ती नहीं, उसे बल्लभ कहते हैं। ऐसा कहते हैं न, देखो !

अपने स्वरूप को प्राप्त होने पर आत्मा की मुक्तदशा हुई, वह परिणति एक समय भी उसे छोड़ती नहीं है। वह उसकी वास्तविक कामिनी है। आहाहा ! कामिनी का बल्लभ होता है। ऐसा है न ? ऐसे शब्द बहुत बार आते हैं। बहुत कलशों में आ गये।

१८३ (गाथा पूरी) हुई।

गाथा-१८४

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थि-कायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

जीवानां पुद्गलानां गमनं जानीहि यावद्धर्मास्तिकः ।
धर्मास्ति-कायाभावे तस्मात्परतो न गच्छन्ति ॥१८४॥

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धम् । जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं, विभावक्रिया षट्कापक्रमयुक्तत्वं, पुद्गलानां स्वभावक्रिया परमाणुगतिः, विभावक्रिया द्व्यणुकादिस्कन्धगतिः । अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया नास्ति, परतो गतिहेतो-धर्मास्तिकायाभावात्; यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति । अत एव यावद्धर्मास्ति-कायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति ।

जानो वहीं तक जीव पुद्गल-गति, जहाँ धर्मास्ति है ।
धर्मास्तिकाय अभाव में आगे गमन की नास्ति है ॥१८४॥

अन्वयार्थः [यावत् धर्मास्तिकः] जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहाँ तक [जीवानां पुद्गलानां] जीवों का और पुद्गलों का [गमनं] गमन [जानीहि] जान; [धर्मास्तिकायाभावे] धर्मास्तिकाय के अभाव में [तस्मात् परतः] उससे आगे [न गच्छंति] वे नहीं जाते ।

टीका : यहाँ, सिद्धक्षेत्र से ऊपर जीव-पुद्गलों के गमन का निषेध किया है । जीवों की स्वभावक्रिया सिद्धिगमन (सिद्धक्षेत्र में गमन) है और विभावक्रिया (अन्य भव में जाते समय) छह दिशा में गमन है; पुद्गलों की स्वभावक्रिया परमाणु की गति है और विभावक्रिया *द्वि-अणुकादि स्कन्धों की गति है । इसलिए इनकी

* द्वि-अणुकादि स्कन्ध=दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं के बने हुए स्कन्ध ।

(जीव पुद्गलों की) गतिक्रिया त्रिलोक के शिखर से ऊपर नहीं है, क्योंकि आगे गतिहेतु (गति के निमित्तभूत) धर्मास्तिकाय का अभाव है; जिस प्रकार जल के अभाव में मछलियों की गतिक्रिया नहीं होती उसी प्रकार। इसी से, जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, उस क्षेत्र तक स्वभावगतिक्रिया और विभावगतिक्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों की गति होती है।

गाथा - १८४ पर प्रवचन

जीवाण पुगलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थि-कायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

नीचे हरिगीत

जानो वहाँ तक जीव पुद्गल-गति, जहाँ धर्मास्ति है।
धर्मास्तिकाय अभाव में आगे गमन की नास्ति है ॥१८४॥

देखो! पहले उपादान लिया, फिर उसमें निमित्त लिया। पहले तो लिया कि सिद्ध भगवान परमात्मा यहाँ देह में होते हैं। (पश्चात्) लोकाग्र में जाते हैं। आठ कर्मरहित तो यहाँ होते हैं। वह जैसे हल्की चीज़ ऊपर जाती है, उसी प्रकार यह ऊँचे लोकाग्र में जाते हैं। अपनी योग्यता ही लोकाग्र में जाने की है, लोकाग्र में रहने की। आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए नहीं जाते—ऐसा कहना, वह तो धर्मास्ति को सिद्ध करने के लिये है। शास्त्र में ऐसा आता है। आगे क्यों नहीं जाते? धर्मास्ति यहाँ है, (वहाँ) धर्मास्ति का अभाव है। रहते नहीं। इतनी ही स्थिति है। वहाँ तक ही धर्मास्ति है। लोकाग्र तक ही धर्मास्तिकाय है। उसमें यह विवाद पहले से उठा था। लो, ... आये थे न? पण्डित थे, उनके साथ देखो! धर्मास्तिकाय के अभाव से सिद्ध आगे नहीं जाते।

लो! यहाँ वह अभाव है, इसलिए गमन नहीं होता, ऐसा कहा। ऐसा ही आता है। तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा आता है न? तत्त्वार्थसूत्र में। ' धर्मास्तिकाय अभावात् ' ऐसा ही आता है न? निमित्त समझाना है तब। ऐसा कहते हैं, काल न हो तो परिणमन नहीं होता, धर्मास्ति न हो तो गति नहीं होती। लो, अधर्मास्ति न हो तो स्थिति नहीं होती। यह तो निमित्त को सिद्ध करने की व्याख्या है।

टीका : यहाँ, सिद्धक्षेत्र से ऊपर जीव-पुद्गलों के गमन का निषेध किया है। लोकाग्र में सिद्ध भगवान विराजते हैं, वहाँ से आगे नहीं जाते। क्यों नहीं जाते? कि उनकी अपनी उपादान की योग्यता ही इतनी है और धर्मास्तिकाय का अभाव है। निमित्त का। समझ में आया? कितने ही ऐसा कहते हैं कि धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध आगे नहीं जाते, इतनी उनकी परतन्त्रता है, वरना अनेकान्त नहीं रहता। कथंचित् स्वतन्त्र, कथंचित् परतन्त्र। अभी उन्हें सिद्ध को भी परतन्त्र साबित करना है। यह अनेकान्त की व्याख्या एक पण्डित ऐसा करता है।

मुमुक्षु : नीचे रह जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नीचे रह जाते हैं। ठीक। धर्मास्तिकाय नहीं है तो आगे नहीं जाते। इतनी परतन्त्रता नहीं? नहीं तो एकान्त हो जाएगा। अनेकान्त होना चाहिए। स्वतन्त्र कथंचित्, कथंचित् परतन्त्र। वहाँ भी परतन्त्र। परन्तु वे तो स्वतन्त्रता से ही वहाँ रहे हुए हैं। भगवान पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई, उसमें ही रहे हुए हैं परन्तु वहाँ क्षेत्र इतना वहाँ रहने की उनकी योग्यता है। लोक का जीव है न? लोक का द्रव्य है तो लोक में रहता है। लोक का द्रव्य अलोक में जाएगा? आहाहा! इस चर्चा का बड़ा विवाद उठा है। ऐई!

कितने प्रतिशत निमित्त के? पचास प्रतिशत। और आत्मा के पचास। इस प्रकार सौ प्रतिशत होता है, ऐसी बात तब चली थी। समझ में आया? धर्मास्तिकाय ने रोका, कितने प्रतिशत? पचास। स्वयं रुका, वह पचास (प्रतिशत)। स्वतन्त्र अपना, पचास (प्रतिशत) उसके कारण से, ऐसा करके... ऐसा है ही नहीं। सौ के सौ प्रतिशत वहाँ स्वतन्त्र रहे हुए। यह बहुत डालते हैं। जहाँ हो वहाँ यह बहुत डालते हैं। देखो! सिद्धक्षेत्र से आगे नहीं जाते। धर्मास्ति नाम का निमित्त नहीं है, इसलिए (नहीं जाते)। देखो! निमित्त का प्रभाव। उन पण्डितजी को तो अब सबको सुल्टा हो गया। सुल्टी हाँ पाड़ते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

जीवों की स्वभावक्रिया सिद्धिगमन (सिद्धक्षेत्र में गमन) है.... क्या कहा? यहाँ आत्मा भगवान पूर्णानन्द का साधन करके सिद्ध होता है। यहाँ शरीर में सिद्ध होता है। वह अब जब स्वभाविक क्रिया सिद्धि गमन, यहाँ से गमन होता है। सिद्धक्षेत्र में गमन, वह स्वभाविक क्रिया है। गमन है, इसलिए विभाविक क्रिया है—ऐसा नहीं है। कहो, समझ

में आया ? गति करते हैं न यहाँ से ? जितना गमन करे, गति करे, उतना विभाव है या नहीं ? नहीं; वह तो स्वभाव क्रिया हुई, वह गमन है। शुद्ध स्वभाव की क्रिया का वह तो गमन है। विभाव-बिभाव है नहीं। आहाहा!

और विभावक्रिया... नीचे (फुटनोट में) स्पष्टीकरण किया है। सुधारा है। कोष्ठक में (अन्य भव में जाते समय) छह दिशा में गमन है;... यह विभाव क्रिया। छह काय, छह काय - ऐसा करके डाला था न, उस पाठ में ऐसा था न। छह अपक्रम, उसके बदले छह काय ऐसा कर डाला था। भाई ने ऐसा कर डाला था न ? शीतलप्रसाद ने। मूल तो छह अपक्रम ऐसा है। छह काय नहीं परन्तु छह अपक्रम। छह दिशाएँ। विभाववाले संसारी जीव छह दिशा में जाते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो—छह। छह दिशा में गमन। विभाविक क्रियावालों का छह दिशा में गमन; स्वभाविक क्रियावालों का एक ऐसा सीधा गमन। ऐसा है। इतना निकाल डालना, छह काय के क्रम से सहितपना अथवा छह काय का भ्रमण, यह निकाल डालना। निकाल डाला है ? ठीक।

(अन्य भव में जाते समय) छह दिशा में गमन है;... अन्य भव में जाते हुए, यह कोष्ठक में (लिखा है)। छह दिशाओं में गमन, वह विभाविक क्रिया का स्वरूप है। पुद्गलों की स्वभावक्रिया परमाणु की गति है... यह पुद्गल है न, यह जड़-मिट्टी ? उसका एक परमाणु ऐसे गति करे, वह स्वभाव क्रिया है। जैसे सिद्ध की गमन की स्वभाव क्रिया है, उसी प्रकार परमाणु की भी एक परमाणु की भी स्वभाव क्रिया है। स्वभाव क्रिया सीढ़ी है। लो ! एक परमाणु चौदह राजूलोक में ऐसे जाता है, तो भी वह स्वभाविक क्रिया है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्ति की उसकी। वह पर्याय उसे वहाँ तक। सिद्ध तो यहाँ से होते हैं। यह सात राजूलोक होवे तो। एक परमाणु तो नीचे लो और ऊपर जाए। यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है कि इतना चौदह राजूलोक जाए, तो भी वह स्वभाविक क्रिया है। इतना गमन करे, इसलिए विभाविक है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : पूरा करे तो भी स्वभाविक ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका वह स्वभाव ही है। एक परमाणु दूसरे क्षेत्र जाए तो वह

स्वभाव हो जाए। परमाणु की ही क्रिया स्वभाविक है। गमन करे चौदह लोक तो। ऐसा यहाँ तो (कहा है) बहुत गति इतनी बड़ी की, इसलिए विभाव होगा? समझ में आया?

वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। सर्वज्ञ केवली परमात्मा ने कहा हुआ स्वरूप बहुत सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म... परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकता। कहाँ अन्तर कितना? अब उसे दूसरे के साथ मिलाते हैं। समन्वय करो। वह भी धर्म है और यह भी धर्म है। किसके साथ करे? इसमें दो बातें की हैं। सिद्ध को सात राजू जाने का है। सात राजू। समझ में आया यहाँ से? तो वह स्वभाविक क्रिया है। परमाणु चौदह राजू जाए तो वह स्वभाविक क्रिया है। एक प्रदेश जाए वह तो... यह तो ठेठ नरक के, सातवें नरक के पाताल में परमाणु हो तो एक समय में सिद्ध है, वहाँ चला जाता है। आहाहा! उसे खबर नहीं कि हम ऐसे जाते हैं। उसका वह स्वभाव है, तथापि इतनी गतिवान को भी शीघ्रता से इतनी गति। एक समय में तो असंख्य प्रदेश लोक के आकाश के सब, तथापि उसे स्वभाविक क्रिया कहा जाता है। विभाविक है नहीं। गमन करे, वह विभाविक, ऐसा अर्थ सच्चा है नहीं, ऐसा कहते हैं। गमन करना, वह विभाव है, यह बात सत्य नहीं है।

पुद्गलों की स्वभावक्रिया परमाणु की गति है और विभावक्रिया... अब उसमें वापस विभाव। द्वि-अणुकादि स्कन्धों की गति है। दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं के बने हुए स्कन्ध। यह शरीर देखो, यह। इसकी विभाविक क्रिया है, यह। अँगुली चलती है, वह अनन्त परमाणुओं का विभाव है। अपने आप, हों! आत्मा के कारण नहीं। बहुत से रजकणों का जत्था है, इसलिए उसे विभाव कहा जाता है। एक से आगे बढ़ गये, दो हुए। दो हुए, वह विभाव...

द्वि-अणुकादि स्कन्धों की गति है। उसे विभाविक क्रिया कहा जाता है। यहाँ तो समय-समय का माप लिया है। वस्तु की स्थिति एक समय में अकेला परमाणु और सिद्ध हो, वह स्वभाविक क्रिया है। दो परमाणु और सांसारिक साथ में गमन करें, वह विभाविक क्रिया। इसलिए इनकी (जीव पुद्गलों की) गतिक्रिया त्रिलोक के शिखर से ऊपर नहीं है, ... तीन लोक से ऊपर आगे है नहीं। क्योंकि आगे गतिहेतु (गति के निमित्तभूत) धर्मास्तिकाय का अभाव है; ... लो! ठीक! निमित्त है न? (गति के निमित्तभूत) धर्मास्तिकाय का अभाव है; ... अभी एक व्यक्ति ने बहुत लिखा है। मोतीलाल ने ऐसा

सब बहुत लिखा है। देखो! यह होता है। इसके बिना यह नहीं होता, इसके बिना यह नहीं होता। निमित्त का प्रभाव है। निमित्त अकिंचित्कर मानते हैं, उनके लिये यह बात सिद्ध नहीं होती। अरे! भगवान! उन्हें यह बात बैठी होती है। अनादि की पराधीन (दृष्टि)। यह बात कही, एक समय का उसका अपना स्वतन्त्र स्वभाव है। इसीलिए यहाँ हैं और रहते हैं। जाते हैं और रहते हैं। पर के कारण से जाते हैं, और रहते हैं, ऐसा नहीं। धर्मास्तिकाय का अभाव है, लो!

जिस प्रकार जल के अभाव में मछलियों की गतिक्रिया नहीं होती; उसी प्रकार। पानी न हो तो मछली कहीं पृथ्वी पर नहीं चलती। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, उस क्षेत्र तक स्वभावगतिक्रिया... दृष्टान्त में भी ऐसा माने। पानी हो, वहाँ मछली गति करती है। पश्चात् नहीं कर सकती। वह तो उसकी स्थिति ही ऐसी है। गति करने की योग्यता स्वयं की होती है, तब पानी होता है। बस। यह तो वे सब शब्द हैं। गति परिणत जीव, स्थिति परिणत जीव। ऐसा है न? सर्वत्र ऐसा ही है वह। गति परिणत जीव को धर्मास्ति निमित्त, स्थिति परिणत जीव और पुद्गल को अधर्मास्ति निमित्त। क्षेत्र तक स्वभावगतिक्रिया और विभावगतिक्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों की गति होती है। धर्मास्तिकाय हो, वहाँ तक स्वभाववाले परमाणु और सिद्ध, विभाववाले दो परमाणु और संसारी, इनकी गति वहाँ तक होती है। आगे नहीं होती। ऐसा भी वस्तु का स्वभाव है। ऐसा उसे बराबर जानना चाहिए।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-३०४

[अब इस १८४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(अनुष्टुप्)

त्रिलोकशिखरादूर्ध्व जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।

नैवास्ति गमनं नित्यं गति-हेतो-रभावतः ॥३०४॥

(वीरछन्द)

गति हेतु का है अभाव इसलिए जीव अरु पुद्गल का ।

लोक शिखर के ऊपर उनका गमन कभी भी नहीं होता ॥३०४॥

[श्लोकार्थः—] गतिहेतु के अभाव के कारण, सदा (अर्थात् कदापि) त्रिलोक के शिखर से ऊपर जीव और पुद्गल दोनों का गमन नहीं ही होता ॥३०४॥

प्रवचन-२१३, गाथा-१८५-१८६, श्लोक ३०४-३०५, बुधवार, मगसर कृष्ण १३, दिनांक १५-१२-१९७१

त्रिलोकशिखरादूर्ध्व जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।

नैवास्ति गमनं नित्यं गति-हेतो-रभावतः ॥३०४॥

सिद्ध भगवान लोकाग्र में जाते हैं, आगे नहीं जाते, उसका व्यवहार कारण बताते हैं । गतिहेतु के अभाव के कारण, ... निमित्त । गति हेतु । गति का हेतु, ऐसा जो धर्मास्तिकाय, उसके अभाव के कारण । गति में निमित्त के अभाव के कारण । निमित्तपना उसे नहीं है । वहाँ यह सिद्ध किया, देखो ! पहले लोकाग्र में हैं, उस प्रकार उपादान में ले गये थे । वहाँ ऐसा (कहा) दोनों प्रकार से समझाना है न ? गतिहेतु के अभाव के कारण, ... आत्मा पूर्णानन्द की प्राप्ति यहाँ ही अपनी पर्याय में प्राप्त करता है । (वह) लोकाग्र में जाकर स्थित (रहता) है । यह तो उसका उपादान का अपना निजस्वभाव है । अब उसे व्यवहार से वर्णन करते हैं । गति हेतु—इसे जो गति करने का जो निमित्त धर्मास्ति है, उसका वहाँ अभाव है ।

सदा (अर्थात् कदापि) त्रिलोक के शिखर से ऊपर जीव... त्रिलोक के शिखर से ऊपर जीव और पुद्गल दोनों का गमन नहीं ही होता। वहाँ आगे उनकी स्थिति है। यह निमित्तपना बतलाया। उपादान को लोकाग्र में रहने की ही स्वयं की योग्यता है। समझ में आया? उसमें तीन प्रश्न उठे थे न? सेठ आये थे तब। धर्मास्तिकायअभावात्। देखो! निमित्त की मुख्यता! आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए सिद्ध नहीं जाते। वहाँ उनकी लोकाग्र में रहने की स्थिति है, इसलिए आगे नहीं जाते।

मुमुक्षु : यह यहाँ कैसे सिद्ध हुआ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ कहाँ ? पहले सिद्ध हुआ न वह। लोकाग्र में जाए, यह तो पहले सिद्ध किया।

मुमुक्षु : पहले सिद्ध करने के पश्चात् दूसरा उससे उसकी कीमत अधिक होवे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा उससे विरुद्ध रहेगा ? कीमत तो पहले एकड़े की होगी या दूसरे की ? दूसरा है, वह निमित्त है, उसका ज्ञान कराया है। उसमें उसे कुछ नहीं है। पहली इस चर्चा में ही विवाद उठा था। वह तो (जीव) पुद्गल दोनों का गमन नहीं होता, वह तो अपनी योग्यता ऐसी है और वह निमित्त आगे नहीं है, इस प्रकार दोनों का सिद्ध किया है।

गाथा-१८५

णियमं णियमस्स फलं णिद्धिट्ठं पवयणस्स भत्तीए ।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयणहा ॥१८५॥

नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या ।
पूर्वापर-विरोधो यद्यपनीय पूरयन्तु समय-ज्ञाः ॥१८५॥

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोऽयम् । नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रय-
व्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः । तत्फलं परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितम् । न कवित्वदर्पात्
प्रवचनभक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति यावत् । यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेत्तद्दोषात्मकं
लुप्त्वा परमकवीश्वरास्समयविदश्चोत्तमं पदं कुर्वन्त्विति ।

जिनदेव-प्रवचन-भक्ति-बल से नियम, तत्फल में कहे ।
यदि हो कहीं, समयज्ञ पूर्वापर विरोध सुधारिये ॥१८५॥

अन्वयार्थः [नियमः] नियम और [नियमस्य फलं] नियम का फल [प्रवचनस्य
भक्त्या] प्रवचन की भक्ति से [निर्दिष्टम्] दर्शाये गये । [यदि] यदि (उसमें कुछ)
[पूर्वापरविरोधः] पूर्वापर (आगे-पीछे) विरोध हो तो [समयज्ञाः] समयज्ञ (आगम
के ज्ञाता) [अपनीय] उसे दूर करके [पूरयंतु] पूर्ति करना ।

टीका : यह, शास्त्र के आदि में लिये गये नियम शब्द का तथा उसके फल का
उपसंहार है ।

प्रथम तो, नियम शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यानस्वरूप में प्रतिपादित किया गया;
उसका फल परम निर्वाण के रूप में प्रतिपादित किया गया । यह सब कवित्व के अभिमान
से नहीं किन्तु प्रवचन की भक्ति से प्रतिपादित किया गया है । यदि (उसमें कुछ) पूर्वापर
दोष हो तो समयज्ञ परमकवीश्वर दोषात्मक पद का लोप करके उत्तम पद करना ।

गाथा - १८५ पर प्रवचन

अब, १८५

णियमं णियमस्स फलं णिद्धिं पवयणस्स भत्तीए।

पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयणहा ॥१८५॥

जिनदेव-प्रवचन-भक्ति-बल से नियम, तत्फल में कहे।

यदि हो कहीं, समयज्ञ पूर्वापर विरोध सुधारिये ॥१८५॥

टीका : यह, शास्त्र के आदि में लिये गये नियम शब्द का तथा उसके फल का उपसंहार है। दूसरी गाथा में कहा था। 'मग्गो मग्गफलं ति' मार्ग और मार्ग का फल, दोनों का यहाँ उपसंहार करते हैं। प्रथम तो, नियम... नाम नहीं दिया परन्तु उसका स्वरूप दिया है। शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यानस्वरूप में प्रतिपादित किया गया;... समझ में आया ? पहले से वहाँ ऐसा लिया था कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र, वह नियम है। तीसरी गाथा में। 'णियमेण य जं कज्जं।' जो नियम से जीव को सुख के लिये करनेयोग्य है, उसे नियम कहा जाता है। आनन्द की प्राप्ति के लिये करनेयोग्य वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र, उसे नियम कहते हैं। समझ में आया ? ऐसा नियम लेना और नियम पालना न, वे यह। समझ में आया ?

आत्मा का स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्णानन्द, उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमें रमणता, यह नियम। इस नियम का कर्तव्य इसे करना चाहिए, यह नियम उसे करनेयोग्य है। आहाहा! समझ में आया ? वहाँ सार शब्द विपरीत का अभाव बताने के लिये (कहा था)। बाकी नियम अर्थात् सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ज्ञान, दर्शन और चारित्र, यह नियम। समझ में आया ? ज्ञान से बात उठाई है। नियम अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र। अर्थात् कि शुद्ध रत्नत्रय। व्यवहाररत्नत्रय के निषेध के लिये शुद्धरत्नत्रय कहा। शुद्धरत्नत्रय अर्थात् आत्मा ज्ञान और आनन्द के पूर्ण स्वभाव से भरपूर पदार्थ है, उसके आश्रय से हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इसका नाम शुद्धरत्नत्रय। शुद्धरत्नत्रय कहने से अशुद्ध रत्नत्रय व्यवहार का इसमें निषेध होता है। समझ में आया ? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प राग, पंच महाव्रत का विकल्प राग, शास्त्र पठन का राग, वह शास्त्र ज्ञान, वह विकल्प ज्ञान, इन तीनों का निषेध करने के लिये सार शब्द जोड़ा है, ऐसा आया

था न पहले ? तीसरी गाथा में। यहाँ वह निषेध की बात न लेकर, अस्ति से बात ली है।

प्रथम तो,... 'तावत्' है न ? 'नियमस्ताव' है न ? ऐसा है न ? 'नियमस्तावच्छुद्ध-रत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः' अरे ! भगवान आत्मा को पूर्ण आनन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति के उपायरूपी शुद्ध रत्नत्रय। यह उसका कारण और यह उसका उपाय। वह शुद्ध रत्नत्रय अर्थात् कि आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसकी रमणता (हो), उसका नाम शुद्ध रत्नत्रय मोक्ष का उपाय नियम कहा जाता है। कहते हैं कि उसके व्याख्यानस्वरूप में प्रतिपादित किया गया;... शुद्ध रत्नत्रय के कथन के लिये यह सब कहा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? शुद्ध रत्नत्रय के व्याख्यानस्वरूप प्रतिपादित करने में आया है। पहला व्यवहार आया हो। होवे, उसे बतलाया हो, परन्तु इसकी प्राप्ति के लिये उसका वर्णन किया गया है।

उसका फल परम निर्वाण... भगवान आत्मा के पूर्ण स्वभाव का अन्तर्मुख स्वसंवेदन ज्ञान, अन्तर के आश्रय की श्रद्धा और अन्तर में रमणता, इसका फल परम निर्वाण है। कहो, समझ में आया ? उसका फल उस समय आनन्द आवे, ऐसा न लेकर... समझ में आया ? शुद्ध रत्नत्रय की परिणति, वह आनन्दरूप है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वह शुद्ध रत्नत्रय कारणरूप है, उपायरूप है, इसलिए उसका फल, वह निर्वाण है। समझ में आया ? उस समय आत्मा के स्वभाव का भान, श्रद्धा और रमणता हो, उस समय फलरूप तो आनन्द का वेदन है। वह यहाँ लेना नहीं। वह तो स्वयं शुद्ध रत्नत्रय में आनन्द का फल शामिल आ गया। समझ में आया ? यह तो यहाँ अन्तर्मुख की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की रमणता द्वारा निर्वाण अर्थात् पूर्णानन्द की प्राप्ति उसका फल है। आहाहा !

उसका फल परम निर्वाण के रूप में... यह ऐसा कहा कि प्रतिपादित किया गया। उसके फल का भी इसमें कथन किया गया है। यह सब कवित्व के अभिमान से नहीं किन्तु प्रवचन की भक्ति से... पाठ में है न ? 'पवयण' भक्ति से। अहो ! प्रवचन भगवान के कहे हुए भाव और उनके कथन, उनकी भक्ति से प्रतिपादन किया गया है। समझ में आया ? मोक्षमार्ग की भक्ति, प्रवचन की भक्ति के लिये यह नियमसार कहा गया है। प्रवचन की भक्ति से कहा गया है। कहते हैं, हम कुछ जानते हैं, इसके लिये कहा गया है, हमें ऐसा आता है, इसलिए हमारी प्रसिद्धि करने के लिये हम यह कहते हैं—ऐसा

नहीं है। मात्र भगवान आत्मा के जो शुद्ध रत्नत्रय और उसके कथन भगवान के, उनकी भक्ति से हम तो कहते हैं। समझ में आया ? हम तो उनके सेवक हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सेवक तो दोष है, राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सेवक अर्थात् पूर्ण प्राप्ति के कारण की सेवना, यही भगवान की सेवना है। समझ में आया ? पूर्ण आनन्द की, शान्ति की प्राप्तिरूपी मुक्ति, उसके कारण का सेवन, वही भगवान का सेवन है।

मुमुक्षु : हम तो भगवान के...

पूज्य गुरुदेवश्री : उन भगवान का... भगवान ने कहा है, उसके हम साधक हैं। साधनेवाले हैं। उसके... हैं। आहाहा! समझ में आया ?

कहते हैं, **यदि (उसमें कुछ) पूर्वापर दोष हो...** आगे-पीछे कोई शब्द में व्याकरण आदि नियमों में फेरफार हों, वह तो समयसार में (५वीं गाथा में) आया है। 'छलं ण घेत्तव्वं' इन शब्दों में अन्तर होवे तो छल (ग्रहण) नहीं करना। वहाँ तुम्हारे इतना सुधार लेना। वहाँ सुधार लेना कहा है। वहाँ उसे कहा कि तू वहाँ इस बात में अटकना नहीं। हमें तो भगवान आत्मा आनन्द की बात करना है। उसका अनुभव करना। समझ में आया ? यह कोई पण्डिताई और कोई कवित्त की चतुराई से कहने में आया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! देखावो-देखावो। क्या कहते हैं हिन्दी में ? दिखावा, प्रदर्शन करना। दिखावा कि हम ऐसे चतुर हैं, ऐसा दिखावा करने के लिये नहीं कहा है। दुनिया में हमारी प्रसिद्धि पाने के लिये कहा है, ऐसा हम नहीं कहना चाहते। मात्र वीतराग का मार्ग ऐसा आनन्दस्वरूप है, सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है, उनके आगमों में ऐसा कहा है। उसके प्रेम और भक्ति से हम यह बात करते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

उसमें कोई शब्दों में, व्याकरण में, नियम में, कालभेद में, धातु आदि में किसी शब्द में अन्तर हो तो **समयज्ञ...** आगम के जानकार **परमकवीश्वर दोषात्मक पद का लोप...** है न ? उसके पद की—दोषात्मक की व्याख्या है। वस्तु का अनुभव जो कहते हैं, वह तो हमारे बराबर है। उसमें पदों, शब्दों की किसी शैली में आगे-पीछे शब्द... होवे उसका **पद का लोप करके उत्तम पद करना**। पद को अच्छा करना, तुम ऐसे बहुत होशियार कविश्वर हो तो। समझ में आया ? पदों की रचना में... अब ३०५।

श्लोक - ३०५

[अब, इस १८५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मालिनी)

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां,
हृदय-सरसि-जाते निर्वृतेः कारणत्वात् ।
प्रवचनकृत-भक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः,
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

(वीरछन्द)

मुक्ति का कारण होने से नियमसार अरु उसका फल ।
बुध पुरुषों के हृदय कमल में जो नित रहता है जयवन्त ॥
सूत्रकार श्री कुन्दकुन्द ने भक्तिपूर्वक रचा इसे ।
वास्तव में वह भव्य जनों को मोक्ष-महल का मारग है ॥३०५॥

[श्लोकार्थः—] मुक्ति का कारण होने से नियमसार तथा उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में जयवन्त है । प्रवचन की भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है, (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जो यह नियमसार की रचना की है), वह वास्तव में समस्त भव्यसमूह को निर्वाण का मार्ग है ॥३०५॥

श्लोक - ३०५ पर प्रवचन

[अब, इस १८५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] (श्लोक) ३०५

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां,
हृदय-सरसि-जाते निर्वृतेः कारणत्वात् ।

प्रवचनकृत-भक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः,

स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

श्लोकार्थ - मुक्ति का कारण होने से नियमसार... यह सार यहाँ लिया है। वह नियम पाठ में था। ...नाम है न इसलिए। **मुक्ति का कारण...** परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति। अरे! संसार के दुःखों से थका हो, उसके (लिये बात है)। संसार के स्वर्गादि के सुख भी दुःख हैं। आहाहा! उनमें से जिसे थकान लगी हो कि... आहाहा! कि प्रभु! ऐसे दुःख अब सहन नहीं किये जाते। भक्ति में नहीं आया था? कल आया था। ऐसे दुःख से जिसे मुक्त होना हो, उसे यह **मुक्ति का कारण होने से नियमसार...** कहा गया है।

तथा उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में जयवन्त है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह क्या कहा? मुक्ति का कारण ऐसा जो नियमसार, (वह) ज्ञानी के हृदय में विराजमान जयवन्त वर्तता है। आहाहा! समझ में आया? परम आनन्द और परम ज्ञान की मूर्ति प्रभु के सन्मुख का ज्ञान, दर्शन और चारित्र ज्ञानी के हृदय में वर्तमान जयवन्त वर्तता है, ऐसा कहते हैं। विद्यमान है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी अध्धर से बात करते हैं, ऐसा नहीं है; है हमारे पास, ऐसा कहते हैं।

मुक्ति का कारण होने से नियमसार तथा उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में जयवन्त है। मोक्ष कैसा है, उसका भी हमें ज्ञान वर्तता है। आहाहा! **प्रवचन की भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है...** दिव्यध्वनि—भगवान की वाणी, उसकी जो भक्ति। ठीक! इससे सूत्रकार कुन्दकुन्दाचार्य महाराज, जो यह किया है **वह वास्तव...** (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जो यह नियमसार की रचना की है),... लो! नियमसार किया है, रचा है - ऐसा कहा। निमित्तपना बतलाते हैं, निमित्तपना बतलाते हैं। वाणी तो वाणी के कारण से रचती है, परन्तु भाव की रचनावाले जो थे, उन्होंने इस वाणी की रचना की, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। समझ में आया? अन्तर में वस्तु के पूर्ण स्वभाव के आनन्द के वेदन की दशा में थे। उसमें वे थे। उसकी रचना उन्होंने की थी परन्तु ऐसी स्थितिवान प्राणी, उसे अनुसरती वाणी की रचना भी की, ऐसा कहने में व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? कहनेवाले ने तो नियमसार रचा है। अर्थात् अपनी पर्याय निर्मल शुद्ध स्वभाव के आश्रय की उन्होंने रची है, वह उन्होंने नियमसार रचा है।

भावनियमसार (रचा है)। और उसे अनुसरण करती वाणी निकली, उसे हम निमित्त से कहते हैं कि हमने उसे रचा। समझ में आया? आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य और ये मुनि दोनों दिगम्बर सन्त गजब काम करते हैं! इसकी बात करते कि नियमसार हमने रचा है। हमारा भगवान राग से रहित है। सार का अर्थ है न? ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र जयवन्त वर्तता है, ऐसा कहा है न पहले? वर्तमान है। आहाहा! और उसे अनुसरण करके वाणी निकली। वाणी, वाणी के कारण से बोली जाती है परन्तु निमित्तपना है, इसलिए हम इसे रचते हैं, इसे रचते हैं, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

प्रवचन की भक्ति से सूत्रकार ने जो किया है (अर्थात् श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जो यह नियमसार की रचना की है), वह वास्तव में समस्त भव्यसमूह को... समस्त भव्य समूह को। आहाहा! समस्त भव्य समूह को। भव्य के समूह—देर, उसे निर्वाण का मार्ग है। नियम है। उसे नियम-मोक्ष का मार्ग / निर्वाण का मार्ग यह है। सन्तों ने रचा और वाणी की रचना में निमित्त, इसलिए उन्होंने वाणी रची है, ऐसा कहकर, भव्य समूह को यह मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! यह १८५ गाथा हुई।

गाथा-१८६

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं ।
 तेसिं वयणं सोच्चाऽभक्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥
 ईर्ष्या-भावेन पुनः केचिन्निन्दन्ति सुन्दरं मार्गम् ।
 तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्तिं मा कुरुध्वं जिनमार्गे ॥१८६॥

इह हि भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् । केचन मन्दबुद्धयः त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैकलक्षण-
 निर्विकल्पकनिजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धरत्नत्रयप्रतिपक्ष-
 मिथ्यात्वकर्मोदयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरायणाः ईर्ष्याभावेन समत्सरपरिणामेन सुन्दरं
 मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्गं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं भेदोपचाररत्नत्रयात्मकमभेदानुपचार-
 रत्नत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति, तेषां स्वरूपविकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा ह्यभक्तिं
 जिनेश्वरप्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्गे हे भव्य मा कुरुष्व, पुनर्भक्तिः कर्तव्येति ।

जो कोई सुन्दर मार्ग की निन्दा करे मात्सर्य में ।
 सुनकर वचन उसके अभक्ति न कीजिये जिनमार्ग में ॥१८६॥

अन्वयार्थ : [पुनः] परन्तु [ईर्ष्याभावेन] ईर्ष्याभाव से [केचित्] कोई लोग
 [सुन्दरं मार्गम्] सुन्दर मार्ग को [निन्दन्ति] निन्दते हैं [तेषां वचनं] उनके वचन
 [श्रुत्वा] सुनकर [जिनमार्गे] जिनमार्ग के प्रति [अभक्तिं] अभक्ति [मा कुरुध्वम्]
 नहीं करता ।

टीका : यहाँ भव्य को शिक्षा दी है ।

कोई मन्दबुद्धि त्रिकाल-निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण है—ऐसे
 निर्विकल्प निजकारणपरमात्मतत्त्व के सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय
 से प्रतिपक्ष मिथ्यात्वकर्मोदय के सामर्थ्य द्वारा मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रपरायण वर्तते

हुए ईर्षाभाव से अर्थात् मत्सरयुक्त परिणाम से सुन्दरमार्ग को—पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे भेदोपचार-रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार-रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञवीतराग के मार्ग को—निन्दते हैं, उन स्वरूपविकल (स्वरूपप्राप्ति रहित) जीवों के कुहेतु-कुदृष्टान्तयुक्त कुतर्कवचन सुनकर जिनेश्वरप्रणीत शुद्धरत्नत्रयमार्ग के प्रति, हे भव्य! अभक्ति नहीं करना, परन्तु भक्ति कर्तव्य है।

गाथा - १८६ पर प्रवचन

अब यहाँ १८६

ईसाभावेण पुणो केई णिंदति सुन्दरं मग्गं।

तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥

जो कोइ सुन्दर मार्ग की निन्दा करे मात्सर्य में।

सुनकर वचन उसके अभक्ति न कीजिये जिनमार्ग में ॥१८६॥

ऐसा सुन्दर मार्ग, उसकी कोई निन्दा करे। यह स्वार्थ के पुतले, हम हमारा करते हैं... हम हमारा करते हैं... ऐसी निन्दा करनेवाले। करो। परन्तु स्वरूप की भक्ति में शिथिलता लाने नहीं देना। समझ में आया? वापस जिनमार्ग लिया, निश्चय। अन्त में स्वयं ने यह लिया है। शुद्धरत्नत्रयमार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना, ऐसा कहा है न? अन्दर मार्ग की व्याख्या करते हुए निश्चय-व्यवहार कहा। समझ में आया?

टीका : यहाँ भव्य को शिक्षा दी है। भव्य को शिक्षा दी है। योग्य जीव को कहा गया है। आहाहा! कोई मन्दबुद्धि... ऐसा नियम—मोक्ष का मार्ग, शुद्धरत्नत्रय स्वद्रव्य के आश्रय से होनेवाली दशा—ऐसा मार्ग, उसे नहीं समझनेवाले, ईर्ष्या करनेवाले। समझ में आया? कहा था। बहुत वर्ष पहले यहाँ एक प्रश्न किया था। (संवत्) १९९२ के वर्ष पहले। यह सिद्ध भगवान क्या करते हैं? कहा, सिद्ध भगवान किसी का कुछ नहीं करते। वे तो अपने आनन्द के अनुभव को करते हैं। (तो प्रश्नकर्ता कहता है), अरे! ऐसे सिद्ध! यहाँ हम भी कुछ थोड़ा-बहुत दूसरों का करते हैं और वे बड़े हुए और कुछ नहीं करते? अरे! भगवान! बापू! तुझे खबर नहीं है। तब हमारे ऐसे सिद्ध नहीं चाहिए। परन्तु था कहाँ? भाई! समझ में आया? हीराभाई के मकान में प्रश्न किया था। वे तो बेचारे गुजर

गये। ... मुम्बई। उन्हें कुछ धर्म-बर्म की खबर नहीं होती। बस, सामने प्रसिद्ध होना है। वे कहें, यह सिद्ध भगवान पूर्ण होकर, परमात्मा होकर क्या करते हैं? कहा, पर का कुछ नहीं करते, अपने पूर्ण आनन्द का अनुभव करते हैं। ले, ऐसे सिद्ध! बड़े हुए और किसी का कुछ नहीं करते, वे बड़े किसके? ऐई! पण्डितजी! हम भी यहाँ गाँव में, देश में या परिवार में कुछ सर्वत्र जहाँ हो वहाँ सुधारा-वधारा करने के लिये प्रयत्न करते हैं। वे कुछ नहीं करते किसी का? कहा, हराम है कुछ करे तो किसी का। तुम कुछ करते नहीं। यहाँ भी कौन करता है किसी का? वह तो व्यर्थ में अज्ञानी मूढ़ मानता है। बहियाँ-वहियाँ, नामा-बामा देखता होगा या नहीं यहाँ? यह सब अभी तक क्या किया तब? ऑडीटर हुए न सब। ऑडीटर नाम। ऐ...! यह हमारे मन्त्री हैं। कितना काम किया पोरबन्दर में, देखो न! ...माँ, काका और काकी दोनों गुणगान करते थे। हमारे पालेज में एक काका-काकी कहलाते थे। मुसलमान थे। पुराने व्यक्ति। गाँव में पहले आये हुए, इसलिए वे काका-काकी कहलाते थे। हमारे घर के पास ही थे। मुसलमान थे। पूरे गाँव में एक काका-काकी कहलाये। इसी प्रकार यह पोरबन्दर में वे कहलाते थे।

मुमुक्षु : पोरबन्दर तो बहुत बड़ा गाँव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य। वह तो छोटा। पालेज अर्थात् वहाँ क्या। और तब तो साधारण था। तब तो साधारण थे। अभी तो बढ़ गया है। तब तो साधारण था। तब काका-काकी कहलाते थे। और यह तो बड़े पोरबन्दर के। ये तो रहे नहीं, हों! नहीं? काकी तो चल गयी। यह एक रहे। किसकी काकी और किसका काकीड़ा? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, हे भव्य जीव! तेरे स्व प्रयोजन-मार्ग को साधता (हो और) दुनिया ऐसा कहे कि यह तो अकेला स्वार्थी है। किसी का कुछ करना नहीं और हम धर्मी! किसी का कुछ करना नहीं। अपना पेट तो कुत्ता भी भरता है, ऐसा और एक कहता था। ऐई! चेतनजी! यह तो चेतनजी को खबर है, नाम क्या होगा। यह आया था। (संवत्) १९९२ में वहाँ आया था। वह कहे, कुत्ता भी पेट भरता है। अरे! प्रभु! क्या कहते हैं? भाई! तू क्या कहता है? साधु, हों! नामधारी। अपना पेट तो कुत्ता भी भरता है। पर का करे वे सही। वाह रे वाह!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे होती होगी ? ठीक ! चेतनजी है न। उनका नाम तुम्हारे जैसा नाम है, ऐई ! खबर है ? हिम्मतलाल जेठालाल आये हैं। वे आज कहते थे, चन्दुभाई कहते थे। आहाहा !

यह भगवान अपना करने के अलावा... यह अज्ञानरूप से राग-द्वेष और मिथ्यात्व, वह अपने लिये करता है। वह कोई पर का करता है ? आहाहा ! परन्तु करे किसका ? जगत के तत्त्व अनन्त, अनन्तरूप परिणम रहे हैं। अनन्तरूप रहकर अनन्तरूप, द्रव्यरूप और पर्यायरूप रहे हुए हैं। अब उसमें अनन्त में से एक दूसरे का करे तो अनन्त मिट जाते हैं। अनन्त की संख्या नहीं रहती।

कहते हैं कि **कोई मन्दबुद्धि त्रिकाल-निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण है...** अब यहाँ उठाते हैं, देखो ! इसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र लिया। यहाँ श्रद्धा से शुरु करते हैं। **त्रिकाल-निरावरण,...** मोक्षमार्ग तो यह है। नियम, वह मोक्षमार्ग है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र। वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा। यहाँ श्रद्धा से कहा। त्रिकाल निरावरण भगवान आत्मा **नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण...** आहाहा ! भगवान का-आत्मा का लक्षण नित्य आनन्द। अतीन्द्रिय नित्य आनन्द जिसका लक्षण है। समझ में आया ?

कोई मन्दबुद्धि... इतना। अब **त्रिकाल-निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण है...** एक लक्षण है। देखा ! यहाँ ज्ञान लक्षण न लेकर आनन्द का लक्षण लिया है। आहाहा ! समझ में आया ? अतीन्द्रिय आनन्द में विराजमान आत्मा है। यह उसका लक्षण है। आहाहा ! राग और पुण्य के परिणाम उसका लक्षण नहीं है। यह बतलाना हो, तब दूसरा बतलाते हैं। आता है न पंचास्तिकाय में ? उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण। तीन लक्षण है। प्रत्येक पर्याय, प्रत्येक उत्पाद-व्यय यह भी उसका लक्षण है। परन्तु वह तो एक सामान्य रूप बताना है। यह तो खास जिसे भिन्न पाड़कर बतलाना है। समझ में आया ? जिसे भिन्न पड़ना है और भिन्न पाड़कर बतलाना है। आहाहा !

त्रिकाल प्रभु निरावरण वस्तु है। वस्तु को आवरण कैसा ? ऐसी चीज जो सत्त्व, सत्.. सत्.. सत्.. सत् का सत्त्व। समयसार में तो यह आया था। शुद्ध और अशुद्ध जीव का सत्त्व है। उसके सत्त्व में है। आया था या नहीं ? वह तो पर्याय बताने को। यह तो द्रव्य बताना है। समझ में आया ? शुद्ध-अशुद्ध पर्याय भी जीव का सत्त्व है। सत्त्व अर्थात् इसके

सत्त्व के सत् में होता है, किसी पर में नहीं होता। परन्तु यहाँ तो द्रव्य को बताना है, वस्तु कही है। वह तो पर्याय को बतानी थी।

अहो! तीनों काल निरावरण प्रभु विराजता है। और नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण है... यह सुख और आनन्द, वही जिसका लक्षण है और आनन्द के लक्षण से वह आत्मा लक्षित हो सकता है। आहाहा! ऐसे निर्विकल्प निजकारणपरमात्मतत्त्व के... ऐसे त्रिकाल निरावरण और नित्य आनन्द लक्षण, ऐसे निर्विकल्प अभेद निज कारणपरमात्मा, अपना कारणपरमात्मा वस्तु, ऐसे कारणपरमात्मतत्त्व के सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-अनुष्ठानरूप... ऐसा अपना परमात्मा कारणस्वरूप भगवान, उसकी सच्ची अन्तर श्रद्धा, उसका आत्मज्ञान, ऐसे आत्मा में अनुष्ठानरूप—आचरणरूप वह चारित्र। अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय से... ऐसे सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-अनुष्ठानरूप... ऐसा क्या? शुद्धरत्नत्रय... ऐसे शुद्धरत्नत्रय से... अब इतनी व्याख्या कही। उससे विरुद्धवाले तेरी निन्दा करे तो अभक्ति करना नहीं, ऐसा कहा। प्रतिपक्ष... यहाँ उसके प्रतिपक्ष यह आया। इसमें और यहाँ प्रतिपक्ष यह लेने जाए तो वह मिलता नहीं नियमसार। व्यवहार के परिहार के लिये।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो इसकी वस्तु की बात है। व्यवहार के परिहार के लिये विकल्प है न? नियमसार। व्यवहार का परिहार अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, उसके परिहार के लिये सार शब्द जोड़ा है। वहाँ तो उसकी विकारी पर्याय से विरुद्ध ऐसा।

यहाँ तो कहते हैं कि शुद्धरत्नत्रय से प्रतिपक्ष मिथ्यात्वकर्मोदय... वाले, ऐसा कहते हैं। जिस जगह हो वहाँ... तब वहाँ वे शोर मचावे या नहीं, यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ ऐसा लेना मिथ्यात्व और दर्शन, यह विरोध है। उसके परिहार के लिये मोक्षमार्ग कहा है। ऐसा कहते हैं। यहाँ तो विरोध करनेवालों को लेना है न? वह तो विरोधपर्याय से रहित नियमसार है, ऐसा कहना है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा कारणपरमात्मा अपना भगवान नित्यानन्द प्रभु, शाश्वत् वस्तु की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय जो मोक्ष का मार्ग है, ऐसे रत्नत्रय से विरुद्ध मिथ्यात्वकर्मोदय के सामर्थ्य द्वारा... विपरीत ऐसा दर्शनमोह, उसके उदय की सामर्थ्य द्वारा। उसमें जुड़ते वे। उसमें जुड़ते हैं।

मुमुक्षु : उदय का जोर आया अवश्य ।

पूज्य गुरुदेवश्री : आया, कर्म उदय है न ? उसके उदय का सामर्थ्य कहलाता है । उसके उदय का सामर्थ्य । आत्मा का सामर्थ्य कहाँ है ?

मिथ्यादर्शन- जिसे मिथ्याश्रद्धा है, मिथ्याज्ञान है, मिथ्याचारित्र में परायण है । परायण वर्तते हुए... आहाहा ! ईर्ष्याभाव से अर्थात् मत्सरयुक्त परिणाम से... ईर्ष्या—हम ऐसे जाननेवाले हैं, हम ऐसे जाननेवाले । यह तुम सब स्वार्थ के पुतले, (कि) हम हमारे आत्मा का करते हैं, हम आत्मा का करते हैं, ऐसा करके इस सुन्दर मार्ग की कोई निन्दा करे । मत्सरयुक्त से ईर्ष्याभाव से । ऐसे परिणाम से सुन्दरमार्ग को— सुन्दर मार्ग की जरा व्याख्या करते हैं ।

‘णिंदन्ति सुदरं मगं’ पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे भेदोपचार-रत्नत्रयात्मक... पहले यह व्यवहार लिया । मुनि का मार्ग । पाप के परिणाम से जिसे निवृत्ति है । अहिंसादि के परिणाम, व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम हैं उसे । पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे भेदोपचार-रत्नत्रयात्मक... व्यवहाररत्नत्रय । व्यवहाररत्नत्रय ऐसा जो उसका विकल्प और अभेद उपचार रत्नत्रय, वह निश्चय । अभेद उपचार रत्नत्रयस्वरूप सर्वज्ञ-वीतराग के मार्ग को— देखो ! भेदोपचार-रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार-रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञ-वीतराग के मार्ग को— आहाहा ! दोनों का प्रमाणज्ञान कराया है न ? व्यवहार से ऐसा होता है । आराधना है निश्चय, परन्तु उसमें व्यवहार ऐसा होता है । जब तक पूर्ण वीतराग नहीं । वीतराग का व्यवहार अलग ही प्रकार का (होता है) ।

देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प, पंच महाव्रत के विकल्प, उसमें सावद्य का त्याग, हिंसा का त्याग । बाह्य, ऐसा व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप और अभेद उपचार रत्नत्रयस्वरूप सर्वज्ञवीतराग के मार्ग को—निन्दते हैं, उन स्वरूप... मन्दबुद्धि (शब्द था) पहले से । कोई मन्दबुद्धि इस प्रकार से निन्दा करते हैं । समझ में आया ? हमारा कुछ नहीं करे, वे वीतराग कैसे ? भगवान किसके बड़े ? ऐसा कहे । बड़े हों तो बहुतों का करे न ? लो ! यह तो हम हमारा करते हैं । हम मोक्ष के मार्ग में बड़े हैं । यह नहीं । ऐसा नहीं होता । दुनिया का करना चाहिए । और कदाचित् दुनिया के लिये भव करना पड़े, तो भव

करना। समझ में आया ? यह बात आ गयी है। समझ में आया ? जगत के हित के लिये भव करना पड़ता हो तो हम भव करेंगे।

मुमुक्षु : इसमें भी जगत का कल्याण है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : उससे जगत का धूल में भी कल्याण नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : और दूसरे को लाभ होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी किसी को नहीं होता। किसे लाभ हो ? स्वयं अपना करे, उसमें फिर विकल्प कोई आ गया और तीर्थकरगोत्र बँध गया तो सामनेवाले के निमित्त होता है। वह भी वह करे, तब निमित्त हो या नहीं ? इससे वहाँ कहाँ होता है ? समझ में आया ?

कहते हैं कि, अरे..! ऐसे मन्दबुद्धि ऐसे वीतरागमार्ग को। यहाँ सर्वज्ञ-वीतराग शब्द डाला है। आहाहा! जिन्हें तीन काल—तीन लोक एक समय के सूक्ष्म काल में जानने में आ गये हैं, ऐसे सर्वज्ञ वीतराग, उनका जो कहा हुआ मार्ग, उसकी कोई निन्दा करे... आहाहा! वह कोई भगवान को माने नहीं। भगवान माने तो कहे, राग होता है। यह गजब... समझ में आया ? ऐसे **सर्वज्ञवीतराग के मार्ग को—निन्दते हैं, उन स्वरूपविकल (स्वरूपप्राप्ति रहित)...** विकलेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय नहीं होते ? दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, यह विकलेन्द्रिय है। पूरी पाँच इन्द्रिय रहित। स्वरूप प्राप्ति रहित। जिसे चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द अखण्डानन्द स्वरूप की प्राप्ति जिन्हें नहीं, और ऐसे मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान की प्राप्ति उन्हें है। आहाहा!

ऐसे **जीवों के कुहेतु...** मिथ्या हेतु दे। **कुदृष्टान्त...** इसे खोटे दृष्टान्त दे। समझ में आया ? ऐसे कुहेतु और कुदृष्टान्त सहित कुतर्क। अपने दृष्टान्त दे। ऐसा होता है, अमुक होता है, बहुतों को तिराया है, मोक्षमार्ग में लग गये। अकेला रहे, अकेला रहे, वह तो स्वार्थ का पुतला कहलाता है। परमार्थ करे, वह बड़ा परमार्थी कहलाता है। ऐई! कितनी गौशालाओं में रुकना नहीं पड़ा होगा ? तब सबके काका किसके कहलाते होंगे ? किसी के काम किये होंगे तब... आहाहा! तब और तुम कहते हो कि तुमसे कुछ नहीं होता तथा और कहो कि दूसरे को समझाने खड़े हुए। तुम्हारा सुमेल कहाँ है इसमें कुछ ? ऐई! तुम कहो कि किसी से किसी का कुछ नहीं होता। और कहे कि हम तुम्हें समझाते हैं। इसमें

तुम्हारा कुछ मेल कहाँ है ? मावाणी ! ऐसे तो विरोध करते हैं । तुम कहो कि मौन रहने में लाभ है । और वापस बोलने की बातें तुम करो । इसमें तुम्हारा मेल कहा है ? ऐई ! भीखाभाई ! ऐसे कुहेतु रखकर और कुदृष्टान्त देकर और कुतर्कों के वचन बोलते हैं । समझ में आया ? इसमें और तुम कहते हो कि क्रमबद्ध होता है । और तुम समझाकर उसका क्रमबद्ध बदला डालते हो । यह कहते हैं न, कुतर्क रखकर कुतर्क करते हैं । यह... दृष्टान्त देकर कुतर्क करे । समझ में आया ? जिस समय में जो पर्याय...

मुमुक्षु :बराबर लगे ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ... ऐसी लगे उसे । उसके काल में उसकी पर्याय होगी तो फिर तुम उसे ऐसा कर-इस प्रकार समझाने में किसलिए व्यर्थ में लगे हो ? कहो, समझ में आया ? परन्तु भाई ! वाणी के काल में वाणी निकली, वह वापस ले न साथ में । और विकल्प के काल में विकल्प आया और जानता है कि यह विकल्प और वाणी है, वह जानने के काल में ज्ञान की पर्याय का स्वभाव वह जानने का था । समझ में आया ? आहाहा ! यह गजब मार्ग है । उसने कहा न, देखो ! फूलचन्दजी कहते हैं, देखो ! हमने यह किया है । सोनगढ़ मानता नहीं । सोनगढ़ कहे कि कर नहीं सकता । देखो ! ऐसा लिखा है कि यह मैं करता हूँ । जैन तत्त्व मीमांसा । अरे ! भगवान ! क्या करता है ? भाई ! यह तो तेरा कुहेतु है । समझाने की पर की भाषा तो ऐसी ही आती है । समझ में आया ? तुम समझाते हो न । परन्तु तुम क्रमबद्ध मानते नहीं और पर का कर नहीं सकता, ऐसा भी मानते नहीं । यह तो सोनगढ़ कहता है, ऐसा वे मानते नहीं । आहाहा !

कुहेतु-कुदृष्टान्तयुक्त... वापस दृष्टान्त देवे उसके जैसा । वह अपने आप हो जाता है ? लो, इस दीपक को तुम ऐसे चांप मारो प्रकाश होता है, एकदम । किसलिए खड़े हुए ? अपने आप होगा नहीं ? होने दो अपने आप । चांप नहीं देना । वहाँ तो खड़े होकर ऐसे दबाओ तब दीपक होता है । एक ओर मानते हो कि नहीं होता कहे और फिर कहे कि हम करते हैं तो होता है । इन दो में तुम्हारा मेल कहाँ है ? ऐई ! वजुभाई ! आहाहा ! ऐसे स्वरूपविकल जीवों के, भाई ! उसे खबर नहीं । वह कुहेतु रखेगा, कुदृष्टान्त का उदाहरण भी, उसे मेल आवे ऐसा कहेगा । यह पंचाध्यायी में कहा है, नहीं ? नयाभास । नयाभास में कहा है । कुदृष्टान्त, यह उदाहरण-दृष्टान्त देकर सिद्ध करेगा । परन्तु कुनय है, वह कुनय है ।

ऐसे कुतर्कवचन सुनकर जिनेश्वरप्रणीत... वीतराग परमेश्वर (पद) जिसने प्राप्त किया है, उनका कहा हुआ— जिनेश्वरप्रणीत—वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर प्रणीत, उन्होंने कहा हुआ शुद्धरत्नत्रयमार्ग... देखो! यहाँ लिया अकेला। दो थे वह बतलाया। इस शुद्धरत्नत्रयमार्ग के प्रति,... शुद्धरत्नत्रयमार्ग, शुद्धरत्नत्रयमार्ग। अकेला स्व के प्रयोजन का मार्ग। जिसमें आत्मा अपना ही कर सकता है, पर का कुछ भी जरा भी नहीं। उसी प्रकार पर से कुछ जरा भी ले नहीं। ऐसा जो शुद्धरत्नत्रय, सर्वज्ञ ने कहा हुआ मार्ग, उसके प्रति हे भव्य! अभक्ति नहीं करना,... ऐसा मार्ग होवे तो ऐसे निन्दा करनेवालों के इतने सब झुण्ड क्यों निकलते हैं ? ऐसा मानना नहीं। वह तो ऐसा ही होता है। भगवान ने कहा हुआ मार्ग, उसमें अभक्ति करना नहीं। आहाहा! समझ में आया ? पूरी दुनिया कदाचित् डोल उठे परन्तु सत्य से हटना नहीं, भाई! उसमें क्या होगा ? इसमें कुछ होगा ? वे सब इतने बड़े-बड़े पण्डित और यह... एक व्यक्ति अभी कहता था, कि ऐसे बड़े महाराज कहलायें, वे सब मिथ्या कहते होंगे ? उन्होंने बाह्य त्याग के आधार से कीमत की हो न, इसलिए वे बड़े कहलाते हैं।

संसार में रहे होने पर भी, स्त्री-पुत्र में रहे दिखने पर भी समकित्ती उसे छोटे लगते हैं। समकित्ती जीव उसे छोटे लगते हैं। वे (बाह्य त्यागी) बड़े लगते हैं। ऐसा त्याग। स्त्री-पुत्र, राजपाट छोड़ा, व्यापार-धन्धा छोड़ा और ऐसे त्यागी हुए, उनके वचन मान्य हो या नहीं ? अब सुन न ! वहाँ उसने मिथ्यात्व का त्याग किया ही कब है ? उसने तो समकित का त्याग किया है। उसके वचन बड़े—उसे बड़ा मानना, वह तो तेरी भूल है। समझ में आया ?

जिनेश्वरप्रणीत... वीतराग ने कहा हुआ मार्ग शुद्धरत्नत्रयमार्ग... एक ही कहा है, देखो ! पाठ में जिनमार्ग है न ? 'मा कुणह जिणमग्गे।' वीतरागी भगवान आत्मा, उसके आश्रय की दृष्टि, ज्ञान और चारित्र में प्रेम नहीं छोड़ना। अभक्ति नहीं करना, एक ही होवे तो भी बस है। सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं है। मात्र हाँ करनेवाले बहुत मिलें तो यह सत्य कहलाये, ऐसा नहीं है। आहाहा ! परन्तु भक्ति कर्तव्य है। भक्ति से लिया है। दुनिया के कुहेतु, कुदृष्टान्तयुक्त कुतर्क के वचन, कुतर्क के वचन। यह कहते हैं कि केवलज्ञानी के हिसाब से सब जीवों में क्रमबद्ध होता है परन्तु श्रुतज्ञानी ऐसा माने, किन्तु

उसमें आचरण के लिये ऐसा नहीं होता। श्रुतज्ञानी कहता है कि मैं पुरुषार्थ करूँ तदनुसार होगा। परन्तु पुरुषार्थानुसार होगा, यह भी भगवान ने देखा नहीं उसमें? आहाहा! समझ में आया?

एक व्यक्ति ललितपुर का ऐसा कहता था, यह तुम्हारी बात है, वह एकाध को बैठे ऐसी है। पण्डितजी तुम थे? महेन्द्रकुमार बोला था। वह भी थे। रामजीभाई, बहुत चर्चा हुई थी। एक दूसरा था। ललितपुर का था। वह कहता है, यह बात तो तुम्हारी एकाध को बैठे। परन्तु एकाध को बैठे किन्तु सत् है या नहीं अब? एकाध को बैठे, न बैठे, उसका तुझे क्या काम था? न बैठे तो क्या हो गया? एक पण्डित था, पण्डित। गुजर गया। छोटी उम्र में गुजर गया।

अरे रे! बापू! ऐसा काल आया। विचार किया नहीं। करने का कुछ और कर बैठे कुछ। अरे! आँखें बन्द हो जाएगी और जाएगा। अंधेरे कमरे में जाकर चौरासी के अवतार में कहाँ अवतरित होगा? बापू! इसलिए यह अवतार छूटने की बात, स्व के आश्रय की मार्ग की क्रिया, वह अन्तर की क्रिया, वह जिसे नहीं बैठती, वह ईर्ष्या से निन्दा करता है। समझ में आया? भक्ति करना, भाई! आहाहा! अर्थात् कि भगवान पूर्णानन्द स्वरूप की रुचि, ज्ञान और रमणता करना। उसमें शिथिलता आने नहीं देना, ऐसा कहते हैं। अभक्ति नहीं करना। समझ में आया? भक्ति करना। टीकाकार श्लोक कहते हैं।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-३०६

[अब, इस १८६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

(शार्दूलविक्रीडित)

देहव्यूह-महीज-राजिभयदे दुःखावली-श्वापदे,
विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने ।
नाना-दुर्णय-मार्ग-दुर्गम-तमे दृङ्मोहिनां देहिनां,
जैनं दर्शन-मेक-मेव शरणं जन्माटवी-सङ्कटे ॥३०६॥

(वीरछन्द)

देहरूप तरु सघन भयंकर दुःखरूपी पशु हैं जंगली ।
काल अग्नि सबको खा जाती सूख रहा मतिरूपी नीर ॥
कुनयरूप पथ के कारण जो मोही को अति दुर्गम है ।
उस संसार विकट अटवी में शरण जैन ही दर्शन है ॥३०६॥

[श्लोकार्थः—] देहसमूहरूपी वृक्षपंक्ति से जो भयंकर है, जिसमें दुःखपरम्परारूपी जंगली पशु (बसते) हैं, अति कराल कालरूपी अग्नि जहाँ सबका भक्षण करती है, जिसमें बुद्धिरूपी जल (?) सूखता है और जो दर्शनमोहयुक्त जीवों को अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यन्त दुर्गम है, उस संसार-अटवीरूपी विकट स्थल में जैनदर्शन एक ही शरण है ॥३०६॥

१- दुर्गम = जिसे कठिनाई से लाँघा जा सके ऐसा; दुस्तर । (संसार-अटवी में अनेक कुनयरूपी मार्गों में से सत्य मार्ग ढूँढ़ लेना मिथ्यादृष्टियों को अत्यन्त कठिन है और इसलिए संसार-अटवी अत्यन्त दुस्तर है ।)

१८६ गाथा के दो कलश हैं। ३०६ कलश।

देहव्यूह-महीज-राजिभयदे दुःखावली-श्वापदे,
 विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने।
 नाना-दुर्णय-मार्ग-दुर्गम-तमे दृङ्मोहिनां देहिनां,
 जैनं दर्शन-मेक-मेव शरणं जन्माटवी-सङ्कटे ॥३०६॥

कहते हैं कि यह संसाररूपी अटवी विकट स्थल है। जिसमें देहसमूहरूपी वृक्षपंक्ति से जो भयंकर है,.... एक देह, दूसरी देह ऐसे अनन्त देह, उनका जो समूह, उसकी पंक्ति-धारा। जैसे वन में वृक्ष की पंक्ति होती है, अटवी में जैसे वृक्ष की पंक्ति का समूह होता है, वैसे संसाररूपी अटवी में इस देहसमूहरूपी वृक्ष की पंक्ति है। एक के बाद एक... एक के बाद एक... एक के बाद एक देह इसे मिलती ही रहती है। उसमें देहसमूह-देह का पूरा देह। ऐसे देहसमूहरूपी वृक्षपंक्ति से... श्रेणी से जो भयंकर है,.... संसार अटवी। जिसमें दुःखपरम्परारूपी जंगली पशु (बसते) हैं,.... अटवी में जैसे सिंह और बाघ (होते हैं)। उसी प्रकार दुःख की परम्परा एक के बाद एक... एक के बाद एक... दुःख तो चलते ही रहते हैं। संसार में (कोई) दुःखरहित नहीं है। दुःखपरम्परारूपी जंगली पशु (बसते) हैं,.... राग-द्वेष की आकुलता, चाहे तो स्वर्ग में हो, नरक में हो, सेठाई में हो, रंकाई में हो परन्तु उसे दुःख की परम्परा (चालू ही है)। उसमें तो जंगली पशु-दुःख की परम्परा है। शत्रु चीर डाले ऐसे पशु हैं। संसार अटवी ऐसी है।

अति कराल कालरूपी अग्नि जहाँ सबका भक्षण करती है,.... कराल काल क्षण में सबका नाश कर डालता है। कराल कालरूपी अग्नि वन को जैसे जलाती है, उसी प्रकार यह आत्मा अनेक प्रकार के शरीरादि का नाश कर डालती है। सुविधा और असुविधा सबका कराल काल संसार। संसार दावानल से सुलग रहा है।

जिसमें बुद्धिरूपी जल (?) सूखता है... अन्दर कुछ अशुद्धि है। बुद्धिरूपी जल सूख जाता है। आत्मा का ज्ञान क्या है, उसका इसे भान नहीं। संसार की चतुराई, वह भी आत्मा के ज्ञान को सूखा डालती है। समझ में आया ? और जो दर्शनमोहयुक्त जीवों को...

जिन्हें श्रद्धा विपरीत है, ऐसे जीवों को अनेक कुनयरूपी मार्गों के कारण अत्यन्त दुर्गम है, ... कुनय, कुतर्क, कुनय और कुशास्त्र इन रूपी मार्ग के कारण अत्यन्त दुर्गम है। इस अटवी में से निकलना (दुर्गम है)। ऐसी अटवी हो, उसमें जाल, बबूल, काँटे आड़े-टेड़े भरे होते हैं, उसमें से रास्ता निकालना मुश्किल है। उसी प्रकार यह दर्शनमोह जीव को अनेक कुनय, कुतर्कों द्वारा मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। नीचे (फुटनोट में) अर्थ है। जिसे कठिनाई से लाँघा जा सके ऐसा; दुस्तर। है। इन चौरासी के अवतार में से निकलना महा दुष्कर है।

(संसार-अटवी में अनेक कुनयरूपी मार्गों में से सत्य मार्ग ढूँढ़ लेना...) अनेक जाल, जंखर, बबूल के काँटे बीच में अटवी में पड़े हों, उसमें से पगडंडी-मार्ग निकालना कि इस मार्ग से शहर में पहुँचा जा सकेगा, ऐसा मार्ग खोजना जैसे महा कठिन है, उसी प्रकार इस संसार की अटवी में भटकते जीव को कुनय मार्ग में से सत्य मार्ग खोज निकालना, सत्य क्या है यह खोजना मिथ्यादृष्टियों को अत्यन्त कठिन है... कहीं-कहीं भर जाता है। समझ में आया? विपरीत नय के आशय से एकान्त में या पर्याय में या द्रव्य में या एकान्त भेद में या एकान्त अभेद में भर जाता है, कहते हैं। वस्तु की स्थिति खोजना, इस कुनय के कारण से, बहुत कठिन है। और इसलिए संसार-अटवी अत्यन्त दुस्तर है। दुस्तर। तिरना अर्थात् अटवी में से निकलना। कहो, धर्म के नाम से भी अकेले कुनय वर्ते, उसमें से निकलना और सत्य को खोजना बहुत दुस्तर—तिरना-निकलना महामुश्किल है। अहो.. !

उस संसार-अटवीरूपी विकट स्थल में... संसाररूपी अटवी का विकट मैदान। आहाहा! जैनदर्शन एक ही शरण है। आत्मा का वीतरागी स्वभाव, वह जैनदर्शन। जैनदर्शन ने यह कहा कि तेरा स्वभाव वीतराग आनन्दस्वरूप त्रिकाल है। आहाहा! वह एक ही शरण है, दूसरा कोई शरण नहीं है। समझ में आया? ऐसी अटवी में से निकलने के लिये (कि जो) दुर्गम अटवी है (उसमें) एक जैनदर्शन ही शरण है। एक ही शरण है। लो! जैनदर्शन एक 'ही' शरण है। दूसरा कोई नहीं? दूसरा कहाँ (कोई है)। आत्मा का वीतरागी स्वभाव, वह जैनदर्शन और उसकी पर्याय की प्राप्ति होना, वह जैनशासन। त्रिकाली आनन्दमूर्ति भगवान वीतरागस्वरूप का शरण—इसका आश्रय, (वह) एक ही उद्धार करने का उपाय है। एक श्लोक हुआ। किसी को ऐसा लगे कि यह तो एकान्त है,

स्वयं जैनदर्शन की बात एकान्त में डालते हैं। यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वीतराग सर्वज्ञदेव ने कहा और प्रगट किया, ऐसा यह स्वरूप जैनदर्शन अर्थात् आत्मा, जिसमें राग नहीं, जिसमें संसार है नहीं, ऐसा जो त्रिकाली स्वभाव, वह एक ही शरण है। समझ में आया ?

श्लोक - ३०७

तथाहि -

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शङ्खध्वनिकम्पिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः,
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ॥३०७॥

तथा—

(वीरछन्द)

लोकालोक निकेतन है जिन नेमिप्रभू का ज्ञान शरीर ।
जिनकी शंखध्वनि से सारी पृथ्वी अतिशय काँपी थी ॥
उनका स्तवन करने में इस जग में सुर नर कौन समर्थ ।
अति उत्सुक जिन भक्ति उसमें कारण मैं जानूँ यह अर्थ ॥३०७॥

[श्लोकार्थः—] जिन प्रभू का ज्ञानशरीर सदा लोकालोक का निकेतन है (अर्थात् जिन नेमिनाथ प्रभू के ज्ञान में लोकालोक सदा समाते हैं—ज्ञात होते हैं), उन श्री नेमिनाथ तीर्थेश्वर का—कि जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कम्पा दिया था उनका—स्तवन करने के लिए तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है ? (तथापि) उनका स्तवन करने का एकमात्र कारण जिनके प्रति अति उत्सुक भक्ति है, ऐसा मैं जानता हूँ ॥३०७॥

श्लोक - ३०७ पर प्रवचन

(श्लोक) ३०७।

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शङ्खध्वनिकम्पिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः,
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ॥३०७॥

उत्सुक, अत्यन्त उत्सुक, अति उत्सुक। अर्थ किया है न। नेमिनाथ भगवान को याद किया है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो स्वयं ब्रह्मचारी थे न ? बालब्रह्मचारी थे। पद्मप्रभमलधारिदेव बालब्रह्मचारी (थे), इसलिए बालब्रह्मचारी तीर्थकर को याद किया है।

श्लोकार्थ : जिन प्रभु का ज्ञानशरीर... नेमिनाथ भगवान का ज्ञानशरीर, हों! वह ज्ञान उनका शरीर। सदा लोकालोक का... घर है। निकेतन। निकेतन अर्थात् घर। भगवान नेमिनाथ प्रभु, जिनका ज्ञानरूपी स्वभाव शरीर है, वह लोकालोक का घर है अर्थात् लोकालोक को जानने में समर्थ है। लोकालोक जिसमें ज्ञात होते हैं। कहो, शब्द तो ऐसा लिया है। भगवान ज्ञानस्वभाव लोकालोक का निकेतन है। निकेतन अर्थात् रहने का स्थान। ऐई! पण्डितजी। घर है। लोकालोक यहाँ रहता है। इसका अर्थ नेमिनाथ प्रभु के ज्ञान में लोकालोक सदा समाते हैं—ज्ञात होते हैं),... ऐसा उनका ज्ञानशरीर है। ज्ञानशरीर। देहशरीर तो जड़ है, यह तो मिट्टी है। समझ में आया ?

श्री नेमिनाथ तीर्थेश्वर का— वे तीर्थेश्वर हैं। तीर्थ के ईश्वर हैं। तीर्थेश्वर—तीर्थ के ईश्वर। तिरनेवाले आत्माओं के भी वे ईश्वर हैं। साधक के वे परमेश्वर हैं, ऐसा कहते हैं। जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कम्पा दिया था... आता है न ? नेमिनाथ भगवान और कृष्ण की रानी रुक्मणी। नेमिनाथ भगवान ने स्नान किया, इसलिए वस्त्र निकाल दिया और रुक्मणी से कहा धो दीजिए। रुक्मणी कहते हैं कि तुम कहनेवाले कौन हो ? हमें तो हमारे श्री कृष्ण जो शंख की ध्वनि फूँके तो ऐसे द्वारिका को हिला दें, वे पुरुष

भी हमसे नहीं कहते और तुम ? नेमिनाथ भगवान गृहस्थाश्रम में थे। तीन ज्ञान के धनी थे, ऐसा कहा, इसलिए भगवान ने जहाँ शंख था, नाग की शैय्या थी। नाग की शैय्या। पाटी होती है न ? पलंग की पाटी। उसी प्रकार नाग की पाटी थी। ... पोचा, कोमल... ऐसी नाग की शैय्या थी। श्रीकृष्ण को सोने के लिये। नाग की शैय्या। वहाँ गये और वहाँ जाकर शंख लिया, शंख लेकर फूँका, वहाँ तो द्वारिका काँप उठी। शंख फूँका वहाँ आवाज का इतना जोर हुआ, द्वारिका काँप उठी। यहाँ तो पूरी पृथ्वी कम्पयमान कर दी। परन्तु वह पूरा स्थान है, उसे कँपा दिया। शंख हाथ में लेकर फूँका वहाँ।

जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कम्पा दिया था... लो ! शंख के कारण से फूँक पड़ी, वहाँ पृथ्वी काँप उठी। निमित्त से (कथन है)।

मुमुक्षु : मानना या नहीं मानना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ सिद्ध कहाँ करना है ? यहाँ तो उन्होंने यह किया, उसमें ऐसा हुआ, इतना सिद्ध करना है। आहाहा ! समझ में आया ?

जिन्होंने शंख की ध्वनि से सारी पृथ्वी को कम्पा दिया था उनका—स्तवन करने के लिए तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है ? उनका स्तवन करने में तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ हैं ? ऐसी जिनकी शक्ति, (ऐसे) नेमिनाथ भगवान केवलज्ञान को प्राप्त हुए, पूर्णानन्द की दशा को प्राप्त हुए, उनकी कौन मनुष्य या देव स्तुति करें ? उनकी अलौकिक चीज़ जहाँ... उसकी पर्याय अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दरूप परिणमित हो गयी है, उसका क्या कहना ? लोकालोक से भी अनन्त गुना काल-क्षेत्र होता तो जान लें, ऐसी जिनकी ज्ञान की पर्याय का परिणामन स्वच्छ और शुद्ध है, उनकी स्तुति करने में कौन समर्थ है। समझ में आया ?

तीन लोक में कौन मनुष्य या देव समर्थ है ? ऐसा कहते हैं। गणधर भी क्या समर्थ है, ऐसा कहते हैं ? (तथापि) उनका स्तवन करने का एकमात्र कारण जिनके प्रति अति उत्सुक भक्ति है... लो ! उनके प्रति अतिउत्सुक-उत्साहरूपी भक्ति जगी है, इसलिए करते हैं। आहाहा ! आता है न ? है तो विकल्प, परन्तु वह अशुभ की जब स्थिति न हो तो ऐसा भाव होता है। अन्दर में स्थिर नहीं हो सकता तो ऐसा विकल्प होता है।

मुमुक्षु : न होवे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : होता ही है। न हो, ऐसा कुछ (नहीं है)। वीतराग पूर्ण हो और न हो ? या तो वीतराग हो जाए या अज्ञानी हो जाए। समझ में आया ? भाव आता है न ? वीतरागता में कितना काल रहे ?

कहते हैं कि **जिन के प्रति...** ऐसे वीतरागी भगवान के प्रति, जिनका स्वभाव अकेला वीतराग पूर्ण हो गया। अहो ! जैसा उनका स्वभाव था, वैसी व्यक्त दशा प्रगट हो गयी। जिनस्वरूप ही आत्मा था। वीतरागस्वरूप था, वैसा पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गया। उनके प्रति **अति उत्सुक भक्ति है ऐसा मैं जानता हूँ**। स्तवन करने का कारण यह एक ही है, ऐसा कहते हैं। दूसरा कोई कारण नहीं है। कहो, समझ में आया ? आया था न ? 'अभक्तिं मा कुरुध्वं' १८६ में। उसमें से यह निकाला।

अब यह अन्तिम गाथा। १८७।

मुमुक्षु : हे भव्य ! अभक्ति न कर...

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति करना। वहाँ तो यह निश्चय भक्ति की बात है। यह व्यवहार भक्ति भी उसमें निकालते हैं।

मुमुक्षु : महापुरुष ऐसे दोष करे, उसका क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोष करते हैं झ्रया, वह आते हैं, होता है। भाव होता है। भाव होता है न, नहीं होता-ऐसा नहीं है। शुभभाव भी व्यवहार से प्रशंसनीय है न ! व्यवहार से। निश्चय से अप्रशंसनीय है। ... भाव आते हैं, वे होते हैं।

गाथा-१८७

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।

णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावर-दोस-णिम्मक्कं ॥१८७॥

निजभावनानिमित्तं मया कृतं नियमसारणामश्रुतम् ।

ज्ञात्वा जिनोपदेशं पूर्वापर-दोष-निर्मुक्तम् ॥१८७॥

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोऽयम् ।

अत्राचार्याः प्रारब्धस्यान्तगमनत्वात् नितरां कृतार्थतां परिप्राप्य निजभावनानिमित्तम-
शुभवञ्चनार्थं नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्रशतकुशलेन मया कृतम् ।

किं कृत्वा ? पूर्वं ज्ञात्वा अवञ्चकपरमगुरुप्रसादेन बुद्ध्वेति ।

कं ? जिनोपदेशं वीतरागसर्वज्ञमुखारविन्दविनिर्गतपरमोपदेशम् ।

तं पुनः किं विशिष्टं ? पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहरागद्वेषाभावा-
दाप्तमुखविनिर्गतत्वान्निर्दोषमिति ।

किञ्च अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दसन्सूचितविशुद्ध-
मोक्षमार्गस्य अञ्चितपञ्चास्तिकायपरिसनाथस्य सञ्चितपञ्चाचारप्रपञ्चस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य
सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पञ्चभावप्रपञ्चप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमण-
प्रत्याख्यानप्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डाडम्बरसमृद्धस्य
उपयोग -त्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य द्विविधं किल तात्पर्यं, सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं
चेति ।

सूत्रतात्पर्यं पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितं, शास्त्रतात्पर्यं त्विदमुपदर्शयेत् ।

भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाधनिरन्तरानङ्ग-
परमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरञ्जननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनयनिचयाञ्चितं
पञ्चमगतिहेतुभूतं पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये खलु निश्चयव्यवहार-

नययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रहृदयवेदिनः परमानन्दवीतराग-
सुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहप्रपञ्चाः त्रिकालनिरुपाधिस्वरूप-
निरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणात्मकभेदोपचारकल्पनानिरपेक्षस्वस्थ-
रत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति ।

सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश श्री जिनदेव का ।

मैं जान, अपनी भावना हित नियमसार सुश्रुत रचा ॥१८७॥

अन्वयार्थ : [पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम्] पूर्वापर दोष रहित [जिनोपदेशं] जिनोपदेश
को [ज्ञात्वा] जानकर [मया] मैंने [निजभावनानिमित्तं] निजभावनानिमित्त से
[नियमसारनामश्रुतम्] नियमसार नाम का शास्त्र [कृतम्] किया है ।

टीका : यह, शास्त्र के नामकथन द्वारा शास्त्र के उपसंहार सम्बन्धी कथन है ।

यहाँ आचार्यश्री (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव) प्रारम्भ किये हुए कार्य के
अन्त को प्राप्त करने से अत्यन्त कृतार्थता को पाकर कहते हैं कि सैकड़ों परम-
अध्यात्म-शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने निजभावनानिमित्त से—अशुभवचनार्थ नियमसार
नामक शास्त्र किया है । क्या करके (यह शास्त्र किया है) ? प्रथम *अवंचक परम गुरु
के प्रसाद से जानकर । क्या जानकर ? जिनोपदेश को अर्थात् वीतराग-सर्वज्ञ के
मुखारविन्द से निकले हुए परम उपदेश को । कैसा है वह उपदेश ? पूर्वापर दोष रहित है
अर्थात् पूर्वापर दोष के हेतुभूत सकल मोहरागद्वेष के अभाव के कारण जो आप हैं,
उनके मुख से निकाल होने से निर्दोष है ।

और (इस शास्त्र के तात्पर्य सम्बन्धी ऐसा समझना कि), जो (नियमसार
शास्त्र) वास्तव में समस्त आगम के अर्थसमूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है, जिसने
नियम-शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से दर्शाया है, जो शोभित पंचास्तिकाय
सहित है (अर्थात् जिसमें पाँच अस्तिकाय का वर्णन किया गया है), जिसमें पंचाचार-
प्रपंच का संचय किया गया है (अर्थात् जिसमें ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार,
तपाचार और वीर्याचाररूप पाँच प्रकार के आचार का कथन किया गया है), जो छह,
द्रव्यों से विचित्र है (अर्थात् जो छह द्रव्यों के निरूपण से विविध प्रकार का—सुन्दर

* अवंचक = ठगों नहीं ऐसे; निष्कपट; सरल; ऋजु ।

है), सात तत्त्व और नव पदार्थ जिसमें समाये हुए हैं, जो पाँच भावरूप विस्तार के प्रतिपादन में परायण है, जो निश्चय-प्रतिक्रमण, निश्चय-प्रत्याख्यान, निश्चय-प्रायश्चित्त, परम-आलोचना, नियम, व्युत्सर्ग आदि सकल परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से समृद्ध है (अर्थात् जिसमें परमार्थ क्रियाओं का पुष्कल निरूपण है) और जो तीन उपयोगों से सुसम्पन्न है (अर्थात् जिसमें अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग का पुष्कल कथन है)—ऐसे इस परमेश्वर शास्त्र का वास्तव में दो प्रकार का तात्पर्य है:— सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। सूत्रतात्पर्य तो पद्यकथन से प्रत्येक सूत्र में (-पद्य द्वारा प्रत्येक गाथा के अन्त में) प्रतिपादित किया गया है। और शास्त्रतात्पर्य यह निम्नानुसार टीका द्वारा प्रतिपादित किया गया है : यह (नियमसार शास्त्र) ^१भागवत शास्त्र है। जो (शास्त्र) निर्वाण-सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले, परमवीतरागात्मक, ^२निराबाध, निरन्तर और ^३अनंग परमानन्द का देनेवाला है, जो ^४निरतिशय, नित्यशुद्ध, निरंजन निज कारणपरमात्मा की भावना का कारण है, जो समस्त नयों के समूह से शोभित है, जो पंचम गति के हेतुभूत है और जो पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र—परिग्रहधारी से (निर्ग्रन्थ मुनिवर से) रचित है—ऐसे इस भागवत शास्त्र को जो निश्चयनय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं, वे महापुरुष—समस्त अध्यात्मशास्त्रों के ^५हृदय को जाननेवाले और परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी—बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच को परित्याग कर, त्रिकाल-निरुपाधि स्वरूप में लीन निज कारणपरमात्मा के स्वरूप श्रद्धान-ज्ञान-आचरणात्मक भेदोपचार-कल्पना से निरपेक्ष ऐसे ^६स्वस्थ रत्नत्रय में परायण वर्तते हुए, शब्दब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।

१- भागवत=भगवान का; दैवी; पवित्र।

२- निराबाध=बाधरहित; निर्विघ्न।

३- अनंग=अशरीरी; आत्मिक; अतीन्द्रिय।

४- निरतिशय=जिससे कोई बढ़कर नहीं है ऐसे; अनुत्तम; श्रेष्ठ; अद्वितीय।

५- हृदय=हार्द; रहस्य; मर्म। (इस भागवत शास्त्र को जो सम्यक् प्रकार से जानते हैं, वे समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हार्द के ज्ञाता हैं।)

६- स्वस्थ=निजात्मस्थित। (निजात्मस्थित शुद्धरत्नत्रय भेदोपचार-कल्पना से निरपेक्ष है।)

गाथा - १८७ पर प्रवचन

अन्तिम गाथा १८७।

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।

णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावर-दोस-णिम्मुक्कं ॥१८७॥

सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश श्री जिनदेव का।

मैं जान, अपनी भावना हित नियमसार सुश्रुत रचा ॥१८७॥

ऐसा शब्द तो उन चार शास्त्रों में (नहीं आता), इसमें ही आता है। 'मए कदं' मैंने किया है।

पूर्वापर दोष रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने... यह किया है, ऐसा कहते हैं। इसमें कहीं विरोध नहीं है। यह, शास्त्र के नामकथन द्वारा शास्त्र के उपसंहार सम्बन्धी कथन है। नियमसार शास्त्र यहाँ पूरा होता है। यहाँ आचार्यश्री (श्रीमद्भगवत्कुन्द-कुन्दाचार्यदेव) प्रारम्भ किये हुए कार्य के अन्त को प्राप्त करने से... शुरु किये हुए कार्य के अन्त के-छोर को पहुँचने से अत्यन्त कृतार्थता को पाकर कहते हैं... कृतार्थता को प्राप्त करके, कहते हैं। मैंने कृत किया। जो विचारा था, वह पूरा हुआ। कि सैकड़ों परम-अध्यात्म-शास्त्रों में कुशल... टीकाकार तो यह लिखे न! कैसे हैं कुन्दकुन्दाचार्य? सैकड़ों परम-अध्यात्म-शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने... 'मए कदं' पूर्वापर जिन का उपदेश सब जाना है, ऐसा कहते हैं। अन्तिम में ऐसा अर्थ आया न? वह पूर्वापर उपदेश मैंने सैकड़ों बार पढ़ा है।

मुमुक्षु : इतने सब शास्त्र पढ़े ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आये न वाँचन में।

मुमुक्षु : परन्तु इतने सब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतने सब क्या हजारों होते हैं। कहो, समझ में आया? बहुत समय होता है शास्त्र स्वाध्याय का तो आवे वह। मुनि को भी स्वाध्याय का काल ध्यान बिना होता है। ध्यान में कितना रह सके? उन्हें स्वाध्याय काल भी होता है। नहीं तो उन्हें

सच्चा ध्यान तो तुरन्त ही आता है। तथापि छोटे गुणस्थान में शास्त्र स्वाध्याय का भाव होता है। यह बताते हैं, स्वाध्याय में यह बताते हैं न। वीतरागता पूर्णानन्द, पूर्ण स्वरूप उसका कारण है, उसका आश्रय है। कहाँ तो वहाँ यह है। भले विकल्प है। समझ में आया? उससे जाया नहीं जाता परन्तु वह बताते हैं यह। समझ में आया? आहाहा!

सैकड़ों परम-अध्यात्म-शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने... यह स्वयं। पद्मप्रभमलधारिदेव। **निजभावनानिमित्त से**— निजभावना के निमित्त से। इसका अर्थ इतना किया **अशुभवचनार्थ..** विकल्प है अवश्य न? शास्त्र बनाने का विकल्प है, वह अशुभ से बचने के लिये, अशुभ को टालने के लिये यह शुभभाव है, इतनी बात है। **अशुभवचनार्थ नियमसार नामक शास्त्र किया है।** नियमसार नाम का यह सिद्धान्त मैंने किया है। **क्या करके (यह शास्त्र किया है) ? प्रथम अवंचक परम गुरु के प्रसाद से जानकर।** देखा? **'णच्चा जिणोवदेसं' प्रथम...** यह जाना मेरे गुरु से। गुरु कैसे हैं? कि अवंचक हैं। **ठगें नहीं ऐसे; निष्कपट; सरल; ऋजु।** जैसा स्वरूप था, वैसा कहते थे। समझ में आया? प्राप्त हुए थे, तदनुसार कहते थे। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। **अवंचक परम गुरु के प्रसाद से जानकर।** प्रसाद (अर्थात्) मेहरबानी से। हमारे परमगुरु प्रभु, उनकी मेहरबानी से यह मैंने जाना, ऐसा कहते हैं, देखो!

क्या जानकर ? जिनोपदेश को अर्थात् वीतराग-सर्वज्ञ के मुखारविन्द से निकले हुए परम उपदेश को। जाना। लो, वीतराग-सर्वज्ञ के मुख-अरविन्द। मुखरूपी अरविन्द-कमल, उसमें से निकले हुए परम उपदेश को हमने जाना। ठीक! उसे हमने जाना, ऐसा कहते हैं। **कैसे है वह उपदेश ? पूर्वापर दोष रहित है...** पहले कुछ कहा और बाद में कुछ (ऐसा नहीं) और विरोध उसमें है नहीं। पूर्व और अपर। पहले और पश्चात्। अपर अर्थात् पश्चात्। पहले और पश्चात्। **दोष रहित है अर्थात् पूर्वापर दोष के हेतुभूत सकल मोहरागद्वेष के अभाव के कारण...** मोह और राग-द्वेष का जिन्हें-वीतराग को अभाव है। उसके कारण उनकी वाणी पूर्वापर दोषरहित ही होती है। ऐसे जो आम हैं उनके मुख से निकाल होने से (वह उपदेश) निर्दोष है। कैसा है उपदेश? ऐसा कहा न? निर्दोष है। भगवान की वाणी, पहले-पश्चात् विरोध रहित है, इसलिए वह निर्दोष है।

और (इस शास्त्र के तात्पर्य सम्बन्धी ऐसा समझना कि),... यह सिद्धान्त के सार

सम्बन्धी ऐसा समझना कि जो (नियमसार शास्त्र) वास्तव में समस्त आगम के अर्थसमूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है, ... ठीक ! यह तो प्रत्येक को होता है न। अष्टसहस्री का कहा नहीं था रात्रि में ? तुम थे न। एक अष्टसहस्री में सब आता है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह।

यह (नियमसार शास्त्र) वास्तव में... वापस वास्तव में ऐसा। समस्त आगम के अर्थसमूह का (आगम का अर्थ) प्रतिपादन करने में समर्थ है, ... सब पदार्थ भगवान ने जो देखे तीन काल-तीन लोक के, सबको कहने में वे समर्थ हैं। इस नियमसार एक में सब आ जाता है, ऐसा कहते हैं। समयसार, प्रवचनसार सब में आ जाता है। जिसने नियम-शब्द से... अब नियमसार का अर्थ करते हैं। नियम-शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से दर्शाया है, ... लो ! नियम-शब्द से। नियमसार है न ? विशुद्ध मोक्षमार्ग—शुद्धमोक्षमार्ग—निश्चयमोक्षमार्ग—यथार्थमोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से नियमसार में दर्शाया है। पर की अपेक्षारहित, व्यवहार की भी अपेक्षारहित, ऐसा निरपेक्ष मार्ग विशुद्ध, द्रव्य के आश्रय से प्रगट होनेवाला, ऐसे मोक्षमार्ग को जिसने दर्शाया है। रात्रि में नहीं थे। नहीं ? यह प्रश्न रात्रि में हुआ था कि अभूतार्थ है और असत्यार्थ ? पर्याय द्रव्य में नहीं है, इसलिए असत्यार्थ है न ?

मुमुक्षु : गौण करके...

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य में पर्याय गौण करके, द्रव्य में पर्याय गौण करके असत्यार्थ कहा, ऐसा न ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु यही कहा न ! द्रव्य में-ध्रुव में पर्याय है अवश्य। परन्तु उसे गौण करके कहने में आया है। रात्रि में चर्चा हुई थी। पर्याय है, उस पर्याय को गौण करके। द्रव्य की बात ही यहाँ कहाँ है ? त्रिकाल द्रव्य जो है, उसमें पर्याय है नहीं, यह बात यहाँ है ही नहीं, उसका यहाँ काम नहीं। त्रिकाल द्रव्य का मुख्यपना बतलाकर जो पर्याय वर्तती है, उसे भी गौण करके 'नहीं' है—ऐसा कहा है। पर्याय है, उसे गौण

करके 'नहीं' कहा। द्रव्य में पर्याय नहीं कि द्रव्य में पर्याय है इसलिए गौण करके कहा, यह बात यहाँ प्रश्न है नहीं। समझ में आया? ऐई! तुम नहीं थे। याद किया था।

असत्यार्थ कहा है, वह तो त्रिकाली द्रव्य की मुख्यता-दृष्टि कराने को पर्याय पर्याय में होने पर भी उसे गौण करके वह पर्याय नहीं है, अविद्यमान है, पर्याय स्वयं अविद्यमान है, वर्तमान अवस्था अविद्यमान है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? मोहनभाई थे या नहीं? फिर कहा था न रात्रि में? यह चलता था या नहीं? याद नहीं रहा होगा। भगवान आत्मा के दो अंश हैं। दो अंश हैं, उनमें एक अंश नहीं, उस अंशरूप अंश नहीं।

मुमुक्षु : अंश में अंश नहीं, पूरी वस्तु में अंश नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका यहाँ प्रश्न ही नहीं है। दो अंश हैं। एक त्रिकाली अंश और एक पर्याय अंश। उनमें त्रिकाली अंश की अपेक्षा से पर्याय अंश स्वयं नहीं है। है वह स्वयं नहीं है। समझ में आया? क्यों नहीं है? पर्याय है तो सही परन्तु उसे वहाँ का लक्ष्य छुड़ाना है और द्रव्य की मुख्यता की दृष्टि कराना है। इसलिए 'है', तथापि वह 'नहीं' है—ऐसा कहने में आता है। ऐसी बात है। समझ में आया? ११ वीं गाथा तो...

मुमुक्षु : आप बहुत बार कहते हो कि द्रव्य में पर्याय नहीं है, इसलिए हमें यह दृढ़ हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये तो यह बात छोड़ी है। क्यों हीराभाई? हीराभाई ऐसा कहते हैं। परन्तु इन्हें किस प्रकार दृढ़ हुआ? ऐई! चेतनजी! थे या नहीं तुम?

द्रव्य में पर्याय है या नहीं, यह प्रश्न नहीं है।

मुमुक्षु : आप जब कहते हो न, तब इन्हें बहुत आनन्द होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतनजी! ठीक स्पष्टीकरण कराते हैं न।

मुमुक्षु : साक्षी हाजिर है न! साक्षी की गैरहाजिरी में बात नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : रात्रि में कहा था कि जो यहाँ व्यवहार असत्य कहा है, वह पर्याय को ही झूठी कहा है। द्रव्य में पर्याय नहीं है, यह कहते हैं, वह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। द्रव्य में तो पर्याय है ही नहीं। वह तो प्रश्न ही नहीं है। यह तो पर्याय में पर्याय, पर्याय है, उसे 'नहीं', ऐसा कहना है यहाँ तो। क्योंकि त्रिकाल सत्यार्थ का आश्रय लेने के

लिये, उसे मुख्यरूप से करके पर्याय होने पर भी उसे गौण करके वह नहीं है, ऐसा कहने में आया है। उस पर्याय को गौण करके 'नहीं' कहने में आया है। द्रव्य में पर्याय नहीं है, यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। ऐई! चेतनजी!

मुमुक्षु : सबको बहुत आनन्द आया। सब बात आवे उसमें यह बात आवे तब...

पूज्य गुरुदेवश्री : बात जैसी हो वैसी जानना। द्रव्य वस्तु सामान्य है, उसमें तो पर्याय है ही नहीं। यह प्रश्न ही नहीं है। समझ में आया? अब यहाँ तो पर्याय पर्यायरूप से है, भूतार्थ है, व्यवहार वह भूतार्थ है। उसे यहाँ निश्चय से असत्य है, ऐसा गौण करके; अभाव करके असत्य है—ऐसा नहीं। समझ में आया? दिलीप, आया नहीं?

मुमुक्षु : हाँ, जी बराबर।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा लो। वृद्ध को समझावे।

मुमुक्षु : वृद्ध कहाँ है? सब समान हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वृद्ध है न। इनके पिता का पिता था।

११वीं गाथा की क्या शैली है न! वस्तु स्वयं ऐसी ध्रुव नित्यानन्द भूतार्थ-सत्यार्थ-परमार्थ वह वस्तु। बस, उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा मुख्यरूप से उसे है, ऐसा कहकर पर्याय को गौण करके 'नहीं', ऐसा कहने में आया है। यह मुख्यरूप से है और पर्याय जो है, उसे गौण करके नहीं है, ऐसा कहने में आया है। कहो, समझ में आया? ऐई! पण्डितजी! हिम्मतभाई! रात्रि में यह आया था। 'ववहारोऽभूदत्थो' कहना है न? व्यवहार अर्थात् पर्याय। रागादि भले हो, उसे कुछ नहीं, अपने मुख्य पर्याय है। कहा न कि अनित्य पर्याय नहीं ही है, ऐसा मानना तो वेदान्त हो जाएगा। पर्याय पर्यायरूप से नहीं, हों! द्रव्य में नहीं है, यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं।

मुमुक्षु :ध्रुव में?

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्रुव में कहाँ है? यह अंश यहाँ है, वह अंश यहाँ नहीं। यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यह अंश यहाँ है, वह अंश नहीं। वह अंश यहाँ नहीं, ऐसा नहीं। वह अंश यहाँ है, वह नहीं। कैसे? मुख्य का आश्रय कराने के लिये उसको गौण करके नहीं है, ऐसा कहकर निकाल डाला। समझ में आया? यह (चर्चा) की थी। रात्रि में बहुत की

थी, नहीं? अभी आज दोपहर में आयेगी तो दोबारा आयेगी। और उसमें याद आ गया। इसमें यह आया न? विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से दर्शाया है,...

मुमुक्षु : दोपहर को अधिक आया। क्योंकि ११वीं गाथा का ही यह विषय है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसका ही विषय है। हमारे भीखाभाई ने ठीक जवाब दिया था। पूछा था तो जवाब बराबर दिया था। ... पूछा था।

यह तो सीधी बात है। भगवान आत्मा दो अंश प्रमाण अंश है। दो अंश। एक अंश वर्तमान पर्याय और एक त्रिकाल। वस्तु द्रव्य वह, उसे द्रव्य कहना। पर से भिन्न करने के लिये। अब उसमें से द्रव्य ध्रुव जो मुख्य है, उसे द्रव्य सिद्ध करके, उसका आश्रय लेने के लिये, यह लक्ष्य छुड़ाने के लिये वह पर्याय है, तथापि वह नहीं है, वह नहीं है, यह है; वह नहीं है और यह है—(ऐसा कहा है)। वजुभाई! है? देखो! रात्रि में तुम नहीं थे।

मुमुक्षु : दोपहर में...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विचार तो पहले आ गया था। तब और रात्रि में कोई पूछे नहीं और बैठे सब। तब कुछ चलना चाहिए न?

मुमुक्षु : निर्विकल्प समाधि में बैठे थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ सूझ पड़ती न हो कि क्या पूछना।

मुमुक्षु : निर्विकल्प समाधि का एक ऐसा अर्थ होता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

जिसने नियम-शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से दर्शाया है, ... स्व के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, वह इसमें दर्शाया है। नियमसार में तो कारणपरमात्मा को जहाँ-तहाँ वर्णन किया है न! आहाहा! कारणपरमात्मा कहो या द्रव्य कहो। भूतार्थ कहो, सत्यार्थ कहो, कारणपरमात्मा कहो, कारणजीव कहो। सब एक ही है। आहाहा! कहते हैं, नियम-शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग... देखो! यहाँ मोक्षमार्ग को, निश्चयमोक्षमार्ग को भी विशुद्ध शब्द प्रयोग किया जाता है। विशेष-शुद्ध।

मुमुक्षु : शुभ नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, शुभ नहीं। शुभ नहीं और अकेला शुद्ध भी नहीं। विशेष

शुद्ध। ऐसा मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकार से... वापस। जैसा है, वैसा दिखाया है।

जो शोभित पंचास्तिकाय सहित है... पंचास्तिकाय से शोभायमान, पंचास्तिकाय का वर्णन भी इसमें भले प्रकार से किया है।

मुमुक्षु : दूसरे परपदार्थ जानने का क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे पर हैं, इसके बिना स्व भिन्न कैसे पड़ेगा ? पर को जाने बिना...

मुमुक्षु : पर भिन्न ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न ही है, यह कहाँ इसे लक्ष्य में है। भिन्न है, यह तो वाणी में आया।

यह पंचास्तिकाय और इसकी ज्ञान की पर्याय, पंचास्तिकाय को जानने की पर्याय, इस पर्याय को भी गौण करके इस पर (स्वभाव पर) दृष्टि देना चाहिए। पंचास्तिकाय तो कहीं आगे रह गये। समझ में आया ? इसमें सब है, ऐसा कहते हैं।

पंचास्तिकाय... शोभित। पंचास्तिकाय शोभित। जिसमें पंचाचार-प्रपंच का संचय किया गया है... देखो ! इसमें पहले ज्ञानाचार लिया है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार,... देखो ! पंचाचार प्रपंच अर्थात् विस्तार, उसका संचय अर्थात् रचने में आया है। जिसमें ज्ञानाचार,... वहाँ पहला ज्ञानाचार लिया। वहाँ समकित आचार नहीं लिया पहला। समझ में आया ? यहाँ पहले ही शब्द में ज्ञान-दर्शन-चारित्र रखा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं ने, नियमसार की शुरुआत में आया न पहला ? देखो न ! कल बताया था। 'णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं' कुन्दकुन्दाचार्य के (शब्द) हैं। टीका में भी ऐसा कहा। नहीं तो उस पद की रचना में ऐसा आया हो और ऐसा हो। टीका में ऐसा है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र इन तीनों में प्रत्येक का स्वरूप कहा जाता है। पहले से ही यह भाषा प्रयोग की है न, देखो न ! उपयोग को सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख करके ग्रहण करनेयोग्य निज... परिज्ञान, वह ज्ञान है। जानना तो ज्ञान में आता है न।

यहाँ कहते हैं कि पंचाचार-प्रपंच का संचय किया गया है... कितना ढेर पड़ा है, इसमें ऐसा कहते हैं। नियमसार में यह सब वर्णन है। (अर्थात् जिसमें ज्ञानाचार,

दर्शनाचार,...) ज्ञान का आचार निश्चय, दर्शनाचार निश्चय। व्यवहार भले हो, वह जाननेयोग्य है। चारित्राचार, तपाचार... इच्छानिरोध, वीर्याचार... वीर्य के स्फुरणा का आचरण। पाँच प्रकार के आचार का कथन किया गया है), जो छह, द्रव्यों से विचित्र है (अर्थात् जो छह द्रव्यों के निरूपण से विविध प्रकार का—सुन्दर है),... नियमसार में छह द्रव्य का वर्णन है।

छह द्रव्यों के निरूपण से विविध प्रकार का—सुन्दर है, सात तत्त्व और नव पदार्थ जिसमें समाये हुए हैं,... लो! सात तत्त्व की व्याख्या है। पुण्य-पाप को आस्रव में समाहित कर दिया है और सात तत्त्व और नौ पदार्थ पृथक करके जिसमें समाये हुए हैं, जो पाँच भावरूप विस्तार के प्रतिपादन में परायण है,... उदयभाव, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और पारिणामिक—ऐसे पाँच भावरूप। चार पर्याय और एक गुण। ऐसे विस्तार के प्रतिपादन में परायण है,... पाँच भावों में चार पर्याय है। इस पर्याय को ही यहाँ भूतार्थ कहा है। परमपारिणामिकभाव को भूतार्थ, सत्यार्थ (कहा है)।

जो निश्चय-प्रतिक्रमण,... निश्चय प्रतिक्रमण (अर्थात्) अपने स्वरूप में राग से हटकर स्थिर होना। पंच महाव्रत के परिणाम और वह सब व्यवहार क्रियाकाण्ड है परन्तु यह निश्चय होवे उसे। समझ में आया? सकल परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से... अर्थात् पुष्कल निरूपण है, आडम्बर का अर्थ यह है। इसमें बहुत है। समृद्ध है। (अर्थात् जिसमें परमार्थ क्रियाओं का पुष्कल निरूपण है) और जो तीन उपयोगों से सुसम्पन्न है (अर्थात् जिसमें अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग का पुष्कल कथन है)... शुभ किसे कहना, अशुभ किसे कहना और शुद्ध उपयोग (किसे कहना), दो मलिन और एक निर्मल, उसका इसमें पुष्कल वर्णन है।

ऐसे इस परमेश्वर शास्त्र का... लो! ऐसे परमेश्वर-परम ईश्वर। ग्रन्थाधिराज की जगह परमेश्वर शास्त्र (कहा)। ठीक! ग्रन्थराज। परन्तु यह तो ग्रन्थ का परमेश्वर है। आहाहा! परमेश्वर शास्त्र का वास्तव में दो प्रकार का तात्पर्य है:- ऐसे परमेश्वर शास्त्र का वास्तव में दो प्रकार का सार है। एक सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। सूत्रतात्पर्य अर्थात् प्रत्येक गाथा में जो कहना है, वह सूत्रतात्पर्य है। सूत्रतात्पर्य तो पद्यकथन से प्रत्येक सूत्र में (-पद्य द्वारा प्रत्येक गाथा के अन्त में) प्रतिपादित किया गया है। इस सूत्र में क्या

कहना है ? यह सूत्रतात्पर्य । गाथा में (कहा वह) । और शास्त्रतात्पर्य... पूरे सब यह सिद्धान्त शास्त्र इतने सब कहे, उन सबका तात्पर्य । यह निम्नानुसार टीका द्वारा प्रतिपादित किया गया है....

यह (नियमसार शास्त्र) भागवत शास्त्र है । लो ! भगवती शास्त्र है । भागवत= भगवान का; दैवी; पवित्र । भगवान का शास्त्र, लो । दैवी और पवित्र शास्त्र । (भागवत) जो (शास्त्र) निर्वाण-सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले,... मोक्षरूपी सुन्दरी परिणति । मोक्षरूपी दशा, आत्मा की परम आनन्ददशा, अतीन्द्रिय आनन्द की अमृतदशा । उसरूपी परिणति से उत्पन्न होनेवाले परमवीतरागात्मक,... परम वीतरागस्वरूप निराबाध,... बाधारहित; निर्विघ्न । निरन्तर और अनंग परमानन्द का देनेवाला है,... मोक्षरूपी सुन्दरी अर्थात् परिणति, उससे उत्पन्न होनेवाले परम वीतरागस्वरूप निराबाध-अब विघ्न नहीं होता, वापस निरन्तर, अन्तर पड़े बिना । अनंग । अशरीरी; आत्मिक; अतीन्द्रिय । आनन्द अनंग परमानन्द का देनेवाला है,... अनंग परमानन्द । अनंग परमानन्द-अशरीरी आत्मा का जो परम आनन्द, उसका देनेवाला यह शास्त्र है । समझ में आया ?

और यह शास्त्र निरतिशय,... जिससे कोई बढ़कर नहीं है ऐसे; अनुत्तम;... अनुत्तम अर्थात् उत्तम में उत्तम । श्रेष्ठ; अद्वितीय । वैसे तो अनुत्तम का अर्थ ऐसा होता है, उसके जैसा कोई ऊँचा नहीं है । निरतिशय, नित्यशुद्ध,... ऐसा जो भगवान आत्मा, कारणपरमात्मा निरतिशय,... उसके अतिरिक्त कोई ऊँचा नहीं है, ऐसा नित्यशुद्ध, निरंजन निज कारणपरमात्मा की भावना का कारण है,... पूर्णानन्द प्रभु अखण्ड आनन्द का अभेद स्वरूप, उसकी भावना का यह कारण है । यह नियमसार उसकी भावना को बताता है । आहाहा ! उसे मोक्षमार्ग कहा । समझ में आया ? ऐसी भाषा भी कहीं नहीं है । जो समस्त नयों के समूह से शोभित है,... बहुत नयों का वर्णन किया है । जो समस्त नयों का ढेर-समूह से शोभित है । व्यवहार किसे कहना सद्भूत, असद्भूत, उपचार, अनुपचार, निश्चय, यथार्थ, परमार्थ इत्यादि । जो पंचम गति के हेतुभूत है... ऐसा यह भागवत शास्त्र है । पंचम गति के हेतुभूत है... यह मोक्ष का कारण है । आहाहा !

जो पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र—परिग्रहधारी से (निर्ग्रन्थ मुनिवर से) रचित है... निर्ग्रन्थ मुनि से रचित है । कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं । समझ में आया ?

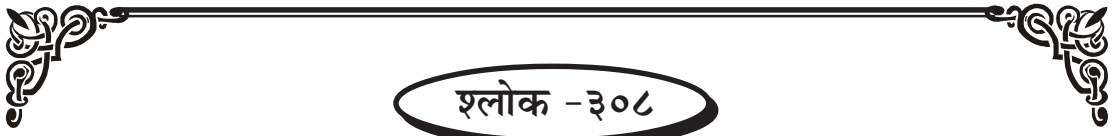
वस्त्रवाले ने रचा हो, वह यह नहीं है। पाँच इन्द्रिय के फैलाव से रहित हैं। मुनि अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त हैं और बाह्य में देहमात्र परिग्रह है। लो! निर्ग्रन्थ मुनिवर। उनसे यह रचित है। ऐसे इस भागवत शास्त्र को जो निश्चयनय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं,... जो यह निश्चयनय और व्यवहारनय का अविरोध। दो को मेल करके-निश्चय यह और व्यवहार यह, ऐसा। वे महापुरुष—समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को... हृदय (अर्थात्) हार्द; रहस्य; मर्म। (इस भागवत शास्त्र को जो सम्यक् प्रकार से जानते हैं, वे समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हार्द के ज्ञाता हैं।) इसे बराबर जानते हैं, उसको सब अध्यात्म शास्त्र का हृदय हाथ आ जाता है कि इस जगह यह कहा है, इस जगह इस अपेक्षा से कहा है। समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को... मर्म को, उसके रहस्य को जाननेवाले और परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी— परमानन्दरूप वीतराग सुख आत्मा का आनन्द, उसके अभिलाषी।

बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच को परित्याग कर,... मुनि की बात लेनी है न? आहाहा! बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों के प्रपंच को परित्याग कर,... चौदह प्रकार का अन्तरंग और दस प्रकार का बाह्य। परिग्रह के विस्तार को छोड़कर त्रिकाल-निरुपाधि स्वरूप में लीन... तीनों काल में उपाधिरहित द्रव्यस्वरूप में लीन—स्वरूप में लीन। त्रिकाल-निरुपाधि स्वरूप में लीन निज कारणपरमात्मा के... यह वस्तु तीनों काल में लीन ही है, ऐसा कहते हैं। यह वस्तु तीनों काल में निरुपाधि स्वरूप में लीन है। ऐसा निज कारणपरमात्मा, लो! निज कारणपरमात्मा के स्वरूप के... निज कारणपरमात्मा के स्वरूप के, अब यहाँ यह लिया। श्रद्धा-ज्ञान और आचरण। ऐसी जो निरुपाधि तीनों काल में स्वरूप में लीन ही वस्तु है, उसके स्वरूप का श्रद्धान। उसका श्रद्धान, उसका ज्ञान, त्रिकाली कारणपरमात्मा के स्वरूप का श्रद्धान, निज कारणपरमात्मा के स्वरूप का ज्ञान, निज कारणपरमात्मा के स्वरूप का आचरण। आहाहा!

आचरणात्मक भेदोपचार-कल्पना से निरपेक्ष... पहले गाथा में कहा था, पहले शुरु किया वहाँ। तीसरी गाथा में। निरपेक्ष रत्नत्रय... निरपेक्ष भेदोपचार कल्पना। व्यवहार की जो कल्पना, व्यवहार श्रद्धा, वह सब उपचार से निरपेक्ष है। वह है तो निश्चय होता है, ऐसा नहीं है। उसकी अपेक्षारहित। ऐसे स्वस्थ रत्नत्रय में परायण वर्तते हुए,...

स्वस्थ । आहाहा ! निजात्मस्थित, निजात्मस्थित शुद्धरत्नत्रय भेदोपचार कल्पना से निरपेक्ष है । ऐसे स्वस्थ... स्व अर्थात् अपने में रहा हुआ । रत्नत्रय में परायण वर्तते हुए,... ठीक ! उसमें परायण वर्तता हुआ । रत्नत्रय में परायण वर्तते हुए, शब्दब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं । लो ! समयसार में अन्तिम लिया । सुख का जाता है । शब्दब्रह्म का । देखो ! शब्दब्रह्म का फल यह है । वीतरागी दिव्यध्वनि के शास्त्र का फल यह है । शब्दब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख... आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द, उसका यह जीव भोक्ता होता है । समझ में आया ? अब इसके चार श्लोक कहेंगे ।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)



श्लोक - ३०८

[अब इस नियमसार-परमागम की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका की पूर्णाहुति करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव चार श्लोक कहते हैं:—]

(मालिनी)

सुकवि-जन-पयोजानन्दि-मित्रेण शस्तं,
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत् ।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकाङ्क्षी,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

(वीरछन्द)

कविजनरूपी कमलों को विकसाने वाला अद्भुत सूर्य ।
सुन्दर पद समूह द्वारा यह उत्तम शास्त्र रचा भरपूर ॥
जो विशुद्ध आत्मा के वाञ्छक जीव इसे धारण करते ।
निज मन में, वे परम श्रीरूपी कामिनी वल्लभ होते ॥३०८॥

[श्लोकार्थः—] सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले (-विकसित करनेवाले) सूर्य ने ललित पदसमूहों द्वारा रचे हुए इस उत्तम शास्त्र को जो विशुद्ध

आत्मा का आकाँक्षी जीव निज मन में धारण करता है, वह परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।३०८।

प्रवचन-२१५, श्लोक ३०८-३११, शनिवार, पौष शुक्ल १, दिनांक १८-१२-१९७९

अन्तिम कलश है न ?

सुकवि-जन-पयोजानन्दि-मित्रेण शस्तं,
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत् ।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकाङ्क्षी,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

उस ओर अर्थ है। अब यह नियमसार पूरा करते हैं।

श्लोकार्थ : सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले... जैसे कमल को खिलाने में सूर्य निमित्त है, उसी प्रकार सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाला सूर्य ने... सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले (-विकसित करनेवाले) सूर्य ने... जैसे कमल को खिलाने में सूर्य कारण है, उसी प्रकार सुकविजनरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले... यह कवि सूर्य है। ललित पदसमूहों द्वारा... बहुत ऊँचे पद के समूह द्वारा रचे हुए इस उत्तम शास्त्र को जो विशुद्ध आत्मा का आकाँक्षी जीव... विशुद्ध अर्थ पवित्रता के अर्थ में है। एकदम शुद्ध। विशुद्ध निर्मल आनन्द पवित्र धाम भगवान, उसे यहाँ विशुद्ध शब्द के अर्थ में कहा है। यहाँ विशुद्ध तो शुभभाव को भी कहा जाता है, परन्तु यहाँ विशुद्ध तो पूरे आत्मा को (कहा है)।

निर्मलानन्द प्रभु, अकेला ज्ञानानन्द से भरपूर आत्मा, ऐसे विशुद्ध आत्मा का आकाँक्षी जीव... उसकी जिसे अभिलाषा है, ऐसा जीव। निज मन में धारण करता है,... निज मन में शास्त्र के भाव को धारण करता है। मन में अर्थात् ज्ञान में, उनका कहा हुआ भाव—शुद्ध आत्मा पवित्र—उसे श्रद्धा-ज्ञान से धारण करता है। वह जीव परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है। मोक्ष का मार्ग और मोक्ष दोनों बतला दिये। वह परमश्री... परम आनन्दरूपी लक्ष्मी, मुक्ति की-सिद्धपद की -पूर्ण आत्मा की दशा, उस रूपी

कामिनी—उसकी जो परिणति—स्त्री, उसका वल्लभ होता है। वह पर्याय इसे अब कभी छोड़ेगी नहीं। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति। ग्रन्थ में कहे हुए भाव, स्वभाव का आश्रय लेता भाव, वह भाव मोक्ष का मार्ग है। इसे जिसने अन्तर में धारण किया – मोक्ष का मार्ग, पूर्ण पवित्र भगवान आनन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता से मार्ग को धारण किया, वह सर्व काल में पूर्ण आनन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति को प्राप्त करेगा। ऐसा कहा।

श्लोक - ३०९

(अनुष्टुप्)

पद्म-प्रभाभिधानोद्घ-सिन्धुनाथ-समुद्रवा ।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०९॥

(वीरछन्द)

पद्मप्रभ नामक उत्तम सागर से जो उत्पन्न अहो ।
उर्मिमाल यह सत्पुरुषों के चित में स्थित सदा रहो ॥३०९॥

[श्लोकार्थः—] पद्मप्रभ नाम के उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली जो यह उर्मिमाला—कथनी (टीका), वह सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहो ॥३०९॥

श्लोक - ३०९ पर प्रवचन

(श्लोक) ३०९ ।

पद्म-प्रभाभिधानोद्घ-सिन्धुनाथ-समुद्रवा ।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०९॥

श्लोकार्थः : पद्मप्रभ नाम के उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली जो यह उर्मिमाला—
टीका को उर्मिमाला-उर की-हृदय की धारावाही। पद्मप्रभमुनि स्वयं मुनि हैं, सन्त हैं,
दिगम्बर हैं। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलनेवाले हैं। वे कहते हैं कि ऐसे
पद्मप्रभ नाम के उत्तम समुद्र से उत्पन्न होनेवाली जो यह उर्मिमाला— हृदय की अन्दर

ऊर्मि से हुई यह कथा, ऐसा कहते हैं। कथनी (टीका), वह सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहो। सत्पुरुषों के, धर्मात्मा के ज्ञान में यह भाव स्थिर रहो। यह टीका स्थिर रहो अर्थात् भाव स्थित रहो। टीका का भाव तो यह है। परम निरपेक्ष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, व्यवहार के निमित्त की अपेक्षा बिना की दशा, उसे यहाँ मोक्ष का मार्ग कहा है।

वह सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहो। ज्ञानी के ज्ञान में ही वह स्थित होता है, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी को नहीं होता। आहाहा! इसमें कहा हुआ भाव—पूर्णानन्द प्रभु, ऐसा आनन्द और ज्ञान के स्वभाव का सागर आत्मा, उसमें भाव उसकी पर्याय में यह वस्तु ऐसी है, ऐसा स्थिर होकर रहो। ऐसा यहाँ आशीर्वाद अथवा मांगलिक किया है। अन्तिम मांगलिक है न ?

श्लोक - ३१०

(अनुष्टुप्)

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।
लुप्तवा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥

(वीरछन्द)

लक्षण शास्त्रों से विपरीत कोई पद इसमें किञ्चित हो ।
उसे लोप कर सज्जन कविगण उत्तम पद निर्माण करो ॥३१०॥

[श्लोकार्थः—] इसमें यदि कोई पद लक्षणशास्त्र से विरुद्ध हो तो भद्र कवि उसका लोप करके उत्तम पद करना ॥३१०॥

श्लोक -३१० पर प्रवचन

(श्लोक) ३१० ।

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।
लुप्तवा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥

श्लोकार्थ : इसमें यदि कोई पद लक्षणशास्त्र से विरुद्ध हो... अनुभव से विरुद्ध नहीं। शास्त्रों के कोई शब्दों में लक्षण शास्त्र अनेक प्रकार के हैं। धातु, काल, भेद इत्यादि शब्द विरुद्ध हों तो भद्र कवि उसका लोप करके उत्तम पद करना। सरल प्राणी, भद्र जीव, उस शब्द का कुछ मेल में अमेल होता हो तो उसका लोप करके उत्तम पद करना। ऐसी अपनी निर्मानता बतलायी है। शब्द में, हों! शब्द की रीति की पद्धति में। कोई कानोमात्रा कुछ फेरफार हो (तो उत्तम पद करना)।

श्लोक - ३११

(वसंततिलका)

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे,
तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिम्बम् ।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः,
स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥३११॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-
विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशमः श्रुतस्कन्धः ॥
समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः ।

(वीरछन्द)

जब तक तारागण से शोभित चन्द्रबिम्ब उज्ज्वल नभ में।
हेय वृत्ति नाशक यह टीका रहो सज्जनों के उर में ॥३११॥

[श्लोकार्थः—] जब तक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्रबिम्ब (पूर्ण चन्द्र का गोला) सुन्दर गगन में विराजे (शोभे), ठीक तब तक तात्पर्यवृत्ति (नाम की यह टीका)—कि जिसने हेयवृत्तियों को निरस्त किया है (अर्थात् जिसने छोड़ने योग्य समस्त विभाववृत्तियों को दूर फेंक दिया है वह)—सत्पुरुषों के विशाल हृदय में स्थित रहो ॥३११॥

इस प्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) शुद्धोपयोगाधिकार नाम का बारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित) तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

श्लोक - ३११ पर प्रवचन

अन्तिम कलश, ३११।

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे,

तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिम्बम्।

तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः,

स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥३११॥

श्लोकार्थ : जब तक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्रबिम्ब... चन्द्र के आसपास तारागण रहते हैं। ऐसा जो चन्द्र, वह सदा उसकी गति के सुन्दर मार्ग में विराजता है। वह पूर्ण चन्द्र का गोला सदा उसकी गति में गमन करता है न सदा ही? गति के सुन्दर मार्ग में शोभता है। ठीक तब तक तात्पर्यवृत्ति (नाम की यह टीका)— चन्द्र जब तक उसकी गति में शोभता है, तब तक यह टीका शोभे, ऐसा कहते हैं। ठीक तब तक तात्पर्यवृत्ति (नाम की यह टीका)— तात्पर्यवृत्ति है न? तात्पर्यसार जिसने हेयवृत्तियों को निरस्त किया है... सम्पूर्ण टीका में जो पुण्य और पाप के विकल्प, निमित्त, उन सबको जिसने हेय बनाया है। समझ में आया?

भगवान पूर्णानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, परमात्म अपना निज स्वरूप स्वभाव, उसे उपादेय करके, उसके अतिरिक्त दूसरी चीजों को हेय बनाया है। वास्तव में तो यहाँ पर्याय

को हेय बनाया है। ५० (गाथा में)। एक ही भगवान आत्मा अभेद। पर्याय का भेद नहीं, गुण का भेद नहीं। कहा है न? क्षायिकभाव की पर्याय भी हेय है। आहाहा! वह परद्रव्य है। स्वद्रव्य की पूर्णता उसमें नहीं है, इसलिए वह परद्रव्य है और परभाव है। स्वभाव एकरूप त्रिकाल है और एक समय की पर्याय; यह स्वभाव, वह परभाव है; यह उपादेय, तो वह हेय है। इस प्रकार पूरी टीका में ऐसा कहा है, कहते हैं। कहो, समझ में आया?

हेयवृत्तियों को... छोड़नेयोग्य परिणति को निरस्त किया है... निरस्त किया है। (अर्थात् जिसने छोड़ने योग्य समस्त विभाववृत्तियों को दूर फेंक दिया है वह)— सत्पुरुषों के विशाल हृदय में... सत् पुरुषों के विशाल ज्ञान में, वह स्थित रहो। वृत्तियों को हेय किया और त्रिकाल ज्ञायकभाव को उपादेय करके स्थापित किया है कि ज्ञानी के हृदय में यह बात रहो। ओहोहो!

लो! यह नियमसार का वाँचन पूरा हुआ। पश्चात् इसमें अधिक स्वयं कहा है। अन्तिम हिम्मतभाई का नाम अब इसमें डाला। अन्त में। दूसरे उसमें नहीं डाला। जबरदस्ती डाला न? (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) शुद्धोपयोगाधिकार नाम का बारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। यह बारह अधिकार हैं। इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित) तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ। लो।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)